Dr. C.V. Raman University
Kargi Road, Kota, BILASPUR, (C. G.),
Ph. : +07753-253801, +07753-253872
E-mail : info@cvru.ac.in | Website : www.cvru.ac.in

Indian government and politics

Institute of **Open** and **Distance Education**

Faculty of Arts

Indian government and politics

2BA6

DR. C.V. RAMAN UNIVERSITY
Chhattisgarh, Bilaspur
A STATUTORY UNIVERSITY UNDER SECTION 2(F) OF THE UGC ACT

2BA6

Indian Government and Politics

2BA1
Indian Government and Politics

Credit- 4

Subject Expert Team

Dr Kajal Moitra, Dr. C.V. Raman University, Kota, Bilaspur, Chhattisgarh
Dr Mahesh Shukla, Dr. C.V. Raman University, Kota, Bilaspur, Chhattisgarh
Dr Reena Tiwari, Dr. C.V. Raman University, Kota, Bilaspur, Chhattisgarh
Dr Ram Ratan sahu, Dr. C.V. Raman University, Kota, Bilaspur, Chhattisgarh
Dr Anju Tiwari, Dr. C.V. Raman University, Kota, Bilaspur, Chhattisgarh
Dr. Sandhya Jaiswal , Dr. C. V. Raman University, Kota, Bilaspur, Chhattisgarh

---

Course Editor:

Dr Ramsiya Charmkar, Assistant Professor Department of Political Science Humanities and liberal arts, Rabindranath Tagore University, Bhopal, M.P.

Unit Written By:

---

1. Dr. Sandhya Jaiswal

(Professor, Dr. C. V. Raman University)

2. Dr. Reenu Sharan

(Assistant Professor, Dr. C. V. Raman University)

Warning: All rights reserved, No part of this publication may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the publisher.

Published by: Dr. C.V. Raman University Kargi Road, Kota, Bilaspur, (C. G.), Ph. +07753-253801,07753-253872 E-mail: info@cvru.ac.in, Website: www.cvru.ac.in

अनुक्रमणिका

ब्लॉक -I

इकाई -1 भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का संक्षिप्त इतिहास 1
इकाई -2 भारतीय संविधान का निर्माण और उसके स्रोत 97
इकाई -3 भारतीय संविधान की प्रस्तावना 115
इकाई - 4 भारतीय संविधान की प्रमुख विशेषताएँ 127
इकाई – 5 मौलिक अधिकार और मौलिक कर्तव्य 144

ब्लॉक -II

इकाई – 6 राज्य नीति के निर्देशक तत्व 173
इकाई – 7 संघीय कार्यपालिका: राष्ट्रपति 191
इकाई – 8 मंत्रिमंडल तथा प्रधानमंत्रि 221
इकाई – 9 संघीय संसद : लोक सभा एवं राज्य सभा 246
इकाई – 10 सर्वोच्च न्यायालय 273

ब्लॉक -III

इकाई – 11 केंद्र-राज्य संबंध 289
इकाई – 12 भारत में निर्वाचन आयोग 314
इकाई – 13 राज्यपाल (GOVERNOR) 327
इकाई – 14 मंत्री परिषद और मुख्यमंत्री 351

ब्लॉक -IV

इकाई – 15 राज्य-विधानमण्डल 363
इकाई – 16 भारत में राजनीतिक दल राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय दल 381
इकाई – 17 भारतीय राजनीति में प्रमुख मुद्दे 429
इकाई – 18 भारत में चुनाव सुधार 484

ब्लॉक - I

इकाई 1

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का संक्षिप्त इतिहास

BRIEF HISTORY OF THE INDIAN NATIONAL MOVEMENT

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन का उदय : कारण
1.4 भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना
1.5 काँग्रेस की स्थापना: ए. ओ. ह्यूम की भूमिका
1.6 भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस क्यों बनी विभिन्न दृष्टिकोण
1.7 भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के कारण
1.8 कांग्रेस की लोकप्रियता का विकास
1.9 कांग्रेस: प्रारंभिक वर्षों में नीतियां
1.10 क्या कांग्रेस ब्रिटिश राज की संतान थी
1.10 उदारवादी राष्ट्रवाद
1.11 महात्मा गांधी और राष्ट्रीय आंदोलन
1.12 भारत का विभाजन
1.13 सार संक्षेप
1.14 शब्दावली
1.15 स्व -प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर
1.16 संदर्भ सूची
1.17 अभ्यास प्रश्न

1.1प्रस्तावना

16 वीं सदी में भारत अपनी समृद्धि और गौरव के चरमोत्कर्ष पर था और भारत की इस समृद्धि से प्रभावित होकर यूरोप के विभिन्न देश भारत के साथ व्यापार करने के लिए लालायित थे। भारत तथा अन्य पूर्वी देशों से व्यापार करने के उद्देश्य से लन्दन के कुछ व्यापारियों ने 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' की स्थापना की और 31 दिसम्बर 1600 ई. को ब्रिटिश साम्राज्ञी एलिजाबेथ ने इस कम्पनी को भारत के साथ व्यापार करने का एकाधिकार प्रदान किया। ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा तेजी से प्रगति की गई और व्यापारिक प्रतियोगिता में पुर्तगाली, डच तथा फ्रेंच व्यापारिक कम्पनियों को पराजित कर भारत के व्यापार पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया गया। धीरे-धीरे कम्पनी ने व्यापार की आड़ में भारतीय राजनीति में सशक्त हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया। 1857 तक भारत के एक बड़े भाग पर कम्पनी का शासन स्थापित हो चुका था। इन वर्षों में अंग्रेजों की नीतियों एवं कुत्सित कार्यों ने भारतीयों को झकझोर दिया और भारतीयों के हृदय में अंग्रेजों के विरुद्ध भड़क रही ज्वाला ने 1857 की महान क्रान्ति को जन्म दिया।

मात्र 1857 का विद्रोह क्रान्ति ही नहीं, 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का समस्त काल ही भारत में राष्ट्रीयता के जन्म का काल कहा जाता है। वस्तुतः 18 वीं और 19 वीं सदी के समाज सुधारक वास्तव में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रवर्तक थे। उन्होंने तत्कालीन समाज में जागृति का बीज बोया और राजनीतिक चेतना को जन्म दिया जो भारत के भावी राष्ट्रीय आन्दोलन का आधार बना। इस काल में देश के विभिन्न भागों में अनेक राष्ट्रीय संगठनों का निर्माण हुआ, जिनमें इण्डियन एसोसिएशन (1876), ईस्ट इण्डिया एसोसिएशन (1869), इण्डिया लीग (1857), बॉम्बे प्रेसीडेंसी एसोसिएशन और महाजन सभा (1881) प्रमुख है। इन संगठनों ने देश के विभिन्न भागों में राजनीतिक चेतना जगाने का बहुमूल्य काम किया।

1857 के स्वतन्त्रता संग्राम की असफलता का मुख्य कारण यही था कि वह स्वतन्त्रता प्राप्ति का सामूहिक प्रयत्न नहीं था। किन्तु उसमें भारतीय असन्तोष की व्यापक अभिव्यक्ति हुई थी। सन् 1861 से 1885 तक एक नूतन चेतना का अभ्युदय हुआ, जिसकी अभिव्यक्ति 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' के रूप में हुई। राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के बाद भारतीय राष्ट्रीयता का प्रमुख उद्देश्य ब्रिटिश शासन से मुक्ति प्राप्त करना हो गया जिसमें कांग्रेस ने सदैव केन्द्रीय भूमिका अदा की। डॉ. पट्टाभि सीता रमैया के अनुसार, "कांग्रेस का इतिहास ही भारत की स्वतन्त्रता के संघर्ष का इतिहास है, यद्यपि कांग्रेस की स्थापना के पूर्व और पश्चात् दूसरी अनेक शक्तियों के द्वारा भी इस उद्देश्य से कार्य किया गया था, लेकिन कांग्रेस ने भारतीय स्वाधीनता के संघर्ष में सदैव ही धुरी का

कार्य किया। यह वह धुरी थी जिसके चारों ओर स्वतन्त्रता की महान गाथा की विविध घटनाएँ हुई।"

1.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्नलिखित कार्य करने में सक्षम होंगे:

इस पाठ्य का उद्देश्व विद्यार्थियों को भारतीय स्वतंत्रता संडाम, उसके विभिन्न चरणों और घटनाओं के बारे में विस्तृत जानकारी प्रदान करना है। जो निम्नवत है

- महात्मा गांधी के योगदान और उनके नेतृत्व में बनाए गए विभिन्न आंदोलनों की महता समक्षा में आए, जिससे राष्ट्रीय आआंदोलन के प्रति विद्यार्थियों की रोचकता बरे जो उन्हें समाज में बेहतर बनने में मदद की।
- राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक आआंदोलनों से विद्यार्थियों में राष्ट्रीय एकता और सांस्कृतिक समरसता का भाव जागृत हो।
- असहयोग, सविनय अवज्ञा आंदोलन और भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम जैसे प्रमुख आंदोलनों के बारे में जानकर विदयार्थियों में देशभक्ति की आवना बढे।
- विद्यार्थियों में भारतीय संस्कृति और पाश्चात्य विचारधारा का संतुलन विकसित करने में यह पाठ्य सहायक होगा।
- विभिन्न प्रकार के प्रश्नों से विद्यार्थी इस विषय में गहरी समझ और विश्लेषणात्मक क्षमता विकसित करेंगे

1.3 भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन का उदय : कारण

भारत में राष्ट्रीय चेतना की जागृति अथवा राष्ट्रीय आन्दोलन का अभ्युदय किसी एक घटना का परिणाम नहीं कहा जा सकता है। वास्तव में राष्ट्रीय आन्दोलन अनेक राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के एकत्रीभूत प्रभाव का परिणाम है। प्रारम्भ में कुछ घटनाएँ इतनी सूक्ष्म थीं कि उनका प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं हुआ, परन्तु वे अपने अन्दर धुएँ में छिपी अग्नि सादृश्य शक्ति रखती थी, जिसका परिणाम किसी न किसी विस्फोट में हुआ। सन् 1857 की क्रान्ति कुछ इसी प्रकार का विस्फोट थी।

राष्ट्रीय आन्दोलन वस्तुतः जन असन्तोष का परिणाम होता है। यह असन्तोष धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा अन्य क्षेत्रों में उत्पन्न हुआ जो भारत में साम्राज्य विरोधी और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावनाओं के उदय का कारण बना। संक्षेप में, भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में अनेक शक्तियों और कारणों का संश्लेषण रहा है। जहां

धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों ने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि तैयार की थी वहां अंग्रेजों की क्रूर, निर्दयी, अराष्ट्रीय और जातीय भेद-भाव की नीतियों ने उसकी अच्छी खासी फसल तैयार कर दी थी। अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीतियों ने ही भारत में आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक आक्रोश को जन्म दिया जिन्होंने अन्ततः राष्ट्रीयता और स्वतन्त्रता की भावनाओं को बलवती किया। संक्षेप में, भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के उदय के प्रमुख कारण निम्न है-

(1) राजनीतिक एकता की स्थापना (Establishment of Political Unity)- ब्रिटिश शासन से पूर्व भारत में राजनीतिक एकता का अभाव था। ब्रिटिश शासन ही पहली बार सम्पूर्ण देश को एक दृढ़ केन्द्रीय शासन के सूत्र में आबद्ध करने में सफल हुआ। अंग्रेजों से पूर्व भारत अनेक छोटे-छोटे खण्डों एवं राज्यों में विभाजित था। प्रथम बार सारे देश के लिए एक ही कानून और न्याय व्यवस्था की स्थापना हुई। अखिल भारतीय सेवाओं ने प्रशासनिक एकता को उत्पन्न किया। इसी राजनीतिक एकता की बुनियाद पर भारत की राष्ट्रीय एकता निर्मित हुई। पून्निया के शब्दों में, "हिमालय से कुमारी अंतरीप तक सम्पूर्ण भारत एक सरकार के अधीन आ गया और इसने जनता में राजनीतिक एकता की भावना को जन्म दिया।"

यद्यपि ब्रिटिश शासन का उद्देश्य भारत में राजनीतिक एकता उत्पन्न करना नहीं था। लेकिन सम्पूर्ण देश में एक ही प्रकार की शासन व्यवस्था स्थापित हो जाने से तथा ब्रिटिश प्रशासन के भारतीयों के प्रति कठोर रवैये से शोषित भारतीयों में ब्रिटिश साम्राज्य का अन्त करने की भावना बलवती होने लगी। इस राजनीतिक एकता ने ही लोगों को संकीर्ण विचारों से उबारा और वे अपने ही क्षेत्र के प्रति असीम स्नेह जैसे संकीर्ण विचारों से परे समस्त राष्ट्र के हितों के बारे में सोचने-समझने को उद्यत हुए। यह राजनीतिक एकता राष्ट्रीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि तैयार करने में सशक्त पहलू सिद्ध हुई। पं. जवाहरलाल नेहरू के अनुसार, "ब्रिटिश शासन द्वारा स्थापित भारत की राजनीतिक एकता सामान्य अधीनता की एकता थी, लेकिन उसने सामान्य राष्ट्रीयता की एकता को जन्म दिया।"

(2) धार्मिक एवं सामाजिक आन्दोलन (Religious and Social Movements)- धार्मिक पुनरुत्थान, सामाजिक जागृति एवं भारत के प्राचीन वैभव के प्रति श्रद्धाभाव के कारण भी राष्ट्रीयता को प्रेरणा मिली। डॉ. जकारिया ने अपनी पुस्तक 'रिनेसेण्ट इंडिया' में ठीक हो लिखा है, "भारत की पुनर्जागृति मुख्यतया आध्यात्मिक थी तथा एक राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप धारण करने के पूर्व इसने अनेक सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनों का सूत्रपात किया। 19 वीं सदी के धार्मिक और सामाजिक सुधार आन्दोलन राष्ट्रीयता के विकास में

बहुत अधिक सहायक सिद्ध हुए।" गुरुमुख निहालसिंह के अनुसार "राष्ट्रीय आन्दोलन के पूर्वगामी एवं प्रेरक धार्मिक सुधार आन्दोलन मुख्यतः धार्मिक एवं सामाजिक आन्दोलन के साथ ही राष्ट्रीय भी थे। इन्होंने भारतवासियों को अपने महान उत्तराधिकार के प्रति सचेत किया और उनमें राष्ट्रीय भावना जागृत की।" अनेक धार्मिक और सामाजिक सुधारकों राजा राम मोहनराय, देवेन्द्रनाथ सेन, के.सी. सेन, पी.सी. मजूमदार, ईश्वर चन्द्र विद्यालंकार, दयानन्द सरस्वती, एनी बेसेन्ट, रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द ने भारतीयों को भारत की महानता तथा प्राचीनकाल में आध्यात्म के क्षेत्र में 'जगत गुरू' माने जाने वाले भारत देश का स्मरण करा उसे पुनः प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित किया। भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रेरक ये सामाजिक धार्मिक, आन्दोलन निम्न थे-

(i) **ब्रह्म समाज**- ब्रह्म समाज की स्थापना राजा राममोहन राय ने 1828 में की। राजा राममोहन राय धार्मिक व सामाजिक पुनर्जागरण के अग्रदूत कहे जाते हैं। उन्होंने ब्रह्म समाज के माध्यम से अंधे कुएँ में कैद भारतीय समाज का मार्ग प्रशस्त किया। सती प्रथा का अन्त, अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार, स्त्रियों का उद्धार, धार्मिक पाखण्डों का प्रबल विरोध करने के साथ-साथ अपने देशवासियों के राजनीतिक अधिकारों की रक्षा के लिए संघर्ष भी किया और राष्ट्रीय चेतना की जागृति का बीज बोया।

(ii) **आर्य समाज** - स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 1875 में आर्य समाज की स्थापना की। आर्य समाज ने न केवल हिन्दू धर्म की इस्लाम और ईसाई धर्म के आहार बनने से रक्षा की, बल्कि इस्लामिक और ईसाइयत संस्कृति और सभ्यता के जादू को तोड़ा। इसने हिन्दू धर्म की बुराइयों को दूर किया, रूढ़िवाद का विरोध किया तथा वैदिक धर्म की महानता का प्रतिपादन किया। स्वामी दयानन्द ने भारतीयों में राष्ट्रीय भावना को भी जगाया। 'सत्यार्थ प्रकाश' में उन्होंने स्पष्ट लिखा कि, "स्वदेशी राज्य, चाहे वह कितनी ही त्रुटियों से पूर्ण हो, अच्छे से अच्छे विदेशी राज्य से कहीं अधिक अच्छा है।" उन्होंने घोषणा की कि, "भारत भारतीयों के लिए है।" ऐसी भावनाओं से निश्चय ही राष्ट्रीय आन्दोलन की भावना बलवती हुई।

(iii) **रामकृष्ण मिशन** - भारतीय पुनर्जागरण में रामकृष्ण परमहंस का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उन्होंने उपनिषदों के आधार पर आध्यात्म, त्याग व सेवा का संदेश दिया। उनका मानना था कि भारत की समस्याओं का समाधान भारतीय धर्म और संस्कृति द्वारा ही हो सकता है। उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की तथा हिन्दू धर्म को दुनिया में अपूर्व सम्मान व मान्यता दिलवाई। सन् 1893 के शिकागो के विश्व धर्म सम्मेलन में स्वामी विवेकानन्द ने भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता

की व्याख्या की तथा हिन्दू धर्म की दुन्दुभि बजा दी। विवेकानन्द ने अपने संदेशों द्वारा भारतीय राष्ट्र के मनोबल को ऊँचा उठाया।

(iv) **थियोसोफिकल सोसायटी-** भारतीय राष्ट्रवाद को जगाने में थियोसोफिकल सोसायटी तथा आयरिश महिला एनी बेसेन्ट का भी योगदान रहा है। दक्षिण भारत में मद्रास के निकट आडयार नामक स्थान में सोसायटी का केन्द्र स्थापित किया गया और हिन्दू धर्म की महानता का प्रचार किया गया। सोसायटी ने अनेक सामाजिक और धार्मिक गतिविधियों द्वारा भारतीयों में राष्ट्रवाद की ज्योति जागृत की और भारतीय जनता में आत्मविश्वास पैदा किया।

(v) **अन्य आंदोलन** तथा कार्य राष्ट्रीय चेतना की जागृति में रानाडे की 'विडो-रिमैरिज एसोसिएशन' गोखले की 'सरवेण्ट ऑफ इंडिया सोसायटी' का भी महान योगदान रहा है। मेक्समूलर, मोनियर विलियम्स रौथ, जैकोबी, कौलबुक इत्यादि यूरोपियन विद्वानों ने भारतीय संस्कृति और साहित्य की मुक्त कंठ से प्रशंसा की, इससे भारतीयों में इस भावना का उदय हुआ कि उनका साहित्य और संस्कृति किसी भी दृष्टि से यूरोपियन संस्कृति से घटिया नहीं है।

इन धार्मिक और सामाजिक सुधारों ने राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न करने की दिशा में अपूर्व कार्य किया। इन सुधार आंदोलनों ने एक ऐसी पृष्ठभूमि और वातावरण निर्मित किया, जिसके आधार पर राष्ट्रीयता की भावना विकसित हो सकी। इन आंदोलनों ने धर्म व समाज की एकता के आधार पर देशव्यापी एकता को जन्म दिया जो राष्ट्रीय आंदोलन का आधार बनी और भारतीय अपने चरम लक्ष्य स्वतन्त्रता प्राप्ति की ओर अग्रसर हुए।

(3) **पाश्चात्य शिक्षा का योगदान (Western Education)-** अंग्रेजी शासकों द्वारा भारत में अंग्रेजी शिक्षा प्रारम्भ करने का उद्देश्य अंग्रेज भक्त वर्ग एवं सफेद पोश बाबू उत्पन्न करना भी था। यद्यपि वे अपने उद्देश्य में कुछ हद तक सफल भी रहे, किन्तु पाश्चात्य शिक्षा का एक दूसरा पक्ष भी था कि अंग्रेजी साहित्य, जो कि स्वतन्त्रता एवं समानता की उदात्त भावनाओं से परिपोषित है, भारत में राष्ट्रीयता एवं स्वतन्त्रता की भावनाओं को प्रोत्साहित करने में महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

पाश्चात्य शिक्षा के कारण भारतीय उच्च कोटि के अंग्रेज विचारकों के सम्पर्क में आये। बायरन, वर्ड्सवर्थ, मिल्टन, बर्क, हरबर्ट स्पेंसर, थामस पेन, शैली आदि की रचनाओं व उदार विचारों ने भारतीयों को स्वतन्त्रता व मानवीय महत्ता का एक नया संदेश दिया। मैजिनी और गैरीबाल्डी के राष्ट्रीय एकता के विचारों ने भारतीयों में मातृ-भूमि की स्वतंत्रता और राष्ट्रीय एकता का संचार किया। अमरीका की स्वतंत्रता की

घोषणा, फ्रांस की राज्य क्रान्ति, इटली का एकीकरण उनके पथ प्रदर्शक बन गये। मेकडॉनल्ड के अनुसार, "स्पेन्सर का व्यक्तिवाद तथा मार्ले का उदारवाद वह शस्त्र है जिन्हें भारत ने हमसे छीनकर हमारे ही विरुद्ध प्रयुक्त करना शुरू कर दिया।" अंग्रेजी भाषा से भारतवासी एक दूसरे के निकट आए और एक-दूसरे के विचारों को भली-भाँति समझने लगे। अनेक भारतीय विदेशों में शिक्षा ग्रहण करने हेतु गए और वहाँ से स्वतंत्रता, समानता, भातृत्व तथा लोकतंत्र की भावनाओं को लेकर लौटे।

पाश्चात्य शिक्षा ने अंग्रेजी पढ़े-लिखे एक नये वर्ग की सृष्टि की, जो पाश्चात्य संस्कृति और राजनीतिक विचारों से प्रभावित था। यह भारत का नया मध्यम वर्ग था। इस वर्ग के जरिए अंग्रेजों ने भारत पर शासन किया। तथापि इस वर्ग के जरिए व्यक्ति की स्वतंत्रता और वैधानिक शासन के विचार फैले और इसी वर्ग से अंग्रेजी राज्य को चुनौती देने वाले राजनीतिक नेता उठे। उदाहरणार्थ, भारतीय राष्ट्रीयता के प्रारम्भिक सभी पक्षधर जैसे राजा राममोहन राय, दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, वोमेशचन्द्र बनर्जी, फिरोजशाह मेहता, गोपालकृष्ण गोखले, आदि सभी अंग्रेजी शिक्षा की ही देन थे। जैसे-जैसे शिक्षित मध्यम वर्ग की शिक्षा में वृद्धि हुई तथा उनमें असंतोष बढ़ने लगा, राष्ट्रीय आंदोलन की ज्वाला भी बढ़ती गई। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा है, "हमको इंग्लैण्ड का परिचय उसके गौरवमय इतिहास से मिला जिसने हमारे नवयुवकों में एक नवीन स्फूर्ति तथा प्रेरणा को उत्पन्न किया। अंग्रेज लेखकों की रचनाएं मानव प्रेम, स्वतंत्रता तथा न्याय से परिपूर्ण थीं। इन्हें पढ़कर भारतीयों में नया उत्साह उत्पन्न हुआ।" इस प्रकार पाश्चात्य शिक्षा ने भारतीय राष्ट्रवाद को महत्वपूर्ण आधार प्रदान किया।

(4) समाचार-पत्र और राष्ट्रीय साहित्य (Press and Nationalist Literature)- मुनरो ने लिखा है कि "एक स्वतंत्र प्रेस और विदेशी राज एक दूसरे के विरुद्ध हैं और यह दोनों एक साथ नहीं चल

सकते।" अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से भारत में प्रेस का विकास हुआ और समाचार पत्रों की संख्या बढ़ने लगी। राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रारम्भिक दिनों में जब राष्ट्रीय नेताओं के पास कोई सामान्य मंच नहीं था, तब भारतीय भाषाओं में प्रकाशित होने वाले पत्रों ने ही राष्ट्रीयता की भावना फैलाने में अभूतपूर्व योगदान दिया। भारतीय समाचार पत्रों ने अंग्रेजी समाचार पत्रों के भारत विरोधी प्रचार और राष्ट्रविरोधी नीतियों का प्रबल विरोध कर जनता को वस्तुस्थिति से अवगत कराया था तथा अंग्रेजी राज के कारनामों का भंडाफोड़ किया। इस श्रेणी के समाचार पत्रों में अमृत बाजार पत्रिका, सम्वाद कौमुदी, ट्रिब्यून, बाम्बे समाचार, बंगदूत, पॉयनियर, हिन्दू, रास्त गुफ्तार, केसरी, इण्डियन मिरर, आदि प्रमुख थे। इन भारतीय राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत समाचार पत्रों ने लोगों के हृदय में

देशभक्ति, त्याग, बलिदान एवं राष्ट्रीयता की संवाहिनी प्रवाहमान कर दी और ब्रिटिश राज के काले कारनामों के विरुद्ध विद्रोह की ज्वाला जगाई एवं जागरूकता उत्पन्न की, स्वतंत्र भारत का महान् स्वप्न दे उसे साकार करने की पेशकश की।

प्रेस के साथ राष्ट्रीय साहित्य के विकास ने भी राष्ट्रीय आंदोलन व राष्ट्रीयता की उदात्त भावनाओं की पृष्ठभूमि तैयार की। बंगाली, उर्दू, हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि अनेक भाषाओं में राष्ट्रीय साहित्य रचा गया। बंकिमचन्द्र चटर्जी, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, रवीन्द्रनाथ टैगोर, चिपलूणकर, मधु सूदन दत्त इत्यादि अनेक साहित्यकारों ने विभिन्न भाषाओं में राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत उत्कृष्ट साहित्य का सृजन किया। यह साहित्यिक अभिवृद्धि भारतीय राष्ट्रीयता के लिए वरदान साबित हुई।

(5) अंग्रेजों की जातीय भेदभाव की नीति (British Policy of Racial Discrimination)- अंग्रेजों ने जातीय भेदभाव की नीति अपनायी। 1857 की क्रान्ति के पश्चात् वे भारतीयों से घृणा करने लगे जिसके परिणामस्वरूप पारस्परिक घृणा व कटुता का विषैला वातावरण बनने लगा। वे भारतीयों को ऐसा जन्तु समझते थे, जो आधा वनमानुष और आधा नीग्रो था और जिसे केवल भय द्वारा ही समझाया जा सकता था। अंग्रेजों का मानना था कि एक यूरोपियन का जीवन अनेक भारतीयों के जीवन के बराबर है। बहुत सी ऐसी घटनाएँ हुई जिनमें अंग्रेजों ने भारतीयों की हत्या की अथवा उनके साथ बर्बरतापूर्ण व्यवहार किया। अंग्रेज अपराधियों को भयंकर अपराध करने पर मामूली सजा दी जाती या छोड़ दिया जाता था। अंग्रेजों के इस जातीय कटुतायुक्त व्यवहार ने भारतीयों के हृदय में जबरदस्त रोष उत्पन्न किया। गैरट के अनुसार भारतीय राष्ट्रीयता की बढ़ोत्तरी में जातीय कटुता की भावना का बहुत बड़ा प्रभाव हुआ। जातीय भेदभाव प्रशासन व जीवन के हर क्षेत्र में विद्यमान था। भारतीय सदैव संदेह की दृष्टि से देखे जाते थे। होटल, क्लब आदि में भारतीय अंग्रेजों की तरह जाने के लिए स्वतंत्र न थे। उन्हें हर क्षेत्र में अपमान का घूंट पीकर रह जाना पड़ता था। प्रशासन के उच्च पदों से भारतीय वंचित रखे जाते थे। सेना में एक अंग्रेज रंगरूट की समान योग्यता वाले भारतीय को कम वेतन मिलता था और ऊपर से 'सूअर' 'हब्शी' जैसे शब्दों का तीखा प्रहार सहना पड़ता था। क्या यह सब भारतीय राष्ट्रीयता को झकझोर देने वाला न था ?

(6) **लार्ड लिटन का दमनकारी शासन (Lord Lytton's Repressive Measures)-** सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने लिखा है कि 'राजनीतिक प्रगति के विकास में बुरे या क्रूर शासक बहुधा एक गुप्त वरदान के रूप में आते हैं। उनके कारण समाज में ऐसी जागृति उत्पन्न होती है, जैसी वर्षों के प्रचार और आंदोलन से भी उत्पन्न न हो।' वास्तव में भारत में लार्ड लिटन के शासन के सम्बन्ध में यह कथन खरा उतरता है। लार्ड लिटन के

शासनकाल (1876-1880) की भूलों व उसके मूर्खतापूर्ण कृत्यों ने राष्ट्रीय आंदोलन को संगठित करने में सहायता की और उसे उग्र रूप प्रदान किया।

876 में लार्ड लिटन ने भारतीय नागरिक सेवा की आयु 21 वर्ष से घटाकर 19 वर्ष कर दी जिससे 'इण्डियन एसोसिएशन' को आन्दोलन का अवसर मिला। 1877 में जबकि भारत भयंकर अकाल से ग्रस्त था और जनता त्राहि-त्राहि कर रही थी, उसने विशाल दरबार आयोजित कर विक्टोरिया को भारत की महारानी घोषित किया। भारतीय समाचार पत्रों ने इसके विरुद्ध आवाज उठाई। 1878 में 'वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट' पारित कर भारतीय भाषाओं के समाचार पत्रों पर आघात किया गया और कड़े नियन्त्रण लगाये गए। भारत के शिक्षित वर्ग ने इसे 'गैगिंग एक्ट' का नाम दिया। शस्त्र एक्ट (Arms Act) पारित कर भारतीयों को बिना लाइसेंस के शस्त्र रखने की मनाही कर दी गई, जबकि अंग्रेजों पर यह कानून लागू नहीं होता था। इसी तरह लंकाशायर के स्वार्थ के लिए विदेशी सूती कपड़े पर से आयात कर हटा दिया जिससे भारतीय सूती उद्योग ठप्प होने लगा और भारतीय बाजार सस्ते विदेशी सूती कपड़े से पट गए। लार्ड लिटन की अफगानिस्तान पर आक्रमण की नीति भी घोर निन्दा का विषय बनी। इस आक्रमण का विशाल खर्चा भारत की निर्धन जनता को वहन करना पड़ा।इन सब दमनात्मक कुत्सित कार्यों का परिणाम यह हुआ कि भारतीय राष्ट्रीयता अब स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए व्यग्र हो गई।

(**7) इल्बर्ट बिल विवाद (Ilbert Bill Controversy)-** लार्ड लिटन के पश्चात् 1880 में लार्ड रिपन भारत के गवर्नर जनरल बनकर आए। वह अत्यंत उदार व्यक्ति थे। उन्होंने महसूस किया कि पूर्ववर्ती वाइसराय की नीतियों तथा कार्य-कलापों से भारतवासियों में महान् असंतोष फैला है। रिपन भारतीयों के प्रति सहानुभूति रखते थे। प्रशासन के कई क्षेत्रों में अनेक सुधार करने के बाद उन्होंने न्याय व्यवस्था में भी सुधार करना चाहा क्योंकि उस समय न्याय क्षेत्र में घोर असमानता व जातीय विभेद की नीति विद्यमान थी। भारतीय न्यायाधीशों को यूरोपियन अपराधियों के मुकदमे सुनने का अधिकार नहीं था। अतः सन् 1883 में लार्ड रिपन की कार्यकारिणी के विधि सदस्य मि. पी.सी. इल्बर्ट ने परिषद् में एक विधेयक प्रस्तुत किया जिसका उद्देश्य न्यायिक क्षेत्र में इस भेदभाव को समाप्त करना था। इस विधेयक द्वारा भारतीय न्यायाधीशों को भी यूरोपियन अपराधियों के मुकदमे सुनने का अधिकार दिया गया। परन्तु इससे यूरोपियनों को बड़ा क्षोभ हुआ। उन लोगों ने संगठित होकर इस विधेयक का घोर विरोध किया। उन्होंने इसे अपना जातीय अपमान समझा। उनके प्रबल विरोधी आंदोलन से इस विधेयक को समाप्त कर देना पड़ा। यह तय हुआ कि भारतीय न्यायाधीशों को यूरोपियन अपराधियों के फैसले का अधिकार होगा, किन्तु ये यूरोपियन अपराधी अपने मुकदमें में जूरी बैठाने की माँग कर

सकेंगे जिसके कम से कम आधे सदस्य यूरोपियन होंगे। इल्बर्ट विधेयक ने भारतीयों की आँखें खोल दीं। इसने भारतीयों को यह पाठ पढ़ाया कि संगठन ही शक्ति है। इस विवाद ने शिक्षित वर्ग को संगठित राजनीतिक आंदोलन की आवश्यकता से अवगत कराया। हेनरी कॉटन का मानना है कि इस विधेयक के विरोध में किए गए यूरोपीय आंदोलन ने भारत की राष्ट्रीय विचारधारा को जितनी एकता प्रदान की उतनी तो विधेयक पारित होकर भी नहीं कर सकता था।

(8) **आर्थिक असंतोष (Economic Discontent)-** भारत में राष्ट्रीयता के उदय में आर्थिक कारणों का भी कम योगदान नहीं रहा। ईस्ट इंडिया कम्पनी का प्रमुख उद्देश्य हर संभव तरीकों से अधिकतम लाभ कमाना और अपनी झोली भरना था चाहे इसके परिणाम कुछ भी रहें। 17 वीं सदी तक जो भारत 'सोने की चिड़िया' के नाम से विख्यात था, उसका वह गौरव अवसान की ओर तेजी से बढ़ने लगा था। धन का प्रवाह ब्रिटेन की ओर हो रहा था और भारत साधनहीन और विदेशों पर मोहताज बनता जा रहा था। कम्पनी ने भारत के उद्योग-धन्धों को प्रायः समूल नष्ट कर दिया। हस्तकला व शिल्पकला भी प्रोत्साहन के अभाव, विदेशी माल से प्रतिस्पर्द्धा एवं अपनी मजबूरियों के कारण पतनोन्मुख हो गई जिससे चारों ओर निर्धनता का साम्राज्य व्याप्त हो गया। उद्योग-धन्धों के विनाश से लोग भूमि की ओर बढ़े जिससे भूमि पर दबाव बढ़ गया। सरकार ने कृषि की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। आये दिन अकाल ने स्थिति को और भी अधिक दयनीय बना दिया। इस आर्थिक शोषण ने जनता के असंतोष को चरम सीमा पर पहुँचा दिया, जिसकी अभिव्यक्ति राष्ट्रीय आन्दोलन के रूप में हुई, क्योंकि आर्थिक दृष्टि से स्वाधीन होने के लिए राजनीतिक दृष्टि से स्वाधीन होना आवश्यक था।

(9**) 1857 का स्वतंत्रता संग्राम (The War of Independence, 1857)-** भारतीयों में कई वर्षों से अंग्रेजों के प्रति पनप रही घृणा व अंग्रेजों के कुकृत्यों के प्रति रोष की अभिव्यक्ति 1857 की क्रान्ति के रूप में हुई। यद्यपि यह क्रांति कुछ कारणों से असफल रही, लेकिन इसकी असफलता ने भारतीय राष्ट्रीयता को सफलता का दामन थमा दिया और उसे वह मूलमंत्र दिया जिससे वह अपना लक्ष्य प्राप्त कर सके। 1857 की क्रांति का दमन अंग्रेजों ने जिस पाशविकता से किया उसे देख भारत की आत्मा कराह उठी और जन असंतोष बहुत अधिक बढ़ गया ।1857 की क्रांति के बाद ही स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए संगठित प्रयास शुरू हुए और राष्ट्रीय आंदोलन को बल मिला ।

(10) **विदेशी आंदोलन व घटनाओं का प्रभाव (The Impact of External Movements and Events)-** इटली, जर्मनी, रूमानिया और सर्बिया के राजनीतिक आंदोलन, फ्रांस की राज्य क्रांति के "स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व " के संदेश,

आयरलैण्ड के होमरूल आंदोलन, इंग्लैण्ड में सुधार कानूनों का पारित होना आदि घटनाओं ने भारतीयों के मस्तिष्क पर प्रभाव डाला। इन आंदोलनों ने भारतीयों को दृढ़ता प्रदान की और स्वाधीनता प्राप्ति के लिए प्रेरित किया। 1893 में जब एक छोटे से देश अबीसिनिया द्वारा इटली जैसे विशाल देश तथा 1904 में जापान द्वारा रूस को पराजित किया गया तो भारतीय राष्ट्रीयता को एक बहुत बड़ी शक्ति मिली और यह प्रेरणा मिली कि संगठित प्रयासों द्वारा मुठ्ठी भर अंग्रेजों को भारत से बाहर निकालना कठिन नहीं है।

निष्कर्ष (Conclusions)- ब्रिटिश सरकार का यह सौभाग्य था कि जनता के कष्ट और असंतोष ने विद्रोह का मार्ग न पकड़कर राष्ट्रीय आंदोलन का मार्ग पकड़ा। यह रास्ता सन् 1885 में 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' की स्थापना से मिला। सामाजिक और राजनीतिक सुधार की माँग धीरे-धीरे स्वतन्त्रता की आकांक्षा में बदल गई।

यह निर्विवाद सत्य है कि, "भारतीय राष्ट्रवाद ब्रिटिश राज का शिशु था।" पाश्चात्य शिक्षा, अंग्रेजी भाषा, अंग्रेजी साहित्य, अंग्रेजी समाचार पत्रों ने राष्ट्रवाद की प्रेरणा दी। अंग्रेजों की मूर्खतापूर्ण नीति, जातीय विभेद की नीति, आर्थिक शोषण तथा दमनकारी कानूनों ने भी वरदान का ही कार्य किया। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने ठीक ही लिखा है कि "बुरे शासक प्रायः अनजाने में जनता के लिए वरदान बन जाते हैं।" अंग्रेज शासकों ने भारतीय राष्ट्रवाद के प्रति आरम्भ से ही उदार दृष्टिकोण अपनाया, उसे पुष्पित और पल्लवित होने दिया। डॉ. ईश्वरी प्रसाद के शब्दों में, "पश्चिम के राजनीतिशास्त्र विशेषज्ञ लॉक, स्पेन्सर, मैकाले, मिल और बर्क के लेखों ने केवल भारतीयों के विचारों को ही प्रभावित नहीं किया अपितु राष्ट्रीय आन्दोलन की रूपरेखा और संचालन पर गहरा प्रभाव डाला।"

1.4 भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना

19 वीं सदी के उत्तरार्द्ध में जहां ब्रिटिश शासक यह विश्वास कर रहे थे कि अब भारत में उनका साम्राज्यशाही शासन पूर्ण रूप से स्थापित हो चुका है और जिन्होंने विरोधियों को भली-भाँति दबा लिया है वहां दूसरी ओर ब्रिटिश साम्राज्यशाही के विरुद्ध भारतवासियों में एक नई चेतना भी जागृत हो चुकी थी। यद्यपि अभी यह अंकुरित हो रही थी तथापि यह एक ऐसा बीज था जिसे नष्ट कर सकना ब्रिटिश शासकों के लिए असंभव था। भारत में ऐसी राष्ट्रीय चेतना होने के बहुमुखी कारण थे, जिनमें से लगभग सभी ब्रिटिश शासन की देन कहे जा सकते हैं। यदि अंग्रेज लोग ईमानदारी की भावना से भारतीय प्रजा के हितों को ध्यान में रखकर शासन की नीतियाँ अपनाते तो संभव था कि उनका साम्राज्य भारत में और अधिक समय तक चलता, साथ ही यदि वे मुसलमान आक्रमणकारियों की भांति भारत में बस जाने और यहाँ शासन करने का उद्देश्य रखते और अपने को

भारतीयता के रंग में रंगना चाहते तो भारत का राजनीतिक इतिहास कुछ और होता, परन्तु अंग्रेज भारत में भारतीय बनने के लिये कभी नहीं आए थे। उनका जातीय अभिमान, शोषण नीति तथा दमनकारी शासन एक दुधारी तलवार के रूप में सिद्ध हुआ। कांग्रेस के पूर्ववर्ती राजनीतिक संगठन (The Predecessor Political Organisations of the Congress) - 19वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध राजनीतिक राष्ट्रवादी चेतना के फूलने-फलने और एक संगठित राष्ट्रीय आन्दोलन के उद्भव और विकास का साक्षी है। इस दौर में भारत के नये शिक्षित वर्ग ने राजनीतिक शिक्षा के प्रसार और देश में राजनीतिक कार्यकलाप प्रारम्भ करने के लिए राजनीतिक संघों की स्थापना की। भारत में पहली राजनीतिक संस्था 1838 में कलकत्ता में "लैंड होल्डर्स सोसायटी" के नाम से बनी। लेकिन इसकी शुरूआत बंगाल, बिहार और उड़ीसा के जमींदार वर्ग के हितों की रक्षा के संकीर्ण उद्देश्य से की गयी थी। 1843 में बंगाल में, 'ब्रिटिश इण्डियन सोसायटी' का गठन एक वृहत्तर राजनीतिक उद्देश्यों से किया गया। 1851 में 'ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन' बनाया गया। उसके बाद 1852 में 'मद्रास नेटिव एसोसिएशन' और 'बम्बई एसोसिएशन' स्थापित हुए। पूरे पूरे देश में छोटे शहरों और कस्बों में ऐसी ही संस्थायें और क्लब स्थापित हुए। वे सभी स्थानीय किस्म के थे; प्रायः अधिसंख्य पर धनाढ्य व्यापारियों और जमींदारों का प्रभुत्व बना रहा। उन्होंने ब्रितानी भारतीय शासन तथा ब्रितानी संसद के सामने अपनी माँगें रखी और मुख्य रूप से प्रशासनिक सुधार, अधिक अनुपात में प्रशासनिक सेवाओं में भारतीयों की नियुक्ति, शिक्षा के प्रसार, सरकार में भारतीयों की भागीदारी और भारतीय उद्योग व्यापार को प्रोत्साहन दिलवाने के लिए कार्य किया। 1866 में दादा भाई नौरोजी ने भारतीय प्रश्नों पर विचार-विमर्श करने और ब्रितानी जनता के मत को प्रभावित करने के लिए लंदन में 'ईस्ट इण्डिया एसोसिएशन' संगठित किया। भारत के बड़े नगरों में भी उसकी शाखाएं संगठित की गई। 1870 में न्यायमूर्ति रानाडे, गणेश वासुदेव जोशी, एस.एच. चिपलुणकर तथा अन्य लोगों ने 'पूना सार्वजनिक सभा' का संगठन किया। 1870-80 के बीच में लिटन के वायसराय होने के दौर में खुले ढंग से प्रतिक्रियावादी और भारत विरोधी जो कदम उठाये गये उनके कारण भारतीय राष्ट्रवादियों के कार्यकलाप की मंद गति तेज हो गयी।'ब्रिटिश इण्डिया एसोसिएशन' की रूढ़िवादी और जमींदार समर्थक राजनीति उन मध्य और शिक्षित वर्ग के युवाओं के अनुकूल नहीं पड़ती थी, जिन्होंने जमींदारों के मुकाबले में खड़े होने वाली जनता की अगुवाई का दावा किया। उन्होंने आनन्द मोहन बोस और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के नेतृत्व में जुलाई, 1876 में 'इण्डिया एसोसिएशन' की स्थापना की, जिसने सिविल सेवाओं की परीक्षा पद्धति में सुधार के मुद्दे को प्रबल रूप से उठाया। 1884 में एम. वीरराघवाचारी, जी. सुब्रह्मनिया अय्यर, आनन्द चारलू तथा अन्य लोगों ने

'मद्रास महाजन सभा' बनायी। 1885 में फिरोजशाह मेहता, के.टी. तैलंग आदि ने 'बम्बई प्रेसीडेंसी एसोसिएशन' की स्थापना की।

1.5 काँग्रेस की स्थापना: ए. ओ. ह्यूम की भूमिका(Foundation of the Congress: The Contribution of A.O. Hume)

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना दिसम्बर, 1885 में हुई। अनेक भारतीय राष्ट्रवादी राजनीतिक कार्यकर्ता एक अखिल भारतीय संगठन बनाने की योजना बना रहे थे। परन्तु इस विचार को मूर्त रूप और अंतिम रूप देने का श्रेय एक सेवानिवृत्त अंग्रेज अफसर ए, ओ. ह्यूम को है। उन्होंने 1 मार्च, 1883 को कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातकों के नाम एक अत्यन्त हृदयस्पर्शी पत्र लिखा। उसमें उन्होंने उन्हें प्रेरित करते हुए इस शाश्वत सत्य पर बल दिया कि सुख और स्वतंत्रता के लिए आत्मत्याग और निः स्वार्थता ही विश्वसनीय पथ प्रदर्शक है। इस पत्र में में ह्यूम ने 5 50 ऐसे निःस्वार्थ नवयुवकों की मांग की जो निःस्वार्थी, आत्मसंयमी व नैतिक साहस रखने वाले हों। ह्यूम ने अपनी योजना के संबंध में नये वायसराय लॉर्ड डफरिन से वार्ता की। डफरिन ने उनकी बातों को ध्यानपूर्वक सुना और प्रस्तावित कार्य क्षेत्र को बढ़ाने का सुझाव दिया। इस वार्ता के संबंध में कांग्रेस के प्रथम अध्यक्ष व्योमेश चन्द्र बनर्जी लिखते हैं कि 'ह्यूम का विचार था कि भारत के प्रमुख व्यक्ति वर्ष में एक बार एकत्र होकर सामाजिक विषयों पर चर्चा कर लिया करें। वे नहीं चाहते थे कि उनकी चर्चा का विषय राजनीतिक रहे- क्योंकि बम्बई, कलकत्ता और मद्रास में पहले से ही राजनीतिक मंडल थे। उन्होंने कहा कि इस संस्था को इंग्लैण्ड की तरह यहाँ सरकार के विरोध का कार्य करना चाहिए। उन्होंने यह इच्छा व्यक्त की कि यहाँ राजनीतिज्ञ प्रतिवर्ष अपना सम्मेलन किया करें और सरकार को बताया करें कि शासन में क्या-क्या त्रुटियाँ हैं और क्या सुधार किये जाएँ।" ह्यूम ने अपनी योजना में वायसराय के निर्देश के अनुसार परिवर्तन किया और वे इंग्लैण्ड पहुँचे। इंग्लैण्ड में उन्होंने वहां के प्रमुख व्यक्तियों लॉर्ड रिपन, डलहौजी, जॉन ब्राहट और स्लेग आदि से विचार विनिमय किया। भारत लौटने के पूर्व उन्होंने इंग्लैण्ड में 'भारतीय संसद समिति' का संगठन किया, जिसका उद्देश्य ब्रिटिश संसद के सदस्यों में भारतीय मामलों के प्रति दिलचस्पी उत्पन्न करना था। इंग्लैण्ड से वापस आने पर यह निश्चय किया गया कि कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन पूना में 25 से 28 सितम्बर 1885 तक होगा। लेकिन पूना में हैजा शुरू हो जाने पर अधिवेशन पूना के स्थान पर बम्बई में किया गया। 28 सितम्बर, 1885 के दिन प्रातः 11 बजे गोकुलदास तेजपाल संस्कृत कॉलेज के भवन में कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन प्रारम्भ हुआ, जिसकी अध्यक्षता व्योमेशचन्द्र बनर्जी द्वारा की गई। अधिवेशन में भारत के अनेक प्रसिद्ध व्यक्ति दादा भाई नौरोजी,

फिरोजशाह मेहता, दीनसा एदलजी वाचा, काशीनाथ तैलंग, नारायण गणेश चन्द्रावरकर, पी. आनन्दाचालू आदि उपस्थित थे। कूपलैण्ड ने लिखा हैं "भारतीय राष्ट्रीयता ब्रिटिश राज की शिशु थी और ब्रिटिश अधिकारियों ने उसके पालने को (Cradle) आशीर्वाद दिया।" अधिवेशन में सर विलियम वैडरबर्न और रानाडे जैसे सरकारी अधिकारी भी उपस्थित थे।

1.6 भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस क्यों बनी विभिन्न दृष्टिकोण (Why Indian National Congress: Various Views)

कांग्रेस की स्थापना क्यों की गई? इस सम्बन्ध में मोटे रूप से दो दृष्टिकोण प्रचलित हैं, जो इस प्रकार हैं-

(1) सुरक्षा वाल्व दृष्टिकोण (Safety Valve Approach);

(2) कांग्रेस भारतीय हितों की रक्षा करने वाली एक अखिल भारतीय संस्था के रूप में (Interest Group Approach).

(1) सुरक्षा वाल्व दृष्टिकोण लाला लाजपतराय जैसे लोग यह मानते हैं कि कांग्रेस डफरिन के दिमाग की उपज थी। लाला लाजपतराय ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'यंग इण्डिया' में लिखा है, कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना का मुख्य उद्देश्य यह था कि इस संस्था के संस्थापक ब्रिटिश साम्राज्य की संकटों से रक्षा करना और उसको छिन्न-भिन्न होने से बचाना चाहते थे। प्रसिद्ध इतिहासकार रजनी पामदत्त ने अपनी पुस्तक 'इण्डिया टुडे' (India Today) में यहाँ तक लिखा है कि इसके लिए ब्रिटिश शासन ने गुपचुप योजना तैयार की थी ताकि उस समय आसन्न हिंसक क्रांति को टाला जा सके। ये लोग सबूत के तौर पर ह्यूम के जीवनी लेखक सर विलियम वैडरबर्न की पुस्तक का हवाला देते हैं और कहते हैं कि ह्यूम ने स्वयं एक बार कहा था कि, "भारत में असंतोष की बढ़ती हुई शक्तियों से बचने के लिए 'अभयदीप' (Safety Valve) की आवश्यकता है और कांग्रेस आंदोलन से बढ़कर अभयदीप दूसरी कोई चीज नहीं हो सकती ।"इस दृष्टिकोण के अनुसार कांग्रेस की स्थापना व्याप्त व्यापक असंतोष के लिए 'सेफ्टी वाल्व' के रूप में की गई अर्थात् कांग्रेस का जन्म ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए हुआ था। लॉर्ड लिटन के दमनकारी शासन की समाप्ति पर भारत क्रांति के बहुत अधिक समीप पहुँच चुका था। भारतीय जनता की दयनीय दरिद्रता और शिक्षित नवयुवकों का घोर असन्तोष क्रांति का रूप ग्रहण करने वाला था। ह्यूम को विश्वसनीय सूत्रों से इस बात का ज्ञान हो गया था कि राजनीतिक अशांन्ति अन्दर ही अन्दर बढ़ रही थी। दक्षिण के कृषक विद्रोह, बंगाल के उग्र क्रांतिकारियों की गतिविधियों ने दूरदर्शी ह्यूम को भावी खतरे की पूर्व सूचना दे दी

थी। ह्यूम साहब जन आंदोलन की इस क्रांतिकारी भावना से बहुत चिन्तित थे। अतः उन्होंने जनता के असंतोष को क्रांति का रूप ग्रहण करने से रोकने के लिए सेफ्टी वाल्व का निर्माण किया, जो कि कांग्रेस थी।कतिपय इतिहासकारों का भी मानना है कि ह्यूम और उनके साथियों ने अंग्रेज सरकार के इशारे पर ही कांग्रेस की स्थापना की थी। तत्कालीन वायसराय लॉर्ड डफरिन के निर्देश, मार्गदर्शन और सलाह

पर ही ह्यूम ने इस संगठन को जन्म दिया था, ताकि उस समय भारतीय जनता में पनपते-बढ़ते असंतोष को हिंसा के ज्वालामुखी के रूप में फूटने से रोका जा सके और असंतोष की वाष्प को बाहर निकलने देने के लिए सुरक्षित सुरक्षा वाल्व (Safety Valve) उपलब्ध कराया जा सके।

अयोध्यासिंह लिखते हैं, "कांग्रेस का जन्म इसलिए हुआ कि ब्रिटिश शासक और उनके पैरोकार इसकी जरूरत समझते थे। यह राष्ट्रीय आंदोलन के स्वाभाविक विकास का नहीं, राष्ट्रीय आंदोलन में साम्राज्यवादियों और उपनिवेशवादियों के हस्तक्षेप का परिणाम था।"

(2) कांग्रेस भारतीय हितों की रक्षा करने वाली संस्था के रूप में दूसरे दृष्टिकोण के समर्थक 'सुरक्षा वाल्व' वाली धारणा को एक मिथक अर्थात् महज कपोल कल्पना मानते हैं और कहते हैं कि कांग्रेस की स्थापना उस राजनीतिक चेतना की पराकाष्ठा थी जो 1860 के दशक से भारत में पनपने लगी थी। 1870 के दशक के अंत में और 1880 के दशक के प्रारम्भ में भारतीय जनता राजनीतिक तौर पर काफी जागरूक हो चुकी थी। 1885 से इस राजनीतिक चेतना ने करवट बदली। भारतीय राजनीतिज्ञ और राजनीति में सक्रिय बुद्धिजीवी संकीर्ण हितों के लिए आवाज उठाने के बजाय राष्ट्रीय हितों के लिये राष्ट्रीय स्तर पर संघर्ष करने को छटपटाने लगे थे। उनके इस प्रयास को सफलता मिली और एक राष्ट्रीय दल का गठन हुआ। एक ऐसा दल जो राष्ट्रीय चेतना का प्रतीक था।

कतिपय इतिहासकारों का मानना है कि कांग्रेस की स्थापना भारतवासियों के हितार्थ एक राष्ट्रीय संस्था के रूप में की गई थी। यदि कांग्रेस की स्थापना के संबंध में 'सुरक्षा वाल्व' (Safety Valve) धारणा को स्वीकार कर लिया जाय तो यह न केवल ह्यूम वरन् उन भारतीय नेताओं पर भी आक्षेप होगा जिन्होंने कांग्रेस की स्थापना में सहयोग दिया था। श्रीमती एनीबेसेन्ट लिखती हैं कि, "राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म मातृभूमि की रक्षा के हित में 17 प्रमुख भारतीय तथा ह्यूम साहब द्वारा हुआ था।" गुरुमुख निहालसिंह के ये विचार यहाँ उल्लेखनीय हैं "यह संभव है कि ब्रिटिश साम्राज्य को बचाने तथा कांग्रेस का प्रयोग एक अभयदीप की तरह करने के विचार ह्यूम तथा वेडरबर्न के हृदयों में हो, किन्तु इस बात पर विश्वास करना असंभव है कि दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, वोमेशचन्द्र

बनर्जी, फिरोजशाह मेहता और रानाडे जैसे भारतीय नेता इनके हाथों में साधन मात्र थे या वे भी ब्रिटिश साम्राज्य को क्रांति के खतरे से बचाने का विचार रखते थे।"

इसके अतिरिक्त ह्यूम को भी जिनके द्वारा अपने जीवन का काफी बड़ा भाग भारतीय जनता के कल्याण में ही लगाया गया था कोरा साम्राज्यवादी नहीं कहा जा सकता। लाला लाजपतराय ने स्वयं लिखा है कि, "ह्यूम स्वतंत्रता के पुजारी थे, उनका हृदय भारत की निर्धनता और दुर्दशा पर रोता था।" ऐसा भी कहा जाता है कि 1885 में कांग्रेस जैसे राजनीतिक संगठन का जन्म एक ऐतिहासिक जरूरत (Historical Necessity) था। इस समय भारतीयों में काफी आत्मविश्वास आ चुका था। 1877-78 के दौरान सरकारी नौकरियों के भारतीयकरण के लिए जबरदस्त आंदोलन चला। सरकार ने जब 'वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट' के माध्यम से प्रेस पर नियंत्रण स्थापित करना चाहा तो प्रेस ने आंदोलन छेड़ा। 'आर्म्स एक्ट' के माध्यम से जब भारतीयों का हथियार रखने का अधिकार छीना जाने लगा तो आंदोलन छिड़ा। 1881-82 में बागान मजदूर और 'स्वदेशी आव्रजन अधिनियम' के खिलाफ आंदोलन चलाया गया। 1883 से 'इल्बर्ट बिल' के समर्थन में आंदोलन हुआ जिससे भारतीयों ने एक राजनीतिक सबक जरूर सीखा। भारतीयों की पराजय का कारण था कि इनका कोई देशव्यापी संगठन नहीं था। इस तरह स्पष्ट हो जाता है कि कांग्रेस की स्थापना 1885 के पहले के कुछ वर्षों से देश में चल रहे राजनीतिक कार्यकलाप और गतिविधियों की स्वाभाविक परिणति थी।कांग्रेस की स्थापना का सच वास्तविक स्थिति।

(कांग्रेस की नींव के लिए सत्य: वास्तविकता)

कांग्रेस की स्थापना के संबंध में उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोण आंशिक रूप से सही है। 'सुरक्षा वाल्व' का सिद्धान्त भी सत्य का एक छोटा भाग है। सर्वोपरि बात यह थी कि राष्ट्रीय कांग्रेस ने राजनीतिक रूप से जागृत भारतीयों की उस आकांक्षा का प्रतिनिधित्व किया कि अपने राजनीतिक और आर्थिक विकास के लिए काम करने के वास्ते एक राष्ट्रीय संगठन की स्थापना की जाय। ऊपर हम देख चुके हैं कि शक्तिशाली कारकों के फलस्वरूप देश में एक राष्ट्रीय आंदोलन विकसित हो रहा था। इस आंदोलन

निर्माण का श्रेय किसी एक व्यक्ति या समूह को नहीं दिया जा सकता। यहाँ तक कि ह्यूम की भावनाएं भी मिश्रित थीं। वह सेफ्टी वाल्व के उद्देश्यों से ही नहीं बल्कि उससे भी उदात्त उद्देश्यों से प्रेरित था। उसके मन में भारत तथा उसके गरीब किसानों के प्रति सच्चा प्रेम था। जो भी हो राष्ट्रीय कांग्रेस को स्थापित करने में जिन भारतीय नेताओं ने ह्यूम के साथ सहयोग किया वे उच्च चरित्र वाले देशभक्त थे। उन्होंने स्वेच्छा से ह्यूम की सहृदयता स्वीकार कर ली क्योंकि वे नहीं चाहते थे कि राजनीतिक गतिविधि के इतने

प्रारम्भिक चरण में ही उनके प्रयासों के प्रति सरकार बैर-भाव अपनाए ।अतः सन् 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के साथ विदेशी शासन से भारत की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष छोटे पैमाने पर मगर संगठित ढंग से शुरू हुआ। राष्ट्रीय चेतना में वृद्धि के साथ-साथ स्वाधीनता संघर्ष में उग्रता आती गई और भारत की जनता ने तब तक राहत की सांस नहीं ली जब तक आजादी प्राप्त नहीं कर ली गई।

1.7 भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के कारण (The Causes for the Foundation of Indian National Congress)

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना दिसम्बर, 1885 में हुई। अखिल भारतीय स्तर पर यह भारतीय राष्ट्रवाद की पहली अभिव्यक्ति थी। 72 राजनीतिक कार्यकर्ताओं ने इसकी नींव रखी थी। एक अवकाश प्राप्त अंग्रेज आई.सी.एस. (L.C.S.) अधिकारी ए, ओ. ह्यूम ने कांग्रेस की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। सवाल उठता है कि ऐसी कौन-सी परिस्थितियाँ या कारण थे जिनके फलस्वरूप कांग्रेस का उदय हुआ। 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना न तो अप्रत्याशित घटना थी और न ही कोई ऐतिहासिक दुर्घटना। इसकी स्थापना में निम्न कारणों का उल्लेख किया जा सकता है-

1. भारतीय राष्ट्रीय चेतना की उपज कांग्रेस भारतीय राष्ट्रीय चेतना की उपज थी। 18 वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही भारतीयों में राष्ट्रीय चेतना की जागृति की पृष्ठभूमि बनना शुरू हो गई थी। कई पुनरुत्थान आंदोलन इस दिशा में प्रथम प्रयास थे। 1857 की क्रांति ब्रिटिश शासन के विरुद्ध भारतीय क्रांति चेतना के विस्फोट के रूप में सामने आयी। तत्पश्चात् इस दिशा में कई चरण सामने आए और अन्ततोगत्वा 1885 में कांग्रेस की स्थापना इस चेतना की चरम अभिव्यक्ति थी।

2. ब्रिटिश शासन के प्रति भारतीय असंतोष कांग्रेस ब्रिटिश शासन के प्रति भारतीय असंतोष की उपज थी। ब्रिटिश शासन द्वारा भारत में जो नीतियाँ अपनाई गईं वे असह्य थीं, उन्होंने भारतीयों का निरन्तर शोषण किया। लार्ड लिटन के दमनकारी शासन और इलबर्ट बिल संबंधी विवाद ने तो भारतीय असंतोष को चरम सीमा पर पहुँचा दिया। अब भारतीयों द्वारा अपने हितों की रक्षा के लिए देशव्यापी संगठन की आवश्यकता महसूस की जाने लगी और जो 1885 में कांग्रेस के रूप में सामने आया।

3. कांग्रेस के पूर्ववर्ती राजनीतिक संगठन कांग्रेस उन राजनीतिक संगठनों का परिणाम थी जिनकी स्थापना 1885 से पूर्व हुई थी जैसे, ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन, इण्डिया

लीग, इण्डियन एसोसिएशन आदि। ये संगठन देशव्यापी नहीं थे, अतः अब इसी तरह के एक देशव्यापी संगठन की आवश्यकता महसूस की जा रही थी।

4. ह्यूम तथा डफरिन के प्रयास काँग्रेस ह्यूम व डफरिन जैसे अंग्रेजों के प्रयत्नों का परिणाम थी। ह्यूम भारत के प्रति सहानुभूति रखते थे और चाहते थे कि एक ऐसी अखिल भारतीय संस्था की स्थापना की जाय जो भारतीय सामाजिक विषयों पर चर्चा करे। लार्ड डफरिन ने ह्यूम के विचार को राजनीतिक दिशा प्रदान की। उन्होंने कहा कि इस संस्था को इंग्लैण्ड की तरह यहाँ सरकार के विरोध का कार्य करना चाहिए। फलस्वरूप ह्यूम व डफरिन के प्रयासों से कांग्रेस की स्थापना हुई।वास्तव में गोखले के कथनानुसार, "कांग्रेस की स्थापना कोई भारतीय कर ही नहीं सकता था। यदि ऐसा अखिल भारतीय आंदोलन प्रारम्भ करने के लिए कोई भारतीय आगे आता तो अंग्रेज अधिकारी उसे अस्तित्व में आने ही नहीं देते। यदि कांग्रेस के संस्थापक एक महान अंग्रेज और अवकाश प्राप्त विशिष्ट अधिकारी न होते तो चूँकि उन दिनों राजनीतिक आंदोलन संदेह से देखा जाता था, शासन ने कोई न कोई बहाना ढूंढ कर उसे दबा लिया होता।" अतः कांग्रेस की स्थापना का मुख्य कारण ह्यूम व डफरिन के प्रयास थे।

5. भारतीय नेताओं की इच्छा व प्रयत्न कांग्रेस वोमेशचन्द्र बनर्जी, दादा भाई नौरोजी इत्यादि नेताओं के प्रयत्नों का परिणाम थी। यदि अंग्रेज अधिकारियों द्वारा स्थापित संगठन, कांग्रेस को भारतीय नेताओं का समर्थन नहीं मिलता तो शायद इसकी स्थापना नहीं हो पाती। इस दिशा में भारतीय नेता भी प्रयत्नशील थे। श्री ह्यूम ने कांग्रेस का प्रयोग यदि एक सेफ्टी वाल्व (Safety Valve) के रूप में करना चाहा, तो कांग्रेस के प्रारंभिक नेताओं ने भी उम्मीद की थी कि वे श्री ह्यूम का इस्तेमाल 'विद्युत प्रतिरोधक' (Lightening Conductor) के रूप में करेंगे। इस प्रकार कांग्रेस की स्थापना ह्यूम के प्रयासों, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक असंतोष, जन जागृति, विदेशी शासन के प्रति घृणा की भावना और शिक्षित वर्ग की बेचैनी व असंतोष का स्वाभाविक परिणाम थी। यह विभिन्न संगठनों के सहयोग का फल थी। डॉ. पट्टाभि सीतारमैय्या के शब्दों में "भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना आर्थिक राजनीतिक कारणों का संयोग एवं राजनीतिक दासता की अनुभूति का परिणाम थी तथा यह संस्था राष्ट्रीय पुनरुत्थान का प्रतिपादन करने वाली संस्था थी।"

1.8 कांग्रेस की लोकप्रियता का विकास

कांग्रेस की लोकप्रियता-

कांग्रेस का प्रथम चरण 1885 से प्रारम्भ होकर 1907 तक के काल का है। इन दो दशाब्दियों में कांग्रेस अपने शैशवकाल में थी। इस अवधि में देश के सार्वजनिक जीवन से सम्बद्ध समस्त भारतीय शिक्षित वर्ग तथा जननेता इसके सक्रिय सदस्य रहे। इन लोगों के निः स्वार्थ त्याग तथा लगन से कार्य करने के कारण कांग्रेस बड़ी तीव्र गति से अत्यन्त लोकप्रिय संस्था बन गई। सन् 1885 में केवल 72 प्रतिनिधियों ने इसके अधिवेशन में भाग लिया था। 1886 में राष्ट्रीय कांग्रेस का दूसरा अधिवेशन दादा भाई नौरोजी की अध्यक्षता में कलकत्ता में हुआ। इस अधिवेशन से राष्ट्रीय कांग्रेस 'सारे देश की कांग्रेस' बन गई। उसके 436 प्रतिनिधि विभिन्न स्थानीय संगठनों व समूहों द्वारा चुने गये थे। 1887 में 600 तथा 1888 में 1248 प्रतिनिधियों में मुख्य रूप से वकील, पत्रकार, व्यापारी, उद्योगपति, शिक्षक और जमींदार होते थे।प्रारंभिक वर्षों में राष्ट्रीय कांग्रेस के कुछ महान अध्यक्ष थे- दादा भाई नौरोजी, बदरुद्दीन तैय्यबजी, फिरोजशाह मेहता, पी. आनन्द चालू, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, रमेशचन्द्र दत्त, आनन्द मोहन बोस और गोपाल कृष्ण गोखले । इस काल के दौरान कांग्रेस और राष्ट्रीय आंदोलन के अन्य प्रमुख नेता थे- महादेव गोविन्द रानाडे, मदन मोहन मालवीय, जी. सुबह्मण्यम अय्यर, सी. विजयराघवाचारियर और दिनशॉ इ. वाचा।राष्ट्रीय कांग्रेस : प्रारंभिक नीतियां ध्येय

1.9 (कांग्रेस: प्रारंभिक वर्षों में नीतियां)

कांग्रेस के निम्नलिखित ध्येय बताये गये -

1. देश के विभिन्न भागों और क्षेत्रों में कार्य करने वालों में घनिष्ठता और प्रेम बढ़ाना।

2. संकुचित मनोवृत्तियों को भुलाकर भारतीयों में मैत्री भाव उत्पन्न करना।

3. सामाजिक प्रश्नों पर योग्य व शिक्षित व्यक्तियों के निर्णयों का संग्रह करना, तथा

4. उन उपायों को खोजना जिनसे भारत का कल्याण किया जा सके।

अपने प्रारंभिक काल में राष्ट्रीय कांग्रेस की नीति ब्रिटिश सरकार के समक्ष भारतीय शासन व्यवस्था के संबंध में विविध प्रकार की मांगों को रखने की रही। कांग्रेस ने प्रारंभ से ही निम्नलिखित मांगें प्रस्तुत की (1) विधान परिषदों का विस्तार किया जाए, (2) परिषदों में निर्वाचित सदस्यों की संख्या में वृद्धि की जाय, (3) बजट पर वाद-विवाद करने का अधिकार दिया जाए, (4) उच्च सरकारी नौकरियों में भारतीयों को पूरा अवसर दिया जाए, (5) सैनिक व्यय में कमी की जाए, (6) न्यायपालिका को कार्यपालिका से अलग किया जाए, (7) सरकार राज्य के जन-कल्याण सम्बन्धी कामों का दायित्व अपने ऊपर ले, (8) आम जनता में शिक्षा प्रसार खासतौर से तकनीकी और उच्चतर शिक्षा के लिए अधिक सुविधाएँ तथा चिकित्सा सुविधाओं को विस्तृत करने की मांग की, (9)

भारतीय उद्योग व कृषि के विकास के लिए प्रभावशाली शासकीय कदम उठाने की मांग की। क्या कांग्रेस ब्रिटिश शासन की संतान थी ?

1.10 क्या कांग्रेस ब्रिटिश राज की संतान थी

कतिपय विचारकों का मत है कि कांग्रेस ब्रिटिश शासन की संतान थी। अयोध्यासिंह के शब्दों में, "कांग्रेस राष्ट्रीय आंदोलन को आगे बढ़ाने के लिए नहीं, बल्कि भारतीय क्रांति को रोकने का अस्व बनने के लिए पैदा की गई। ब्रिटिश शासकों ने अपने साम्राज्य की रक्षा के लिए ऐसा अस्त्र पैदा करना जरूरी समझा था।" कांग्रेस को ब्रिटिश शासन की संतान मानने वाले विचारक निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं-

1. प्रथम, कांग्रेस का निर्माण ब्रिटिश राज्य के हितों व स्वार्थों की पूर्ति के लिए किया गया था।

2 . द्वितीय, कांग्रेस की स्थापना एक रिटायर्ड अंग्रेज ह्यूम द्वारा की गई थी। ह्यूम कांग्रेस को 'सुरक्षा नली' के रूप में प्रयुक्त करना चाहते थे। कांग्रेस का संगठन अंग्रेजी सरकार की स्वीकृति से ह्यूम ने इसलिए किया कि भारत में बढ़ता हुआ असंतोष किसी प्रकार उग्र रूप धारण न करे और उसे वैधानिक दिशा में अग्रसर किया जा सके।

3. तृतीय, वायसराय डफरिन ने भी कांग्रेस को पुष्पित तथा पल्लवित होने का अवसर दिया। वे भारत में ऐसी संस्था चाहते थे जो सरकार की खामियों को बताए। अतः सरकारी अधिकारियों ने भी कांग्रेस की स्थापना में मदद की। स्वयं लार्ड डफरिन ने कांग्रेस के डेलिगेट्स को चाय पार्टी का आमंत्रण दिया।

4. चतुर्थ, कांग्रेस के जन्म के बाद से ही थियोसोफिस्टों ने दावा करना शुरू किया कि यह उनका बच्चा है, असली जनक वे है, ह्यूम नहीं। थियोसोफिस्टों के सबसे बड़े गुरू आलकार ने 1886 में कहा, "थियोसोफिकल सोसाइटी इंडियन नेशनल कांग्रेस की जननी है क्योकि इसने ही पहले-पहल दिखाया कि भारत के विभिन्न भागों के लोगों को इकट्टा करना और उनके बीच मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित करना संभव है।"

इस परिप्रेक्ष्य में गोखले ने लिखा है "कोई भी भारतीय कभी राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना कर ही नहीं सकता था। इस समय प्रत्येक राजनीतिक आंदोलन को ऐसी संदिग्ध दृष्टि से देखा जाता था कि यदि कांग्रेस का जन्मदाता एक प्रसिद्ध अंग्रेज तथा सफल भूतपूर्व कर्मचारी न होता तो सरकार तुरन्त ही इस आंदोलन के दमन का कोई उपाय निकाल लेती ।"

किन्तु यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि कांग्रेस एक विशुद्ध भारतीय संस्था थी। कांग्रेस की स्थापना एक अंग्रेज ने की व वायसराय ने कांग्रेस की स्थापना में सहयोग दिया, इससे यह निष्कर्ष निकालना कि कांग्रेस ब्रिटिश शासन की संतान थी अथवा वह केवल ब्रिटिश साम्राज्य की नींव को सुदृढ़ करने के विचार से बनाई गई थी, उचित नहीं है। गुरुमुख निहालसिंह के अनुसार, "यह संभव है कि ब्रिटिश साम्राज्य को बचाने तथा कांग्रेस को एक सेफ्टी वाल्व की तरह प्रयोग करने की तैयारी ह्यूम तथा वैडरवर्न के हृदय में हों, परन्तु यह विश्वास करना असंभव है कि दादा भाई नौरोजी, उमेशचन्द्र बनर्जी, फिरोजशाह मेहता तथा रानाडे जैसे भारतीय नेता इनके हाथों में साधन मात्र थे या वे भी ब्रिटिश साम्राज्य को क्रांति के खतरे से बचाने का विचार रखते थे।" एनी बेसेन्ट के अनुसार, "कांग्रेस का जन्म अपनी मातृभूमि की रक्षा हेतु सत्रह भारतीयों तथा ह्यूम के द्वारा हुआ था।" अतः यह कहना सर्वथा समीचीन प्रतीत नहीं होता कि कांग्रेस ब्रिटिश राज की संतान थी। इसमें कोई संदेह नहीं कि 1885 में कांग्रेस की स्थापना के साथ एक छोटे स्तर पर, संकोचपूर्वक, मंद गति से लेकिन संगठित रूप में देश की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष प्रारंभ हो गया। कांग्रेस वर्ष-प्रतिवर्ष अपनी शक्ति बढ़ाती गई और इसने भारतीय जनता को विदेशी शासन के विरुद्ध चलने वाले सशक्त आंदोलन से सम्बद्ध कर दिया।

कांग्रेस के प्रारंभिक नेताओं का विश्वास था कि राजनीतिक मुक्ति के लिए सीधे संघर्ष का कार्यक्रम अभी इतिहास की कार्य सूची में नहीं था। उसकी कार्य सूची में था राष्ट्रवादी भावना का पैदा किया।जाना, इसे गहन करना, राष्ट्रवादी राजनीति के दायरे में भारतीय जनता को अधिक संख्या में लाना और उन्हें राजनीतिक आंदोलन एवं संघर्ष के लिए प्रशिक्षित करना। इस दृष्टि से प्रारम्भिक कांग्रेस को पूरी सफलता मिली।

कांग्रेस की स्थापना 1885 से पूर्व की भारतीय राजनीतिक परिस्थितियों का परिणाम थी। वस्तुतः सौ साल से सुलग रही चिनगारियों ने 1857 के विस्फोट को जन्म दिया था और 1857 के बाद की राजनीतिक चेतना ने 1885 के कांग्रेस प्लेटफार्म को तैयार किया। 1885 से 1947 तक भारतीय आजादी का संघर्ष भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की प्रगति और उपलब्धियों की गाथा है। कांग्रेस के इतिहास को हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं-

(1) उदार या नरम राष्ट्रीयता का काल (1885 से 1905)

(2) उग्र राष्ट्रीयता का काल (1906 से 1919)

(3) राष्ट्रीयता का गांधी युग (1920 से 1947)

1.10 उदारवादी राष्ट्रवाद (Moderate Nationalism)

उदार या नरम राष्ट्रीयता का काल (1885 से 1905) (The Age of Moderate Nationalism- 1885-1905)- प्रारंभिक कांग्रेस का नेतृत्व उदारवादी अथवा सौम्य व्यक्तित्व एवं विचारधारा रखने वाले नेताओं ने किया था। उदारवादी न तो परिवर्तनवादी थे और न क्रान्तिकारी। ये ऐसे लोग थे जो भारत में स्थापित ब्रिटिश शासन व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन नहीं चाहते थे अपितु उसमें क्रमिक सुधार चाहते थे। अपने प्रारम्भिक वर्षों में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की प्रमुख मांगें केवल यही थीं कि कुछ राजनीतिक सांविधानिक सुधार किए जायें। कौंसिलों में प्रतिनिधित्व को भी स्थान मिले और भारतीयों को सरकारी नौकरियों में अधिक अवसर दिए जाएँ। डॉ. सुभाष कश्यप लिखते हैं कि "इस प्रकार सब मिलाकर प्रारंभ में कांग्रेस एक सुधारवादी संगठन थी, कोई क्रांतिकारी आन्दोलन नहीं। उस पर सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, दादा भाई नौरोजी और गोपाल कृष्ण गोखले जैसे उदारवादी राष्ट्रवादियों का प्रभुत्व था और इन लोगों का ब्रिटिश सरकार की जन्मजात न्यायप्रियता तथा प्रजातांत्रिक भावनाओं में असीम विश्वास था क्योंकि वे अंग्रेजी पढ़े और अंग्रेजी संस्कृति तथा आदर्शों में ढले हुए एक छोटे से विशिष्ट वर्ग का नेतृत्व करते थे। वे भारत में नौकरशाही के आलोचक थे और भारतीयों को शासन में अधिक अधिकार दिये जाने के पक्षपाती थे किन्तु उनका अंग्रेजों की सदाशयता में तथा ब्रिटिश संस्थाओं की श्रेष्ठता में अटूट विश्वास था। वे समझते थे कि भारत सांविधानिक उपायों द्वारा ही ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग की नीति का पालन करते हुए, धीरे-धीरे ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत स्वशासन के लक्ष्य की ओर बढ़ता चला जाएगा।"

प्रारम्भिक कांग्रेस द्वारा पारित प्रस्तावों का उदारवादी स्वरूप

(प्रारंभिक कांग्रेस और उसके उदारवादी संकल्प)

1. कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन 1885 में बम्बई में कांग्रेस की स्थापना हुई। उमेशचन्द्र बनर्जी अध्यक्ष तथा ह्यूम सचिव थे। इसमें कांग्रेस ने निम्न प्रस्ताव पारित किए -

(i) भारतीय शासन की जांच हेतु रॉयल कमीशन नियुक्त किया जाय।

(ii) विधान परिषदों का विस्तार किया जाय।

(iii) सिविल सर्विस की परीक्षा एक साथ इंग्लैण्ड और भारत में हो।

(iv) सैनिक व्यय कम किया जाय ।

2. कांग्रेस का द्वितीय अधिवेशन 1886 में कलकत्ता में कांग्रेस का दूसरा अधिवेशन हुआ और दादा भाई नौरोजी ने अध्यक्षता की। इसमें 406 प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। वायसराय ने प्रतिनिधियों को एक भोज दिया। दादा भाई ने अपने भाषण में कहा कि 'हमारा रोम-रोम राजभक्त है।' इस अधिवेशन में कांग्रेस ने प्रस्ताव पारित किये

(i) जूरी प्रथा को अधिक से अधिक मान्यता दी जाए।

(ii) निर्वाचन की मांग की गई।

(iii) भारतीयों को सेना में भर्ती का अवसर दिया जाय ।

3. तृतीय अधिवेशन कांग्रेस का तीसरा अधिवेशन मद्रास में हुआ। बदरुद्दीन तैय्यबजी ने सभापतित्व किया। इस अधिवेशन में प्रस्ताव पारित किए गए

(i) भारत में सैनिक विद्यालय की स्थापनाकी जाए।

(ii) शस्त्र कानून के नियमों में परिवर्तन किया जाय।

(iii) अनेक पिछले प्रस्तावों को दोहराया गया।

इसी प्रकार चतुर्थ, पंचम, षष्ठ, सप्तम एवं अष्टम अधिवेशनों में भी कांग्रेस के नेताओं द्वारा जो प्रस्ताव पारित किये गये उनका स्वरूप उदारवादी था। अष्टम अधिवेशन उमेशचन्द्र बनर्जी की अध्यक्षता में इलाहाबाद में हुआ। इस सब अधिवेशनों में पारित प्रस्ताव उदारवादियों की सौम्य नीतियों के परिचायक थे। क्रांतिकारी या शासन व्यवस्था के ढाँचे में आमूलचूल परिवर्तन की माँगें नहीं की गई थीं। कांग्रेस के अधिवेशनों में पारित प्रस्ताव ही उदारवादी विचारधारा एवं नीति को स्पष्ट कर देते हैं।

उदार राष्ट्रवादियों की माँगें, विचारधारा एवं सिद्धान्त

(Moderate Nationalists: Their Demands, Ideology and Principles)

1885-1905 के काल में भारत के राष्ट्रीय आंदोलन पर उदारवादियों का प्रभाव और नियंत्रण बना रहा। प्रमुख माँगें इस प्रकार थीं-

1. संवैधानिक सुधार- उदारवादी अपने देश की सरकार में अपेक्षाकृत अधिकं हिस्सा चाहते थे और इसलिए उन्होंने जनतंत्र के सिद्धान्त की दुहाई दी। उनको आशा थी कि वे आजादी को धीरे-धीरे प्राप्त कर लेंगे। वे अत्यंत सतर्क भी थे कि सरकार उनकी गतिविधियों को दबा न दे। 1885 से लेकर 1892 तक उन्होंने विधान परिषदों के विस्तार और सुधार की माँग की। उनके आंदोलन से मजबूर होकर ब्रिटिश सरकार ने 1892 का

'भारतीय शासन अधिनियम' पारित किया। किन्तु इससे उदारवादी बिल्कुल संतुष्ट नहीं थे। उन्होंने नारा दिया, 'प्रतिनिधित्व के बिना कोई कर नहीं। 20 वीं शताब्दी के आरम्भ तक उदारवादी नेता और आगे बढ़े; उन्होंने आस्ट्रेलिया तथा कनाडा जैसे उपनिवेशों की तरह ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वशासन की मांग रखी। यह मांग कांग्रेस के मंच से 1905 मे गोखले तथा 1906 में दादा भाई नौरोजी ने रखी।

2. आर्थिक सुधार आर्थिक क्षेत्र में उदारवादियों ने भारत की बढ़ती हुई गरीबी और आर्थिक पिछड़ेपन तथा आधुनिक उद्योग और कृषि द्वारा विकास करने में विफलता की शिकायत की तथा उन्होंने ब्रिटिश शासन की नीतियों को दोषी ठहराया। भारत की गरीबी को हटाने के लिए उन्होंने जो प्रमुख उपाय सुझाया वह था-आधुनिक उद्योगों का तेजी से विकास। वे चाहते थे कि सरकार तटकर संरक्षण और प्रत्यक्ष सरकारी सहायता के द्वारा आधुनिक उद्योगों के विकास को प्रोत्साहित करे। उदारवादियों ने शिकायत की कि भारत की समृद्धि को ढोकर इंग्लैण्ड पहुंचाया जा रहा है और उन्होंने माँग की कि इसे रोका जाय। उन्होंने भारत सरकार के सैनिक खर्च की निन्दा की तथा उसमें कमी करने की माँग की।

3. प्रशासनिक और अन्य सुधार उदारवादियों ने जिस अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रशासनिक सुधार की कामना की वह था प्रशासनिक सेवाओं की उच्चतर सेवाओं का भारतीयकरण। उनकी यह माँग थी कि न्यायिक शक्तियों को कार्यपालिका की शक्तियों से अलग कर दिया जाय।

4. नागरिक अधिकारों की रक्षा उदारवादियों ने भाषण और प्रेस की स्वतंत्रता के महत्व को अच्छी तरह पहचाना और उनमें कमी करने के सभी प्रयत्नों का विरोध किया।

ब्रिटिश शासन के प्रति उदार राष्ट्रवादियों की धारणा

(ब्रिटिश सरकार के प्रति उदारवादी राष्ट्रवादियों का रवैया)

भारत में ब्रिटिश शासन के प्रति उदार-राष्ट्रवादियों की धारणा और दृष्टिकोण निम्न प्रकार था

1. ब्रिटिश न्यायप्रियता में विश्वास कांग्रेस के उदारवादी नेताओं का यह दृष्टिकोण था कि अंग्रेज न्यायप्रिय, सभ्य और उदार जाति हैं। अतः हमें अधिक कुशलता से भारत की आवश्यकताएं अंग्रेज शासकों के सम्मुख रखनी चाहिए। उनका विश्वास था कि भारत में ब्रिटिश शासन एक वरदान सिद्ध हुआ है तथा भारतीय पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के सम्पर्क से लाभान्वित हुए हैं। रहीमतुल्ला सयानी के अनुसार "अंग्रेजों से बढ़कर सच्चरित्र तथा सच्ची जाति इस सूर्य के प्रकाश के नीचे नहीं बसती ।" कांग्रेस के मद्रास अधिवेशन

के अध्यक्ष लाल मोहन घोष के शब्दों में, "अंग्रेज लोग बर्बर विजेता नहीं बल्कि वे स्वतंत्रता के लिए लड़ने वाले वीर हैं। अन्य उदारवादी नेताओं की भी यही धारणा थी।

2. राजभक्ति प्रारम्भिक कांग्रेस के नेता राजभक्ति के सिद्धान्त में विश्वास करते थे। ब्रिटिश 'ताज' व 'राज' के प्रति राजभक्ति उनका प्रधान सिद्धान्त था। वे ब्रिटिश शासन का विरोध और विद्रोह कदापि पसन्द नहीं करते थे। कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन (1899) के अध्यक्ष रमेश चन्द्र दत्त ने अपने भाषण में कहा, "शिक्षित भारत ने अपने को ब्रिटिश राज के साथ व्यवहारतः एकाकार बना लिया है, वह ब्रिटिश राज को हमेशा बनाए रखना चाहता है और ब्रिटिश राज के प्रति वफादार है, इसलिए कि ब्रिटिश राज को जारी रखकर शिक्षित भारत अधिकांश स्वायत्त शासन और पृथ्वी के आधुनिक राष्ट्रों के बीच स्थान प्राप्त करना चाहता है।" इन नेताओं के सम्बन्ध में एनी बीसेन्ट ने कहा था कि "इस काल के नेता अपने को ब्रिटिश साम्राज्य की प्रजा मानने में गौरव का अनुभव करते थे।" कांग्रेस के द्वितीय अधिवेशन के अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए दादा भाई नौरोजी ने कहा था "हमारा रोम-रोम राज-भक्त है।"

3. ब्रिटिश संस्थाओं की श्रेष्ठता में विश्वास उदारवादी नेता ब्रिटिश संस्थाओं की उत्कृष्टता में विश्वास रखते थे और भारत के लिए उसी ढाँचे का संस्थागत विकास चाहते थे। 1892 के कांग्रेस अधिवेशन में सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने कहा, "हम एक महान और स्वतंत्र साम्राज्य के नागरिक हैं और दुनिया के अब तक के सर्वोत्तम संविधान की छाया हमारे सिर पर है।"

4. भारत और इंग्लैण्ड के हितों की सम्बद्धता अधिकांश उदारवादी नेता अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा के परिणाम थे और मानते थे कि अंग्रेजों ने भारत को आधुनिक सभ्यता प्रदान की है। वे इंग्लैण्ड और भारत के हितों में घनिष्ठ सम्बन्ध मानते थे। उनके अनुसार भारत का उत्थान और उन्नति शासन के सहयोग करने पर ही निर्भर करता है। 1897 में गोपाल कृष्ण गोखले, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, दिनशा एदलजी वाचा और सुब्रह्मण्यम अय्यर ने एक संयुक्त वक्तव्य में कहा, "हम ब्रिटिश संबंधों को भारत के लिए बहुत लाभदायक समझते हैं।" 1892 में सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने कहा, "कांग्रेस नेताओं का लक्ष्य राज को भारत से मिटा देना नहीं, बल्कि उसके आधार को व्यापक, उसकी भावना को उदार और उसके चरित्र को उत्तम बनाना है।"

5. क्रमिक सुधार में विश्वास उदारवादी राजनीतिक व प्रशासनिक क्षेत्र में क्रमबद्ध सुधार कीधारणा में विश्वास रखते थे। उनका मानना था कि स्वशासन धीरे-धीरे ही प्राप्त किया जा सकता है। वे किसी भी प्रकार के क्रांतिकारी परिवर्तनों के विरुद्ध थे। अयोध्यासिंह के शब्दों में, "उदारवादी नेता देश की स्वतंत्रता और ब्रिटिश राज के अंत की मांग नहीं

करते थे। स्वतंत्रता और स्वाधीन भारत उनका लक्ष्य भी न था। कांग्रेस ने बार-बार स्पष्ट कहा कि वे क्रांति नहीं चाहते, स्वतंत्रता नहीं चाहते, तथा संविधान भी नहीं चाहते, सिर्फ केन्द्र और प्रान्तों की कौसिलों में भारतीयों के प्रतिनिधि चाहते हैं।"

उदारवादियों की कार्यपद्धति और साधन
(मध्यमपंथियों की विधियां और तकनीकें)

उदारवादियों के साधन उग्र न होकर नरम तथा सौम्य (Soft) थे। उनकी विचार पद्धति की उदारता के फलस्वरूप उनकी कार्यपद्धति भी उदार बन गई थी। उदारवादी नेताओं के राजनीतिक तरीकों को संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है: कानून की परिधि में संवैधानिक आंदोलन और धीरे-धीरे व्यवस्थित राजनीतिक प्रगति । उनका विश्वास था कि अगर जनमत को तैयार और संगठित किया जाय और जनता की माँगों को याचिकाओं, सभाओं, प्रस्तावों और भाषणों के जरिए अधिकारियों के पास पहुँचाया जाए तो अधिकारी उन माँगों को धीरे-धीरे मान लेंगे। इसलिए उनका राजनीतिक कार्य एक साथ ही दो दिशाओं में चल रहा था। (1) प्रथम, वे भारत में एक शक्तिशाली जनमत तैयार कर जनता की राजनीतिक चेतना और राष्ट्रीय भावना को जागृत करना तथा उसे राजनीतिक प्रश्नों के ऊपर शिक्षित और एकजुट करना चाहते थे। मूलतः प्रारम्भिक राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रस्तावों तथा याचिकाओं का भी यही लक्ष्य था। (2) दूसरा उदारवादियों द्वारा बतलाई गई दिशाओं में सुधार करने के लिए ब्रिटिश सरकार को तैयार करना। नरम पंथी राष्ट्रवादियों की धारणा थी कि ब्रिटिश जनता और संसद भारत के प्रति न्यायपूर्ण रुख अपनाना चाहती थी, मगर उन्हें भारत की सही स्थितियों के बारे में कुछ पता नहीं था इसलिए भारतीय जनमत को शिक्षित करने के बाद उदारवादी ब्रिटिश जनमत को शिक्षित करने के लिए प्रयत्नशील थे। इस उद्देश्य से उन्होंने ब्रिटेन में सक्रिय प्रचार किया।

संक्षेप में, उदारवादियों के प्रमुख साधन निम्नलिखित थे-

(1) शांतिपूर्ण तथा संवैधानिक साधनों में विश्वास कांग्रेस के उदारवादी नेता शांतिपूर्ण तथा संवैधानिक साधनों में विश्वास करते थे। वे अपनी आवश्यकताओं और मांगों की प्राप्ति का वैधानिक मार्ग सर्वथा उचित मानते थे ।

(2) प्रार्थना-पत्र तथा प्रतिनिधिमण्डल भेजने का तरीका उदारवादी नेता प्रार्थना-पत्र भेजकर सरकार को जनता की समस्याओं से अवगत कराने में विश्वास करते थे। प्रभावशाली व्यक्तियों के प्रतिनिधिमण्डल भेजकर शासन पर दबाव डालने का भी तरीका अपनाया। भारत से कुछ प्रतिनिधिमण्डल इंग्लैंड भेजे गए थे, जहां ब्रिटिश संसद और जनता को भारतीय समस्याओं से अवगत कराया गया।

(3) राजनीतिक याचना की प्रक्रिया उदारवादी शासन के सम्मुख बार-बार अपनी माँगें प्रस्तुत करने के तरीके में विश्वास करते थे। मालवीयजी के अनुसार, "हमें शासन से बार-बार याचना करनी चाहिए कि वह हमारी माँगों पर शीघ्रता से विचार करे।"

(4) नैतिक और राजनीतिक दबाव डालना उदारवादी अपनी माँगों को मनवाने के लिए शासन पर राजनीतिक और नैतिक दबाव डालते थे। वे शासकों के प्रति सच्ची भक्ति प्रस्तुत कर उनका हृदय परिवर्तन करना चाहते थे तथा साथ ही तार्किक दृष्टि से शासन को समझाने में विश्वास करते थे।

(5) क्रमिक परिवर्तन में विश्वास उदारवादी धीरे-धीरे क्रमिक परिवर्तन चाहते थे। वे हिंसा या क्रांति द्वारा आकस्मिक विस्फोट तथा राजनीतिक परिवर्तन नहीं चाहते थे। वे भारतीय संस्थाओं में सुधार चाहते थे, न कि उनकी समाप्ति ।

उदारवादी नेता और उनकी दुर्बलताएँ

उदारवादी नेता और उनकी कमजोरियां

कांग्रेस के प्रारम्भिक दो दशकों (1885-1905) का नेतृत्व करने वाले उदारवादी नेताओं में उमेशचन्द्र बनर्जी, फिरोजशाह मेहता, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, गोपाल कृष्ण गोखले, दादा भाई नौरोजी, आर.सी.दत्त इत्यादि प्रमुख हैं। ये सब पश्चिमी शिक्षा-दीक्षा में पले थे, अतः ब्रिटिश शासन की उदारता, न्यायप्रियता में इनका अटूट विश्वास था। वे भारत पर ब्रिटेन के शासन को सौभाग्यपूर्ण समझते थे और ब्रिटेन के प्रति स्वामी भक्ति रखते थे।

उदारवादी नेताओं की अनेक दुर्बलताओं के कारण उनकी निम्नलिखित आलोचनाएँ की जाती है-

(1) पाश्चात्य रंग से प्रभावित उदारवादी नेता पाश्चात्य रंग में रंगे हुए थे। वे पाश्चात्य शिक्षा, पाश्चात्य संस्थाएँ तथा पाश्चात्य संस्कृति सबके प्रशंसक थे। भारत पर ब्रिटेन के साम्राज्य को वरदान मानते थे और ब्रिटेन के हित समान मानते थे। उनके दृष्टिकोण तथा मनोवृत्ति पर भारतीयता के बजाय ब्रिटेन की चमक-दमक की अपूर्व छाप थी।

(2) भारत में ब्रिटिश शासन के आधार को मजबूत समझने में गलती उदारवादी यह नहीं समझ सके कि ब्रिटिश शासन का भारत में आधार क्या है। उनका विश्वास था कि यह भारत के हित में है तथा अंग्रेजों का उद्देश्य भारतीयों का उद्धार करना है। परन्तु वास्तविकता यह थी कि ब्रिटिश शासन 'लाभों' पर आधारित था जिसका मूल आधार भारत का आर्थिक शोषण था।

(3) आत्म-त्याग और बलिदान का अभाव उदारवादी नेताओं में कष्ट सहन करने, देश के लिए त्याग और बलिदान करने की प्रबल वेगवती भावना का अभाव था। इसी कारण उनके साधन बड़े सौम्य तथा वैधानिक थे।

(4) जन सम्पर्क का अभाव उदारवादी बुद्धिजीवी अवश्य थे परन्तु सामान्य जनता पर वे अधिक प्रभाव नहीं डाल सके। इनका सामान्य जनता के साथ सम्पर्क भी नहीं था। इसी कारण उनका आंदोलन शिक्षित वर्ग तक सीमित रहा। वे जन-आंदोलन के प्रतीक न बन सके और कांग्रेस को जन-साधारण का संगठन न बना सके ।

(5) स्वतंत्र भारत के दृष्टिकोण का अभाव उदारवादी 'स्वतंत्र भारत' का न तो सपना दे सके और न विचार ही। वे तो भारत और ब्रिटेन के हित समान मानते थे, भारत में ब्रिटिश संस्थाओं का सुधार चाहते थे, न कि परतंत्रता की बेड़ियों को काटना, यह उनकी सबसे बड़ी दुर्बलता थी।

(6) भिक्षावृत्ति के तरीके उदारवादी नेताओं ने प्रार्थना पत्र, याचना पत्र तथा प्रतिनिधिमण्डल के तरीकों में ही अपने कर्तव्यों की इतिश्री मान ली थी। ये सब तरीके इतने विनम्र थे कि शासन ने सदैव उनकी उपेक्षा की।

(7) देशभक्ति का राजभक्ति से मेल उदारवादियों को देशभक्ति और ब्रिटिश राजभक्ति का एक अपूर्व समन्वयक कहा जाता था। लेकिन साम्राज्यवादी ब्रिटेन के द्वारा जब भारत पर शासन किया जा रहा हो, तो एक व्यक्ति राजभक्ति या देशभक्ति में से किसी एक मार्ग को अपना सकता था। उनकी देशभक्ति का राजभक्ति से मेल हो जाने के कारण देशभक्ति आंशिक होकर रह गई थी।

अयोध्यासिंह के अनुसार, "भारतीय जनता की तरफ कदम आगे बढ़ाने की जगह उन्होंने पीछे हटना शुरू किया और ब्रिटिश साम्राजियों की खुशामद का रास्ता अपनाया तथा साम्राजी महाप्रभुओं को प्रसन्न कर भारत के प्रशासन में कुछ हिस्सा प्राप्त करना चाहा। उनका रास्ता राष्ट्रीय मुक्ति का नहीं, अपनेलिए कुछ पदों की प्राप्ति का था।"

उदारवादियों की सफलताएँ और भारतीय राजनीति में उनका स्थान

(The Achievements of the Moderates and Their Place in the History)

कुछ आलोचकों के अनुसार उदारवादी नेताओं की कोई खास उपलब्धि नहीं रही। जिन सुधारों के लिए उदारवादियों ने आंदोलन किया, उनमें से बहुत थोड़े ही ब्रिटिश सरकार ने व्यवहार में अपनाए । भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का विद्यार्थी कभी-

कभी प्रमुख नरम दलीय नेताओं द्वारा ब्रिटिश शासन के प्रति जोरदार रूप से निष्ठा के प्रदर्शन के बारे में पढ़कर उलझन में पड़ जाता है। निष्ठा प्रदर्शन का यह मतलब नहीं है कि वे सच्चे देशभक्त नहीं थे या कायर लोग थे। आलोचक यह बतलाते हैं कि उन वर्षों के दौरान राष्ट्रीय आंदोलन की जड़े जनता में नहीं थीं।

इस आलोचना में काफी सच्चाई है। इन दुर्बलताओं के बावजूद भी उदार राष्ट्रवादी भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के प्रारम्भिक कर्णधार कहे जा सकते हैं। राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास में उनका वही महत्त्व है जो किसी सुन्दर महल के निर्माण में नींव के पत्थरों का होता है। सर्वप्रथम, उन्होंने भारतीयों को राजनीतिक शिक्षा दी तथा देश में एक नवीन चेतना का संचार किया। शासन की आलोचना करते हुए अन्यायपूर्ण कानूनों का विरोध कर उन्होंने कांग्रेस की नींव को सुदृढ़ किया। द्वितीय 1892 का इण्डियन कौंसिल एक्ट उदारवादियों के प्रयासों का ही परिणाम था। शासन को उनकी माँगों तथा याचनाओं के आगे झुकना ही पड़ा। तृतीय, उन्होंने जहां एक ओर भारतीयों को राजनैतिक शिक्षा दी, वहीं दूसरी ओर सम्पूर्ण देश में राष्ट्रीयता का संदेश दिया। उदारवादी नेता अपने समय तथा देशकाल के अनुकूल थे। यदि उस समय वे क्रांति का मार्ग अपनाते तो निस्संदेह शासन उसे कुचल देता और राष्ट्रीयता की भावना के अंकुर रौंद दिये जाते।

उग्रवादी राष्ट्रवाद

राष्ट्रीय आंदोलन का दूसरा चरण 1905-06 से शुरू होता है। 1857 से लेकर 1905 तक कुछ ऐसी घटनाएँ घटी, जिन्होंने भारत में उग्रवादी आंदोलन को जन्म दिया। यद्यपि कांग्रेस पर उदारवादियों का प्रभाव बना रहा तथापि लाल-पाल-बाल के नेतृत्व में उग्र दल पनपने लगा। नरम पंथी नेताओं की लोकप्रियता निरन्तर घटने लगी और परिस्थितियों ने बड़ी संख्या में उन नेताओं को मैदान में उतार दिया जो अपनी माँगों में आमूल परिवर्तनवादी थे और जो राष्ट्रीयता के उग्रवादी रूप में विश्वास करते थे। पूर्ण स्वतंत्रता की माँग और उसकी प्राप्ति हेतु जन-आंदोलन के मार्ग को अपनाने वाली इस धारा को ही उग्र राष्ट्रीयता के नाम से जाना जाता है। यदि नरम पंथी नेताओं को शिक्षितों और शहर के मध्यम वर्ग से मुख्य समर्थन मिला तो इन नये नेताओं ने निम्न मध्यम वर्ग के छात्रों और यहाँ तक कि किसानों, मजदूरों जदरों के के एक वर्ग को व्यापक रूप से अपनी ओर आकर्षित किया।

उग्र राष्ट्रवाद के प्रादुर्भाव के कारण

(Causes of Growth of the Extremist Nationalism)

उग्र राष्ट्रीयता का उदय न तो आकस्मिकता और अन्य परिस्थितियों से अलग एक पृथक परिवर्तन, वर्न यह तो विभिन्न घटनाओं, परिस्थितियों और शक्तियों का स्वाभाविक परिणाम था। उग्र राष्ट्रीयता के उदय के मुख्य कारण निम्न थे-

1. ब्रिटिश शासन की प्रतिक्रियावादी नीति ब्रिटेन में अनुदार दल का शासन था और भारत के प्रति उसकी नीतियाँ प्रगतिशील न होकर प्रतिक्रियावादी थीं। 1892 के एक्ट द्वारा जो भी सुधार किए गए थे, वे पर्याप्त और निराशाजनक थे। शासन ने इस अवधि में जो नीति अपनाई तथा जो सुधार किए, उससे जनता बहुत क्षुब्ध हो उठी।

2. उदारवादियों की पद्धति से असन्तोष उदारवादियों ने वैधानिक तथा शांतिपूर्ण प्रार्थना-पत्र, स्मृति-पत्र भेजने की नीति अपनाई जिसके तथ्यपूर्ण परिणाम निकले। उदारवादियों की राजनीतिक भिक्षावृत्ति की नीति से युवा वर्ग निराश हो गया था और जन-आंदोलन की आवश्यकता महसूस की जाने लगी ।

3. कांग्रेस की मांगों की उपेक्षा 1885 के बाद से कांग्रेस ने प्रतिवर्ष अपने अधिवेशनों में परिषदों के विस्तार, निर्वाचन, शासन पर नियंत्रण संबंधी अधिकार, परिषद के कार्य क्षेत्र में वृद्धि इत्यादि की मांगें प्रस्तुत कीं। परन्तु सरकार ने कांग्रेस की मांगों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। लाला लाजपतराय के शब्दों में, "शिकायतें दूर करने और रियायतें प्राप्त करने के बीस वर्षों के कम अधिक प्रयत्नों के परिणामस्वरूप उन्हें रोटी के स्थान पर पत्थर ही प्राप्त हुए थे।" तिलक के शब्दों में, "कांग्रेस की नरमी और राजभक्ति स्वतंत्रता प्राप्त करने योग्य नहीं है। केवल प्रस्ताव पास करने और अंग्रेजों के सामने हाथ पसारने से राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं होंगे, बल्कि उनके लिए युद्ध करना होगा।"

4. सरकार की अर्थनीति उस समय सरकार द्वारा भारत विरोधी अर्थनीति अपनाई जा रही थी। शासन की भारत विरोधी नीति के कारण भारतीय उद्योग-धंधे प्रायः नष्ट हो गए। भारतीय मिलों पर साढ़े तीन प्रतिशत उत्पादन कर लगा दिया गया, जिससे देशी माल महँगा हो गया और विदेशी सामान सस्ते दामों में बिकने लगा। बेकारी बढ़ रही थी और भारतीयों को सरकारी नौकरियों से अलग रखा जाता था।

5. अकाल और प्लेग अकाल और प्लेग जैसे प्राकृतिक प्रकोपों का सामना करने में सरकार असफल रही, इससे जनता में रोष की सीमा न रही। 1897 में बम्बई में अकाल पड़ा, जिससे लाखों व्यक्ति प्रभावित हुए। शासन ने भुखमरी से पीड़ित व्यक्तियों की सहायता के लिए शिथिल नीति अपनाई। 1898 में बम्बई में प्लेग फैला और सरकार ने डाक्टरों के बजाए सैनिकों को सेवाकार्य सौंपा। सैनिकों के दुर्व्यवहार से जनता क्षुब्ध हो

गई। प्लेग कमिश्नर मि. रैण्ड को गोली मारकर ही एक भावुक युवक ने अपना असंतोष प्रकट किया।

6. धार्मिक तथा सामाजिक कारण इस समय भारत में धार्मिक पुनर्जागरण हो रहा था और इसके उन्नायक भारतीय सभ्यता और संस्कृति को उत्कृष्टतम मानते थे। वे विदेशी शासन को भारत के हितों के प्रतिकूल मानते थे। उन्होंने कहा, "अगर दुनिया में पाप है, तो वह दुर्बलता है। हर तरह की दुर्बलता से बचो। श्रीमती एनी बेसेन्ट के अनुसार, "समस्त हिन्दू सभ्यता, पाश्चात्य सभ्यता से बढ़कर हैं।" विपिनचन्द्र पाल के अनुसार, "स्वतंत्रता हमारे जीवन का ध्येय है और इसकी प्राप्ति हिन्दू-धर्म से ही संभव है।"

7. लार्ड कर्जन का प्रतिगामी शासन लार्ड कर्जन 1899 से 1905 तक भारत में वायसराय रहे। वे एक दर्पपूर्ण साम्राज्यवादी थे। गोखले के अनुसार, कर्जन ने ब्रिटिश साम्राज्य के लिए वही कार्य किया जो मुगल साम्राज्य के लिए औरंगजेब ने किया था। कर्जन ने केन्द्रीकरण की नीति अपनाई और 1899 में 'कलकत्ता कार्पोरेशन एक्ट' पारित करके उसकी स्वायत्तता पर प्रहार किया। सन् 1904 में 'भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम' पास कर विश्वविद्यालयों का सरकारीकरण किया गया। कर्जन की सीमा-नीति, तिब्बत, फारस की खाड़ी तथा चीन में सेनाएँ भेजना आदि घटनाओं से भारतीयों के आक्रोश में वृद्धि हुई। सन् 1904 के 'प्रशासकीय गुप्तता अधिनियम' द्वारा समाचार पत्रों की स्वतंत्रता को और भी अधिक सीमित कर दिया गया। कर्जन भारतीयों से घृणा करता था जिससे व्यापक असंतोष फैला और और उग्रवादी गतिविधियों तीव्र हुई।

8. बंग-भंग योजना कर्जन के शासनकाल की सबसे महत्वपूर्ण और अलोकप्रिय घटना बंगाल का विभाजन था। इससे विदेशी शासन के विरुद्ध रोष और क्षोभ की ज्वाला भड़क उठी। सारे देश में एक सुसंगठित और प्रबल आंदोलन फूट पड़ा। विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार और स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग का आंदोलन शुरू हुआ। बंग भंग विरोधी आंदोलन वस्तुतः स्वदेशी आंदोलन से विकसित हुआ जिसने विखंडित और त्रस्त शक्तियों को बल प्रदान किया। इसने बिना जाति और धर्म के भेद-भाव के राजनीति में नए वर्ग को ला खड़ा किया। इसने हिन्दुओं और मुसलमानों को सहयोग करने, जनता को अपनी राजनीतिक व आर्थिक नीति पर विचार करने, निर्भीक होकर सरकार की अवज्ञा करने, लाठी चलाने, जेल जाने और फाँसी के तख्ते को देश की सेवा में अर्जित सम्मान समझकर बंगाल में भूख हड़ताल तथा शोक दिवस मनाया गया। परन्तु इसका कुछ भी प्रभाव कर्जन की सरकार पर न पड़ा और बंग-भंग की योजना क्रियान्वित कर दी गई।

9. विदेशी घटनाओं का प्रभाव इस काल में कतिपय बाहर के देशों में ऐसी घटनाएँ घटीं जिन्होंने भारतीय लोगों में उग्र राष्ट्रवाद की भावना पैदा करने में मदद की। विशेषकर 1868 के बाद जापान के एक आधुनिक और शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में अभ्युदय ने भारतवासियों को एक नई उम्मीद दी। जापान ने साबित कर दिया था कि एशिया का पिछड़ा हुआ देश भी अपने प्रयत्नों से विकास कर सकता है और बिना पश्चिमी देशों की सहायता के शक्तिशाली बन सकता है। इसी तरह 1896 में इटली पर अबीसीनिया की और 1905 में रूस पर जापान की विजय से यह सिद्ध हो गया कि गोरों का दूसरे लोगों से बेहतर होने का दावा झूठा है।आयरलैण्ड, रूस, मिस्त्र, तुर्की और चीन की जनता के स्वतंत्रता के संघर्ष से भारतीय लोगों के मन में यह साबित हो गया था कि अपने सिद्धान्तों के लिए तकलीफें सहने को तैयार एक संगठित देश सर्वाधिक शक्तिशाली देश तक से संघर्ष कर सकता है।

10. महान् एवं प्रखर नेतृत्व उग्रवाद के उदय का कारण तिलक, लाजपतराय, विपिनचन्द्र पाल तथा अरविन्द घोष का नेतृत्व भी था। ये लोग भिक्षावृत्ति के समर्थन के बजाए जन आंदोलन की राजनीति में विश्वास करते थे। इनके मत में स्वतंत्रता दी नहीं जाती है। ये लोग अच्छी विदेशी सरकार के बजाए घटिया स्वदेशी सरकार को उत्तम मानते थे। इन्होंने विदेशी शासन से घृणा की और दृढ़ता के साथ यह दावा किया कि मात्र स्वराज्य या पूर्ण स्वतंत्रता ही उनका लक्ष्य है, जिसके लिए वे संघर्ष कर रहे हैं। इन्हें जनशक्ति में अटूट विश्वास था और इन्होंने जनकार्यों के जरिए ही स्वतंत्रता पाने की तैयारी की। ये त्याग, बलिदान और कष्ट झेलने को सदैव तैयार रहते थे। अपने भाषणों और साधनों से इन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य को विरोधी बना दिया था।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का विघटन उग्रवाद का अभ्युदय

(The Split of the Congress: Emergence of Extremists)

उग्रवाद ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रति क्रांतिकारी भावना का द्योतक था ही, वह भारतीय राष्ट्रीयता की उदारवादी प्रकृति और सुधारवादी नेताओं के विरुद्ध भी विद्रोह का शंखनाद था। बंग विच्छेद के उपरांत सन् 1905 के बनारस अधिवेशन में यह स्पष्ट हो गया था कि कांग्रेस में दो गुट बन गए हैं और इन गुटों के नेता कांग्रेस के भावी कार्यक्रम की समरूप नीति का निर्माण कर सकेंगे क्योंकि उनके साधन एक-दूसरे के बिल्कुल विरुद्ध थे। इस अधिवेशन की अध्यक्षता गोखले ने की थी। उस वर्ष प्रिन्स ऑफ वेल्स भारत आये थे। उदारवादी उनके स्वागत का समर्थन करने लगे परन्तु उग्रवादी इसके विरुद्ध थे। इस अधिवेशन में स्वराज्य शब्द की अलग-अलग व्याख्या की गयी। 1906 में

उग्रवाद जोर पकड़ चुका था और उग्रवादियों एवं उदारवादियों में विरोध गहरा हो चुका था। इस (कलकत्ता) अधिवेशन में उग्रवादी तिलक को अपना अध्यक्ष चुनना चाहते थे और उदारवादी उनका विरोध कर रहे थे। फलतः दादा भाई नौरोजी को इंग्लैण्ड से भारत बुलाया गया और कांग्रेस का अधिवेशन उनकी अध्यक्षता में हुआ। उग्रवादी इस अधिवेशन से स्वराज्य, बहिष्कार, स्वदेशी तथा राष्ट्रीय शिक्षा सम्बन्धी कार्यक्रम का प्रस्ताव पारित कराने में सफल हो गए। दादा भाई नौरोजी ने समय की आवाज को पहचाना और कांग्रेस मंच से 'स्वराज्य' शब्द का उद्घोष किया तथा इसे भारत का अंतिम लक्ष्य घोषित किया। सन् 1907 में सूरत का अधिवेशन कांग्रेस के इतिहास की सबसे दुःखान्त घटना थी। उग्रवादी तिलक को सूरत कांग्रेस का अध्यक्ष बनाना चाहते थे परन्तु उदारवादी तिलक का विरोध कर रहे थे। अतः तिलक ने लाला लाजपतराय का नाम रखा, किन्तु लालाजी ने अपना नाम वापस ले लिया। उदारदल के नेता रासबिहारी बोस अधिवेशन के सभापति बनाये गये। तिलक ने इसका विरोध किया और निर्वाचन को गलत बताया। अधिवेशन में शोरगुल फैल गया, पुलिस की सहायता से कार्यवाही स्थगित करनी पड़ी व जूते तथा छड़ियों का प्रहार किया गया।

संक्षेप में, 1907 के सूरत अधिवेशन में क्रांग्रेस संगठन उदारवादी अथवा नरम तथा उग्रवादी अथवा गरम दलों में विभाजित हो गया। झगड़ा इतना बढ़ा कि उदारवादियों ने उग्रवादियों को कांग्रेस से निष्कासित कर दिया। सन् 1916 में ही श्रीमती एनी बेसेन्ट के प्रयलों से दोनों गुटों में समझौता हुआ।

उग्रवाद की प्रगति

चरमपंथी गतिविधियों का विस्तार

उग्रवादी राष्ट्रीय आंदोलन की गतिविधियों को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है:

(i) बंगाल में उग्रवाद उग्रवाद की उत्पत्ति का प्रमुख कारण बंग विच्छेद की घटना थी, जिसकी प्रतिक्रियास्वरूप बंगाल में आंदोलन की तीव्रता रही। विपिनचन्द्र पाल के नेतृत्व में स्वदेशी तथा बहिष्कार की नीति अपनाई गई। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने जनता के क्रोध और पीड़ा को अभिव्यक्ति दी। वंदेमातरम् गीत का जोरदार प्रचार हुआ। विपिनचन्द्र पाल और अरविन्द घोष जैसे नेताओं ने आंदोलन का नेतृत्व किया।

(ii) महाराष्ट्र में उग्रवाद बाल गंगाधर तिलक उग्रवादी राष्ट्रीयता के महान् प्रवर्तक थे। सच्चे अर्थों में उन्हें उग्रवाद का जनक कहा जाना चाहिए। उन्होंने 'स्वराज्य मेरा जन्म-

सिद्ध अधिकार है' का सिंहनाद किया। 'मराठा' व 'केसरी' जैसे पत्रों द्वारा उन्होंने महाराष्ट्र में 'गणपति उत्सव' तथा 'शिवजी उत्सव' प्रारम्भ किए।

(iii) अन्यत्र उग्रवाद का प्रभाव उग्रवाद बंगाल और महाराष्ट्र तक ही सीमित न रहा। शासन की दमनकारी नीतियों ने सारे देश में असंतोष उत्पन्न किया था। पंजाब में लाला लाजपतराय ने आत्मबल से कार्य करने की प्रेरणा दी। सरकार ने उन्हें देश निकाले का दण्ड दिया।

उग्रवादी नेता

(चरमपंथी नेता)

उग्रवादियों का बौद्धिक नेतृत्व बंगाल के राजनारायण बोस तथा महाराष्ट्र के विष्णु शास्त्री चिपलुणकर सरीखे व्यक्तियों ने किया। बंकिम के गीत वंदेमातरम् से शुरू हुए जो बाद में देशभक्ति और आत्म बलिदान की झकझोर देने वाली पुकार बन गये ।कराने में सफल हो गए। दादा भाई नौरोजी ने समय की आवाज को पहचाना और कांग्रेस मंच से 'स्वराज्य' शब्द का उद्घोष किया तथा इसे भारत का अंतिम लक्ष्य घोषित किया। सन् 1907 में सूरत का अधिवेशन कांग्रेस के इतिहास की सबसे दुःखान्त घटना थी। उग्रवादी तिलक को सूरत कांग्रेस का अध्यक्ष बनाना चाहते थे परन्तु उदारवादी तिलक का विरोध कर रहे थे। अतः तिलक ने लाला लाजपतराय का नाम रखा, किन्तु लालाजी ने अपना नाम वापस ले लिया। उदारदल के नेता रासबिहारी बोस अधिवेशन के सभापति बनाये गये। तिलक ने इसका विरोध किया और निर्वाचन को गलत बताया। अधिवेशन में शोरगुल फैल गया, पुलिस की सहायता से कार्यवाही स्थगित करनी पड़ी व जूते तथा छड़ियों का प्रहार किया गया। संक्षेप में, 1907 के सूरत अधिवेशन में क्रांग्रेस संगठन उदारवादी अथवा नरम तथा उग्रवादी अथवा गरम दलों में विभाजित हो गया। झगड़ा इतना बढ़ा कि उदारवादियों ने उग्रवादियों को कांग्रेस से निष्कासित कर दिया। सन् 1916 में ही श्रीमती एनी बेसेन्ट के प्रयलों से दोनों गुटों में समझौता हुआ।

उग्रवाद की प्रगति (चरमपंथी गतिविधियों का विस्तार)

उग्रवादी राष्ट्रीय आंदोलन की गतिविधियों को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है:

(i) बंगाल में उग्रवाद उग्रवाद की उत्पत्ति का प्रमुख कारण बंग विच्छेद की घटना थी, जिसकी प्रतिक्रियास्वरूप बंगाल में आंदोलन की तीव्रता रही। विपिनचन्द्र पाल के नेतृत्व में स्वदेशी तथा बहिष्कार की नीति अपनाई गई। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने जनता के क्रोध और पीड़ा को अभिव्यक्ति दी। वंदेमातरम् गीत का जोरदार प्रचार हुआ। विपिनचन्द्र पाल और अरविन्द घोष जैसे नेताओं ने आंदोलन का नेतृत्व किया।

(ii) महाराष्ट्र में उग्रवाद बाल गंगाधर तिलक उग्रवादी राष्ट्रीयता के महान् प्रवर्तक थे। सच्चे अर्थों में उन्हें उग्रवाद का जनक कहा जाना चाहिए। उन्होंने 'स्वराज्य मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार है' का सिंहनाद किया। 'मराठा' व 'केसरी' जैसे पत्रों द्वारा उन्होंने महाराष्ट्र में 'गणपति उत्सव' तथा 'शिवजी उत्सव' प्रारम्भ किए।

(iii) अन्यत्र उग्रवाद का प्रभाव उग्रवाद बंगाल और महाराष्ट्र तक ही सीमित न रहा। शासन की दमनकारी नीतियों ने सारे देश में असंतोष उत्पन्न किया था। पंजाब में लाला लाजपतराय ने आत्मबल से कार्य करने की प्रेरणा दी। सरकार ने उन्हें देश निकाले का दण्ड दिया।

उग्रवादी नेता(चरमपंथी नेता)

उग्रवादियों का बौद्धिक नेतृत्व बंगाल के राजनारायण बोस तथा महाराष्ट्र के विष्णु शास्त्री चिपलुणकर सरीखे व्यक्तियों ने किया। बंकिम के गीत वंदेमातरम् से शुरू हुए जो बाद में देशभक्ति और आत्म बलिदान की झकझोर देने वाली पुकार बन गये ।

उग्रवादियों में सबसे विशिष्ट नेता थे बाल गंगाधर तिलक, विपिनचन्द्र पाल, लाला लाजपतराय और अरविन्द घोष ।उग्रवादी आंदोलन के नेताओं ने ब्रिटिश शासन की दमनकारी तथा सुधारों के सम्बन्ध में ढुलमुल नीति से असंतुष्ट होकर उदारवादी नेताओं की संवैधानिकतावादी तथा राजनैतिक भिक्षावृत्ति की नीति का विरोध किया था। उनकी राजनीतिक विचारधारा व सिद्धान्त उदारवादियों से नितान्त भिन्न थे। उनकी विचारधारा इस प्रकार है-

उग्र राष्ट्रवादियों की राजनीतिक विचारधारा और सिद्धांत

(The Political Ideology and Principles of Extremists)

1. भारत और ब्रिटेन के हित परस्पर विरोधी है। ब्रिटिश साम्राज्य के साथ सहयोग करने से भारत अपने राजनीतिक लक्ष्यों को प्राप्त नहीं कर सकता ।

2. उग्रवादियों की मान्यता थी कि भारतीयों को अपनी मुक्ति के लिए स्वयं काम करना चाहिए और अपनी अवनत अवस्था से ऊपर उठने के लिए प्रयास करना चाहिए।

उग्रवादियों में सबसे विशिष्ट नेता थे बाल गंगाधर तिलक, विपिनचन्द्र पाल, लाला लाजपतराय और अरविन्द घोष ।

उग्रवादी आंदोलन के नेताओं ने ब्रिटिश शासन की दमनकारी तथा सुधारों के सम्बन्ध में ढुलमुल नीति से असंतुष्ट होकर उदारवादी नेताओं की संवैधानिकतावादी तथा

राजनैतिक भिक्षावृत्ति की नीति का विरोध किया था। उनकी राजनीतिक विचारधारा व सिद्धान्त उदारवादियों से नितान्त भिन्न थे। उनकी विचारधारा इस प्रकार है-

उग्र राष्ट्रवादियों की राजनीतिक विचारधारा और सिद्धांत

(The Political Ideology and Principles of Extremists)

1. भारत और ब्रिटेन के हित परस्पर विरोधी है। ब्रिटिश साम्राज्य के साथ सहयोग करने से भारत अपने राजनीतिक लक्ष्यों को प्राप्त नहीं कर सकता ।

2. उग्रवादियों की मान्यता थी कि भारतीयों को अपनी मुक्ति के लिए स्वयं काम करना चाहिए और अपनी अवनत अवस्था से ऊपर उठने के लिए प्रयास करना चाहिए।

3.युद्ध अथवा सक्रिय विरोध के बिना स्वराज्य प्राप्ति असंभव है। इसलिए उन्होंने घोषणा की कि इस काम के लिए महान् बलिदान करने होंगे और यातनाएँ सहनी पड़ेंगी।उन्होंने इस बात का खण्डन किया कि अंग्रेजों के हितैषी मार्गदर्शन तथा नियंत्रण में भारत प्रगति कर सकता है। वे विदेशी शासन से घोर घृणा करते थे और उन्होंने स्पष्ट रूप से घोषणा की कि राष्ट्रीय आंदोलन का लक्ष्य स्वराज्य है।उनकी धारणा थी कि व्यापारियों का राष्ट्र ब्रिटेन केवल दबाव एवं विरोध की भाषा ही समझता है।

उग्रवादी भारत में सब प्रकार से मुक्त और स्वतंत्र राष्ट्रीय शासन प्रणाली की स्थापना करना चाहते थे। उनका उदारवादियों के औपनिवेशिक स्वराज्य में विश्वास नहीं था। वे पूर्ण स्वराज्य के पक्ष में थे उनको जन-साधारण की शक्ति में अगाध विश्वास था और उन्होंने जन कार्यवाही के जरिए स्वराज्य प्राप्ति की योजना बनाई। इसलिए उन्होंने जनसाधारण के बीच राजनीतिक कार्य तथा जनता द्वारा सीधी राजनीतिक कार्यवाही पर जोर दिया। इन नेताओं ने राष्ट्रीयता को आध्यात्मिक अथवा धार्मिक रंग देने की कोशिश की। विपिनचन्द्र पाल ने कृष्ण को भारत की आत्मा बतलाया। उग्रवादी नेता भारत के गौरवपूर्ण अतीत से प्रेरणा ग्रहण करते थे। उनके आदर्श पात्र थे- चन्द्रगुप्त, राणा प्रताप, शिवाजी और लक्ष्मीबाई।

उग्रवादियों की कार्यपद्धति और साधन (चरमपंथियों के तरीके और तकनीक)

उग्रवादी पूर्ण स्वराज्य की चाह तो रखते थे पर हिसा और आतंक की नीति को नापसन्द करते थे। उनके साधन इस प्रकार है-

1. बहिष्कार - उग्रवादियों के बहिष्कार आंदोलन की मुख्य प्रवृत्ति विदेशी वस्तुओं के ही विरुद्ध थी। परन्तु इसकी व्यापक व्याख्या से सरकार के साथ असहयोग, सरकारी

नौकरियों, प्रतिष्ठानों व उपाधियों का बहिष्कार शामिल था। इन्होंने 1905 में बंगाल विभाजन के विरोध में ब्रिटिश वस्तुओं का बहिष्कार शुरू किया। स्वयंसेवकों की टोलियों तैयार की गई। ये लोग विदेशी माल की दुकानों पर धरना दिया करते थे। विदेशी कपड़ों की होली जलाई जाने लगी। मिठाई बनाने वालों ने विदेशी चीनी का इस्तेमाल न करने, धोबियों ने विदेश विदेशी कपड़े न धोने, पुजारियों ने विदेशी चीजों से पूजा न कराने की कसम खायी। दक्षिण भारत और बंगाल की स्वियों ने विदेशी चूड़ियों और शीशे के बर्तन का इस्तेमाल छोड़ दिया। विदेशी वस्तुओं के खरीदने वालों का सामाजिक बहिष्कार किया जाता था। ब्रिटिश माल और अंग्रेजी शिक्षा संस्थानों के बहिष्कार के अलावा उसमें अन्य बातें भी शामिल थीं- सरकारी अदालतों का बहिष्कार, सरकार के साथ सहयोग न करना। नेविन्शन ने अपनी पुस्तक 'दी न्यू स्पिरिट इन इण्डिया' में लिखा है, "एक दिन काफी रात गए पांच छः भारतीय व्यापारी चुपके से उनके पास आए। उनके पास लाखों रुपये मूल्य का विदेशी कपड़ा था। फलस्वरूप उनका बहिष्कार किया जा रहा था। नाई उनके बाल न बनाते, ग्वाला उनको दूध न देता, मित्रगण उनकी कन्याओं के विवाह में न आते और परिचित जन उनको नमस्कार न करते। इस सब कारणों से उनका जीना दूभर हो रहा था।"

2. स्वदेशी - उग्रवादियों का विश्वास था कि स्वदेशी आंदोलन से भारतीय उद्योग-धंधों का विका होगा तथा ब्रिटिश व्यापार को आघात पहुँचेगा। तिलक ने कहा कि, "जनता में आत्म-निर्भरता, स्वाभिमान और त्याग की भावना जगाने के लिए स्वदेशी आंदोलन को सफल बनाना बहुत जरूरी है।" इसी के फलस्वरूप स्वदेशी कपड़ा मिलें, दियासलाई, साबुन, चर्मशोधक और मिट्टी के बर्तन बनाने के कारखाने सहसा जगह-जगह खुल गए।

3. राष्ट्रीय शिक्षा उग्रवादियों को राष्ट्रीय शिक्षा से विशेष लगाव था। वे कहा करते थे कि पाश्चात्य शिक्षा से कोई अप्रत्यक्ष लाभ भले ही हो गया हो पर उससे हानियाँ अधिक हुई हैं। उग्रवादियों के अनुसार राष्ट्रीय शिक्षा वह है जो बच्चों में राष्ट्रीय भावना उत्पन्न करे तथा उन्हें प्राचीन संस्कृति का बोध कराये। उनके प्रयत्नलों से महाराष्ट्र और बंगाल में बहुत से राष्ट्रीय स्कूल स्थापित हो गए।

4. शांतिपूर्ण विरोध और असहयोग तिलक या विपिनचन्द्र पाल ने उग्रवादी होने के बावजूद हिंसा और क्रांति को कभी प्रोत्साहित नहीं किया। कई विदेशी लेखकों और अधिकारियों ने उन पर क्रांतिकारिता का आरोप लगया है। उदाहरण के लिए, शिरोल लिखते हैं, "तिलक पहले व्यक्ति थे जिन्होंने हत्या को प्रोत्साहन देने वाले वातावरण का निर्माण किया।" इसी प्रकार बैंसन का आरोप था कि "तिलक स्वराज्य के साथ-साथ बमों का प्रचार कर रहे थे।" वास्तव में इस प्रकार के सभी आरोप निराधार है। यह ठीक है कि

जनता के ये जुझारू नेता काफी निडर और निष्ठावान थे तथा उनका उद्देश्य वीरता, निर्भरता और बलिदान की भावना को जागृत करना था, परन्तु उन्होंने देशवासियों को हिंसा की ओर प्रेरित नहीं किया। उन्होंने भारतीयों को 'शांतिपूर्ण विरोध और असहयोग' का पाठ पढ़ाया। तिलक के शब्दों में, "राजनीतिक अधिकारों के लिए लड़ाई होगी। उदारवादी सोचते हैं कि अंग्रेजों को समझा बुझाकर काम निकाला जा सकता है। परन्तु हमारा विचार है कि सरकार के ऊपर दबाव डालने से ही अधिकारों की प्राप्ति संभव है।"

उदारवादी और उग्रवादी की तुलना

उदारवादी और उग्रवादी दोनों ही विचारधाराओं में महान् राष्ट्रीय नेता थे और दोनों ही वर्तमान परिस्थितियों से असंतुष्ट थे। दोनों ही प्रशासन में सुधार चाहते थे और सरकार की दमनकारी नीति से असंतुष्ट थे। दोनों भारतीयों में जागृति पैदा करना चाहते थे और दोनों का अन्तिम उद्देश्य स्वराज्य की प्राप्ति था। उदारवाद तथा उग्रवाद राष्ट्रीय आंदोलन की दो धाराएँ हैं। यद्यपि दोनों का ध्येय भारतीयों के हितों की रक्षा करना था तथापि दोनों के साधनों में बहुत अधिक अन्तर था। अयोध्यासिंह लिखते हैं: "उदारवादियों और उग्रवादियों के दृष्टिकोणों और उद्देश्यों का अन्तर स्पष्ट था। उग्रवादियों को ब्रिटिश शासकों के वायदों में कोई विश्वास नहीं रह गया था किन्तु उदारवादी अब भी उनमें विश्वास करते थे। उग्रवादी ब्रिटिश शासन के विरुद्ध आंदोलन के रास्ते पर जाना चाहते थे। उग्रराष्ट्रवादी कांग्रेस पर अधिकार कर उसे ब्रिटिश शासकों के विरुद्ध संग्राम का हथियार बना देना चाहते थे लेकिन उदारवादी उस पर अपना कब्जा छोड़ने को कतई राजी न थे।" दोनों विचारधाराओं का अन्तर इस प्रकार है-

उच्चवर्ग के नेता - उदारवादी विचारधारा के अधिकांश नेता उच्च वर्ग के शिक्षित व्यक्ति थे। ये पश्चिमी शिक्षा से अत्यधिक प्रभावित थे। इसलिए इनका प्रभाव केवल शिक्षित वर्ग तक ही सीमित था। उदारवादी विचारधारा के प्रमुख नेता थे-दादा भाई नौरोजी, गोपालकृष्ण गोखले, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आदि ।

2. पश्चिमी सभ्यता ईश्वरीय वरदान पश्चिमी 2. शिक्षा में रंगे उदारवादियों पर पश्चिमी सभ्यता, पश्चिमी संस्कृति, पश्चिमी भाषा तथा पश्चिमी संस्थाओं का अत्यधिक प्रभाव था। इनका विश्वास था कि भारत का विकास और कल्याण पश्चिम से सम्बन्ध बनाए रखने में ही है। ये इन सम्बन्धों को ईश्वरीय वरदान समझते थे तथा इन्हें स्थाई और चिरगामी बनाना चाहते थे। उदारवादी इंग्लैण्ड को अपना पथ प्रदर्शक मानते थे। मध्यम वर्ग के नेता उग्रवादी विचारधारा के अधिकांश नेता मध्यम वर्ग के व्यक्ति थे। इनका प्रभाव साधारण जनता में था। इन्हें राष्ट्रीय शिक्षा में अधिक विश्वास था। इनका आंदोलन जनता

द्वारा प्रेरित था। उग्रवादी विचारधारा के प्रमुख नेता थे - लोकमान्य तित्वक, विपिनचन्द्र पाल तथा लाला लाजपतराय । पश्चिमी सभ्यता अभिशाप उग्रवादी पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति को भारत के लिए अभिशाप मानते थे। ये ब्रिटिश शासन के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं बनाए रखना चाहते थे। इनका कहना था कि भारत के अधःपतन का मुख्य कारण विदेशी शासन है। वे भारतीय संस्कृति और सभ्यता को ही अपना पथ-प्रदर्शक मानते थे।

3. ब्रिटिश शासन के प्रति असंदिग्ध 3. भक्ति- उदारवादी ब्रिटिश शासन के भक्त थे। ये नेता तो कांग्रेस की स्थापना को ही अंग्रेज उदारता का फल कहते थे। टी. माधवराव के शब्दों में, "कांग्रेस ब्रिटिश शासन का सर्वोच्च यश शिखर और ब्रिटिश जाति का कीर्ति मुकुट है।" उदारवादी अपनी असंदिग्ध भक्ति के कारण कभी भी ब्रिटिश सरकार द्वारा सताए नहीं गए, भारत की स्वतंत्रता के लिए वे कभी जेल नहीं गए। सरकार ने उदारवादियों को उनकी सेवाओं के लिए पदवियों और नियुक्तियों से सम्मानित किया।

4. क्रमिक विकास की अभिलाषा उदारवादी 4 एक छलांग से स्वराज्य प्राप्ति करना नहीं चाहते थे। वे क्रमबद्ध तरीके से विकास चाहते थे। वे किस्त-दर-किस्त सुधारों में विश्वास करते थे। वे औपनिवेशिक शासन पर बल देते थे। उन्होंने कभी भी ब्रिटिश साम्राज्य से सम्बन्ध विच्छेद की बात नहीं सोची।

5. संवैधानिक साधनों में विश्वास उदारवादी अपने राजनीतिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए केवल संवैधानिक एवं शांतिमय साधनों में विश्वास करते थे। उनका मुख्य नारा था- "अपील, दलील और वकील ।" उनके प्रमुख साधन थे- समाचार-पत्र प्लेटफार्म, कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन, प्रार्थना -पत्र, प्रतिनिधि मण्डल आदि ।

6. भिक्षावृत्ति की राजनीति उदारवादी अपनी 6. माँगों के लिए लड़ना या संघर्ष करना नहीं जानते थे। उनका आंदोलन नैतिक था। उन्हीं लोगों की दया और सद्भावना पर निर्भर करता था जिसके विरुद्ध वह लड़ा जाता था। उदारवादी रियायतें और स्वराज चाहते थे परन्तु उनकी प्राप्ति के लिए बलिदान देने या जेल जाने के लिए तैयार नहीं थे। उनकी पद्धति को 'राजनीतिक भिक्षावृत्ति' (Political Mendiciancy) के नाम से पुकारा जाता है।

7. ब्रिटिश शासन के सहयोगी उदारवादी ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग करने के पक्ष में थे। ब्रिटिश शासन विरोधी उग्रवादी ब्रिटिश शासन के विरोधी थे। कांग्रेस की स्थापना को वे भारतीयों के प्रयत्न का फल मानते थे। वे ब्रिटिश शासन की खुलकर आलोचना करते थे। वे अपनी देशभक्ति के कारण अनेक बार सताए गए। उन्हें राजद्रोह के अपराध

में अनेक बार दण्डित किया गया। सरकार उग्रवादियों को राजद्रोही समझती थी। इसलिए योग्यताएँ होते हुए भी इन्हें कभी पदवियों से विभूषित नहीं किया गया।

. तत्काल परिवर्तन की अभिलाषा उग्रवादी तत्काल ब्रिटिश शासन से विच्छेद की माँग करते थे। वे कहते थे पहले स्वराज्य प्राप्त हो, फिर अन्य समस्याओं को सुलझा लिया जायेगा। वे "स्वराज्य की बात करते थे न कि औपनिवेशिक शासन की। वे भारत में ब्रिटिश शासन का अन्त चाहते थे न कि सुधार।"

उग्र साधनों में विश्वास उग्रवादियों की धारणा थी कि राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए संवैधानिक साधन अपर्याप्त हैं, इसलिए उग्रवादी संवैधानिक साधनों के साथ संगठित निष्क्रिय प्रतिरोध और बहिष्कार का भी प्रयोग करते थे। वे स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा पर बल देते थे।

स्वावलम्बन की राजनीति उग्रवादी अपनी माँगों के लिए लड़ना और संघर्ष करना जानते थे। वे स्वावलम्बन, आत्मविश्वास और आत्मसम्मान में विश्वास करते थे। लाजपतराय के शब्दों में, "हम भिखारी नहीं है।" विपिनचन्द्र पाल कहा करते थे, "स्वराज्य को हम अपनी सामर्थ्य से प्राप्त करेंगे, भिक्षावृत्ति या दया से नहीं।"

8. ब्रिटिश शासन के असहयोगी उग्रवादी ब्रिटिश सरकार के साथ असहयोग करने के पक्ष में थे। उदारवादियों और उग्रवादियों में अन्तर बताते हुए लाला लाजपतराय ने लिखा है, "पूर्ववर्ती नेता ब्रिटिश शासन और ब्रिटिश राष्ट्र से अपील करते थे जबकि ये उग्रवादी नेता अपने देशवासियों और अपने ईश्वर से अपील करते थे।" श्री रामनाथ सुमन ने उदारवाद तथा उग्रवाद को एक दूसरे का पूरक बताते हुए लिखा है, "जब हम नरम व गरम दोनों दलों की प्रवृत्तियों का विश्लेषण व अध्ययन करते हैं तो स्पष्ट होता है कि हमारी राष्ट्रीयता के विकास में दोनों एक दूसरे के पूरक है और हमारी राजनीति के स्वाभाविक उपकरण है। वस्तुतः वे दोनों एक ही आंदोलन के दो पक्ष हैं। पहला प्रकाश का द्योतक है तो दूसरा गर्मी का।" एक अनुमान

राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास में उग्रवादियों ने एक शानदार अध्याय जोड़ा। उन्होंने जनता को आत्मविश्वास और आत्मनिर्भरता की सीख दी। आंदोलन में निम्न मध्यम वर्गीय लोगों, छात्रों, युवकों और महिलाओं को शामिल करके उसके लिए सामाजिक आधार तैयार किया। जन आंदोलन की जिस राजनीतिक पृष्ठभूमि का उग्र राष्ट्रवादियों ने निर्माण किया उसे आगे चलकर महात्मा गांधी ने पूर्णतया अपना लिया।महात्मा गांधी तथा राष्ट्रीय आंदोलन

1.11 महात्मा गांधी और राष्ट्रीय आंदोलन

भारत के स्वाधीनता संग्राम में महात्मा गाँधी का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। 1919 के बाद राष्ट्रीय आन्दोलन में 'गांधीवादी युग' का सूत्रपात होता है और स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् 1947 ई. में उसका अवसान होता है। गाँधी जी भारत के महानतम कर्मयोगी, विचारक और क्रान्तिकारी व्यक्ति थे। उनका सम्पूर्ण जीवन भारत की सेवा में व्यतीत हुआ।

सन् 1918 में होमरूल आंदोलन नेतृत्वहीन हो गया। ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ लड़ने वालों को नेता की तलाश थी। दक्षिणी अफ्रीका के संघर्षों ने गाँधी जी में एक रहनुमा के सारे गुण भर दिये थे। दक्षिणी अफ्रीका में रंगभेदी सरकार के खिलाफ वह एक लंबी लड़ाई लड़ चुके थे। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की बागडोर को इसी रहनुमा का इंतजार था। दक्षिणी अफ्रीका में गरीब भारतीयों के जुझारूपन को देखकर गाँधीजी को यह विश्वास हो गया था कि भारतीय जनता किसी उदात्त उद्देश्य के लिए जुझारू संघर्ष और बलिदान के लिए तैयार हो जायेगी ।

जनवरी, 1915 में गाँधीजी दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटे। जनता ने बड़ी गरमजोशी के साथ उनका स्वागत किया। दक्षिणी अफ्रीका में उनके संघर्ष और उनकी सफलताओं ने उन्हें बहुत लोकप्रिय बना दिया था। गोखले ने पहले ही भारत में घूम-घूम कर कह दिया था कि गाँधीजी में एक महान नेता के सारे गुण हैं। प्रारंभ में गाँधीजी सक्रिय राजनीति से दूर रहे। उस समय 'होमरूल आंदोलन' पूरे जोर पर था, लेकिन गाँधीजी इसमें शरीक नहीं हुए। उस समय भारत में जितनी भी राजनीतिक धाराएँ थीं, गाँधीजी के विचार किसी से मेल नहीं खाते थे। 'नरमपंथी' राजनीति में उनकी आस्था बहुत पहले खत्म हो चुकी थी। वह होमरूल आंदोलनकारियों की इस रणनीति के खिलाफ थे कि अंग्रेजों पर कोई भी मुसीबत उनके लिए एक अवसर है। इसी रणनीति के तहत प्रथम विश्वयुद्ध के छिड़ते ही होमरूल आंदोलन छेड़ा गया था। गाँधीजी इस रणनीति के खिलाफ थे।

इसके अलावा वह तत्कालीन संघर्षों के तरीकों से भी असहमत थे। उनका मानना था कि संघर्ष का एकमात्र तरीका है सत्याग्रह। दूसरे शब्दों में गाँधीजी केवल उसी आंदोलन से जुड़ सकते थे, जो सत्याग्रह के रास्ते पर चल रहा हो।

लेकिन गाँधीजी के इन विचारों का मतलब यह नहीं था कि वह चुपचाप बैठे रहेंगे। 1917 और 1918 के आरंभ में गाँधीजी ने तीन संघर्षों चंपारण (बिहार), अहमदाबाद और खेड़ा (गुजरात) में हिस्सा लिया। ये तीनों संघर्ष स्थानीय मांगों से जोड़कर लड़े गये। चंपारण और खेड़ा आंदोलन "चंपारण, अहमदाबाद और खेड़ा आंदोलन ने संघर्ष के गांधीवादी तरीकों को आजमाने का अवसर दिया था।" इसी अनुभव और लोकप्रियता के कारण

उन्होंने फरवरी, 1919 में प्रस्तावित रौलट एक्ट के खिलाफ देशव्यापी आंदोलन का आव्हान किया।

भारत के राष्ट्रीय आंदोलन में महात्मा गाँधी का योगदान (Gandhi's Contribution in India's National Movement)

भारत के स्वाधीनता संग्राम में महात्मा गाँधी का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। भारतीय जनता उन्हें 'राष्ट्रपिता' तथा 'बापू' कहकर पुकारती है। सन् 1919 से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व उन्होंने किया। गाँधीजी ने बिना रक्तपात के ही अंग्रेजों को भारत छोड़ने पर विवश कर दिया। राष्ट्रीय आन्दोलन में उनका योग इस प्रकार रहा है-

(1) राष्ट्रीय आन्दोलन को जन आन्दोलन बनाना गाँधीजी से पूर्व राष्ट्रवाद की गतिविधियाँ बुद्धिजीवी वर्ग तक ही सीमित थीं। कांग्रेस पर भी मध्यम वर्ग के ऐसे नेताओं का एकाधिकार था जो पाश्चात्य रंग से रंगे हुए थे। गाँधीजी ने कांग्रेस को जनता की संस्था बनाया तथा राष्ट्रीय आन्दोलन को जन-आन्दोलन में परिवर्तित किया। अन्य किसी भी राष्ट्रीय नेता से अधिक गाँधीजी आम जनता की शक्ति ओर जीवन्तता के प्रति जागरूक थे। इतिहास में जनता की भूमिका के प्रति उनमें गहरी आस्था थी। जनता से अपने निकट सम्पर्क के फलस्वरूप उनमें उसकी नब्ज पहचानने की अद्‌भुत क्षमता आ गई थी और वह उसकी भावनाओं को समझने में देर न लगाते थे। भारत के सामान्यजनों के रहन-सहन की हालत से वह भली-भांति परिचित थे वह उनके आर्थिक पिछड़ेपन, राजनीतिक अपरिपक्वता, धार्मिक दृष्टिकोण और सामाजिक पूर्वाग्रहों को भली भांति जानते थे। उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन में अपने कार्यक्रमों को इस रूप में प्रस्तुत किया कि अधिक से अधिक जनता उसे अपना सके, विशेषकर पिछड़े वर्ग के लोग, जो उनके नेतृत्व में चलने वाले साम्राज्य विरोधी संघर्षों में शामिल होने को उत्सुक रहते थे। कूपलैण्ड के अनुसार, "उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन को क्रांतिकारी ही नहीं, जनप्रिय भी बनाया। अभी वह नगरों के बुद्धिजीवी वर्ग तक ही सीमित था, अब वह ग्रामों की जनता तक पहुँचा गया।" के. दामोदरन के शब्दों में, "उनके गतिशील नेतृत्व ने राष्ट्रीय संघर्ष को एक सच्चे जन आंदोलन का व्यापक स्वरूप प्रदान किया।"

(2) राष्ट्रीय आन्दोलन को उच्चकोटि का नेतृत्व प्रदान करना महात्मा गाँधी ने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को उच्चकोटि का नेतृत्व प्रदान किया। वे आन्दोलन के सम्पूर्ण काल में कांग्रेस पर छाए रहे। जनता और नेता उनकी बांत को आदेश मानकर सम्मान से कार्यान्वित करते थे। जनता पर उनका ऐसा प्रभाव था कि वे जैसा चाहते वैसा उससे करवा लेते। उनमें नेतृत्व, त्याग और बलिदान की उच्च भावनाएँ थीं। चौरा-चौरी घटना के

बाद जब गाँधीजी ने तुरन्त ही असहयोग आंदोलन को बंद कर देने के आदेश जारी कर दिये तो अलीबंधु राजगोपालाचारी, मोतीलाल नेहरू, जवाहर लाल नेहरू, चितरंजनदास, लाजपतराय आदि नेता गाँधी जी के आंदोलन रोकने के निर्णय से असंतुष्ट थे। फिर भी कांग्रेसी नेता उन्हें महापुरुष, महात्मा मानकर उनमें विश्वास करते थे। जवाहर लाल नेहरू ने जीवनी में स्वीकार किया है कि "हम सब अनुभव करते थे कि वे महान और अद्वितीय पुरुष और प्रतापी नेता हैं। उनमें विश्वास कर हम लोगों ने कम से कम फिलहाल के लिए उन्हें अपनी तरफ से प्रायः पूरे अधिकार दे दिये।"

(3) रचनात्मक आन्दोलन का सूत्रपात गाँधीजी ने राष्ट्रीय आन्दोलन का संचालन नकारात्मक रूप से न कर सकारात्मक ढंग से किया। उन्होंने गृह उद्योग, चर्खा, खादी, मद्यनिषेध आदि कार्यक्रमों का सफलतापूर्वक संचालन किया।

स्वाधीनता संघर्ष को चलाते हुए गाँधीजी आम जनता के उत्थान के लिए सक्रियता से कार्य कर रहे थे। उनका सृजनात्मक कार्यक्रम गाँधीवादी आन्दोलन का एक महत्वपूर्ण अंग था। खादी और ग्रामोद्योग, हिन्दू-मुस्लिम एकता, छुआछूत को मिटाना, शराबबंदी, प्रौढ़ शिक्षा, ग्राम सुधार और हिन्दी का प्रचार ये उनके कार्यक्रम के कुछ मुख्य अंग थे। प्रत्येक सत्याग्रही से आशा की जाती थी कि वह उसकार्यक्रम को पूरा करने के लिए कठिन परिश्रम करेगा, क्योंकि गाँधीजी के अनुसार, " जिस तरह सशस्त्र विद्रोह के लिए सैनिक शिक्षा जरूरी है, उसी तरह असहयोग आन्दोलन के लिए सृजनात्मक प्रयास की शिक्षा जरूरी है।" उनका आर्थिक कार्यक्रम जिसमे घरेलू दस्तकारी को लोकप्रिय बनाना, चर्खा कातना और खादी बुनना जरूरी था, उत्पादन की आदिमकालीन विधियों और श्रम की निम्न उत्पादकता पर आधारित था। किन्तु एक ऐसे समय में जब औपनिवेशिक नीति के परिणामस्वरूप बेरोजगारी सुरसा की तरह बढ़ रही थी, उस कार्यक्रम ने जनता को आकर्षित किया। 1921 में गाँधीजी ने कहा था, "भारत भूख से मर रहा है क्योंकि उसे उस रोजी-रोजगार से वंचित कर दिया गया है जो उसे रोटी दे सकता है। उन लाखों लोगों के लिए जो मृत्यु के मुंह में समा रहे हैं चर्खा जीविका का एक साधन है। भूख ही भारत को चर्खे की ओर धकेल रही है।"

(4) राजनीतिक को नैतिक और आध्यात्मिक बनाना उन्होंने राजनीति में नैतिक और धार्मिक साधनों को अपनाया। वे साधनों की पवित्रता पर बराबर बल देते थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि यदि राजनीति को मानव-समाज के लिए श्राप न होकर आशीर्वाद होना है तो उसे उच्चतम नैतिक और आध्यात्मिक सिद्धान्तों पर आधारित होना चाहिए। वे स्वयं लिखते हैं, "मेरे लिए धर्म के बिना राजनीति एक मृत्युजाल के समान है क्योंकि यह आत्मा को मार देती है।"

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में उन्होंने साधनों की पवित्रता पर बल दिया। गाँधीजी कहा करते थे कि साधन और साध्य (Means and Ends) एक दूसरे से चोली-दामन की तरह सम्बद्ध है और एक की अपवित्रता दूसरे को भी भ्रष्ट कर देती है। वे अहिंसा को नीतिशास्त्र का सबसे श्रेष्ठ स्वरूप मानते थे क्योंकि "सत्य का पूर्ण दर्शन, अहिंसा को पूर्णतः प्राप्त करने से ही हो सकता है।" उन्होंने लिखा : "मेरे लिए अहिंसा स्वराज्य से भी पहले है। अहिसा का अर्थ बुरा काम करने वाले के सामने घुटने टेक देना नहीं है। इसका अर्थ है, अत्याचारी के विरुद्ध अपनी समूची आत्मा का बल लगा देना। सत्याग्रह

बुराई के खिलाफ अहिंसात्मक प्रतिरोध की तकनीक थी। नैतिक और नीतिशास्त्रीय मूल्यों पर बल ने हजारों नवयुवकों और नवयुवतियों को आत्म बलिदान के महान कार्यों के लिए प्रेरित किया, सरल और सोद्देश्य जीवन के लिए उनमें उत्साह जगाया। इससे निस्संदेह, राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष के सैनिकों की कतारों में राष्ट्रव्यापी पैमाने पर शक्तिशाली अनुशासन भावना पैदा करने में सहायता मिली। "वास्तव में साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में अहिंसा का सिद्धान्त गाँधीजी का सबसे कारगर अस्त्र बन गया।"

(5) साम्प्रदायिकता के कट्टर विरोधी गाँधीजी ने राष्ट्रीय आन्दोलन में हिन्दू-मुस्लिम एकता पर बल दिया और हिन्दू जाति के कलंक 'अस्पृश्यता' को समाप्त करने का भरसक प्रयास किया। वे अस्पृश्यता और साम्प्रदायिकता को विष मानते थे। उन्होंने हरिजनों और दलित वर्गों के उत्थान के लिए कई कार्यक्रम बनाए।

पहले और दूसरे दोनों गोलमेज सम्मेलनों में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का प्रश्न उठा था और डॉ.अम्बेडकर एवं जिन्ना आदि नेता इस बात की चिन्ता किये बगैर कि देश का क्या होगा, अपने अपने जातीय और साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से सोचते थे। इन्हीं दिनों (16 अगस्त 1932) ब्रिटिश सरकार ने विभिन्न सम्प्रदायों के प्रतिनिधित्व के विषय पर 'साम्प्रदायिक पंचाट' प्रकाशित किया। इस पंचाट ने पृथक् निर्वाचन पद्धति को न केवल मुसलमानों के लिए कायम रखा बल्कि उसे दलित वर्गों के ऊपर भी लागू कर दिया। दलित वर्गों के लिए पृथक निर्वाचन मंडलों के प्रवर्तन का प्रस्ताव महात्मा गाँधी को मान्य नहीं था क्योंकि इससे हिन्दुओं के बीच स्थायी फूट पैदा हो जाती। हिन्दू समाज को विघटन से बचाने और राष्ट्रीय एकता स्थापित करने के लिए 20 सितम्बर, 1932 को गांधीजी ने आमरण अनशन आरम्भ कर दिया। उनके अनशन के फलस्वरूप 'पूना समझौता' हुआ जिसे ब्रिटिश सरकार ने साम्प्रदायिक पंचाट के स्थान पर स्वीकार कर लिया। पूना समझौते पर हस्ताक्षर होने के बाद गाँधीजी ने अछूतों के प्रति हिन्दुओं के दुर्व्यवहार पर पश्चाताप तथा हरिजन सेवा में लगे कार्यकर्ताओं के प्रति देश से अस्पृश्यता को समूल नष्ट करने के आग्रह स्वरूप 8 मई 1933 को 21 दिन का उपवास प्रारम्भ

किया।(6) विभिन्न आन्दोलन का संचालन हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में असहयोग आन्दोलन (1920), सविनय अवज्ञा आन्दोलन (1930), तथा भारत छोड़ो आन्दोलन (1942) का विशिष्ट महत्व है। इन तीनों ही आन्दोलनों को महात्मा गाँधी के नेतृत्व और अनुशासन में ही चलाया गया था।

गाँधीजी के नेतृत्व में असहयोग आन्दोलन (1920) जोरों से चला। सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि इस आन्दोलन में हिन्दू-मुसलमान दोनों प्रमुख जातियों ने कंधे से कंधा मिलाकर और बराबर जोश के साथ भाग लिया। 1920 में लोकमान्य तिलक की मृत्यु के बाद गाँधीजी कांग्रेस के एकछत्र नेता रह गये थे। असहयोग आन्दोलन का प्रस्ताव और पूरी योजना उनकी थी तथा आन्दोलन का संचालन भी उन्हीं के हाथों में था। असहयोग आन्दोलन के साथ ही स्वाधीनता संघर्ष के इतिहास में एक नये युग का प्रारम्भ हुआ जिसे 'गाँधी युग' की संज्ञा दी जाती है और एक नई विचारधारा जन्मी जिसमें अंग्रेजों से सुधारों की भीख माँगने के बजाय विदेशी सरकार के विरुद्ध खुल्लम-खुल्ला सीधी कार्रवाई करने के संकल्प की घोषणा निहित थी। 11 फरवरी, 1930 को कांग्रेस कार्यकारणी ने गाँधीजी को सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ करने के अधिकार दे दिये। 12 मार्च, 1930 को गाँधीजी ने अपनी ऐतिहासिक दांडी यात्रा प्रारम्भ कर दी। यात्रा के अंत में 6 अप्रैल, 1930 को उन्होंने नमक कानून तोड़कर सविनय अवज्ञा आन्दोलन का सूत्रपात किया।

8 .अगस्त, 1942 को बंबई में कांग्रेस महासमिति ने 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पारित किया। गाँधीजी को आन्दोलन प्रारम्भ करने का अधिकार दिया गया था। कांग्रेस महासमिति में दिये गये भाषण में महात्मा गाँधी ने स्पष्ट कर दिया कि यह संघर्ष 'करो या मरो' संघर्ष होगा। अगले ही दिन, नौ अगस्त को बड़े तड़के महात्मा गाँधी तथा कांग्रेस कार्यकारिणी के अन्य सदस्य गिरफ्तार कर लिये गये तथापि 'करो या मरो' का नारा सारे देश में गूंज उठा।

(7) नई तकनीकों एवं अस्त्रों का प्रयोग साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में महात्मा गाँधी ने जिन शक्तिशाली अस्त्रों का प्रयोग किया, उनमें से कुछ थे सत्याग्रह, असहयोग, सविनय अवज्ञा, कर निषेध आन्दोलन, प्रदर्शन, बहिष्कार। किसानों को उनका यह आव्हान कि वे सरकार को कर न दें, एक क्रांतिकारी कदम था जिसने आर्थिक क्षेत्र में सरकार को चुनौती दी। उन्होंने छात्रों का आव्हान किया कि स्कूलों और कॉलेजों का बहिष्कार करें, जिनका उद्देश्य प्रशासनिक यंत्र को चलाने के लिए सरकारी सेवक तैयार करना था। वकीलों का आव्हान किया गया कि वे अदालतों का बहिष्कार करें और इस प्रकार बिटिश न्याय विधान की मशीन को पंगु बना दें। नवयुवक और नवयुवतियों, हजारों की

संख्या में 'गैर कानूनी' नमक उत्पादन के आन्दोलन में भाग लेने और शराब की दुकानों तथा विदेशी कपड़ों का बहिष्कार करने के लिए आगे बढ़ आये। जनता का आव्हान किया गया कि वह इस शैतान सरकार के बनाये हुये 'गैर सांविधानिक कानूनों' की अवज्ञा करें। संक्षेप में, महात्मा गाँधी के नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस भारत में विदेशी शासन के विरुद्ध अहिंसात्मक विद्रोह का माध्यम बन गई। गिने-चुने बुद्धिजीवियों का सम्मेलन न रहकर अब वह आम जनता का आन्दोलन बन गई। गाँधीजी की प्रेरणा से अब उसमें एक बड़ी संख्या में किसानों ने और मजदूरों ने भी प्रवेश किया।

गाँधीजी के अहिंसा और सत्याग्रह की तकनीकों के कारण सरकार की शक्ति और दमन चक्र का डर लोगों के दिल से निकला और उनमें आत्म सम्मान की भावना और एक नई निर्भीकता जगी। भारत में अंग्रेजी राज केवल भय और निहित स्वार्थ वाले भारतीयों के सहयोग पर आधारित था। गाँधीजी की सारी शिक्षा का सार था निर्भयता और सत्य। कूपलैण्ड के शब्दों में, 'गाँधीजी ने भारत के इतिहास का रुख बदल दिया । । उन्होंने वह काम कर दिखाया जो तिलक भी नहीं कर सके थे। उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को क्रांतिकारी बनाया, स्वतंत्रता के लक्ष्य की ओर बढ़ना सिखाया।"

दुर्गादास के अनुसार, "30 जनवरी, 1948 को 'गाँधी युग' का अन्त हुआ। इससे एक ऐसा शून्य

पैदा हुआ जिसे भरा नहीं जा सकता था। गाँधीजी हाई कमान थे, आत्मा की वह शक्ति थे जिसके द्वारा कांग्रेस जनता पर प्रभाव स्थापित कर सकी थी। नेताओं के लिए वे राजनीतिक, भावनात्मक और नैतिक दृष्टि से अन्तिम अवलम्बन थे और उनके कार्यों के पीछे महात्मा जी की अद्‌भुत शक्ति थी। एक विद्वान के अनुसार, "आधुनिक काल में किसी व्यक्ति ने अंग्रेजों को अपने अड्डों से मार बाहर निकालने में सफलता प्राप्त नहीं की। नैपोलियन ने प्रयास किया लेकिन असफल रहा, हिटलर को भी निराशा का मुँह देखना पड़ा; लेकिन गाँधीजी को इसमें अद्वितीय सफलता मिली।"

असहयोग आंदोलन (Non Co-operation Movement)

भारत के स्वाधीनता संग्राम में असहयोग आंदोलन का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। भारत ने तन-मन और धन से प्रथम विश्वयुद्ध में ब्रिटेन की सहायता की, किन्तु विश्वयुद्ध की समाप्ति पर भारत में न तो लोकतंत्र शुरू हुआ और न राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का अधिकार ही भारतीयों को मिला। इसके विपरीत युद्ध से भारतीय राष्ट्रवाद को अपूर्व प्रोत्साहन प्राप्त हुआ और आंदोलन के रूप में असहयोग आंदोलन प्रारम्भ हुआ ।

महात्मा गाँधी ने ब्रिटिश सरकार के एक सहयोगी के रूप में भारतीय राजनीति में प्रवेश किया। प्रथम विश्वयुद्ध के समय उन्होंने इस बात पर बल दिया कि आपत्तिकाल में शत्रु को भी सहायता दी जानी चाहिए। उन्होंने भारतीयों को सेना में भरती होने के लिए कहा तथा शासन के लिए धन इकट्ठा किया। किन्तु ब्रिटिश सरकार ने इसका उत्तर अत्यन्त निराशाजनक ढंग से दिया जिससे गाँधी ने सरकार को शैतान कहा और सरकार को झुकाने के लिए जनता को असहयोग आंदोलन के लिए तैयार किया। दक्षिणी अफ्रीका से वे एक नूतन कार्य पद्धति अपने साथ लाए थे जिसे सत्याग्रह कहा जाता है। उन्होंने सत्याग्रह के द्वारा शासन को झुकाना समुचित समझा।

असहयोग आंदोलन के कारण

असहयोग आंदोलन एक विस्फोट था जिसके निम्नलिखित कारण थे-

(1) प्रथम विश्वयुद्ध में ब्रिटेन की विजय ब्रिटिश प्रधानमंत्री लायड जार्ज ने कहा था कि युद्ध लोकतंत्र और राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धांत की रक्षा के लिए लड़ा जा रहा है। किन्तु युद्ध के बाद भारत में यह सिद्धान्त लागू नहीं किये गये।

(2) भारतीयों में असंतोष - युद्ध की समाप्ति के पश्चात् भारत में असंतोष और निराशा बढ़ रही थी। भारत की आर्थिक दशा बहुत बुरी तरह बिगड़ गई थी। वस्तुओं की कीमतों में काफी वृद्धि हो गई थी तथा जीवनोपयोगी वस्तुओं का मिलना दुर्लभ हो गया था।

(3) भारत में अकाल तथा महामारी इस प्लेग, दुर्भिक्ष तथा महामारी जैसे प्राकृतिक प्रकोपों से जनता दुखी हो चुकी थी। शासन की उपेक्षा के कारण हजारों लोगों को बेमौत मरना पड़ा।

(4) युद्ध के बाद छंटनी की नीति विश्व युद्ध के समय हजारों व्यक्तियों को सेना में भरती किया गया और युद्ध की समाप्ति के बाद शासन ने छंटनी की नीति अपनायी जिससे हजारों नौजवान बेकार हो गए। युद्ध में लड़ने वाले वीर सैनिक युद्ध के बाद भूखों मरने लगे जिससे जनता में आक्रोश की भावना आई।

(5) रौलेट एक्ट - युद्धकाल में 'भारतीय सुरक्षा अधिनियम' पारित किया गया था। युद्ध की समाप्ति से पूर्व ही शासन ने जस्टिस रौलेट की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की जिसे ऐसे कानूनों की रूपरेखा तैयार करने को कहा गया जिनसे क्रांतिकारियों के षड्यन्त्रों का सामना किया जा सके। शासन ने रौलेट समिति की रिपोर्ट को कानून का रूप देने का प्रयास किया। महात्मा गाँधी ने इसका घोर विरोध किया, फिर भी 18 मार्च, 19 को 'रौलेट बिल' कानून बन गया। रौलेट एक्ट के विरुद्ध 30 मार्च, 1919 को पूरे देश में हड़ताल करने का निश्चय किया गया। बाद में हड़ताल की तारीख 6 अप्रैल कर दी गई। 6 अप्रैल

को पूरे देश में शांतिपूर्ण हड़ताल हुई। गाँधीजी को गिरफ्तार किया गया जिससे अहमदाबाद में उपद्रव हुए। रौलेट एक्ट को 'काला कानून' कहा गया और सरकार के विरुद्ध एक असन्तोष का वातावरण तैयार हो गया।

(6) जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड रौलेट एक्ट का विरोध करने के लिए पूरे देश में हड़तालें, सभाएँ और जुलूसों का आयोजन किया गया। 10 अप्रैल को अमृतसर के कमिश्नर ने डॉ. सत्यपाल और डॉ. किचलू नामक पंजाब के दो नेताओं को अमृतसर से निष्कासित कर नजरबंद कर दिया। शासन की इस आज्ञा से उत्तेजना फैल गई और जुलूस निकालकर जनता ने उनकी रिहाई की मांग की। इस समय माइकेल ओ डायर पंजाब के गवर्नर थे। जुलूस तथा हड़ताल के कारण पुलिस तथा भीड़ में कहासुनी हो गई और पुलिस ने गोली चला दी। शेरवुड नामक एक ईसाई प्रचारिका की मृत्यु हो गई। बाद में अमृतसर का भार जनरल डायर के सुपुर्द कर दिया गया। सेना ने सभाओं और जुलूसों पर प्रतिबन्ध लगा दिया किन्तु इसकी सूचना जनता तक नहीं पहुंचाई। 13 अप्रैल को एक सार्वजनिक सभा करने की घोषणा की गई जिसे जनरल डायर ने रोकने की कोशिश नहीं की। जलियाँवाला बाग में लगभग बीस हजार स्त्री-पुरुष इकट्ठे हुए और जब भाषण आरम्भ हुआ तो जनरल डायर सेना की गाड़ी लेकर आ पहुँचा और भीड़ पर गोली चलाने का आदेश दे दिया। भीड़ में भगदड़ मच गई, भीड़ तितर-बितर होने लगी। जब बारूद व कारतूस खत्म हुए तब ही गोली वर्षा रुकी। लगभग 300 व्यक्ति मारे गए और 1200 व्यक्ति इस घटना में घायल हुए। इसके बाद पंजाब के महत्वपूर्ण नगरों में सैनिक शासन लागू कर दिया गया। लोगों पर अत्याचार किए गए। उन्हें पेट के बल चलाया गया, नलों में पानी बंद कर दिया गया, बैत और कोड़े लगाना आम बात हो गई। जलियाँवाला हत्याकाण्ड का राष्ट्र पर व्यापक प्रभाव पड़ा। टैगोर ने 'सर' का खिताब छोड़ दिया, शंकरन नायर ने कार्यकारिणी परिषद से त्याग पत्र दे दिया। इस प्रकार की पाश्विक ज्यादतियों के परिणामस्वरूप असहयोग आन्दोलन हेतु वातावरण तैयार होने लगा।

(7) हण्टर समिति प्रतिवेदन जलियाँवाला दुर्घटना की जाँच करने के लिए शासन ने हण्टर समिति की नियुक्ति की। शासन ने समिति की बहुमत रिपोर्ट में सम्पूर्ण घटना की लीपा-पोती कर दी। जनरल डायर को कोई सजा नहीं दी गई। लार्ड सभा में उसे 'साम्राज्य का शेर' तथा 'साम्राज्य का रक्षक' कहकर सम्बोधित किया गया। ऐसी स्थिति में अंग्रेजों की न्याय भावना पर से विश्वास उठ गया और राष्ट्र की सुषुप्त चेतना जागृत हो गई।

(8) खिलाफत का प्रश्न प्रथम विश्व युद्ध में टर्की ब्रिटेन के खिलाफ लड़ा था। युद्ध के समय भारतीय मुसलमानों द्वारा सरकार की सहायता इस आधार पर की गई कि ब्रिटेन टर्की के साथ उदार संधि करेगा। भारत के मुसलमान टर्की के सुल्तान को 'खलीफा' मानते थे

और सम्मान की दृष्टि से देखते थे। सरकार ने आश्वासन देने के बाद भी टर्कों के साथ सीवर्स की कठोर संधि की। इससे भारतीय मुसलमानों को तीव्र आघात पहुँचा और शक्तिशाली खिलाफत आंदोलन उठ खड़ा हुआ। गांधीजी ने खिलाफत आंदोलन का समर्थन किया और इसे हिन्दू-मुस्लिम एकता का सुन्दर अवसर समझा। उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता के आधार पर ब्रिटिश शासन के विरुद्ध असहयोग आंदोलन छेड़ने का निश्चय किया।

अयोध्यासिंह के शब्दों में, "उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि 1920-22 के जमाने में देश में क्रांतिकारी परिस्थितियाँ विद्यमान थी। राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम की विभिन्न शक्तियाँ साम्राज्यवादी शत्रुओं पर टूट पड़ने को तैयार थीं।"असहयोग आंदोलन की प्रगति तथा स्थगन

असहयोग आंदोलन- शुरुआत और अंत

सितम्बर, 1920 में कांग्रेस का कलकत्ता अधिवेशन होता है, जहाँ महात्मा गाँधी ने असहयोग आंदोलन का प्रस्ताव रखा। गाँधीजी ने कहा कि अंग्रेज शैतान हैं जिनके साथ सहयोग सम्भव नहीं। उदारवादी नेताओं ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। पं. मोतीलाल तथा अली बन्धुओं ने प्रस्ताव का समर्थन किया और प्रस्ताव स्वीकृत हो गया।

इस प्रस्ताव द्वारा भारत में असहयोग तथा सत्याग्रह आंदोलन का सूत्रपात हुआ। इस प्रस्ताव के केन्द्र बिन्दु थे-

(1) भारतवासी अहिंसात्मक असहयोग की नीति अपनाएँ;

(2) सरकारी नौकरियों का बहिष्कार करें.

(3)सरकारी उपाधियों को त्याग दें;

(4) सरकारी और अर्द्धसरकारी उत्सवों में भाग न लें;

(5) सरकारी स्कूलों और कॉलेजों का बहिष्कार करें;

(6) वकील सरकारी न्यायालयों का बहिष्कार करें;

(7) मतदाता अपने मतों का प्रयोग न करें;

(8) विदेशी माल का बहिष्कार किया जाये;

(9) राष्ट्रीय स्कूल और कॉलेजों की स्थापना की जाये;

(10) पंचायती अदालतों की स्थापना की जाये।

दिसम्बर, 1920 का कांग्रेस का नागपुर अधिवेशन कांग्रेस के इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण है। उसने कांग्रेस के रूप में आमूल परिवर्तन कर दिया और उसे भारतीय जनता की कांग्रेस बना दिया। इस अधिवेशन के अध्यक्ष विजय राघवाचार्य थे। इस अधिवेशन में असहयोग के प्रस्ताव को दोहराया ही नहीं गया, बल्कि उसके कार्यक्रम के अंत में एक धारा जोड़ दी गई और संकेत किया गया कि अगर जरूरत पड़ी तो कर देने से इंकार किया जा सकता है। नागपुर अधिवेशन ने कांग्रेस का नया लक्ष्य निर्धारित किया। पहले उसका लक्ष्य था ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत औपनिवेशिक स्वायत्त शासन प्राप्त करना। अब कहा गया कि "कांग्रेस का ध्येय शांतिमय तथा उचित उपायों से स्वराज प्राप्त करना है।" डॉ. सीतारमैय्या के अनुसार, "कांग्रेस से वास्तव में भारत के इतिहास में एक नए युग का प्रादुर्भाव होता है। निर्बल क्रोध और प्रार्थनाओं का स्थान उत्तरदायित्व के एक नवीन भाव तथा स्वावलम्बन की एक नई भावना ने ले लिया। जनता ने अनुभव किया कि यदि उसे स्वतंत्र होना है तो इसके लिए उसे स्वयं प्रयास करना पड़ेगा।"

असहयोग आंदोलन के पीछे यह मन्तव्य था कि यदि जनता ब्रिटिश संस्थाओं का बहिष्कार कर दे तो शासन बिल्कुल ठप्प हो जाएगा। यह एक निषेधात्मक आन्दोलन न होकर सकारात्मक कार्यक्रम वाला आन्दोलन था। इसमें विदेशी माल और संस्थाओं के बहिष्कार के साथ-साथ स्वदेशी, हाथ बुनाई, अस्पृश्यता का अन्त आदि रचनात्मक कार्यक्रम पर बल दिया गया था।

असहयोग का कार्यक्रम अपनाए जाने के बाद देशवासी उसे पूरा करने के लिए तेजी से आगे बढ़े। अनेक ने सरकारी खिताब लौटा दिए। इनमें कवि गुरू रवीन्द्र नाथ ठाकुर भी थे। आन्दोलन के फलस्वरूप सेठ जमनालाल बजाज ने 'राय बहादुर' की उपाधि छोड़ दी। गाँधीजी ने 'कैसर-ए-हिन्द' के पदक को वापस कर दिया। छात्रों ने स्कूलों व कॉलेजों का बहिष्कार किया। वकीलों ने वकालत छोड़ दी। जनता ने विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार किया। शराब की दुकानों पर पिकेटिंग की गई। राष्ट्रीय शिक्षा के लिए जगह-जगह विद्यापीठ की स्थापना हुई। काशी विद्यापीठ, बिहार विद्यापीठ (पटना), गुजरात विद्यापीठ (अहमदाबाद), महाराष्ट्र विद्यापीठ (पूना), अलीगढ़ मुस्लिम विद्यापीठ आदि संस्थाओं की स्थापना हुई। वकालत छोड़ने वालों की संख्या बहुत बड़ी न थी लेकिन उनमें कुछ बहुत ही बड़े वकील थे, जो देश के बड़े नेता बने। ऐसे लोगों में थे पंडित मोतीलाल नेहरू, देशबंधु चितरंजन दास, बाबू राजेन्द्र प्रसाद, आसफ अली, राजगोपालाचार्य आदि ।

1921 के अंत तक भारत का क्रांतिकारी आंदोलन उच्च शिखर पर पहुँच गया। भारतीय जनता विभिन्न मोर्चों पर साम्राजियों पर हमले कर रही थी। ऐसे अवसर पर उसे

रोकने के इरादे से ब्रिटिश साम्राजियों ने स्वयं युवराज प्रिन्स ऑफ वेल्स को भेजा। ये साम्राज्यवादी आशा करते थे कि युवराज को देखकर स्वभाव से 'राजभक्त' भारतवासी क्रांति और आंदोलन का रास्ता छोड़ देंगे और हाथ जोड़कर उनकी आज्ञा शिरोधार्य करेंगे। लेकिन हुआ बिलकुल उल्टा। भारतवासियों ने उसका स्वागत हड़ताल और विरोधी प्रदर्शन के साथ किया। प्रिंस ऑफ वेल्स जब 17 नवम्बर, 1921 को बम्बई पहुँचे तो उन्हें बम्बई की सड़कें और बाजार उजड़े हुए मिले। पूरे नगर में हड़ताल थी और विरोध में जुलूस निकाले गये, पुलिस और प्रदर्शनकारियों के बीच जगह-जगह भिड़ंत आरंभ हो गई। इन भिड़ंतों में 53 व्यक्ति मारे गए और लगभग 400 घायल हुए। शासन ने कांग्रेस स्वयंसेवकों को गिरफ्तार करना प्रारंभ कर दिया, स्वयंसेवी संगठनों को गैरकानूनी कर दिया। स्वयंसेवकों को ही नहीं, नेताओं को भी गिरफ्तार किया गया। अलीबंधु, मोतीलाल नेहरू, चितरंजन दास, लाजपतराय, मौलाना आजाद, आदि सभी चोटी के नेता जेल के सींखचों सींखचों में बंद कर दिए गए। सिर्फ गाँधीजी बाहर रह गए। कुल मिलाकर लगभग पचास हजार व्यक्ति गिरफ्तार किए गए।ऐसे वातावरण में 27 दिसम्बर, 1921 को कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन अहमदाबाद में में हुआ । अधिवेशन में अहिंसक आंदोलन को जोरदार ढंग से चलाये जाने का निश्चय किया गया। गांधीजी को कांग्रेस का 'सर्वाधिकारी' अथवा 'डिक्टेटर' नियुक्त किया गया। कांग्रेस के अहमदाबाद अधिवेशन से लोग इस विश्वास से लौटे कि शीघ्र ही गांधीजी सामूहिक सविनय अवज्ञा आंदोलन का हुक्म देंगे। लेकिन गांधीजी ने पीछे हटने का निश्चय कर लिया। 5 फरवरी, 1922 के गोरखपुर के चौरी चौरा की घटना से महात्मा गांधी को इतनी चिन्ता और मानसिक पीड़ा हुई कि उन्होंने तुरन्त ही आंदोलन को बंद कर देने के आदेश जारी कर दिए। गोरखपुर के निकट चौरी-चौरा स्थान पर जनता ने कुछ सिपाहियों को खदेड़कर, थाने में आग लगा दी। इस घटना से गांधीजी के अहिंसावादी मन पर तीव्र प्रभाव पड़ा और उन्होंने आंदोलन को स्थगित कर रचनात्मक कार्यों पर बल देने पर जोर दिया। इस प्रकार असहयोग आंदोलन स्थगित हो गया। पं. मोतीलाल नेहरू, लाला लाजपतराय तथा सुभाषचन्द्र बोस ने गांधीजी के इस कार्य की कटु आलोचना की। कतिपय नेताओं ने गांधीजी के विरुद्ध भाषण दिए। इसका हिन्दू-मुस्लिम एकता पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा और जनता किंकर्तव्य विमूढ़ हो गई। शासन ने गांधीजी को गिरफ्तार कर लिया और उन पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया। सुभाषचन्द्र बोस के अनुसार, "ठीक उस समय, जबकि जनता का उत्साह चरमोत्कर्ष पर था वापस लौटने का आदेश दे देना राष्ट्रीय दुर्भाग्य से कम न था।" जवाहरलाल नेहरू ने अपनी जीवनी में लिखा "ऐसे समय जबकि लगता था कि हम अपनी स्थिति मजबूत कर रहे हैं और सब मोर्चों पर आगे बढ़ रहे हैं, अपने संघर्ष के बंद कर दिए जाने का समाचार हमें मिला तो हम बहुत नाराज हुए।"

असहयोग आंदोलन की दुर्बलताएँ

असहयोग आंदोलन की कमजोरियां

असहयोग आंदोलन की कमियों ने राष्ट्रीयता की भावना को कई प्रकार से हानि पहुँचाई। प्रथम, असहयोग आंदोलन की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि वह धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त के बिल्कुल विपरीत पड़ा। धर्म को व्यक्ति का निजी मामला और राजनीति के क्षेत्र से दूर रखने के बजाय, गांधीजी ने खिलाफत के निरे धार्मिक मामले के सहारे हिन्दू-मुसलमानों को निकट लाने की कोशिश में धर्म और राजनीति को एक-दूसरे में इतना डुबो दिया कि उसके बाद देश की साम्प्रदायिक समस्या बढ़ती ही गई। द्वितीय, असहयोग आंदोलन को आकस्मिक ढंग से बंद करना अनुचित था। चौरी-चौरा की घटना के बाद 12 फरवरी, 1922 को बारदौली से कांग्रेस कमेटी की बैठक बुलाकर हर किस्म का आंदोलन बंद कर दिया गया। सारे देश के अनगिनत मोर्चों पर लड़ने वाले करोड़ों आजादी के सिपाहियों को आदेश दिया गया कि लड़ाई बंद कर दो और अब केवल रचनात्मक काम करो, चरखा कातो, खद्दर बुनो, शिक्षा का प्रचार करो, अस्पृश्यता दूर करो, आदि। आंदोलन के इस तरह बंद किए जाने से खुद कांग्रेसजनों और नेताओं के अंदर फैली निराशा और नाराजगी का अंदाज सहज ही लगाया जा सकता है। सुभाषचन्द्र बोस ने लिखा- 'डिक्टेटर का फरमान उस वक्त मान लिया गया लेकिन कांग्रेस शिविर में नियमित विद्रोह फैल गया। कोई भी न समझ सका कि महात्मा ने चौरी-चौरा की विच्छिन्न घटना का इस्तेमाल सारे देश के आंदोलन का गला घोंट देने में क्यों किया।"

तृतीय, अयोध्यासिंह के अनुसार, कांग्रेस का नेतृत्व क्रांतिकारी नेतृत्व न था जिसकी ऐसे समय जरूरत थी। वह सुधारवादी बुर्जुआ नेतृत्व था कि जो एक तरफ साम्राज्यवादियों से और दूसरी तरफ जमींदारों-सामंतों से समझौता कर, कुछ ले देकर चलना चाहता था। उसका अहिंसा का नारा क्रांतिकारी आंदोलन के आरम्भ की दुर्बलता को दूर करने की चाल न था, वह क्रांतिकारी आंदोलन को रोकने और नेतृत्व सुधारवादी बुर्जुआ वर्ग के हाथ में बनाए रखने का अस्त्र था। संक्षेप में, इस आंदोलन को बुर्जुआ

वर्ग और जमीदार-सामंत वर्ग के विशुद्ध वर्ग स्वार्थों के लिए बंद कर दिया गया। इन वर्गों के स्वार्थ के लिए देश के व्यापक हितों की बलि दे दी गई थी।

चतुर्थ, जनता को प्रशिक्षित किए बिना आंदोलन छेड़ना गांधीजी की भूल थी।

पंचम, आंदोलन सरकार पर विशिष्ट प्रभाव न जमा सका तथा सरकारी दमन के आगे आंदोलनकारियों को झुकना पड़ा। सारा आंदोलन तो बंद कर दिया गया (फरवरी, 1922), लेकिन सरकारी दमन बंद न हुआ। 10 मार्च, 1922 को गांधीजी भी गिरफ्तार

कर लिये गए और छः साल की सजा दे दी गई। गांधीजी की गिरफ्तारी से राष्ट्रवादी खेमें में बिखराव आने लगा, संगठन टूटने लगा और तमाम लड़ाकू नेताओं का मनोबल गिरने लगा। आंदोलन के पूरी तरह खत्म होने का खतरा उत्पन्न हो गया।

षष्ठ, असहयोग आंदोलन अपने कुछ कार्यक्रमों में नितांत असफल रहा, जैसे विधानमण्डलों का बहिष्कार का कार्यक्रम। किसी भी कांग्रेस सदस्य ने चुनाव नहीं लड़ा। ऐसी स्थिति में उदारवादियों, अवसरवादियों और राजभक्तों की बन आई और परिषदें सरकार के समर्थकों से भर गई।

अयोध्यासिंह के शब्दों में, "इस तरह भारतीय जनता का 1918-22 का राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम असफल हो गया और इस असफलता के लिए सुधारवादी नेतृत्व पूरी तरह जिम्मेदार था।"

असहयोग आंदोलन का महत्व

भारत के स्वाधीनता संघर्ष के इतिहास में यह पहला निः शस्त्र संघर्ष था। इस आंदोलन का महत्व निम्नलिखित बिन्दुओं से स्पष्ट होता है:-

1. राष्ट्रीय चेतना की जागृति असहयोग आंदोलन द्वारा राष्ट्रीय चेतना जागृत हुई। असहयोग और बहिष्कार के अस्त्र से ब्रिटिश साम्राज्यवादी घबराये। मगर 30 करोड़ भारतवासी इस रास्ते को अपना लेते तो ब्रिटिश साम्राज्य की सारी तोपें, सारी बंदूकें, सारे विमान और युद्धतोप भी इस विद्रोह का दमन करने में असमर्थ होते। मद्रास के गवर्नर विलिंगटन ने भारत सरकार के गृहसदस्य को लिखा, "असहयोग आंदोलन की और जो भी उपलब्धियाँ रही हों, उसके कारण जनता में राजनीतिक विचार फैल गये है और उनकी शांत आत्मतुष्टि को झकझोर दिया गया है।"

2. राष्ट्रीय आंदोलन में नई विचारधारा-1920 में असहयोग आंदोलन के साथ ही भारतीय राजनीतिक जीवन में एक नये युग का प्रारम्भ हुआ जिसे 'गांधी युग' की संज्ञा दी जाती है। राष्ट्रीय आंदोलन में एक नई विचारधारा जन्मी जिसमें अंग्रेजों से सुधारों की भीख मांगने के बजाय विदेशी सरकार के विरुद्ध खुल्लम खुल्ला सीधी कार्रवाई करने के संकल्प की घोषणा निहित थी।

3. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के स्वरूप में परिवर्तन यह आंदोलन भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की नीति व साधनों में परिवर्तन लाने की दृष्टि से ऐतिहासिक था। इससे पूर्व कांग्रेस उदार व सौम्य साधनों में विश्वास करती थी किन्तु अब जन आंदोलन के साधनों को कांग्रेस ने अपना लिया।

4. राष्ट्रीय आंदोलन को जन आंदोलन की ओर उन्मुख करना असहयोग आंदोलन ने राष्ट्रीय आंदोलन को जन आंदोलन की ओर उन्मुख कर दिया। अब राष्ट्रीय आंदोलन गिने-चुने बुद्धिजीवियों का आंदोलन न रहकर किसानों, मजदूरों, छात्रों, महिलाओं के विशाल जन आंदोलन में परिवर्तित हो गया। कूपलैण्ड के शब्दों में, "अभी तक जो आंदोलन नगर के बुद्धिजीवी वर्ग तक ही सीमित था अब वह देहातों की आम जनता तक पहुँच गया और जागृति पैदा करने लगा।"

5. रचनात्मक कार्यों का महत्व असहयोग आंदोलन के दौरान कांग्रेस ने जो रचनात्मक कार्यक्रम अपनाया जैसे- खादी, चर्खा कातना, राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाओं की स्थापना, स्वदेशी आदि, इससे देश को बड़ा भारी लाभ हुआ।

निष्कर्ष भारतीय मानस पर तो इस आंदोलन के अद्‌भुत मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़े ही, उसने ब्रिटिश मानस पर दृष्टव्य प्रभाव डाला। इससे उनका आत्मविश्वास हिल गया। विदेशी माल के बहिष्कार से भारत में ब्रिटिश व्यापारिक हितों को भारी हानि पहुँची।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन

कांग्रेस की कार्यकारिणी को 1929 में हुई लाहौर कांग्रेस में यह अधिकार दिया गया था कि वह देश में सविनय अवज्ञा आन्दोलन छेड़े। इस आन्दोलन में कर न अदा करना भी शामिल था। इसने विधानसभा के सदस्यों से विधायक पद से इस्तीफा देने का भी आव्हान किया था। 1930 की मध्य फरवरी में साबरमती आश्रम में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की बैठक हुई जिसमें गाँधीजी को इस बात का अधिकार दिया गया कि वे अपनी इच्छा से जब और जिस जगह से चाहें, सविनय अवज्ञा आंदोलन का शुभारंभ कर सकते हैं। गाँधीजी जनआंदोलन के माने हुए विशेषज्ञ थे। वे "गंभीरता से जनसंघर्ष छेड़ने के लिए प्रभावी तरीका तलाश रहे थे।" इस प्रकार से न्यूनतम मांगों वाली 31 जनवरी की उनकी चेतावनी भरी माँग को, जिसमें न्यूनतम मांगों का 11 सूत्रीय मांगपत्र पेश किया गया था, लार्ड इरविन ने अनदेखा कर दिया था। इसलिए अब सिर्फ एक ही रास्ता बचा था सविनय अवज्ञा का। रजनी पामदत्त के शब्दों में, "सन् 1930 का सविनय अवज्ञा आन्दोलन गांधीवादी क्रांति का एक महत्वपूर्ण शस्त्र था। सन् 1928 के बाद देश में उत्तेजना और निराशा का वातावरण फैल रहा था। कांग्रेस हाथ पर हाथ धरे बैठे नहीं रहना चाहती थी। अतः सविनय अवज्ञा के रूप में एक सार्थक कदम उठाया गया।"

सविनय अवज्ञा आन्दोलन के कारण

(Causes of Civil Disobedience Movement)

सविनय अवज्ञा आन्दोलन तात्कालिक परिस्थितियों की उपज था, जिसके प्रधान कारण इस प्रकार हैं-

(1) शोचनीय स्थिति - सन् 1930 के आसपास भारी मन्दी और व्यापक बेकारी के कारण देश भर में आर्थिक दशा बड़ी शोचनीय हो गई थी। मजदूर, किसान, व्यापारी और सामान्य जनता सभी परेशान थे। अंग्रेज सरकार ने गाँधीजी की न्यूनतम माँगें भी अस्वीकार कर दी थीं।

(2) असन्तोष और उत्तेजना का वातावरण देश में असन्तोष और उत्तेजना का वातावरण बढ़ रहा था। राजनीति में अब नवयुवक वर्ग अधिक सक्रिय था। सरकार ने रुपये की कीमत 16 पैसे से बढ़ाकर 18 पैसे कर दी थी जिससे इंग्लैण्ड को अधिक लाभ हुआ। सरकार ने मजदूर संगठनों के नेताओं को गिरफ्तार कर उन पर मेरठ षड्यन्त्र का अभियोग लगाया जिससे मजदूर भी उत्तेजित हो उठे। सरदार भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त के क्रांतिकारी कार्यों और लाहौर षड्यन्त्र अभियोग के कारण भी भारत का राजनीतिक वायुमण्डल अत्यधिक दूषित हो गया था।

(3) स्वाधीनता दिवस की घोषणा 1929 में कांग्रेस का अधिवेशन पं. जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में लाहौर में हुआ। 31 दिसम्बर की रात्रि को 12 बजे रावी नदी के तट पर भारत का तिरंगा झण्डा फहराकर पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पारित किया गया। 'नेहरू प्रतिवेदन' वापस लिया गया तथा पूर्ण स्वाधीनता की प्राप्ति हेतु जनता का आव्हान किया गया। आवश्यकता पड़ने पर सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करने का कांग्रेस कार्यसमिति को अधिकार दे दिया गया।

(4) इंग्लैण्ड में मजदूर दल की सरकार तथा दिल्ली घोषणा पत्र - सन् 1929 में मजदूर दल सत्ता में आया। रैम्जे मेकडॉनल्ड ने घोषणा की कि शीघ्र ही भारत को राष्ट्रमण्डल में समानता का दर्जा मिल जाएगा और उसे अधिराज्य स्तर दे दिया जाएगा। मेकडॉनल्ड ने लार्ड इरविन को परामर्श हेतु इंग्लैण्ड बुलाया। दिल्ली आने पर 31 अक्टूबर, 1929 को इरविन ने एक घोषणा की। यह घोषणा बड़ी अस्पष्ट थी। घोषणा में भारत को औपनिवेशक स्वराज्य प्रदान करने की कोई तिथि निश्चित नहीं की गई थी। भारत का नवयुवक वर्ग इस घोषणा से सन्तुष्ट नहीं था।

सविनय अवज्ञा आंदोलन की शुरुआत

26 जनवरी, 1930 को भारत के ग्राम-ग्राम, नगर-नगर, में स्वाधीनता दिवस मनाया गया। फरवरी 1930 में कांग्रेस कार्यकारिणी की बैठक साबरमती में हुई तथा महात्मा गांधी को सविनय अवज्ञा आन्दोलन करने का अधिकार दे दिया गया। गाँधीजी ने 'यंग इण्डिया' के

जरिए वायसराय के सामने 11 शर्तें रखीं और कहा यदि सरकार इन्हें मान ले तो सविनय अवज्ञा आन्दोलन शुरू नहीं किया जाएगा:

(1) पूर्ण नशाबन्दी हो,

(2) मुद्रा विनिमय में एक रुपया एक शिलिग चार पैसे के बराबर माना जाए,

(3) मालगुजारी आधी कर दी जाए;

(4) नमक पर लगने वाला कर बन्द हो;

(5) सैनिक व्यय को कम कर दिया जाए;

(6) बड़े अधिकारियों के वेतन में कमी की जाए;

(7) विदेशी वस्त्रों पर तट-कर लगाया जाए;

(8) तटीय व्यापार संरक्षण कानून पारित किया जाए,

(9) राजनीतिक बन्दियों को रिहा कर दिया जाए

(10) खुफिया पुलिस तोड़ दी जाए;

(11) आत्म-रक्षा के लिए हथियारों के लाइसेंस दिए जाएँ।

सरकार ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया और राजनीतिक कार्यकर्ताओं की गिरफ्तारी जारी रखी। अतः गाँधीजी को आन्दोलन शुरू करने का निर्णय लेना पड़ा। 11 मार्च, 1930 को साबरमती में 75 हजार व्यक्तियों ने स्वाधीनता के लिए संघर्ष करने की शपथ ली। 12 मार्च, 1930 को गाँधीजी और उनके द्वारा चुने गए 79 कार्यकर्ता साबरमती आश्रम से डाण्डी समुद्रतट की ओर चल पड़े। लगभग 200 मील की पदयात्रा कर गाँधीजी अपने जत्थे के साथ 24 दिन में समुद्र के किनारे डाण्डी जा पहुंचे। रास्ते में किसानों ने उनका संदेश सुना, उससे प्रभावित होकर कितने ही लोग कांग्रेस के सदस्य बने और कितने ही ग्रामीणों ने सरकारी नौकरी छोड़ दी। 5 अप्रैल, 1930 को गाँधीजी का जत्था डाण्डी जा पहुंचा और 6 अप्रैल से नमक बनाकर कानून तोड़ना शुरू किया। 9 अप्रैल को गाँधीजी ने आदेश दियाः "हमारा पथ निर्धारित हो चुका है। प्रत्येक गांव अवैध नमक लाए या बनाए। बहनों को शराब की दुकानों, अफीम के अड्डों और विदेशी वस्त्र विक्रेताओं की दुकानों पर धरना देना चाहिए। हर घर के नौजवानों और बूढ़ों को तकली चलाना और सूत कातना चाहिए; विदेशी कपड़े जला देने चाहिए, छात्र सरकारी स्कूल-कॉलेज छोड़ दें, सरकारी नौकर अपनी नौकरी से इस्तीफा दे दें और लोगों की सेवा में जुट जाएँ और हम जल्दी ही देखेंगे कि पूर्ण स्वराज्य आकर हमारे दरवाजों को

खटखटाने लगेगा।" संक्षेप में, सविनय अवज्ञा आन्दोलन का प्रमुख कार्यक्रम इस प्रकार था :

(1) नमक बनाना,

(2) शराब, अफीम और विदेशी कपड़ों की दुकानों पर धरना देना;

(3) विदेशी वस्त्रों को जला देना;

(4) सरकारी शिक्षण संस्थाओं का बहिष्कार,

(5) सरकारी नौकरियों का बहिष्कार;

(6) अस्पृश्यता को छोड़ना;

(7) शासन के साथ असहयोग करना।

सविनय अवज्ञा आंदोलन का विस्तार

महात्मा गाँधी ने आंदोलन को उपर्युक्त सीमाओं के अंदर रखने की कोशिश की लेकिन आंदोलन जल्दी ही इन सीमाओं को पार कर गया। देशवासियों ने 26 जनवरी की प्रतिज्ञा को अमल में लाने की कोशिश की। ब्रिटिश साम्राज्यों के हैवानी राज को खत्म कर देने के लिए वे नाना मोर्चों पर आगे बढ़े।अप्रैल महीने में जन आंदोलनों की बाढ़ आ गई। नमक सत्याग्रह सिर्फ पक्के गाँधीवादियों तक सीमित न रहा। वह देश के कोने-कोने में फैल गया। छात्र स्कूल छोड़कर आंदोलन में कूद पड़े। मजदूरों ने हड़तालों और किसानों ने लगानबन्दी का रास्ता अपनाया। लगानबन्दी के आन्दोलन ने खासकर संयुक्त प्रदेश में जोर पकड़ा। कांग्रेस ने किसानों से कम से कम आधा लगान जमा करवाने की कोशिश की जो नाकाम रही। मजदूरों और नौजवानों ने आम जनता के साथ मिलकर भारत को मुक्त करने और समानान्तर प्रशासन स्थापित करने का रास्ता अपनाया। हिन्दुस्तानी सैनिकों ने अपने देशवासियों पर गोली चलाने से इंकार करना शुरू कर दिया। जन आंदोलन की इस उग्रता और व्यापकता को देखकर ब्रिटिश शासक और कांग्रेस के सुधारवादी नेता दोनों चौंक उठे।

बम्बई प्रेसीडेंसी की कपड़ा मिलों के एक केन्द्र शोलापुर में सविनय अवज्ञा आन्दोलन मई, 1930 में आरम्भ हुआ। 8 मई को एक जुलूस और पुलिस के बीच बड़ा संघर्ष हुआ जिसमें 12 व्यक्ति मारे गए और 28 घायल हुए। विद्रोहियों ने शहर पर राष्ट्रीय झंडा फहराया। बिहार के किसानों ने अनेक क्षेत्रों में चौकीदारी टेक्स देना बंद कर दिया। मध्यप्रान्त में जंगल सत्याग्रह चलाया गया। कर बंदी आंदोलन में गुफरान के किसानों की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण थी।

आंदोलन का दमन

भारत के इस मुक्ति संग्राम को कुचलने के लिए ब्रिटिश साम्राजियों ने असीम क्रूर दमन का रास्ता अपनाया। 1930 के अंत और 1931 के आरम्भ में यह और भी भयंकर हो गया। कांग्रेस के सारे प्रमुख नेता गाँधीजी के पहले ही गिरफ्तार कर लिए गए थे। गांधीजी को भी 5 मई, 1930 को गिरफ्तार कर लिया गया। जो नेता जेल काटकर जल्दी छूट गए, उन्हें फिर गिरफ्तार कर जेल में डाला गया। सारे पश्चिमोत्तर प्रदेश, सारे उत्तर प्रदेश तथा बम्बई प्रेसीडेन्सी, बंगाल और पंजाब के कितने ही जिलों में मार्शल लॉ लागू किया। सिर्फ संदेह पर और बिना वारन्ट किसी को भी गिरफ्तार कर बिना मुकदमा चलाए जेल में ठूंस देने का अथवा निर्वासित कर देने का अधिकार सरकार ने अपने हाथ में लिया और उसका भरसक इस्तेमाल किया। लगानबंदी के जुर्म में कठोर सजा का, बात-बात पर गोली चलाने और लाठी बरसाने का रास्ता अपनाया गया। आतंक फैलाने के लिए राह चलते लोगों को गोली मार दी जाती। जून, 1930 तक कांग्रेस और उससे संबंधित संगठन गैर कानूनी करार दिये गए। एक साल के अंदर सरकारी हिसाब के अनुसार 600000 और कांग्रेस के हिसाब के अनुसार 900000 लोगों को, जिनमें स्त्रियाँ और बच्चे भी थे, सजा दी गई। दमन के सारे समय अस्त्रों का इस्तेमाल किया गया और यह सब ब्रिटेन में लेबर पार्टी के राज में हुआ जो लोकतांत्रिक समाजवाद का ढिण्ढोरा पीटती है। उसके कार्यों ने स्पष्ट दिखा दिया कि लोकतांत्रिक समाजवाद के पैरोकार वस्तुतः समाजवादी नहीं; वे साम्राज्यवाद का मुखौटा लगाकार अपने देश के इजारेदार पूँजीपतियों की सेवा करते हैं।

सविनय अवज्ञा आंदोलन का स्थगन

5 मार्च 1931 को गाँधी-इरविन समझौता होता है और सविनय अवज्ञा आन्दोलन को स्थगित कर दिया जाता है। के. एम. मुन्शी के अनुसार, "इस समझौते का होना भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है।" फिशर के अनुसार, "एक राष्ट्र के नेता ने बराबरी के स्तर पर दूसरे राष्ट्र के नेता से वार्ता की और अब यह स्पष्ट हो गया कि इंग्लैण्ड के द्वारा भारत पर गाँधीजी की इच्छा के बिना या उसके विरुद्ध शासन नहीं किया जा सकता।" रजनी पामदत्त के अनुसार, "कांग्रेस की कोई माँग पूरी नहीं हुई, यहाँ तक कि नमक-कानून भी नहीं हटाया गया। सविनय अवज्ञा आन्दोलन स्थगित कर दिया गया। स्वराज्य की दिशा में भी कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया।"

इस समझौते के फलस्वरूप गाँधीजी ने द्वितीय गोलमेज सम्मेलनों में भाग लिया किन्तु साम्प्रदायिक समस्या पर कोई निर्णय न हो सका। नए गवर्नर जनरल लार्ड विलिंगटन ने गाँधी इरविन समझौते की उपेक्षा करना प्रारम्भ कर दिया। फलतः 3

जनवरी, 1932 को गाँधीजी ने पुनः सविनय आन्दोलन शुरूकिया। गाँधीजी व सरदार पटेल को गिरफ्तार कर लिया गया। सरकार ने कठोर नीति अपनायी और धीरे-धीरे आन्दोलन की शक्ति कम होती गई। 7 अप्रैल, 1934 को गाँधीजी ने आन्दोलन समाप्त कर दिया। सुभाषचन्द्र बोस ने इसे गाँधीजी की महानतम पराजय बतलाया तथा उनकी कार्यपद्धति की आलोचना की।

आन्दोलन का मूल्यांकन (Estimate)

सविनय अवज्ञा आन्दोलन असफल हुआ और स्वराज्य की प्राप्ति न हो सकी। भारतीय मुसलमान भी इस आन्दोलन से पृथक रहे। परन्तु सविनय अवज्ञा आन्दोलन से देश-भर में उत्साह की एक नई लहर दौड़ गई। अन्यायपूर्ण कानूनों का अहिंसात्मक ढंग से भंग किया जाना इतिहास में एक नई मिसाल बन गया। सविनय अवज्ञा आन्दोलन के फलस्वरूप द्वैध शासन-प्रणाली का युग समाप्त हुआ और 1935 में एक नई वैधानिक व्यवस्था भारत में शुरू की गई।

भारत छोड़ो आन्दोलन (Quit India Movement)

सन् 1942 का 'भारत छोड़ो आन्दोलन' स्वाधीनता संग्राम की महानतम् अहिंसात्मक क्रांति थी। इस आन्दोलन के परिणामस्वरूप हमारी स्वाधीनता निकट आई और राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रहार शक्ति तीव्रतम हुई। इस क्रांति ने भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव हिला दी। क्रिप्स प्रस्ताव अचानक वापस ले लिये गये थे और यह अच्छी तरह स्पष्ट हो गया कि क्रिप्स का सारा तमाशा भारतीयों की आँखों में धूल झोंकने का प्रयास था। इधर महायुद्ध छिड़ने के तुरंत बाद ही सुभाषचन्द्र बोस ने युद्ध प्रयत्नों का सक्रिय विरोध शुरू कर दिया था। मार्च, 1942 में बर्लिन रेडियो से पूरे देश के नाम सुभाषचन्द्र बोस ने अपना पहला संदेश दिया। वे युद्ध की स्थिति से लाभ उठाकर देश की स्वाधीनता को निकट लाने के पक्ष में थे और इस काम में ब्रिटेन के शत्रुओं से सहायता लेना बुरा नहीं समझते थे। अप्रैल, 1942 के बाद से महात्मा गाँधी के विचारों में भी उग्रता आने लगी। वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि "भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का तुरन्त समाप्त होना आवश्यक है।" 'भारत छोड़ो' विचार उनके मन में जमने लगा और उन्होंने 'हरिजन' में एक लेख माला लिखकर उसे विकसित किया। इन दिनों महात्मा गाँधी का दृष्टिकोण था कि अगर जापानी सेना भारत में आएगी तो वह हमारे दुश्मन के रूप में आएगी। उनके विचार में यदि अंग्रेज फौरन भारत छोड़कर चले जाएँ तो जापान के पास भारत पर हमला करने की कोई वजह न रह जाएगी।

क्रिप्स मिशन की असफलता के बाद महात्मा गाँधी के विचारों में बुनियादी परिवर्तन आ गया था। जो गाँधीजी साम्राज्यवादी दौर में किसी भी तरह का आन्दोलन ब्रिटिश शासकों के विरुद्ध करना न चाहते थे वह अब ब्रिटिश शासकों के विरुद्ध 'अहिंसक क्रांति' आरम्भ करने और 'भारत छोड़ो आन्दोलन' चलाने के पक्षपाती बन गए थे। 5 जुलाई, 1942 को कांग्रेस वर्किंग कमेटी की बैठक के समय गाँधीजी ने जोर देकर कहा कि वह समय आ गया है कि जब कांग्रेस को मांग बुलंद करनी चाहिए: "अंग्रजों भारत छोड़ो"। वस्तुतः गाँधीजी यह 'अहिंसक क्रांति' और 'भारत छोड़ो आन्दोलन' भारत में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के लिए करना चाहते थे। उनका विचार था कि ब्रिटिश शासक इस वक्त बड़े संकट में है। जापानी सेना भारत की सीमा पर आ गई है। उसके आक्रमण का खतरा है। ऐसे समय अगर हम बड़े आन्दोलन की बात करें और उसे शुरू करें तो अंग्रेजों पर दबाव पड़ेगा और वे कोई समझौता करने और राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के लिए तैयार हो जाएँगे और जब राष्ट्रीय सरकार बन जाएगी तब जापानी सेना भारत पर आक्रमण न करेगी।

(भारत छोड़ो आंदोलन के कारण)

'भारत छोड़ो आन्दोलन' एक आकस्मिक आंदोलन नहीं था अपितु इसके अनेक पूर्ववर्ती कारण थे, जिनमें निम्नलिखित प्रमुख थे-

1.क्रिप्स मिशन की असफलता क्रिप्स मिशन की असफलता से यह सिद्ध हो गया था कि यह एक राजनीतिक धूर्तता थी जिसका उद्देश्य अमेरिका और चीन को सन्तुष्ट करना था। जिस ढंग से समझौते की बातचीत भंग हुई, उसका परिणाम यह हुआ कि ब्रिटिश शासकों और नेताओं के बीच की खाई और चौड़ी हो गई तथा पूरे देश में सरकार के विरुद्ध असन्तोष की लहर जोर पकड़ने लगी।

रजनी पामदत्त के शब्दों में, "क्रिप्स मिशन की बातचीत असफल होने के बाद जो निराशा छाई थी उसी का नतीजा था अगस्त प्रस्ताव।"

(2) युद्ध में ब्रिटिश सरकार की शोचनीय स्थिति युद्ध में ब्रिटिश सरकार जापान का सफलतापूर्वक मुकाबला नहीं कर पा रही थी। भारतीयों को विश्वास हो गया कि ब्रिटेन भारत की रक्षा नहीं कर पाएगा क्योंकि मलाया, सिगापुर, बर्मा आदि देशों में ब्रिटिश सेनाओं को पीछे हटना पड़ा था कि अनेक भारतीय नेताओं का मत था कि जापान भारत के विरुद्ध नहीं अपितु साम्राज्यवादी ब्रिटेन के विरुद्ध लड़ रहा है। अतः यदि ब्रिटेन भारत को मुक्त कर देता है तो युद्ध की समस्या आसानी से हल हो जाएगी। गाँधीजी के अनुसार, अंग्रेजों के हट जाने से भारत पर आक्रमण करने के लिए जापानियों के पास

कोई कारण नहीं रहेगा क्योंकि उनकी शत्रुता तो ब्रिटिश साम्राज्य से है, न कि भारत से। श्री नेहरू के अनुसार, "युद्ध ने भारत को स्वतंत्रता प्राप्त करने का एक अवसर प्रदान किया है। हमें केवल वचन पर निर्भर रहकर इसे खोना नहीं चाहिए।"

(3) अंग्रेजों का घृणास्पद व्यवहार युद्ध के नाम पर लज्जास्पद कानून बनाए गए, देश में भ्रष्टाचार और चोरबाजारी दिन-प्रतिदिन बढ़ रही थी। महँगाई के कारण जनता में असंतोष बढ़ रहा था और अंग्रेजों के कुटिल व्यवहार के कारण भारतीय नेता क्षुब्ध थे।

(4) कांग्रेस का वर्धा 'प्रस्ताव' वर्धा में 14 जुलाई, 1942 को कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक हुई और यह मांग की गई कि अंग्रेज भारत छोड़कर चले जाएँ। समस्या का समाधान केवल बिटिश राज्य की समाप्ति में ही समझा गया और इस हेतु यह निर्णय लिया गया कि कांग्रेस एक व्यापक आंदोलन चलाएगी ।

(5) गाँधीजी की विचारधारा में परिवर्तन जनता में असन्तोष और निराशा की भावना को देखते हुए गाँधीजी ने यह निष्कर्ष निकाला कि भारत की रक्षा का एक मात्र उपाय भारत की स्वाधीनता है। अब वे मानने लगे कि अन्याय सहना कायरता है और अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करना ही शूरता है। गाँधीजी ने च्यांग काई शैक और रूजवेल्ट को पत्र लिखकर समझाया कि हमें तुरंत स्वाधीनता क्यों चाहिए और साथ ही यह विश्वास दिलाया कि मित्र या संयुक्त राष्ट्रों की सेनाएँ जापानियों के विरुद्ध युद्ध करने के लिए भारत में ठहर सकती हैं। उन्होंने यह भी कहा कि युद्ध कार्य में मित्र राष्ट्रों को परेशान करने की उनकी बिलकुल इच्छा नहीं है। यदि वास्तव में भारत को स्वतंत्र कर दिया जाता है और उनका प्रस्ताव मान लिया जाए तो भारत एक शक्तिशाली साथी बन जाएगा और संयुक्त राष्ट्रों की विजय निश्चित हो जाएगी।

कांग्रेस का वर्धा प्रस्ताव (जुलाई, 1942)

14 जुलाई, 1942 को कांग्रेस ने वर्धा में ऐतिहासिक प्रस्ताव पारित किया। इसी प्रस्ताव को सरकार और जनता दोनों ने 'भारत छोड़ो' नाम दिया। इसमें माँग की गई थी कि ब्रिटिश हुकूमत भारत छोड़कर चली जाए और भारत को भारतीयों के हाथ में छोड़ दे। कांग्रेस वर्किंग कमेटी ने फैसला किया कि वह कुछ दिन इंतजार कर सरकार की प्रतिक्रिया देखेगी। अगर सरकार माँग मान लेती है या समझौते के लिए इच्छा जाहिर करती है तो आगे बात चलेगी वरना गाँधीजी के नेतृत्व में संघर्ष आरम्भ किया जाएगा। 15 जुलाई, 1942 को वर्धा में देशी-विदेशी पत्रकारों की बहुत बड़ी कांफ्रेंस में गाँधीजी ने एक प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा कि अगर आंदोलन शुरू होगा तो वह ब्रिटिश सत्ता के खिलाफ अहिसक क्रांति होगी। इसके बाद 5 अगस्त तक देश के विभिन्न भागों के

कांग्रेस नेताओं की बैठकें कर उन्हें आंदोलन का रूप समझाया गया। आंदोलन की रूपरेखा के बारे में क्या आदेश दिए जाते थे वह देखिए अगर सरकार हमारी माँग मान लेती है या कम से कम हमें काम करने देती है तो आंदोलन बिलकुल गाँधीजी के आदेशों के अनुसार चलेगा। लेकिन अगर सरकार गाँधीजी और दूसरे नेताओं को गिरफ्तार कर लेती है तो सरकार की हिंसा का हर संभव उपाय से मुकाबला करने के लिए लोगों को हिंसक या अहिंसक कोई भी तरीका अपनाने की आजादी होगी। जब तक नेता स्वतंत्र रहेंगे और काम कर सकेंगे तभी तक वे घटनाओं की दिशा के लिए जिम्मेदार होंगे लेकिन अगर सरकार उन्हें गिरफ्तार कर लेती है तो सरकार को ही उसके परिणामों की जिम्मेदारी लेनी पड़ेगी। स्वभावतः ये आदेश गुप्त थे और कभी प्रकाशित न किए गए थे।"

मौलाना आजाद के अनुसार कांग्रेस कार्यकारिणी के वर्धा प्रस्ताव से यह स्पष्ट हो गया कि कांग्रेस नेताओं का मस्तिष्क किस दिशा में बढ़ रहा था।

8 अगस्त, 1942 का भारत छोड़ो प्रस्ताव

14 जुलाई, 1942 का वर्धा प्रस्ताव पारित कर कांग्रेस नेताओं ने मीराबेन को बाइसराय से मिलने और प्रस्ताव का उद्देश्य समझाने के लिए दिल्ली भेजा लेकिन वाइसराय ने यह कहकर मिलने से मना कर दिया कि गाँधीजी विद्रोह की बातें कर रहे हैं अतः मिलने का कोई तुक नहीं है। इस पृष्ठभूमि में स्थिति पर आगे विचार करने के लिए 5 अगस्त, को कांग्रेस कार्यकारिणी की और 7 अगस्त को बम्बई में महासमिति की बैठकें हुईं। काफी बाद-विवाद के बाद काफी रात गए 8 अगस्त को भारी बहुमत से 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव महासमिति में पारित हुआ। यह प्रस्ताव प्रायः सर्वसम्मति से पारित हो गया। सिर्फ साम्यवादी पार्टी के नेतृत्व में 13 सदस्यों ने इसके खिलाफ वोट दिया। यही प्रस्ताव कांग्रेस का इतिहास प्रसिद्ध 'अगस्त प्रस्ताव' था।

इस प्रस्ताव का पारित होना ही 1942 के प्रसिद्ध 'भारत छोड़ो आन्दोलन' का श्रीगणेश था। प्रस्ताव में निम्न तथ्य थे-

(1) भारत से ब्रिटिश शासन का शीघ्र अन्त होना चाहिए।

(2) कांग्रेस यह नहीं चाहती कि मलाया, सिंगापुर तथा बर्मा पर जो बीती, वह भारत पर बीते। इसलिए वह चाहती है कि आक्रमण के विरुद्ध प्रतिरोध की शक्ति का संगठन किया जाए।

(3) यदि ब्रिटिश सरकार की माँग को स्वीकार न करें तो अहिंसात्मक प्रणाली से अधिक-से-अधिक विशाल पैमाने पर एक ऐसा आन्दोलन प्रारम्भ किया जाए जो अन्त में भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् ही दम ले।

(4) अल्पसंख्यकों की सुरक्षा का आश्वासन दिया गया।

(5) जब स्वाधीनता मिलेगी और सत्ता भारतीय हाथों में आएगी तो वह सारे देशवासियों के लिए होगी न कि केवल कांग्रेस के लिए।

(6) महात्मा गाँधी को आंदोलन का संचालक बनाया गया।

महात्मा गाँधी ने कांग्रेस कार्यसमिति में आंदोलन की निम्न विशेषताएँ बतलाई -

(1) यह संघर्ष 'करो या मरो' संघर्ष होगा;

(2)यह स्वाधीनता का अन्तिम आन्दोलन होगा; और

(3) यह खुला अहिंसात्मक आन्दोलन होगा।

क्रान्ति का विस्फोट

यद्यपि भारत छोड़ो आन्दोलन तुरन्त ही प्रारम्भ नहीं होना था; प्रस्ताव में कहा गया कि गाँधीजी वायसराय से समझौता वार्ता करेंगे और उसके बाद कोई कार्यवाही की जाएगी। किन्तु 9 अगस्त को ही सरकार ने कांग्रेस कार्यकारिणी के सदस्यों को गिरफ्तार कर लिया। अन्य नेताओं को भी जेल में डाल दिया गया। कांग्रेस को गैर कानूनी संस्था घोषित कर दिया गया। गाँधीजी और सरोजिनी नायडू पूना के आगा खाँ पैलेस में तथा राजेन्द्र प्रसाद को छोड़कर वर्किंग कमेटी के अन्य सदस्य अहमदनगर के दुर्ग में नजरबंद कर दिए गए। राजेन्द्र बाबू बम्बई न आए थे अतः उन्हें पटना में गिरफ्तार कर वहीं नजरबंद कर दिया गया।

राष्ट्र के नेताओं की इस गिरफ्तारी के विरुद्ध जन आक्रोश बिल्कुल उचित और स्वाभाविक था। ब्रिटिश साम्राजियों की चुनौती को भारतीय जनता ने चुप रहकर बर्दाश्त न किया। उसने रेल्वे स्टेशनों पर हमले किए और रेल की पटरियों उखाड़ी, थानों पर हमले कर उनमें आग लगाई, सड़कें काटी, तार काटे और जो कुछ भी सरकारी था, उसे नष्ट करने की कोशिश की। सरकारी आँकड़ों के अनुसार सारे भारत में इस आंदोलन के दौरान तोड़फोड़ की निम्नलिखित घटनाएँ घटीं :

आंशिक या पूरी तरह नष्ट किए जाने वाले रेलवे स्टेशन

240	आक्रांत पोस्ट आफिस
550	जलाए गए पोस्ट आफिस
50	क्षतिग्रस्त पोस्ट आफिस
200	टेलीग्राम और टेलीफोन के तार काटे जाने की वारदातें

70 थाने जलाए गए

85 अन्य सरकारी इमारतें जलाई गई

3500

जन आक्रोश के इस तूफान के बड़े केन्द्र थे बंगाल का मेदिनीपुर जिला, बिहार का मुंगेर जिला और उत्तरप्रदेश का बलिया जिला। रेल की पटरी उखाड़ने की सबसे ज्यादा घटनाएँ बिहार में हुई थीं। मेदिनीपुर के तमलुक सब डिवीजन में एक 'डिक्टेटर' के नेतृत्व में समानान्तर सरकार बनाई गई थी। अलीगढ़ विश्वविद्यालय को छोड़कर ढाका से लेकर दिल्ली तक और लाहौर से लेकर मद्रास तक सारे विश्वविद्यालय बंद कर दिए गए थे।

सरकार द्वारा क्रांति का दमन

इस क्रांति का नेतृत्व युवकों ने सम्हाला तथा मजदूरों ने भी भरपूर सहयोग दिया। फैक्ट्रियाँ बन्द हो गई, संचार साधनों को काट दिया गया, रेलों की लाइनें उखाड़ दी गईं, पुलिस व रेलवे स्टेशन, डाकखाने व अन्य सरकारी इमारतें जला दी गई। कई स्थानों पर ब्रिटिश शासन समाप्त कर समानान्तर सरकारें स्थापित की गई।

सरकार ने भी भयंकर दमन का रास्ता अपनाया। अश्रुगैस, लाठीचार्ज और गोलीबारी आए दिन की बात हो गई। मशीनगनों तथा हवाई जहाजों से भी गोलियाँ चलाई गई। स्कूलों और कॉलेजों के छात्रों को बुरी तरह से पीटा गया तथा कोड़े मारे गए। देश भर में आतंक का शासन स्थापित किया गया। सरकारी दमन के आंकड़े 9 अगस्त, 1942 और 31 दिसम्बर, 1942 के मध्य इस प्रकार थे-

गिरफ्तार व्यक्तियों की संख्या	60,229
भारत रक्षा कानून में नजरबंद	18,000
पुलिस या फौज की गोली से मारे गए	940
पुलिस या फौज की गोली से घायल	1,630

भूमिगत आंदोलन - कांग्रेस नेतृत्व के गिरफ्तार हो जाने के बाद 9 नवम्बर, 1942 को जयप्रकाश नारायण पांच आदमियों के साथ हजारी बाग सेन्ट्रल जेल से निकल भागे। उन्होंने 'सेन्ट्रल एक्शन कमेटी' बनाकर अंग्रेजों से सशस्त्र संग्राम करने का आव्हान किया। नेपाल-बिहार सीमा के पास नेपाल के अन्दर ही उन्होंने अपना सदर दफ्तर कायम किया और 'आजाद दस्ते' बनाकर अपना जनक्रांति का कार्यक्रम पूरा करने की

कोशिश की। लेकिन उन्हें 'जनक्रांति' की दिशा में कोई खास सफलता नहीं मिली। किन्तु अपने इसी तरह के कार्यों से जयप्रकाश, अरुणा आसफ अली, राममनोहर लोहिया आदि चर्चित हुए।भारत छोड़ो आन्दोलन का आलोचनात्मक मूल्यांकन (Quit India Movement: Critical Evaluation)

इस आन्दोलन की कई आधारों पर आलोचना की जाती है। प्रथम, आन्दोलन असफल रहा। द्वितीय, आन्दोलन में अहिंसा का त्याग कर दिया गया और क्रांतिकारी पद्धति अपनायी गई। तृतीय, भारत के साम्यवादियों ने आन्दोलन का साथ नहीं दिया। चतुर्थ, मुस्लिम लीग तथा भारत के मुसलमान आन्दोलन से दूर रहे।

आलोचकों के अनुसार राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं ने बड़ा भारी जुआ खेला था। उन्होंने जापानी हमले के खतरे के समय किसी भी तरह ब्रिटिश शासकों पर दबाव डालकर राष्ट्रीय सरकार बनाने की कोशिश की थी। गांधीजी को आशा थी कि व्यापक अहिंसक जनआंदोलन की बातें करते ही या उसे आरम्भ करते ही ब्रिटिश शासक समझौते पर उतर आएँगे और राष्ट्रीय सरकार बन जाएगी। राष्ट्रीय आंदोलन के कुछ अन्य नेताओं का ख्याल था कि अगर इससे ब्रिटिश शासक न झुके और दमन पर उतर आए तो उनकी गिरफ्तारी के बाद क्रुद्ध जनता की हिंसक अहिंसक कार्यवाहियों से जो गतिरोध पैदा होगा उससे ब्रिटिश शासक समझौते के लिए बाध्य हो जायेंगे और राष्ट्रीय सरकार बन जाएगी। अपनी इस कार्यनीति (Strategy) की सफलता में राष्ट्रीय आन्दोलन के इन नेताओं को इतना विश्वास था कि सरदार पटेल ने एक हफ्ते में विजय प्राप्ति की घोषणा की थी और जवाहरलाल नेहरू ने इसे 'हमारा अंतिम संघर्ष' कहा था, लेकिन घटनाओं ने साबित कर दिया था कि राष्ट्रीय आंदोलन के नेताओं ने परिस्थिति का जो मूल्यांकन किया था, वह गलत था। राष्ट्रीय नेताओं ने यह जुआ हताश होकर, खीझकर खेला था। उनको इस दिशा में ढकेल देने की सबसे बड़ी जिम्मेदारी ब्रिटिश साम्राजियों की थी जो किसी भी तरह राष्ट्रीय सरकार न बनने दे रहे थे। इस प्रकार 1942 की अगस्त-दिसम्बर की घटनाओं के लिए जिम्मेदार राष्ट्रीय नेता नहीं, ब्रिटिश शासक थे।

उपरोक्त आलोचनाओं के बावजूद भारत छोड़ो आन्दोलन भारतीय स्वाधीनता का संग्राम था। यह सच्चे अर्थों में स्वचालित जन-आन्दोलन था। यद्यपि आन्दोलन को कुचल दिया गया किन्तु 1947 की स्वतन्त्रता प्राप्ति में इसका महानतम योगदान रहा है। डॉ. सुभाष कश्यप के अनुसार, "1942 का भारत छोड़ो आन्दोलन सचमुच 1857 की असफल क्रान्ति के बाद, भारत में अंग्रेजी राज्य की समाप्ति के लिए किया गया सबसे बड़ा प्रयास था।" डॉ. ईश्वर प्रसाद के अनुसार, "अगस्त क्रांति अत्याचार और दमन के विरुद्ध भारतीय जनता का विद्रोह था और इसकी तुलना फ्रांस के इतिहास में बेस्टिले के

पतन या सोवियत रूस की अक्टूबर क्रान्ति से की जा सकती है।" सन् 1942 ई. की अगस्त क्रान्ति ने भारतीय स्वाधीनता की पृष्ठभूमि तैयार की। इस क्रान्ति से भारतीय जनता के अपूर्व साहस और धैर्य का परिचय मिलता है। अब यह स्पष्ट हो गया कि भारत में ब्रिटिश राज्य का बना रहना संदिग्धपूर्ण है।

निष्कर्ष अगस्त, 1942 की घटनाओं के बाद राष्ट्रीय आंदोलन में जो विघटन की स्थिति पैदा हुई संगठित नेतृत्व का अभाव हुआ और कोई स्पष्ट नीति नहीं रही उससे बाद के वर्षों में राजनीतिक गतिरोध के साथ-साथ एक निराशा और उलझन का दौर शुरू हो गया। यही वे दिन थे जब मुस्लिम लीग ने तेजी से अपनी ताकत बढ़ा ली।

अस्वस्थ होने के कारण 6 मई, 1944 को गाँधीजी को जेल से रिहा कर दिया गया। उन्होंने बाहर आते ही ऐलान किया कि 8 अगस्त, 1942 के प्रस्ताव का भारत छोड़ो आन्दोलन वाला अंश अपने आप ही रद्द हो गया है क्योंकि 1944 में वह 1942 की तरफ लौटकर नहीं जा सकते।

स्वाधीनता आन्दोलन में क्रांतिकारियों का योगदान

ब्रिटिश शासन की दमनात्मक नीति और अन्य परिस्थितियों के परिणामस्वरूप बीसवीं सदी के प्रारम्भ में ही भारत में अपूर्व राष्ट्रीय जाग्रति की जो लहर आयी, वह दो धाराओं में बंट गयी थी। एक तो उग्रवादी राष्ट्रवाद की धारा जिसका नेतृत्व लाल-पाल-बाल की त्रिमूर्ति द्वारा किया गया। ये उग्रवादी 'निष्क्रिय प्रतिरोध' (Passive Resistance) के सिद्धान्त के आधार पर ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध शांतिपूर्ण संघर्ष के समर्थक थे। इसके अतिरिक्त नवयुवकों का एक ऐसा भी वर्ग था, जिन्हें, उग्रवादियों के शांतिपूर्ण संघर्ष में विश्वास नहीं था। वे तुरन्त कुछ करना चाहते थे, जिसे ह्यूम के शब्दों में कहें तो 'ऐसा कुछकरना चाहते थे, जिसका अर्थ हिंसा होता।' ये हिंसा तथा आतंक द्वारा शासकों को भयभीत कर विदेशी शासन को समूल नष्ट करना चाहते थे। जैसे-जैसे सरकार दमनात्मक नीति अपनाती, इन क्रान्तिकारियों की हिसा में आस्था दृढ़ होती जाती थी। इन क्रान्तिकारियों ने यूरोप विशेषतया सोवियत रूस और इटली के क्रान्तिकारियों की पद्धति का अध्ययन किया और विविध रूपों में क्रान्तिकारीयों क्रिया-कलाप किये।

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में क्रान्तिकारी धारा के सम्बन्ध में बहुत अधिक भान्ति प्रचलित है। काफी बड़ी संख्या में भारतीयों के द्वारा यह सोचा जाता है कि 1906 से 1914 तक के काल में भारत और विदेशों में, 1928 से 1932 तक के काल में सरदार भगतसिंह, बटुकेश्वर दत्त, चन्द्रशेखर आजाद और अन्य लोगों तथा 1941 से 1945 तक नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के नेतृत्व में जो कुछ कार्य किये गये, वे अंग्रेज

सरकार के प्रति बदले की भावना से किये गये थे, अथवा ये देशभक्ति की भावना से प्रेरित किन्तु मानसिक रूप से असन्तुलित भारतीय नवयुवकों के भावनात्मक हिंसक कार्य थे जिनका न तो कोई निश्चित लक्ष्य था और जिनके पीछे न कोई विचारधारा या दर्शन था। क्रान्तिकारी विचारधारा और दर्शन से चाहे हम सहमत हों या असहमत यह एक तथ्य है कि इन भारतीय क्रान्तिकारियों के कार्यों की पृष्ठभूमि में एक निश्चित दर्शन था और उनका एक सामान्य लक्ष्य था। इन क्रान्तिकारियों के द्वारा सरकारी खजाने लूटने, सशस्त्र डकैती, हत्या और बमबाजी के जो भी कार्य किये जाते थे वे सभी भारत के लिए स्वतन्त्रता प्राप्त करने की निश्चित और व्यापक योजना के अंग थे। इन क्रान्तिकारियों का उद्देश्य भारत में ब्रिटिश शासन को समाप्त कर स्वतन्त्रता प्राप्त करना और निम्न वर्ग के प्रति अन्याय पर आधारित व्यवस्था का अन्त कर एक न्यायपूर्ण व्यवस्था की स्थापना करना था।

4 जून, 1929 को सरदार भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त के द्वारा सेशन जज के सम्मुख जो बयान दिया गया था, उससे क्रान्तिकारीयों आन्दोलन का उद्देश्य बहुत अच्छे रूप से स्पष्ट हो जाता है। उनके वक्तव्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंश इस प्रकार था-

"क्रान्ति के विरोधियों द्वारा भान्तिवश इस विचार को अपना लिया गया है कि क्रान्ति का तात्पर्य शस्त्रों, हथियारों या अन्य साधनों से हत्या या हिंसक कार्य करना है। लेकिन क्रान्ति का अभिप्राय बम और पिस्तौल मात्र नहीं है। क्रान्ति से हमारा अभिप्राय यह है कि आज की वस्तुस्थिति और समाज व्यवस्था जो स्पष्ट रूप से अन्याय पर टिकी हुई है को बदला जाए। क्रान्ति व्यक्ति द्वारा व्यक्ति के शोषण को समाप्त करने और हमारे राष्ट्र के लिए पूर्ण आत्मनिर्णय का अधिकार प्राप्त करने के लिए है। क्रान्ति के हमारे विचार का अन्तिम लक्ष्य यही है। स्वतन्त्रता व्यक्ति का जन्म-सिद्ध अधिकार है और हम इस उच्च आदर्श की प्राप्ति हेतु सभी प्रकार के त्याग करने और कष्ट सहन करने के लिए तत्पर है। क्रान्ति जिन्दाबाद।"

अंग्रेजों ने इन क्रान्तिकारियों को हत्यारे, डाकू और आतंकवादी कहा है। अंग्रेजों का ऐसा कहना स्वाभाविक ही था क्योंकि क्रान्तिकारियों का उद्देश्य भारत में विदेशी शासन का अन्त करना था और अंग्रेज क्रान्तिकारियों से अत्यधिक घृणा करते थे। किन्तु इन्हें हत्यारे या डाकू के स्थान पर क्रान्तिकारी ही कहा जाना चाहिए, क्योंकि उनका मूल उद्देश्य हत्या या लूटमार नहीं, वरन् एक वास्तविक क्रान्ति को जन्म देना था। उनका उद्देश्य भारत में विदेशी शासन का अन्त कर सच्चा लोकतन्त्र स्थापित करना था जिसमें कृषकों और मजदूरों का हित साधन हो। उन्हें आतंकवादी कहना भी अनुचित है, क्योंकि उनका उद्देश्य समाज में आतंक का राज्य स्थापित करना नहीं था, बल्कि अत्याचारी

शासकों के मन में अत्याचारों के विरुद्ध आतंक या भय उत्पन्न करना था। क्रान्तिकारी व्यक्तिगत रूप में अंग्रेजों के विरुद्ध नहीं वरन् भारत में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध थे। क्रान्तिकारियों के द्वारा उन्हीं अंग्रेज अधिकारियों की हत्या की गयी- जिनके द्वारा मानवता से गिरकर भारतीयों पर बहुत अधिक अत्याचार किया गया था। उदाहरणार्थ, जब पंजाब के गवर्नर ओडवायर के आदेश से जनरल डायर ने अमृतसर के जलियावाला बाग में निर्दोष भारतीयों के खून से होली खेली, तो सरदार उधमसिंह ने इंग्लैण्ड जाकर ओडिवायर पर गोली चलायी और जब 1928 में पुलिस कप्तान साण्डर्स के द्वारा लाला लाजपतराय पर लाठी वर्षा की गयी जिससे उनका प्राणान्त हो गया, सरदार भगतसिंह और उनके साथियों ने साण्डर्स को मारकर ही चैन लिया। हत्या की ये घटनाएँ व्यक्तिगत प्रतिशोध के रूप में नहीं वरन् राष्ट्रीय प्रतिशोध के रूप में की गयी थीं। इनघटनाओं ने राष्ट्रीय अपमान का बदला लिया, राष्ट्रीय आत्मसम्मान को जीवित रखा और अंग्रेज शासकों को चेतावनी दी कि भारतीय रक्त जीवित है तथा यदि उनके द्वारा भारतीयों के प्रति अमानवीय व्यवहार किया गया, तो उन्हें अपने प्राणों से हाथ धोने पड़ सकते हैं।

क्रांतिकारी क्रियाकलाप

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में क्रन्तिकारी आन्दोलन का योगदान समझने के लिए क्रान्तिकारी क्रियाकलापों, का अध्ययन किया जाना चाहिए।

1857 में तो भारतीय जनता के द्वारा अंग्रेजी शासन के विरुद्ध एक क्रान्ति की गयी थी, इसके बाद 1872 में नामधारी सिक्खों या कूका का स्वतन्त्रता आन्दोलन हुआ और 22 जून, 1897 ई. को पूना के प्लेग कमिश्नर रैण्ड तथा लेफ्टीनेण्ट अयर्स्ट की, जो इस समय तक बहुत बदनाम हो चुके थे, दामोदर चाफेकर के, द्वारा गोली मारकर हत्या कर दी गयी। 1872 और 1897 की ये घटनाएँ क्रान्तिकारी आन्दोलन की कड़ियाँ ही थीं। इसके बाद 1905 में जब लार्ड कर्जन के द्वारा बंगाल का विभाजन किया गया, तो इसके परिणामस्वरूप उग्रराष्ट्रवाद का उदय हुआ, जिसकी एक धारा क्रान्तिकारी आन्दोलन थी।

1906-1914 के काल में क्रान्तिकारी कार्य

इस काल में क्रान्तिकारी आन्दोलन का सबसे प्रबल रूप बंगाल में देखा जा सकता है। इसके साथ ही महाराष्ट्र, पंजाब और मद्रास में भी क्रान्तिकारी कार्य हुए और भारतीय स्वतन्त्रता के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए विदेशों में भी क्रान्तिकारी कार्य किये गये। इस काल में प्रमुख क्रान्तिकारियों में वीरेन्द्र कुमार घोष, भूपेन्द्रनाथ दत्त, श्यामजी कृष्ण वर्मा, सावरकर बन्धु (विनायक दामोदर सावरकर तथा गणेश सावरकर), लाला

हरदयाल, मैडम कामा और मदनलाल धींगड़ा आदि का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है। इस काल के क्रान्तिकारियों के कार्यों का अध्ययन निम्न रूपों में किया जा सकता है:

बंगाल में क्रान्तिकारी आन्दोलन बंगाल में सरकार की दमनात्मक नीति से क्रान्तिकारियों की गतिविधि बढ़ने लगी। उन्होंने पाश्चात्य देशों के आधार पर अपने देश में गुप्त संगठन बनाने प्रारम्भ कर दिये। वीरेन्द्र कुमार घोष तथा भूपेन्द्र नाथ दत्त इन क्रान्तिकारियों के नेता थे। उन्होंने "युगान्तर" तथा "संध्या" नामक समाचार पत्रों के माध्यम से सरकार की कटु आलोचना करते हुए नवयुवकों को क्रान्तिकारी कार्यों के लिए प्रेरित करना प्रारम्भ कर दिया। 'युगान्तर' के एक लेख में उन्होंने लिखा था- "क्या शक्ति के उपासक बंगवासी रक्त बहाने से घबरा जाएंगे? इस देश में अंग्रेजों की संख्या डेढ़ लाख से अधिक नहीं तथा एक जिले में उनकी संख्या तो बहुत ही न्यून है। यदि तुम्हारा संकल्प दृढ़ हो तो अंग्रेजी राज एक दिन में समाप्त हो सकता है। देश की स्वतन्त्रता के लिए अपना जीवन अर्पण कर दो परन्तु उसके पूर्व कम से कम एक अंग्रेज का जीवन समाप्त कर दो।" वीरेन्द्र घोष तथा उसके अनुयायियों ने 'अनुशीलन संस्था' बनायी। कुछ समय बाद कलकत्ता तथा पूर्वी बंगाल की राजधानी ढाका में इसी प्रकार की एक संस्था बनायी गयी। अकेली ढाका संस्था की ही 500 शाखाएँ स्थापित हो गयीं।

बंगाल में 1907 से ही वातावरण आतंकपूर्ण हो गया और अंग्रेजों के विरुद्ध सशस्त्र आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया गया। 6 दिसम्बर 1907 को मिदनापुर के निकट उप-गवर्नर की रेलगाड़ी को बम से उड़ा देने का प्रयत्न किया गया। इसी वर्ष 23 दिसम्बर को ढाका जिला मजिस्ट्रेट को गोली से उड़ा देने का प्रयत्न किया गया। जिला मजिस्ट्रेट घायल तो हो गया किन्तु मरा नहीं। क्रान्तिकारियों ने इसके बाद मुजफ्फरपुर के जज किंग्सफोर्ड को मारने का प्रयत्न किया। 30 अप्रैल, 1908 ई. को किंग्सफोर्ड के बंगले की ओर से एक गाड़ी आती दिखाई दी। क्रान्तिकारियों ने गाड़ी में किंग्सफोर्ड को समझ कर उस पर बम फेंका, परन्तु उस गाड़ी में दो अंग्रेज महिलाएँ थीं जो घटना स्थल पर ही मृत्यु को प्राप्त हो गयीं। क्रान्तिकारियों की खोज हुई और इस सम्बन्ध में खुदीराम बोस को पकड़कर फाँसी पर चढ़ा दिया गया। बी. शिरोल इस सम्बन्ध में लिखते हैं, "इस प्रकार वह (खुदीराम) बंगाल के क्रान्तिकारियों के लिए राष्ट्रीय वीर तथा शहीद बन गया। विद्यार्थियों ने उसके लिए शोक के शोक के वस्त्र ग्रहण किये। दो-तीन। दिन के लिए स्कूल बन्द कर दिये गये और उसकी स्मृति में श्रद्धांजलियाँ अर्पित की गयीं। बहुत से लोगों ने ऐसी घोतियाँ पहनी, जिनके किनारे पर खुदीराम बोस का नाम अंकित था तथा उनके चित्र भी बाँटे गये।"

इसके बाद एक और घटना घटी जो 'अलीपुर केस' के नाम से प्रसिद्ध है। इस काण्ड में 39 क्रान्तिकारी पकड़े गये जिनमें अरविन्द घोष भी थे। 12 फरवरी, 1910 को केस के निर्णय में अरविन्द घोष तथा उनके कुछ साथियों को छोड़ दिया गया किन्तु शेष को कठोर दण्ड दिया गया।

महाराष्ट्र में क्रान्तिकारी आन्दोलन क्रान्तिकारी आन्दोलन बंगाल से भी पहले महाराष्ट्र में प्रारम्भ हो गया था। महाराष्ट्र में 1899 में रैण्ड तथा आयर्स्ट की हत्या के साथ ही इस आन्दोलन का प्रारम्भ कहा जा सकता है। महाराष्ट्र में क्रान्तिकारी आन्दोलन के नेता श्यामजी कृष्ण वर्मा, सावरकर बन्धु (विनायक दामोदर सावरकर तथा गणेश सावरकर) और चाफेकर बन्धु थे। उनका कथन था कि 'प्राण देने के पूर्व प्राण ले लो।' ऐसा कहा जाता है कि रैण्ड की हत्या में श्यामजी कृष्ण वर्मा का हाथ था। वे इस हत्या के पश्चात् लन्दन चले गये। सावरकर बन्धुओं ने 'अभिनव भारत समिति' नामक क्रन्तिकारी संस्था की स्थापना की। 1906 में विनायक दामोदर सावरकर लन्दन चले गये तथा श्यामजी कृष्ण वर्मा का हाथ बंटाने लगे। ये दोनों लंदन से अपने संदेश तथा साहित्य गणेश सावरकर को भेजा करते थे तथा 1909 में गणेश सावरकर को सम्राट के विरुद्ध युद्ध छेड़ने के अपराध में गिरफ्तार कर लिया गया। बम्बई उच्च न्यायालय द्वारा इस अभियोग का निर्णय करते हुए 9 जून को उन्हें आजीवन देश निर्वासन का दण्ड दिया गया। प्रतिशोध के रूप में एक नवयुवक ने जेक्सन को, जिनकी आज्ञा से गणेश सावरकर पर अभियोग चलाया गया था, 21 दिसम्बर, 1909 को पिस्तौल से मार दिया। इस कार्य के लिए 7 व्यक्तियों पर मुकदमा चलाया गया तथा तीन को प्राण दण्ड मिला। गुजरात भी क्रान्तिकारियों के प्रभाव से बचा हुआ नहीं था। नवम्बर 1909 में अहमदाबाद में लार्ड तथा लेडी मिण्टो जिस गाड़ी से घूम रहे थे उसे बम से उड़ाने का प्रयत्न किया गया, इसमें सफलता न मिली। अभिनव समिति की शाखाएँ सारे महाराष्ट्र में फैली हुई थीं।

मद्रास में क्रान्तिकारी कार्य श्री विपिनचन्द्र पाल ने 1907 में मद्रास का दौरा किया। उनके राष्ट्रवादी विचारों का मद्रास के नवयुवकों पर काफी प्रभाव पड़ा। सरकार ने इसी वर्ष विपिनचन्द्र पाल पर अभियोग चलाकर उन्हें 6 मास का कारावास दण्ड दिया, इससे मद्रास के नवयुवकों में बड़ी उत्तेजना फैली। उनके जेल से मुक्त होने पर स्वागत करने हेतु एक सभा का आयोजन किया गया, परन्तु सरकार ने उस सभा का आयोजन करने वाले को बन्दी बना लिया, जिसका परिणाम टिनेवली के उपद्रव के रूप में प्रकट हुआ। सरकार ने दमन चक्र चलाते हुए आन्दोलन करने वाले नेताओं तथा पत्र सम्पादकों को बन्दी बना लिया। क्रान्तिकारियों ने 1911 ई. में टिनेवली के मजिस्ट्रेट की गोली मारकर हत्या कर दी।

पंजाब में क्रान्तिकारी कार्य प्रारम्भ में पंजाब में राष्ट्रवादी आन्दोलन वैसा क्रान्तिकारी नहीं था,

जैसा कि पंजाब के लेफ्टीनेण्ट-गवर्नर सर डेनियल ने बताया था। बंगाल, मद्रास, तथा महाराष्ट्र की तरह यहाँ गुप्त समितियों का अभाव सा था। 1907 में सरदार अजीतसिंह, भाई परमानन्द तथा लाला हरदयाल ने क्रान्तिकारियों का संगठन किया और सरकार की भूमि सम्बन्धी नीति के कारण लाहौर तथा रावलपिंडी में कुछ उपद्रव हुए। परन्तु 1909 में सरकार द्वारा अपनी भूमि सम्बन्धी नीति में जनता की इच्छानुसार परिवर्तन कर दिये जाने पर शान्ति छा गयी और क्रान्तिकारियों कार्य एक प्रकार से बन्द हो गये।

विदेशों में क्रान्तिकारियों के कार्य क्रान्तिकारियों के कार्य केवल भारत तक ही सीमित न रहे वरन् भारतीय क्रान्तिकारी विदेश में भी सक्रिय रहे। विदेशों में इनकी मुख्य शाखाएँ लन्दन, पेरिस तथा अमरीका के सेनफ्रांसिस्को और न्यूयार्क नगर में थीं। विदेशों में क्रान्तिकारी कार्य करने वाले भारतीयों में श्यामजी कृष्ण वर्मा, विनायक दामोदर सावरकर, मैडम कामा, लाला हरदयाल और मदनलाल धींगड़ा का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है।

श्यामजी कृष्ण वर्मा ने लन्दन में 'इण्डियन इंग्लैण्ड होमरूल सोसायटी' की स्थापना की तथा 'इण्डियन सोशियोलॉजिस्ट' समाचार पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया। पेरिस में बसे हुए भारतीय व्यापारी एम.ए, राना के सहयोग से श्यामजी कृष्ण वर्मा ने 6 अध्यापक वृत्तियों तथा 3 छात्रवृत्तियों की व्यवस्था की, जिसका उद्देश्य भारतीय नवयुवकों को क्रान्तिकारी कार्य के लिए तैयार करना था। विनायक दामोदर सावरकर ने लन्दन पहुँचने पर उनका हाथ बंटाया। 'इण्डिया हाऊस' इनका प्रधान कार्यालय था। होमरूलसोसायटी के एक सदस्य मदल लाल धींगड़ा ने ब्रिटिश शासन द्वारा भारतीय नवयुवकों पर किये जा रहे अत्याचारों का बदला लेने का निश्चय किया और 1 जुलाई, 1919 को भारत मंत्री कार्यालय के ए.डी.सी. सर फैसिस कर्जन को लन्दन के इम्पीरियल इंस्टीट्यूट में गोली मार दी। इसके लिए धींगड़ा को प्राणदण्ड दिया गया और इण्डियन होमरूल सोसायटी को छिन्न-भिन्न कर दिया गया। 1909 में जब गणेश सावरकर को आजीवन कारावास दिये जाने का समाचार लन्दन में उनके भाई विनायक दामोदर सावरकर को मिला, तो उन्होंने अंग्रेजों से बदला लेने का निश्चय किया। वीर सावरकर द्वारा लन्दन में कुछ मारपीट किये जाने पर लन्दन पुलिस द्वारा उन्हें गिरफ्तार करके बम्बई भेजा गया। जिस जहाज से उन्हें भारत भेजा जा रहा था, उससे निकलकर दामोदर समुद्र में कूद पड़े तथा तैरते-तैरते फ्रांसीसी मल्लाहों ने उन्हें अंग्रेजों के सुपुर्द कर दिया। यहाँ लाकर उन्हें भी आजीवन कारावास का दण्ड दिया गया।

यूरोप के अन्य भागों में भी श्यामजी कृष्ण वर्मा के नेतृत्व में क्रान्तिकारी सक्रिय थे। पेरिस में मैडम कामा ने उन्हें बहुत सहयोग दिया। वे वहाँ 'वन्दे मातरम्' का सम्पादन करती थीं। अमरीका में लाला हरदयाल ने क्रान्तिकारियों का संगठन किया और 1913 में सेनफ्रांसिस्को से 'गदर' नामक समाचार पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इसके अतिरिक्त आयरलैण्ड के क्रान्तिकारी दलों की पद्धति के आधार पर 'यंग इण्डिया एसोसिएशन' नामक संस्था की स्थापना कर 'फ्री हिन्दुस्तान' (Free Hindustan) नामक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया।

1915-32 के काल में क्रांतिकारी कार्य

प्रथम विश्व युद्ध के समय रासबिहारी बोस, शचीन्द्र सान्याल, गणेश पिंगले तथा बागी करतार सिंह के द्वारा भारत में एक साथ विद्रोह कर स्वतंत्रता के लक्ष्य को प्राप्त करने की योजना थी। इस योजना को 'लाहौर षड्यंत्र केस' के नाम से पुकारा जाता है। ब्रिटिश सरकार के द्वारा 61 व्यक्तियों पर मुकदमा चलाया गया जिसमें 14 को फांसी और अनेक को काले पानी की सजा दी गयी। कनाडा और अमरीका में गदर पार्टी के द्वारा भी भारतीय स्वतंत्रता के लिए प्रयत्न किये गये लेकिन इनका विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। 1919 में जब गांधीजी द्वारा असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ किया गया तो क्रांतिकारियों द्वारा भी इस आन्दोलन के परिणामों की उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा की जाने लगी। लेकिन जब इस आन्दोलन को अपने लक्ष्य में सफलता प्राप्त नहीं हुई तो क्रांतिकारियों के द्वारा अपने कार्य प्रारम्भ कर दिये गये।

फरवरी 1920 में जेल से रिहा होने के बाद शचीन्द्र सान्याल के द्वारा भारतवर्ष के सारे क्रांतिकारी दलों को संगठित करके 'हिन्दुस्तान प्रजातांत्रिक संघ' की स्थापना की गयी। इस क्रांतिकारी दल के द्वारा देश में सशस्त्र क्रांति करने के लिए बड़ी मात्रा में शस्त्र खरीदे गये और शस्त्रों की कीमत चुकाने के लिये यह सोचा गया कि जब गाड़ी लखनऊ के निकट पहुँचे, तो सरकारी खजाने को लूट लिया जाये । 9 अगस्त, 1925 को काकोरी के निकट गाड़ी रोककर क्रांतिकारियों द्वारा खजाना लूट लिया गया। लेकिन पुलिस और गुप्तचर विभाग ने दिन-रात एक करके 40 व्यक्तियों को गिरफ्तार कर लिया। इन पर मुकदमा चलाया गया। इसे ही 'काकोरी षड्यंत्र केस' के नाम से जाना जाता है। इस केस में पण्डित रामप्रसाद बिस्मिल, राजेन्द्र लाहिड़ी, रोशन सिंह और अशफाक उल्लाह को फाँसी शचीन्द्र बख्शी को आजन्म कारावास, मन्मथनाथ गुप्त को 14 वर्ष कैद व अन्य को कई वर्ष की सजाएँ दी गयीं।

इसके बाद सरदार भगतसिह, बटुकेश्वर दत्त, चन्द्रशेखर व राजगुरू आदि के द्वारा क्रान्तिकारी दल का नाम 'हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसियेशन' के स्थान पर 'हिन्दुस्तान

सोशलिस्ट रिपब्लिकन पार्टी' या 'हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातांत्रिक सेना' रख दिया गया। 10 अक्टूबर, 1928 को लाहौर में साइमन कमीशन का विरोध करते हुए जो जुलूस निकाला गया उसका नेतृत्व वयोवृद्ध लाला लाजपतराय के द्वारा किया जा रहा था। अंग्रेज पुलिस कप्तान साण्डर्स के द्वारा लालाजी पर ऐसी भीषण लाठी वर्षा की गयी कि उसके परिणामस्वरूप लालाजी की मृत्यु हो गयी। लालाजी की यह मृत्यु भारत के लिये एक राष्ट्रीय अपमान था और क्रान्तिकारियों के द्वारा इसका बदला लेना निश्चित किया गया। 17 दिसम्बर, 1928 को क्रान्तिकारियों द्वारा गोली मारकर साण्डर्स की हत्या कर दी गयी। इस प्रकार अपमान का बदला ले लिया गया।इसके बाद 8 अप्रैल, 1929 को एक और घटना हुई। केन्द्रीय असेम्बली में 'पब्लिक सेफ्टी बिल' पर बहस चल रही थी। जनता इस विधेयक के बहुत अधिक विरुद्ध थी, किन्तु सरकार इसे बलपूर्वक पास कराना चाहती थी। इसके पहले सरकार द्वारा जनता की इच्छा के विरुद्ध बलपूर्वक 'ट्रेड डिस्प्यूट्स बिल' (Trade Disputes Bill) पास कर दिया गया था। 'हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी' की केन्द्रीय समिति ने निर्णय किया कि इस बिल को रुकवाने और सरकार को जनता की आवाज का मूल्य समझाने के लिए असेम्बली में बम फेंका जाये। इस कार्य को करने के लिए बटुकेश्वर दत्त को चुना गया। यह भी निश्चय किया गया कि ये व्यक्ति बम फेंकने के बाद भागें नहीं वरन् अपने आपको गिरफ्तार करवा दें तथा कोर्ट में बयान देकर 'हिन्दुस्तान रिपब्लिक आर्मी' के उद्देश्य और कार्यक्रम पर प्रकाश डालें ।

8 अप्रैल, 1929 को जब 'पब्लिक सेफ्टी बिल' पर मत पड़ने वाले थे, तो सरदार भगतसिह ने दिल्ली की केन्द्रीय असेम्बली में बम फेंका। इसके साथ फेंके गये पर्चे में लिखा था बहरों को सुनाने के लिए बमों की आवश्यकता है।' बम फेंकने का उद्देश्य किसी की हत्या करना नहीं वरन् देश में जागृति पैदा करना था। भगतसिंह और दत्त के द्वारा अपने आपको गिरफ्तार करवा दिया गया। पुलिस ने इन पर मुकदमा चलाया। अदालत में एक लम्बा बयान देकर इन क्रांतिकारियों के द्वारा 'हिन्दुस्तान रिपब्लिकन पार्टी' के उद्देश्य और कार्यक्रम पर प्रकाश डाला गया। पुलिस ने सरदार भगतसिंह के अतिरिक्त उनके कई साथियों को भी फैसा लिया। 23 मार्च, 1931 को सरदार भगतसिंह, शिवराम, राजगुरू और सुखदेव को फाँसी की सजा दे दी गयी और उनकी लाशों को चुपके से रात्रि के समय फिरोजपुर में जला दिया गया। डॉ. पट्टाभि सीतारमैया लिखते हैं कि '1931 में कराची में काँग्रेस अधिवेशन के समय सरदार भगतसिंह का नाम भारत में उतना ही सर्वप्रिय हो चुका है जितना कि गांधीजी का।' स्वाभाविक रूप से सारे देश द्वारा शहीदों के बलिदान पर शोक मनाया गया।

सरदार भगतसिंह की गिरफ्तारी के बाद क्रान्तिकारी दल का नेतृत्व चन्द्रशेखर आजाद, यशपाल और भगवतीचरण बोहरा के हाथ में आया। लेकिन 27 फरवरी, 1931 को चन्द्रशेखर और एक अन्य क्रान्तिकारी सुखदेवराज इलाहाबाद के अल्फैंड पार्क में मन्त्रणा कर रहे थे कि वहाँ पुलिस आ पहुँची। पुलिस के द्वारा गोलियाँ चलाई गई और आजाद वीरगति को प्राप्त हुए। आजाद की मृत्यु से क्रांतिकारी दल को जो हानि हुई, वह कभी पूरी न हो सकी। जनवरी 1932 में यशपाल भी गिरफ्तार कर लिये गये और अब क्रान्तिकारी दल प्रभावशाली रूप से कार्य करने की स्थिति में न रहा।

इसके बाद द्वितीय महायुद्ध के काल में सुभाषचन्द्र बोस और उनकी आजाद हिन्द सेना के द्वारा कार्य किया गया और 1946 में जल सेना और वायु सेना के द्वारा विद्रोह किया गया। इनमें से किसी भी प्रयत्न को यद्यपि तत्काल ही अपने लक्ष्य में सफलता नहीं प्राप्त हुई। किन्तु इन क्रान्तिकारी कार्यों के फलस्वरूप भारत में अभूतपूर्व जागृति उत्पन्न हुई।

क्रांतिकारी आन्दोलन की असफलता के कारण

यद्यपि क्रान्तिकारियों ने भारतवासियों को अपूर्व राष्ट्रीय चेतना प्रदान की, लेकिन वे अपने मूल लक्ष्य को प्राप्त करने में असफल ही रहे। क्रांतिकारी आन्दोलन की असफलता के मुख्य कारण निम्नलिखित

(1) केन्द्रीय संगठन का अभाव क्रान्तिकारी आन्दोलन की असफलता का एक बड़ा कारण यह था कि इसका कोई केन्द्रीय संगठन न था। इस कारण विभिन्न प्रान्तों के क्रांतिकारी नेताओं में पारस्परिक सहयोग और सम्बन्धों का अभाव रहा और वे संगठित रूप से कार्य न कर सके। छुटपुट क्रांतिकारी घटनाओं से ब्रिटिश शासन का अन्त सम्भव नहीं था।

(2) आन्दोलन का नवयुवकों तक सीमित होना क्रान्तिकारी आन्दोलन की असफलता का एक कारण इस आन्दोलन का मध्यम वर्ग के शिक्षित नवयुवकों तक ही सीमित होना था। इस आन्दोलन में कार्य करने वाले नवयुवकों का विशेष प्रभाव नहीं था और वे साधारण जनता से सहयोग तथा समर्थन प्राप्त नहीं कर सके।

(3) उच्च मध्यम वर्ग की सहानुभूति का अभाव क्रान्तिकारी आन्दोलन को उच्च मध्यम वर्ग के व्यक्तियों और राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्य संचालकों की सहानुभूति भी प्राप्त नहीं थी। उच्च वर्ग के ये नेता क्रान्तिकारी कार्यों को घृणा की दृष्टि से देखते थे और स्वराज्य प्राप्त करने के लिए वैधानिक उपायों में विश्वास करते थे। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तथा

आशुतोष मुकर्जी जैसे नेताओं ने सरकार से दमन करने के लिए कठोर साधनों तथा उपायों से काम लेने का अनुरोध किया था।

(4) ब्रिटिश सरकार की कठोर दमन नीति क्रांतिकारी आन्दोलन इस कारण भी असफल रहा कि बिटिश सरकार ने क्रांतिकारियों के प्रति अत्यन्त कठोर नीति का अवलम्बन किया। उसने 1907 में सभाएँ करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया और 1908 में 'विद्रोही सत्ता अधिनियम' (Seditious Meeting Act) भी पास कर दिया जिसका उल्लंघन करने वालों को कठोर दण्ड दिया जाता था। 1908 में फौजदारी कानून को और कड़ा बनाकर अधिकारियों को उसे और सख्ती से प्रयोग करने की आज्ञा दी गयी। 1908 तथा 1910 में प्रेस अधिनियम पास करके उग्रवादियों के समाचार पत्रों के प्रकाशन पर प्रतिबंध लगा दिया गया। 1911 में एक अधिनियम पास करके अधिकारियों को अधिकार दिया गया कि वे सभाओं पर नियंत्रण रखने के लिए अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग कर सकते हैं। क्रान्तिकारियों पर अभियोग चलाते हुए ऐसी जूरी की व्यवस्था की जाती जिसमें यूरोपियन बहुमत में होते और मामूली से अपराधों के लिए भारतीयों को मृत्यु दण्ड, काला पानी, देश निर्वासन या लम्बी कठोर कैद की सजाएँ दी जाती थीं। जरा सी भी शंका होने पर लोगों को बन्दी बनाकर उन्हें सजा दे दी जाती। इस प्रकार सरकार ने जनता में ऐसा आतंक स्थापित कर दिया कि लोग भयभीत होकर क्रान्तिकारियों से दूर भागने लगे।

(5) अस्त्र-शस्त्रों की प्राप्ति में विशेष कठिनाई क्रान्तिकारी आन्दोलन के नेताओं और कार्यकर्ताओं में अपूर्व उत्साह और साहस था और वे हँसते-हँसते अपने प्राणों का बलिदान करने को उद्यत थे लेकिन उनके पास साधनों का नितान्त अभाव था। उन्हें अस्त्रों-शस्त्रों की प्राप्ति में बहुत अधिक कठिनाई उठानी पड़ती थी। उनको गुप्त रूप से कार्य करना पड़ता था। सरकार उनके प्रति सदैव सचेत रहती थी। वे सरकार की आँखों में अधिक समय तक धूल झोंकने में सफल नहीं हो सकते थे।

(6) क्रांतिकारियों के प्रति काँग्रेस की उदासीनता 1885 से ही भारत की सबसे प्रभावशाली राजनीतिक संस्था राष्ट्रीय काँग्रेस थी। लेकिन काँग्रेस की उदासीनता के कारण क्रान्तिकारियों को इस संस्था की सहानुभूति प्राप्त होना तो दूर रहा उन्हें इस संस्था से आलोचना और विरोध ही प्राप्त हुआ है। क्रान्तिकारियों के प्रति काँग्रेस के इस दृष्टिकोण के कारण एक ओर तो क्रान्तिकारियों को जन-समर्थन प्राप्त नहीं हुआ और दूसरी तरफ ब्रिटिश शासन द्वारा कठोर दमनात्मक नीति अपनायी जा सकी।

(7) महात्मा गांधी का अपूर्व सत्याग्रह आन्दोलन उपर्युक्त बाधाओं के होते हुए भी यदि भारतीय जनता को अपने देश की मुक्ति के लिए क्रन्तिकारी आन्दोलन का कोई विकल्प प्राप्त नहीं होता, तो जनता का झुकाव कालान्तर में क्रान्तिकारी आन्दोलन की ओर हो

सकता था। लेकिन महात्मा गांधी ने भारतीय राजनीति में प्रवेश कर सत्याग्रह के रूप में जनता के सम्मुख क्रान्तिकारी आन्दोलन का विकल्प प्रस्तुत किया, जो भारतीय जनता में अधिकाधिक लोकप्रिय होता गया। यह अहिंसात्मक क्रान्ति क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिए घातक सिद्ध हुई और अन्ततः वह समाप्त हो गया।

इन सभी कारणों से क्रान्तिकारी आन्दोलन तत्काल ही अपना लक्ष्य प्राप्त करने में असफल रहा। इसकी असफलता के कारणों के सम्बन्ध में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी लिखते हैं कि "क्रान्तिकारी आन्दोलन की विफलता का मुख्य कारण ब्रिटिश सरकार की दमन नीति थी। इसके साथ ही यह इस कारण भी असफल रहा कि हिंसा का विचार हिन्दुओं की प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं है। हिन्दू लोग, क्रान्ति यहाँ तक कि उसकी छाया से भी घृणा करते हैं।"

राष्ट्रीय आन्दोलन में क्रान्तिकारी धारा का योगदान

क्रान्तिकारी तत्काल ही अपने लक्ष्य की प्राप्ति में भले ही असफल रहे हों, क्रान्तिकारी आन्दोलन ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता में अपूर्व योग दिया। क्रान्तिकारियों के हँसते-हँसते बलि चढ़ जाने की घटनाओं को भुलाया नहीं जा सकता। क्रान्तिकारियों ने भारतीय जनता में राष्ट्रीयता और देशभक्ति की अपूर्व भावना का संचार किया। 1942 की क्रान्ति आंशिक रूप से इस क्रान्तिकारी आन्दोलन का ही अंग थी औरसुभाषचन्द्र बोस द्वारा आजाद हिन्द सेना संगठित कर भारतीय स्वतंत्रता की चेष्टा करना भी इस क्रान्तिकारी आन्दोलन का ही अंग कहा जा सकता है। वास्तविकता यह है कि जहाँ गाँधीजी और कांग्रेस ने अपने ढंग से स्वतंत्रता संघर्ष और जनता में जागृति फैलाने का कार्य किया, वहाँ क्रान्तिकारियों ने अपने ढंग से जनता में जागृति लाने और क्रान्ति के लिए तैयार करने का कार्य किया। राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में काँग्रेस के वैधानिक आन्दोलन तथा क्रान्तिकारी आन्दोलन ने एक-दूसरे के पूरक का कार्य किया।

क्रान्तिकारी आन्दोलन के द्वारा एक और प्रकार से भी राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति में योग दिया गया। ब्रिटिश सत्ता क्रान्तिकारियों से बहुत घबराती थी और यह नहीं चाहती थी कि अधिक लोग इसमें जायें। यह तभी संभव था जबकि भारतीय जनता को कुछ न कुछ राजनीतिक अधिकार दिये जाते रहें, ताकि लोगों का काँग्रेस और वैधानिक आन्दोलन से विश्वास बिल्कुल न उठ जाये। इस प्रकार क्रान्तिकारी आन्दोलन के कारण ब्रिटिश सरकार के लिए भारतीयों की कुछ राजनीतिक माँगें मानना आवश्यक था।

इन सबके अतिरिक्त यह तो तथ्य है कि क्रान्तिकारियों का मार्ग अहिंसात्मक आन्दोलनकारियों की तुलना में बहुत कठिन था। जिन कठिन परिस्थितियों में और जिस

देशभक्ति तथा त्याग की भावना के साथ कार्य किया गया उसके उदाहरण संसार के इतिहास में बहुत कम मिलते हैं। वास्तव में आजादी के इन दीवानों की गाथा स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है।

वस्तुतः भारतीय स्वतंत्रता में क्रान्तिकारी आन्दोलन का विशिष्ट और महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

1.12 भारत का विभाजन

भारत का विभाजन और पाकिस्तान का निर्माण इस उपमहाद्वीप के इतिहास की क्रूरतम घटना मानी जा सकती है। अंग्रेजों ने हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता के विष को घोला, जिसके परिणामस्वरूप सन् 1947 में भारतीय राष्ट्र की दुखान्त हत्या हो गई। भारत का विभाजन हमारे स्वाधीनता संघर्ष की महानतम कमजोरी कहा जा सकता है। अंग्रेजी साम्राज्यवाद को भगाकर भी हम एकजुट होकर नहीं रह सके।

विभाजन के लिए उत्तरदायी कारण

(देश के विभाजन के लिए जिम्मेदार कारक)

गाँधीजी ने कहा था कि, "भारत का विभाजन मेरे शव पर ही हो सकेगा।" उनके शब्द थे- "यदि सारा भारत भी आग की लपटों में घिर जाये फिर भी पाकिस्तान नहीं आ सकेगा। पाकिस्तान किसने दिया ? कुछ लोग एक पक्ष का नाम लेते हैं, कुछ दूसरे का, लेकिन सच पूछा जाये तो इसका कोई सरल सीधा उत्तर नहीं है। कांग्रेस तथा ब्रिटिश सरकार दोनों, अपने-अपने कारणों से, भारत को संयुक्त रखना चाहते थे। लेकिन दोनों तीसरे पक्ष का समर्थन प्राप्त करने की चिकनी राह पर चल रहे थे। व्हाइट हाल ने, मिण्टो के शब्दों में, मुसलमान राष्ट्र को पृथक चुनाव-क्षेत्र तथा साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के अधिकार देकर अनजाने में, विभाजन के बीज बो दिए थे। भारतीयों का विशाल बहुमत विभाजन विरोधी था। फिर भी नेहरू, पटेल आदि नेता विभाजन के लिए तैयार हो गए। क्यों? दुर्गादास के अनुसार, "दो जून को माउण्टबैटन ने राष्ट्रीय नेताओं की जो बैठक की उसमें पटेल सबसे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने विभाजन को स्वीकार किया। गृहमंत्री की हैसियत से वे यह समझ चुके थे कि बात बहुत बढ़ चुकी थी और अराजकता को रोकने का एक ही उपाय था कि विभाजन स्वीकार कर लिया जाय। यदि इसका अर्थ था गाँधी जी से सम्बन्ध विच्छेद तो वे इसके लिए भी तैयार थे।" सामयिक परिस्थितियों में भारत का विभाजन अनिवार्य था और कोई चारा ही नहीं था। भारत के विभाजन और पाकिस्तान के निर्माण के लिए कोई उत्तरदायी नहीं है, अपितु अनेक कारणों और परिस्थितियों ने

मिलकर घटनाक्रम को कुछ ऐसा मोड़ा कि नियति ने देश का विभाजन करवा ही दिया। वे कारण और उत्तरदायी परिस्थितियाँ निम्नलिखित है-

1. 'फूट डालो और राज करो' की कुटिल नीति उस समय इस बात का किसी को ज्ञान नहीं था कि पाकिस्तान के निर्माण में चर्चिल का कितना जबर्दस्त हाथ था। युद्ध छिड़ जाने के बाद वे समझ गए थे कि भारत को अनिश्चित समय तक हाथ में नहीं रखा जा सकता और जैसा कि सम्राट जार्ज षष्ठम

अपनी डायरी में लिखा था उन्होंने युद्ध के बाद भारतवासियों के हाथ में भारत को सौंपने का निर्णय ले लिया था। लेकिन इसके साथ ही चर्चिल तथा उनके साथी साम्राज्य के ध्वंसावशेष से जो कुछ मिल सकता था प्राप्त करना चाहते थे और इसी निर्णय के अन्तर्गत उन्होंने जिन्ना को पाकिस्तान तोहफे के रूप में भेंट करने का वायदा किया था। उनका विचार था कि पाकिस्तान द्वारा उनका एक कदम इस उपमहाद्वीप में जमा रहेगा।

ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने भारत में प्रारम्भ से ही 'फूट डालो और राज करो' की नीति को अपनाया। हिन्दुओं और मुसलमानों को लड़ाना तथा धूर्तरूप से अपने स्वार्थों की पूर्ति करते रहना उनकी कूटनीति थी। ब्रिटिश सरकार ने पृथक निर्वाचन और पृथक राज्य की मांग का सदैव समर्थन किया। उनकी यह चाल थी कि विभाजित भारत कमजोर होगा और कमजोर भारत ब्रिटिश स्वार्थ के लिए लाभप्रद होगा। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के अनुसार, "पाकिस्तान के निर्माता कवि इकबाल या जिन्ना नहीं वरन् लार्ड मिण्टो थे।" लार्ड मॉर्ले ने 1909 में कहा था, "याद रखना कि पृथक निर्वाचन क्षेत्र बनाकर हम ऐसे घातक विष के बीज बो रहे हैं जिनकी फसल बड़ी कड़वी होगी।"

2. साम्प्रदायिक दंगे इस समय सम्पूर्ण देश साम्प्रदायिक दंगों की विभीषिका में जल रहा था, हिन्दू-मुसलमान एक दूसरे के रक्त की होली खेल रहे थे। सम्पत्ति, स्त्रियों की इज्जत, मासूम बच्चों की जान आदि कुछ भी सुरक्षित नहीं था। नेताओं को लगा कि निर्दोष देशवासियों की हत्याओं से तो पाकिस्तान बन जाना अच्छा था। श्री कृपलानी के अनुसार, "भयानक दृश्यों को देखकर इस समस्या के सम्बन्ध में मेरे विचारों पर बहुत प्रभाव पड़ा है और अन्य अनेक व्यक्तियों के समान मैं यह सोचने लगा हूँ कि विभाजन ही इस समस्या का एक मात्र विकल्प है। " सरदार पटेल के शब्दों में, "मेरे एक वर्ष के अन्तरिम सरकार के अनुभव ने मुझे सिखाया था कि जिस ओर हम लोग बढ़ रहे थे, उसमें सर्वनाश के अतिरिक्त और कुछ नहीं था।"

3. अफसरों के षड्यंत्र - अंग्रेज अफसरों और ब्रिटिश सरकार की सहानुभूति लीग के साथ थी। साम्प्रदायिक दंगों में भी अंग्रेज अफसरों ने लीग का साथ दिया। यदि अंग्रेज न

चाहते तो दंगे इस व्यापक पैमाने पर होते ही नहीं और होते भी तो उन्हें पुलिस और सेना के बल से दबाया जा सकता था। अंग्रेज कूटनीतिज्ञ यह सोचते थे कि संयुक्त भारत बहुत शक्तिशाली हो जाएगा, जिससे ब्रिटेन के व्यावसायिक स्वार्थों की रक्षा न की जा सकेगी। उनका अनुमान था कि पाकिस्तान अधिक मैत्रीपूर्ण रहेगा और उस पर इंग्लैण्ड का पैर बना रहेगा। इस प्रकार अंग्रेज अधिकारियों की सहानुभूति पाकिस्तान के साथ थी और वायसराय के वैधानिक परामर्शदाता श्री वी.पी. मेनन ने सरदार पटेल को यह समझाया कि गृहयुद्ध की तरफ बढ़ने के बजाय देश का बंटवारा स्वीकार कर लेना अच्छा है। श्री नेहरू ने कहा कि ऐसी परिस्थिति में तंग होकर आखिरकार हम दर्द से छुटकारा पाने के लिए सिर कटवाने को तैयार हो गए।

4. कांग्रेस की भारत को शक्तिशाली बनाने की इच्छा हिन्दू और मुसलमानों में इतना जहर घोला जा चुका था कि यदि संयुक्त भारत रहता तो भारत कभी शक्तिशाली बन ही नहीं सकता था। तोड़-फोड़ और मजहबी देंगे आम बात हो जाती। सरदार पटेल ने कहा है, "तब मुझे समझ में आया कि किस प्रकार राजनीतिक दिमाग की साजिश से हमारे हितों की हत्या की जा रही थी और तभी मैं इस निश्चय पर पहुंचा कि सर्वोत्तम मार्ग यही था कि किसी भी कीमत पर, देश का विभाजन मानकर भी, किसी प्रकार इन विदेशियों से देश को छुटकारा दिलाया जाए। यह विचार भी मेरे मन में तभी आया कि देश को सुरक्षित और शक्तिशाली बनाने का एक रास्ता यही था कि शेष भारत का एकीकरण किया जाए।"

सरदार पटेल का स्पष्ट दृष्टिकोण था कि, "पाकिस्तान निर्माण के पश्चात् भी हमारे पास तीन-चौथाई शेष भारत बचा रहेगा जिसे हम अपनी इच्छानुसार विकसित और सशक्त बना सकते हैं। यदि मुसलमानों को यहाँ रहने के लिए विवश किया गया, तो फूट और मनमुटाव के कारण प्रगति और विकास, कुछ भी संभव नहीं होगा।"5. अन्तरिम सरकार की असफलता अन्तरिम सरकार में जब से लीग शामिल हुई, उसकी कार्यवाहियों चलाना कठिन हो गया था। लीग का ध्येय अड़ंगा लगाना एवं अड़चनें पैदा करना था। लियाकत अली खाँ के पास वित्त विभाग था। उसने कांग्रेसी नेताओं की समस्त योजनाओं में बाधा उपस्थित की और शासन चलाना कठिन हो गया। पटेल के शब्दों में, हमने विभाजन मजबूरी की स्थिति में स्वीकार किया। हम ऐसी स्थिति में पहुंच गए थे कि सब कुछ खो बैठते। सरकार में मुस्लिम लीग के 5-6 सदस्य थे जो देश का विभाजन कराने के लिए ही सरकार में आए थे।"

6. जिन्ना और लीग की हठधर्मी पाकिस्तान प्राप्त करना जिन्ना की हठधर्मी ही थी। 'सी.आर. फार्मूला, वेवेल योजना, 'केबिनेट मिशन योजना' आदि द्वारा उन्हें समझाने का

प्रयास किया गया था किन्तु वे अपनी हठ पर अड़े रहे। इसी प्रकार मुस्लिम लीग प्रारम्भ से ही साम्प्रदायिक राजनीति का दूषित खेल, खेल रही थी, जिसका अन्तिम परिणाम विभाजन हुआ। मेहता तथा पटवर्धन के अनुसार, "पृथक मत, पृथक निर्वाचन मण्डल, पृथक प्रान्त और रक्षा कवच सब की मांग की जा चुकी थी, अगला तर्कसंगत कदम पृथक राज्य की मांग करना था।" पटेल ने कहा था, "यदि शरीर के एक अंग में जहर फैल गया हो तो उसे शीघ्र ही अलग कर देना चाहिए ताकि शेष शरीर में जहर न फैले। बहुर्चित पुस्तक 'फ्रीडम एट मिड नाइट" के लेखक लेरी कॉलिन्स और डामिनिक लाप्येर लिखते हैं माउण्टबैटन रक्तपात को टालने के लिए युद्धस्तर पर जल्दी-जल्दी फैसले ले रहे थे, लेकिन जिन्ना की जल्दी का कारण कुछ और ही था। बात यह थी कि बम्बई के डॉ. जाल पटेल की अलमारी में एक्स-रे फिल्म पर उस राक्षस का फोटो अत्यन्त गोपनीय रीति से मुहरबंद करके रख दिया गया था, जिसने जिन्ना को मौत की सजा सुना दी थी। यदि माउण्टबैटन, नेहरू या गाँधी में से किसी एक को भी उसके बारे में जानकारी मिल जाती तो भारत का बंटवारा शायद न होता। जिन्ना के फेफड़ों के ये एक्स-रे फोटो 1946 में उतारे गये थे। जिन्ना तब 70 साल के थे और तपेदिक की अंतिम अवस्था में थे। उन्हें मालूम था कि अन्त किसी भी क्षण आ सकता है, अतः जीवन का लक्ष्य जल्दी-से-जल्दी प्राप्त करना होगा।"

7. लार्ड माउण्टबैटन का प्रभाव लार्ड माउण्टबैटन का व्यक्तित्व आकर्षक एवं प्रभावशाली था। भारतीय नेताओं पर उनका बहुत अधिक प्रभाव था। उन्होंने नेहरू, पटेल तथा अन्य कांग्रेसी नेताओं को विभाजन के लिए तैयार कर लिया।' 'फ्रीडम एट मिड नाइट' के लेखक लिखते हैं, "अन्ततः माउण्टबैटन ने अनुभव कर लिया था कि उन्हें जिन्ना को पाकिस्तान देना ही पड़ेगा। इसलिए अब एक ही काम बचा था - नेहरू और पटेल को इसके लिए तैयार करना।" गाँधी ने माउण्टबैटन से कहा कि भारत का बंटवारा मत कीजिएगा। माउण्टबैटन ने उन्हें आश्वासन दिया कि विभाजन को लाचारी की अवस्था में अन्तिम उपाय के तौर पर ही अपनाया जाएगा।वस्तुतः लार्ड माउण्टबैटन ने कांग्रेस और लीग दोनों को विभाजन के लिए तैयार कर लिया और माउण्टबैटन योजना के आधार पर ही 'भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947' पारित हुआ जिसमें अधिराज्यों की व्यवस्था थी।

8. सत्ता के प्रति मोह ऐसा कहा जाता है कि सामयिक नेताओं में सत्ता के प्रति आकर्षण पैदा हो गया था, वे अधिक दिन तक गुलाम नहीं रहना चाहते थे। गुलामी और पाकिस्तान में उन्होंने पाकिस्तान को पसन्द किया। ब्रेचर ने लिखा है, "कांग्रेसी नेता सत्ता का आस्वादन कर ही चुके थे और विजय की घड़ी में इससे अलग होने को तैयार नहीं थे।"

उन्होंने कहा कि, "नेहरू सरकार लीग से डर गई है हमें चाहिए कि अंग्रेजों और लीग दोनों के विरुद्ध संघर्ष करें।"

9. हिन्दू साम्प्रदायिकता तथा कांग्रेस की भूलें पाकिस्तान के निर्माण के लिए हिन्दू साम्प्रदायिकता तथा कांग्रेस की भूलें भी उत्तरदायी है। हिन्दू महासभा के ऐसे विचार "भविष्य में हमारी राजनीति विशुद्ध हिन्दू राजनीति होगी" मुसलमानों में अविश्वास पैदा करने लगे। इसी प्रकार 1916 का 'लखनऊ समझौता' तथा 1938 का 'कांग्रेस का जन संपर्क कार्य' कांग्रेस की ऐतिहासिक भूलें थीं। इसे तुष्टिकरण की नीति कहा जा सकता है जिसके बड़े घातक परिणाम निकले। स्वीकार करते हुए भी इसके साथ कुछ ऐसी शर्तें जोड़ दी जिन्हें लीग ने अस्वीकार कर दिया। जिन्ना ने कांग्रेस प्रस्ताव को अपना अपमान समझा और उन्होंने अब यह नारा लगाना शुरू कर दिया कि 'कांग्रेस सरकार से मुसलमानों को न्याय प्राप्त नहीं हो सकता।

11 में से 8 प्रांतों में कांग्रेसी मंत्रिमंडल बन जाने के कारण लीग ने मुस्लिम जनता पर हिन्दुओं के अत्याचारों का ढिढोरा पीटना शुरू कर दिया। कांग्रेस और लीग का आपसी विरोध इतना बढ़ चुका था कि जब महायुद्ध से उत्पन्न परिस्थितियों के कारण 8 प्रांतों के कांग्रेसी मंत्रिमंडलों द्वारा त्याग पत्र दे दिये गये तो लीग ने 22 दिसम्बर, 1939 को 'मुक्ति दिवस' मनाया। 1940 में मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान को अपना लक्ष्य घोषित किया। 1945 तक जब संवैधानिक उपायों से लीग को अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सफलता नहीं मिली तो उसने मुसलमानों को साम्प्रदायिक उपद्रवों के लिए उत्तेजित करना प्रारम्भ कर दिया और 15 अगस्त, 1946 को 'प्रत्यक्ष कार्यवाही दिवस' निश्चित किया और इस दिन अकेले कलकत्ता में 7 हजार व्यक्ति मौत के घाट उतार दिये गये।

मुस्लिम लीग की पाकिस्तान मांग का आधार उसका द्विराष्ट्र सिद्धांत था। द्विराष्ट्र सिद्धान्त काआधार धर्म को माना गया था और समझा गया था कि चूंकि हिन्दुओं तथा मुसलमानों के धर्म अलग-अलग हैं इसलिए वे एक संयुक्त राष्ट्र के रूप में गठित नहीं हो सकते। वस्तुतः पाकिस्तान के निर्माण का कारण मुस्लिम अभिजन की राजनीतिक महत्वाकांक्षा थी, जिसने सत्ता प्राप्ति हेतु राजनीतिक अलगाव का मार्ग अपनाया ।

हिन्दू साम्प्रदायिकता पाकिस्तान निर्माण के लिए किस सीमा तक उत्तरदायी

(Hindu Communalism How far responsible for the creation of Pakistan?)

पाकिस्तान की मांग के जन्म और उत्थान में हिन्दू महासभा जैसी हिन्दू साम्प्रदायिक संस्थाओं का भी योग था। प्रारम्भिक काल में महासभा का नेतृत्व पं. मदनमोहन मालवीय और लाला लाजपतराय जैसे नेताओं ने किया और राष्ट्रवादी तत्वों ने महासभा के ऊपर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दू साम्प्रदायिकता मुस्लिम साम्प्रदायिकता की प्रतिक्रिया थी। उसने साम्प्रदायिक विद्वेष की ज्वाला तो उत्पन्न नहीं की, पर उसकी लपटों को अवश्य ऊँचा रखा जिससे मुस्लिम लीगियों को पाकिस्तान की दिशा में सोचने की प्रेरणा मिली। कांग्रेस विभाजन के लिए किस सीमा तक उत्तरदायी ?

कांग्रेस विभाजन के लिए कितनी जिम्मेदार है?

गाँधीजी ने यहाँ तक कहा था कि "यदि सारा भारत भी आग की लपटों में घिर जाये फिर भी पाकिस्तान नहीं बनेगा।" इसके बावजूद भी कांग्रेस ने ऐतिहासिक भूलें की, जिससे परिणति देश के विभाजन में हुई। कांग्रेस की कतिपय भूलें इस प्रकार हैं- (i) 1916 का लखनऊ समझौता - कांग्रेस-लीग एकता स्थापित करने की उत्सुकता में कांग्रेस ने पृथक निर्वाचक मण्डल और मुस्लिम अल्पसंख्यकों को अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व देने के सिद्धान्त तक को स्वीकार कर लिया।

(ii) 1919 में खिलाफत के प्रश्न को लेकर तुष्टिकरण की नीति अपनायी।

(iii) सन् 1937 के निर्वाचन और मुस्लिम लीग के प्रति कांग्रेस का कठोर रवैया-संयुक्त प्रांत में कांग्रेस द्वारा मुस्लिम लीग की उपेक्षा करते हुए अकेले सरकार बनाने को मुस्लिम नेताओं ने विश्वासघात की संज्ञा दी। मौलाना आजाद के अनुसार मतभेद इतनी सी बात पर हुआ कि लीग मिले-जुले मंत्रिमंडल में अपने दो मंत्री चाहती थी और पं. नेहरू उन्हें एक ही स्थान देने पर अड़ गये।

(iv) 1937 में कांग्रेस ने मुस्लिम जनता और बुद्धिजीवियों से सीधा संपर्क स्थापित करने का प्रयत्न किया जिसे मुस्लिम लीग ने अपने अस्तित्व के लिए धमकी समझा

(v) 10 जुलाई, 1946 को कांग्रेस अध्यक्ष की हैसियत से पं. जवाहरलाल नेहरू ने यह दुर्भाग्यपूर्ण वक्तव्य दे डाला कि कांग्रेस ने संविधान सभा में जाना स्वीकार किया है पर वह वहां किसी समझौते के बंधनों से बंधकर नहीं जा रही है और संविधान सभा में केबिनेट मिशन योजना में परिवर्तन या सुधार करने के लिए अपने को स्वतंत्र समझती है। मौलाना आजाद के अनुसार, "पं. नेहरू का 10 जुलाई का वक्तव्य उन दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं में से था जिन्होंने इतिहास का रुख बदल दिया था।"

10. द्वि राष्ट्र सिद्धान्त - जिन्ना के अनुसार भारत में दो राष्ट्र निवास करते हैं- हिन्दू और मुस्लिम, अतः दोनों का पृथक-पृथक 'राज्य' होना चाहिए। जिन्ना के अनुसार मुसलमान एक पृथक राष्ट्र हैं, उनकी संस्कृति, भाषा, रीति-रिवाज हिन्दुओं से भिन्न हैं। उनके भिन्न धार्मिक दर्शन हैं। अतः दोनों को एक राज्य में रखने पर बहुमत वाला समुदाय अल्पमत का शोषण करेगा। अतः इस उपमहाद्वीप की समस्या का समाधान 'द्विराष्ट्र' के सिद्धान्त में ही खोजा जाना चाहिए।

11. जिन्ना द्वारा कटे-छंटे 'पाकिस्तान' की स्वीकृति जिन्ना एक बड़े और विशाल पाकिस्तान की मांग कर रहे थे। वे पंजाब, सीमा प्रान्तु, सिन्ध, बंगाल और आसाम चाहते थे तथा एक 'कॉरिडार या, मार्ग,' भी चाहते थे जो पूर्व तथा पश्चिम भाग को जोड़ सके। प्रस्तावित पाकिस्तान योजना में बंगाल और पंजाब का विभाजित भाग, सीमाप्रान्त तथा सिन्ध रखे गये। इसको जिन्ना ने कटा-छंटा और दीमक लगा पाकिस्तान कहकर अस्वीकार कर दिया। किन्तु कुछ ही समय बाद माउण्टबैटन वाइसराय बनकर आये तो जिन्ना ने 'कटे-छंटे पाकिस्तान' को अपनी स्वीकृति दे दी और विभाजन की योजना को कार्यान्वित कर दिया गया।

इस प्रकार भारत का विभाजन तथा पाकिस्तान का निर्माण अनेक ऐतिहासिक कारणों, भूलों और सामयिक परिस्थितियों एवं घटनाओं का परिणाम था। नेहरू के शब्दों में, "उन्होंने घटनाओं से विवश होकर ही विभाजन को स्वीकार किया।" पन्त के शब्दों में, "3 जून की योजना (विभाजन) की स्वीकृति ही देश के लिए स्वराज्य और स्वाधीनता पाने का एक मात्र मार्ग है, आज हमारे सम्मुख दो विकल्प है जून की योजना की स्वीकृति या फिर आत्महत्या।" गाँधी जी के अनुसार, "यह एक आध्यात्मिक दुर्घटना और बत्तीस वर्षों के सत्याग्रह का लज्जाजनक परिणाम था।"

मुस्लिम लीग पाकिस्तान निर्माण के लिए किस सीमा तक उत्तरदायी ?

(मुस्लिम लीग पाकिस्तान के निर्माण के लिए कहां तक जिम्मेदार है)

1935 का भारत शासन अधिनियम लागू होने के बाद मुस्लिम राजनीति ने एक नया मोड़ लिया। मुस्लिम लीग ने प्रतीक्षा की नीति अपनाई और कांग्रेस और अंग्रेज सरकार के बीच गहरे मतभेदों से लाभ उठाने की पूरी कोशिश की। मोहम्मद अली जिन्ना ने बहुत चालाकी से काम लिया और वायसराय के साथ खूब सौदेबाजी की। युद्ध प्रयासों में सरकार की सहायता करने के लिए मुस्लिम लीग की ओर से दो शर्तें रखी गई पहली यह कि कांग्रेस बहुमत वाले प्रांतों में मुसलमानों के साथ 'न्याय' हो और दूसरी यह कि भारत के लिए कोई भावी संविधान मुस्लिम लीग की अनुमति के बिना न बनाया जाये। अब तक

मुस्लिम पृथकतावादियों ने अपनी मांगों को पृथक निर्वाचन मण्डलों, गुरुभार और आरक्षणों तक ही सीमित रखा था, लेकिन 1938 में हिन्दू और मस्लिम दो राष्ट्रों का सिद्धान्त सामने आया। मुस्लिम लीग ने यह दावा करना आरम्भ कर दिया था कि भारतीय मुसलमान एक 'समुदाय' नहीं प्रत्युत एक 'राष्ट्र' है और इसलिए उन्हें 'राजनीतिक आत्मनिर्णय' का अधिकार है। वायसराय के साथ बार-बार भेंट और सांठ-गांठ के समाचारों के बीच अगस्त, 1940 में मुस्लिम लीग ने अपने लाहौर अधिवेशन में 'पाकिस्तान प्रस्ताव' पास किया और मुस्लिम बहुसंख्यक प्रांतों का एक अलग पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न मुस्लिम राज्य स्थापित किये जाने की मांग पेश की। 1935 का ऐक्ट पास होने या 1937 के चुनावों के समय तक कोई भी पाकिस्तान की बात गंभीरता से नहीं करता था। 1933 में एक मुस्लिम नेता युसूफ अली ने कहा था कि यह तो कैम्ब्रिज के एक लड़के (रहमत अली) की योजना है जिसे किसी जिम्मेदार व्यक्ति ने नहीं रखा। मोहम्मद जफरुल्ला खाँ ने भी कहा, यह केवल एक कॉलेज के लड़के की योजना है और इसमें कुछ नहीं है। ऐसी स्थिति में यह विचारणीय बात है कि फिर किस प्रकार और क्यों पाकिस्तान की मांग शीघ्र इतना जोर पकड़ गई। 1937 के आम चुनावों में कांग्रेस और लीग के बीच अस्पष्ट-सा समझौता था और इन चुनावों में कांग्रेस तथा लीग ने शासन के कृपापात्र उम्मीदवारों के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बनाया था। लेकिन चुनाव परिणाम से कांग्रेस की बहुत अधिक लोकप्रियता और मुसलमानों में भी लीग की नगण्य स्थिति सामने आयी। चुनाव परिणाम से लीग का निराश होना स्वाभाविक था। अतः जिन्ना ने कांग्रेस के प्रस्ताव को ब्रिटिश शासन-विभाजन के लिए किस सीमा तक उत्तरदायी ? (British Government How far responsible for Partition?)

पृथकतावाद की भावना को बढ़ाने में हिन्दू साम्प्रदायिक संस्थाओं से भी अधिक ब्रिटिश नौकरशाही ने काम किया। ब्रिटिश शासन द्वारा 'फूट डालो और शासन करो' की नीति का पालन किया गया। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि 'साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की इस पद्धति ने भारत के राष्ट्रीय जीवन में जिस विष का संचार किया, उसकी चरम परिणति पाकिस्तान था। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद अपनी पुस्तक 'इंडिया डिवाइडेड' में ठीक ही लिखते हैं कि "पाकिस्तान के निर्माता कवि इकबाल या जिन्ना नहीं वरन् लार्ड मिण्टो थे।" 1940 में लीग के द्वारा पाकिस्तान को अपना लक्ष्य घोषित करने के बाद लीग को ब्रिटिश शासन से प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रोत्साहन मिला था। क्रिप्स योजना (1946) में यद्यपि पाकिस्तान की मांग अस्वीकार कर दी गई थी लेकिन प्रांतों के अनिवार्य ग्रुप बनाने की जो व्यवस्था की गई थी वह पाकिस्तान के सार की स्वीकृति के समान ही था। अंतिम वायसराय लार्ड माउण्टबैटन ने नेहरू व पटेल को समझा-बुझाकर भारत विभाजन के लिए तैयार कर लिया।

क्या भारत का विभाजन अनिवार्य था ? (Was Partition of India inevitable?)

भारतवासियों का एक विशाल बहुमत विभाजन का कट्टर विरोधी था। हिन्दू और सिक्ख तो उसके विरुद्ध थे ही, मुसलमानों का एक वर्ग भी उसके खिलाफ था। फिर भी, इस बारे में विभिन्न मत हो सकते हैं कि कांग्रेस के शीर्षस्थ नेताओं-विशेषकर नेहरू और पटेल ने उस समय साम्प्रदायिक आधार पर देश के विभाजन और पाकिस्तान की स्थापना को स्वीकार कर उचित किया या अनुचित। 1946 तक भी इस बात की आशा की जाती थी कि भारत की एकता की रक्षा की जा सकेगी। लेकिन 1947 में भारत के विभाजन और पाकिस्तान के निर्माण ने एक वास्तविकता का रूप ग्रहण कर लिया। इस प्रकार जिस आकस्मिक ढंग से भारत का विभाजन हुआ उसने इस सम्बन्ध में बहुत विवादपूर्ण स्थिति को जन्म दे दिया।

मौलाना आजाद का विचार था कि भारत का विभाजन कभी भी अवश्यंभावी नहीं था और नेहरू-पटेल जैसे राष्ट्रीय नेताओं ने अपनी इच्छाओं से ही विभाजन के मार्ग को अपनाया। कुछ अन्य लोगों का भी विचार है कि नेहरू व पटेल माउण्टबैटन की मीठी-मीठी बातों के बहकावे में आ गये, एक बार शक्ति और सत्ता के निकट पहुंचने के बाद वे उसे छोड़ना नहीं चाहते थे, वे संघर्ष करते-करते थक गये थे तथा अब और संघर्ष के लिये तैयार नहीं थे अथवा उन्होंने डर और घबराहट में मुस्लिम सम्प्रदायवाद, हिंसा और अन्याय के सामने घुटने टेक दिये और हार मान ली।

इसके विपरीत दूसरे व्यक्तियों का दावा है कि 1946 व 1947 के बीच जो विविध घटनाएँ घटित हुईं उनके परिणामस्वरूप भारत का विभाजन अवश्यंभावी हो गया था। वे तथ्य इस प्रकार हैं-

(1) भारत का विभाजन नेहरू और पटेल का स्वैच्छिक निर्णय हो सकता है, लेकिन यह निर्णय ऐसी स्थिति में किया गया जबकि भारतीय समस्या का अन्य कोई विकल्प नहीं था।

(2) कांग्रेस और मुस्लिम लीग में किसी तरह भी कोई समझौता नहीं हो पाया था क्योंकि लीग पाकिस्तान की मांग से टस से मस होने को तैयार नहीं थी।

(3) देश साम्प्रदायिक दंगों की विभीषिका में जल रहा था, हिन्दू-मुसलमान एक दूसरे के रक्त की होली खेल रहे थे, ऐसी स्थिति में नेताओं को लगा कि निदर्दोष देशवासियों की हत्याएँ होती रहें इससे तो पाकिस्तान बन जाना ही अच्छा था।

(4) अन्तरिम सरकार में शामिल होने के बाद मुस्लिम लीग ने सरकार का कोई काम ठीक से चला सकना असम्भव कर दिया था। कांग्रेसी नेताओं का सिरदर्द लीग ने इतना

बढ़ा दिया था कि अन्त में तंग आकर पंडित नेहरू के शब्दों में "सिरदर्द से छुटकारा पाने के लिए वे सिर कटवा डालने को तैयार हो गये।" पटेल ने कहा कि यदि शरीर के एक अंग में जहर फैल गया हो तो उसे शीघ्र ही अलग कर देना चाहिए ताकि शेष सारे शरीर में जहर न फैले।5) कांग्रेस को दो बुराइयों में से एक को चुनना था। देश का विभाजन अथवा गृहयुद्ध। कांग्रेस ने विभाजन को कम ठंडी बुराई समझा क्योंकि नेताओं के सामने यह स्पष्ट हो गया था कि यदि देश का विभाजन न हुआ तो केन्द्र दुर्बल रहेगा, कांग्रेस और लीग की मिली-जुली सरकार चल न पायेगी और देश प्रगति न कर सकेगा। नेहरू के शब्दों में, "उन्होंने घटनाओं से विवश होकर ही विभाजन को स्वीकार किया।" पटेल के अनुसार, "यदि विभाजन स्वीकार नहीं किया जाता तो एक नहीं अनेक पाकिस्तान बनते। प्रत्येक दफ्तर में एक छोटा पाकिस्तान होता ।"

इस प्रकार सामयिक परिस्थितियों एवं हालात की मजबूरियों में देश का विभाजन अनिवार्य था। ब्रिटिश सरकार विभाजन पर तुली हुई थी, मुस्लिम लीग और मि. जिन्ना पाकिस्तान के अतिरिक्त किसी बात को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। ऐसी स्थिति में उन्हें भारत में जबरदस्ती मिलाकर रखना असंभव था। यदि विभाजन के एक या दो वर्ष पूर्व ब्रिटिश सरकार की नीति कुछ दूसरी होती तो विभाजन टाला जा सकता था।

अतः कहा जा सकता है कि भारत का विभाजन कितना ही जटिल, कठिन और भयानक क्यों नहीं था उस समय की परिस्थितियों में यह अनिवार्य एवं न्यायसंगत प्रतीत होता था। यह किसी व्यक्ति-विशेष या किसी दल की इच्छा या निर्णय का परिणाम नहीं था। यह पिछले 40 वर्षों की घटनाओं और नीतियों का तार्किक एवं एकत्रीभूत परिणाम था। इस तरह विभाजन किसी की इच्छा पर आधारित नहीं था, बल्कि परिस्थितियों का परिणाम था जिसे 'आवश्यक बुराई' के रूप में स्वीकार किया गया था।

भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947

माउण्टबैटन को इस निश्चित उद्देश्य से भारत भेजा गया था कि वह भारत को सत्ता का हस्तांतरण कर दें। 23 मार्च और 15 जून के बीच के थोड़े अर्से में भारत के संविधान के आधारभूत सिद्धान्त बना लिए गए थे और सत्ता हस्तान्तरण का तरीका निश्चित हो गया था। माउण्टबैटन स्वयं योजना लेकर लंदन गये और प्रधानमंत्री तथा कैबिनेट ने कुछ ही मिनटों में अपनी सहमति व्यक्त कर दी। जब वाइसराय ने यह योजना भारतीय नेताओं के समक्ष प्रस्तुत की तो उन्होंने 2 जून की मध्यरात्रि से पूर्व ही अपनी अनुमति भेज दी। 15 जून को अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने भी योजना का अनुमोदन कर दिया।

चूंकि ब्रिटिश सरकार दो शर्तों की पूर्ति के बिना शासन शक्ति छोड़ने के विषय में अनिच्छुक थी। प्रथम शर्त यह थी कि कांग्रेस और लीग की अनुमति होनी चाहिए और दूसरी शर्त थी डोमीनियन स्टेट्स स्वीकार किया जाये। 3 जून को 'माउण्टबैटन योजना' के नाम से जो योजना घोषित की गई थी उसमें ये दोनों शर्तें पूरी होती थी। इसलिए अब अंग्रेजों की आपत्तियां हट गई।

जब सारे दल 'माउण्टबैटन योजना' के मूल सिद्धान्तों से सहमत हो गए तो इसको कार्यान्वित करने का मार्ग प्रशस्त हो गया। माउण्टबैटन कई कारणों से, जिनमें कुछ निजी और कुछ सरकारी थे, अपने काम को यथासंभव शीघ्रातिशीघ्र पूरा करना चाहते थे। उनकी महत्वाकांक्षा नौ-सेना का एडमिरल बनने की थी। वह यह नहीं चाहते थे कि उनकी वर्तमान नियुक्ति के बाद उस महत्वाकांक्षा की प्राप्ति में लम्बा समय लग जाये। भारत की साम्प्रदायिक स्थिति से वह कुछ डरे हुए थे और उनको यह भी निश्चय नहीं था कि इंग्लैण्ड में स्थिति का क्या स्वरूप बन गया है। इसलिए उसने शक्ति हस्तांतरण की तारीख जून, 1948 से पीछे हटाकर 15 अगस्त, 1947 कर दी।

3 जून को जब देश के विभाजन की अंतिम घोषणा की गई तो पंजाब और बंगाल के हिन्दुओं को तथा पंजाब के सिखों को बड़ा असंतोष हुआ। लाहौर, अमृतसर, मुलतान और रावलपिण्डी में सिखों पर बड़े जोरदार क्रोधपूर्ण आक्रमण किये गए। उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त में मुसलमानों के समूहों ने सिखों की हत्याएँ की और उनको लूटा। प्राण बचाने के लिए भयभीत लोग मार्गों से, रेलगाड़ियों से या जो भी वाहन मिला उससे चल दिए। भागते हुए शरणार्थियों की दशा ऐसी दयनीय थी कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता ।इन भयावह परिस्थितियों में 3 जून के प्रस्तावों को कार्यान्वित करना था। इसके लिए दो प्रकार के उपाय आवश्यक थे, पहले तो ब्रिटिश संसद के विधेयक द्वारा भारतीय स्वतंत्रता को कानूनी आधार प्रदान करना था। दूसरे विभाजन के प्रशासनिक परिणामों का सामना करना था। पहला उपाय यह किया गया कि 12 दिन में ही (4 जुलाई से 16 जुलाई के बीच) ब्रिटिश संसद ने शीघ्रता करके माउण्टबैटन योजना के आधार पर 'इण्डियन इन्डिपेन्डेन्स बिल' पारित कर दिया। 4 जुलाई, 1947 को ब्रिटिश संसद में भारतीय स्वाधीनता विधेयक पेश किया गया। 15 जुलाई को वह बिना किसी संशोधन के हाउस ऑफ कामन्स द्वारा और 16 जुलाई को हाउस ऑफ लार्डस द्वारा पास कर दिया गया। 18 जुलाई, 1947 को उस पर ब्रिटिश सम्राट के हस्ताक्षर हो गए। घोषणा कर दी गई कि 15 अगस्त, 1947 से हिंदुस्तान के दो टुकड़े कर दिए जाएंगे और दो अलग अधिराज्य कायम कर दिए जाएंगे। 14 अगस्त को पाकिस्तान अधिराज्य और 15 अगस्त को भारतीय अधिराज्य की स्थापना होगी। 14 अगस्त, 1947 को पाकिस्तान की स्थापना

हुई। मुहम्मद अली जिन्ना उसके गवर्नर जनरल और लियाकत अली प्रधानमंत्री बने। भारत में लार्ड माउण्टबैटन को गवर्नर जनरल नियुक्त किया गया और जवाहर लाल नेहरू प्रधानमंत्री बने।

नार्मन डी. पामर के अनुसार, "ब्रिटिश संसद के इतिहास में शायद कोई इतना महत्वपूर्ण विधेयक

इतने कम समय और इतने कम वाद-विवाद के पारित हुआ हो। भारत सचिव ने इस अधिनियम के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा था "हमारे देश के विधान निर्माण के इतिहास में यह अधिनियम अद्वितीय है। इससे पूर्व कभी भी संसार की आबादी के इतने बड़े भाग ने केवल एक लघु विधान द्वारा पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त नहीं की।"

भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947: प्रमुख प्रावधान (The Indian Independence Act, 1947: Main Provisions)

भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 द्वारा निम्नलिखित व्यवस्थाएँ की गई-

1. दो डोमीनियनों की स्थापना 15 अगस्त, 1947 से भारत में भारत और पाकिस्तान नामक दो डोमीनियनों की स्थापना हो जाएगी। इस प्रकार भारत का विभाजन किया जाएगा।

भारत राज्य क्षेत्र में उन क्षेत्रों को छोड़कर जो पाकिस्तान में सम्मिलित होंगे, ब्रिटिश भारत के सभी प्रान्त सम्मिलित होंगे। पाकिस्तान के राज्य क्षेत्र में पूर्वी बंगाल, पश्चिमी बंगाल, सिंध और उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त सम्मिलित होंगे। पूर्वी बंगाल प्रान्त में असम का सिलहट जिला भी सम्मिलित है।

2. संविधान सभाओं को सत्ता का हस्तान्तरण यह व्यवस्था की गई कि ब्रिटिश सरकार दोनों राज्यों की संविधान सभाओं को सत्ता का उत्तरदायित्व सौंप देगी। उनको अपनी इच्छानुसार संविधान का निर्माण करने की स्वतंत्रता होगी। इस प्रकार संविधानसभाएँ सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न होंगी।

3. देशी रियासतों को स्वतन्त्रता- देशी रियासतों को स्वतन्त्रता होगी कि वे भारत अथवा पाकिस्तान में से किसी भी डोमिनियन में सम्मिलित हो सकते हैं।

4. अलग-अलग गवर्नर-जनरल प्रत्येक नए डोमीनियन के लिए एक गवर्नर-जनरल होगा। गवर्नर-जनरल की नियुक्ति सम्राट् करेंगे और वह डोमीनियन के शासन के लिए सम्राट् का प्रतिनिधि होगा। गवर्नर जनरल एवं प्रान्तों के गवर्नर भविष्य में वैधानिक प्रधान के रूप में कार्य करेंगे और उन्हें मंत्रिमंडल की राय के अनुसार काम करना पड़ेगा।

5. ब्रिटिश नियंत्रण की समाप्ति भारतीय शासन पर से ब्रिटिश नियंत्रण समाप्त हो जाएगा। नए डोमीनियनों के विधानमण्डलों (संविधान सभा) को पूर्ण विधान शक्ति प्राप्त होगी और उनकी कोई विधि इस आधार पर अवैध नहीं होगी कि वह ब्रिटिश संसद् द्वारा निर्मित किसी वर्तमान या भावी विधि के विरुद्ध है।

6. देशी राज्यों पर सर्वोच्च सत्ता का अन्त देशी राज्यों के ऊपर सम्राट् की सर्वोच्च सत्ता (Paramountcy) समाप्त हो जाएगी और सम्राट् तथा देशी रियासतों के बीच जो सन्धियाँ या करार थे, उन सब का भी 15 अगस्त, 1947 के बाद से अन्त हो जाएगा।

7. राष्ट्रमण्डल छोड़ने का अधिकार सदस्यता इच्छानुसार रखने अथवा छोड़ने का पाकिस्तान और भारत दोनों को ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल की अधिकार दिया गया है।

8. भारत-सचिव के पद की समाप्ति इस अधिनियम के अनुसार भारत-सचिव का पद समाप्त कर दिया गया और उसके कार्य राष्ट्रमण्डल के सचिव के हवाले कर दिए गए।

9. 1935 के भारत सरकार अधिनियम द्वारा शासन नए संविधान को लागू किए जाने के पूर्व तक शासन-व्यवस्था का संचालन 1935 के 'भारतीय शासन अधिनियम' के अन्तर्गत किया जाना निश्चित हुआ, किन्तु प्रत्येक डोमीनियन को आवश्यकतानुसार उसमें संशोधन और परिवर्तन का अधिकार प्रदान कर दिया गया।

परिवर्तित परिस्थितियों के कारण 1935 के अधिनियम में से वे धाराएँ निकाल दी गईं जिनका सम्बन्ध गवर्नर जनरल और प्रान्तीय गवर्नरों के उत्तरदायित्व, भारत सचिव के शासन संबंधी नियंत्रण, केन्द्रीय क्षेत्र में कुछ विषयों को सुरक्षित रखने, व्यवस्थापन पर सम्राट के निषेधाधिकार व इसी प्रकार के अन्य विषयों से था।

भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम का मूल्यांकन

(An Estimate of the Indian Independence Act)

इस प्रकार 15 अगस्त, 1947 को भारत स्वतंत्र हो गया। सदियों पुराना देखा सपना साकार हुआ। श्री नेहरू ने कहा था कि "वर्षों पूर्व हमने नियति के साथ एक प्रतिज्ञा की थी और वह समय आ गया है जबकि हम उस प्रतिज्ञा को सर्वांश में तो नहीं लेकिन अधिकांश में पूरा करेंगे। ठीक आधी रात के समय जबकि सारा संसार निद्रामग्न है, भारत में जीवन तथा स्वतंत्रता का स्वर्ण विहान होगा।" संक्षेप में, इस अधिनियम का ऐतिहासिक महत्व है क्योंकि भारत में ब्रिटिश शासन की समाप्ति पर इस अधिनियम ने मुहर लगा दी।

भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम के फलस्वरूप भारत और पाकिस्तान दो पृथक् अधिराज्यों की स्थापना की गई। के. एम. मुंशी के अनुसार, "देश विभाजन की प्रक्रिया के साथ साम्प्रदायिकता का जहर सारे देश में व्याप्त हो गया स्वतंत्रता अधिनियम के कारण देशी रियासतों के विलयन का प्रश्न काफी विकट हो गया। देशी रियासतों का भविष्य अनिश्चित-सा छोड़ दिया गया। एक राष्ट्र में अनेक छोटे-बड़े राज्यों का निर्माण स्वतंत्रता अधिनियम का सबसे बड़ा दोष था।"

भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम (1947) से भारतीय इतिहास के एक युग का अन्त हुआ और दूसरे का आरम्भ । भारत में अंग्रेजों की प्रायः दो सौ वर्षों की दासता का अन्त हुआ। भारतीयों को अपने भाग्य का अपने मन के अनुरूप निर्माण करने का अवसर मिला। इंगलैण्ड के प्रधानमंत्री एटली ने इसे 'घटनाओं के लम्बे तांते की चरम सीमा' कहा। लार्ड सेमुएल ने इसे 'इतिहास की एक अनोखी घटना और बिना युद्ध के शांति संधि कहा।' 'दी हिन्दुस्तान टाइम्स' के द्वारा भी अधिनियम को ब्रिटिश शासन का एक गौरवपूर्ण कार्य बताया गया। संक्षेप में, 1947 का भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम वास्तव में अंग्रेजों को एक भव्य और गौरवपूर्ण विदाई थी।

1.13 सार संक्षेप

ब्रिटिश सरकार का यह सौभाग्य था कि जनता के कष्ट और असंतोष ने विद्रोह का मार्ग न पकड़कर राष्ट्रीय आंदोलन का मार्ग पकड़ा। यह रास्ता सन् 1885 में 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' की स्थापना से मिला। सामाजिक और राजनीतिक सुधार की माँग धीरे-धीरे स्वतन्त्रता की आकांक्षा में बदल गई।

यह निर्विवाद सत्य है कि, "भारतीय राष्ट्रवाद ब्रिटिश राज का शिशु था।" पाश्चात्य शिक्षा, अंग्रेजी भाषा, अंग्रेजी साहित्य, अंग्रेजी समाचार पत्रों ने राष्ट्रवाद की प्रेरणा दी। अंग्रेजों की मूर्खतापूर्ण नीति, जातीय विभेद की नीति, आर्थिक शोषण तथा दमनकारी कानूनों ने भी वरदान का ही कार्य किया। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने ठीक ही लिखा है कि "बुरे शासक प्रायः अनजाने में जनता के लिए वरदान बन जाते हैं।" अंग्रेज शासकों ने भारतीय राष्ट्रवाद के प्रति आरम्भ से ही उदार दृष्टिकोण अपनाया, उसे पुष्पित और पल्लवित होने दिया। डॉ. ईश्वरी प्रसाद के शब्दों में, "पश्चिम के राजनीतिशास्त्र विशेषज्ञ लॉक, स्पेन्सर, मैकाले, मिल और बर्क के लेखों ने केवल भारतीयों के विचारों को ही प्रभावित नहीं किया अपितु राष्ट्रीय आन्दोलन की रूपरेखा और संचालन पर गहरा प्रभाव डाला।"

1.14 शब्दावली

मुख्य शब्दावली

1. स्वतंत्रता संग्राम (Freedom Struggle) - ब्रिटिश साम्राज्य से भारत की स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए चलाया गया संघर्ष।

2. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (Indian National Congress - INC) - 1885 में स्थापित राजनीतिक पार्टी, जो भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में प्रमुख भूमिका निभाई।

3. स्वदेशी आंदोलन (Swadeshi Movement) - 1905 में बंगाल विभाजन के खिलाफ शुरू हुआ आंदोलन, जिसमें स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग और विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया गया।

4. अखिल भारतीय मुस्लिम लीग (All India Muslim League) - 1906 में स्थापित मुस्लिम संगठन, जो बाद में पाकिस्तान के निर्माण का समर्थन करने लगा।

5. नेहरू रिपोर्ट (Nehru Report) - 1928 में जवाहरलाल नेहरू द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट, जिसमें भारतीय संविधान के प्रस्तावों का मसौदा तैयार किया गया।

6. लाहौर अधिवेशन (Lahore Session) - 1929 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन, जिसमें पूर्ण स्वतंत्रता की घोषणा की गई।

7. सत्याग्रह (Satyagraha) - महात्मा गांधी द्वारा अपनाया गया अहिंसक प्रतिरोध का तरीका, जिसका अर्थ है सत्य के लिए अडिग रहना।

8. नमक सत्याग्रह (Salt March) - 1930 में महात्मा गांधी द्वारा ब्रिटिश नमक कानून के खिलाफ शुरू किया गया अहिंसक आंदोलन।

9. चली आओ आंदोलन (Quit India Movement) - 1942 में महात्मा गांधी द्वारा चलाया गया आंदोलन, जिसमें ब्रिटिश सरकार से तत्काल स्वतंत्रता की मांग की गई।

10. भारत छोड़ो आंदोलन (Quit India Movement) - 1942 में गांधी जी द्वारा प्रारंभ किया गया आंदोलन, जिसमें भारत से ब्रिटिश साम्राज्य के पूर्ण विनाश की मांग की गई।

11. सी.आर. दास (C.R. Das) - भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेता और स्वराज पार्टी के संस्थापक, जिन्होंने असहमति के बावजूद गांधीजी के विचारों को समर्थन दिया।

12. गांधी-इरविन समझौता (Gandhi-Irwin Pact) - 1931 में महात्मा गांधी और लॉर्ड इरविन के बीच हुआ समझौता, जिसमें नमक सत्याग्रह के बाद असहमति को सुलझाने के लिए बातचीत की गई।

13. विभाजन (Partition) - 1947 में भारत के विभाजन के बाद पाकिस्तान का निर्माण, जो एक मुस्लिम राष्ट्र के रूप में स्थापित हुआ।

14. स्वतंत्रता (Independence) - 15 अगस्त 1947 को भारत को ब्रिटिश साम्राज्य से स्वतंत्रता मिली।

15. अहमदाबाद समझौता (Ahmedabad Pact) - 1918 में गांधीजी द्वारा किये गए समझौते के परिणामस्वरूप मिल मालिकों और मजदूरों के बीच समाधान हुआ।

1.15स्व - प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

1. 'देश हित के लिए कन्धे पर रखे हुए जुए को उतार फेंको।' यह कथन किसका है:

(अ) लॉर्ड डफरिन

(स) ए. ओ. ह्यूम

(ब) सर विलियम वैडरबर्न

(द) लॉर्ड लिटन ।

2 इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण है :

(अ) भारतीय राष्ट्रीय चेतना की जागृति

(स) ह्यूम तथा डफरिन के प्रयास

(ब) ब्रिटिश शासन के प्रति भारतीय असन्तोष

(द) भारतीय नेताओं की इच्छा व प्रयत्न ।

3.लॉर्ड डफरिन चाहते थे कि इण्डियन नेशनल कांग्रेस :

(अ) ब्रिटिश शासन का सक्रिय विरोध करे

(ब) इंगलैण्ड की तरह भारत में सरकार के विरोध का कार्य करे

(स) भारत में राजनीतिक आंदोलन का संचार करे

(द) भारत में अहिंसक आंदोलन का संचार करे।

4.प्रारम्भ में इण्डियन नेशनल कांग्रेस का ध्येय नहीं था :

(अ) देश के विभिन्न भागों और क्षेत्रों में कार्य करने वालों में घनिष्ठता और प्रेम बढ़ाना

(ब) संकुचित मनोवृत्तियों को भुलाकर भारतीयों में मैत्री भाव उत्पन्न करना

(स) भारत के स्वाधीनता संघर्ष का सूत्रपात करना

(द) सामाजिक प्रश्नों पर योग्य एवं शिक्षित व्यक्तियों के निर्णयों का संग्रह करना।

5.इण्डियन नेशनल कांग्रेस के डेलीगेट्स को चाय पार्टी का आमंत्रण दिया :

(अ) सर विलियम वेडरबर्न

(स) लॉर्ड डफरिन

(ब) लॉर्ड रिपन

(द) लॉर्ड कर्जन ।

6. प्रारम्भिक कांग्रेस की निम्नलिखित में से कौन-सी मांग नहीं थी:

(अ) विधान परिषदों का विस्तार किया जाए

(ब) सैनिक व्यय में वृद्धि की जाए

(स) परिषदों में निर्वाचित सदस्यों की संख्या में वृद्धि की जाए

(द) उच्च सरकारी नौकरियों में भारतीयों को पूरा अवसर दिया जाए।

7.प्रारम्भिक कांग्रेस का नेतृत्व :

(अ) क्रान्तिकारियों के हाथों में था

(स) उग्रवादियों के हाथों में था

(ब) उदारवादियों के हाथों में था

(द) आतंकवादियों के हाथों में था।

8.कांग्रेस के उदारवादी नेताओं से संबंधित नहीं है:

(अ) सौम्य व्यक्तित्व एवं विचारधारा रखने वाले थे

(ब) भारत में स्थापित ब्रिटिश शासन व्यवस्था में आमूलचूल परिर्वन चाहते थे

(स) क्रमिक सुधार चाहते थे

(द) वे तत्काल परिवर्तन चाहते थे।

9. भारत के राष्ट्रीय आंदोलन के दिनों में साम्प्रदायिकता के कर्णधार थे :

(अ) सर सैय्यद अहमद खां, डॉ. अन्सारी और जिन्ना

(ब) मौलाना आजाद, जिन्ना और सर सैय्यद अहमद खां

(स) सर सैय्यद, लॉर्ड कर्जन और जिन्ना

(द) डॉ. अन्सारी, अली बन्धु और जिन्ना।

10. बंग-विच्छेद का सही उद्देश्य था :

(अ) शासन को सुविधापूर्वक चलाना

(स) हिंदू- मुस्लिम एकता

11. वह कौन-सा गवर्नर जनरल है जिसकी तुलना

(ए) लॉर्ड वेवेल

(ब) लॉर्ड माउण्ट बैटन

(ब) राष्ट्रीय आंदोलन को कमजोर करना

(द) प्रशासनिक पुनर्गठन करना ।

12. उग्रवाद की भावना को चरम सीमा पर पहुँचाने में किसका सर्वाधिक योगदान है:

(अ) लॉर्ड कर्जन

(बी) लॉर्ड मिंटो

(स) अरविन्द घोष

(द) लाला लाजपतराय ।

१३. 1916 में मुस्लिम लीग की नीति में परिवर्तन का प्रमुख कारण है:

(अ) लार्ड हार्डिंग की उदार नीति

(स) लॉर्ड कर्जन

(द) लॉर्ड क्लाइव ।

(ब) बंग-विच्छेद का अंत

14. औरंगजेब से की जाती है:।

(अ) 'करो या मरो' का संघर्ष

(ब) खुला तथा अहिंसात्मक आंदोलन

(स) स्वाधीनता का महत्वपूर्ण अंतिम आंदोलन

(स) राष्ट्रवादी मुसलमानों का प्रभाव

उत्तर (1) स, (2) स, (3) ब, (4) स, (5) स, (6) ब, (7) ब, (8) ब, (9) स, (10) ब, (11) स, (12) अ, (13) ब, (14) अ

1.16संदर्भ सूची

1. चंद्र, बिपिन। (2019)। *भारत का स्वतंत्रता संघर्ष*। नई दिल्ली: पेंगुइन बुक्स।
2. गुहा, रामचंद्र। (2020)। *आधुनिक भारत के निर्माता*। नई दिल्ली: हार्परकॉलींस।
3. सरकार, सुमित। (2021)। *आधुनिक भारत: 1885-1947*। मैकमिलन इंडिया।
4. नंदा, बी. आर। (2022)। *गांधी: वर्षों ने जो दुनिया बदली*। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
5. कुमार, रवि। (2023)। *आधुनिक भारत में सामाजिक और राजनीतिक आंदोलन*। रूटलेज।
6. ब्राउन, जूडिथ एम., और पैरेल, एंथनी। (2020)। *कैम्ब्रिज कंपैनियन टू गांधी*। कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।
7. बेली, सी. ए। (2018)। *भारतीय समाज और ब्रिटिश साम्राज्य का निर्माण*। कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।

1.17अभ्यास प्रश्न

1. भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के प्रमुख कारणों का परीक्षण कीजिए।

2. उन तत्वों की विवेचना कीजिए जिन्होंने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को जन्म दिया।

3. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना किन उद्देश्यों से की गई थी? उसकी प्रारंभिक नीतियों की विवेचना कीजिए।

4.कांग्रेस के उदार पंथियों के लक्ष्यों, पद्धतियों एवं कार्यक्रम को स्पष्ट कीजिए।

5. उग्रवादियों के कार्यक्रम एवं नीतियों का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए ।

6.राष्ट्रीय आन्दोलन में महात्मा गाँधी के योगदान की विवेचना कीजिए।

7. असहयोग आन्दोलन का वर्णन कीजिए तथा उसके प्रभावों का मूल्यांकन कीजिए ।

8. महात्मा गाँधी द्वारा चलाए गए सविनय अवज्ञा आन्दोलन का वर्णन कीजिए।

9. भारत छोड़ो आन्दोलन के महत्व का मूल्यांकन कीजिए।

10. भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में क्रान्तिकारियों के योगदान की समीक्षा कीजिए ।

11.उन कारणों तथा परिस्थितियों का वर्णन कीजिए जिनसे भारत का विभाजन हुआ।

12. भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947, के प्रमुख प्रावधानों की विचेचना कीजिए।

1. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना में ए, ओ. ह्यूम की भूमिका बतलाइये।

2. क्या कांग्रेस ब्रिटिश शासन की संतान थी ?

3. ब्रिटिश शासन के प्रति उदार राष्ट्रवादियों की धारणा स्पष्ट कीजिए।

4. बंग भंग योजना पर टिप्पणी लिखिए।

5. उग्रवादियों के द्वारा कौन से साधन अपनाये गये ?

6. असहयोग आंदोलन के कारण लिखिए।

7. भारत छोड़ो आंदोलन के कारण लिखिए।

8. क्या भारत का विभाजन अनिवार्य था ?

इकाई 2

भारतीय संविधान का निर्माण और उसके स्रोत

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 संविधान सभा के सिद्धान्त और उनका विकास

2.4 संविधान सभा का प्रस्ताव

2.5 भारतीय संविधान के प्रमुख स्रोत

2.6 सार संक्षेप

2.7 शब्दावली

2.8 स्व -प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

2.9 संदर्भ सूची

2.10 अभ्यास प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

भारतीय संविधान की प्रस्तावना, संविधान के उद्देश्यों और सिद्धांतों का संक्षिप्त परिचय देती है, जो इसके निर्माण की भावना को भी दर्शाती है। भारतीय संविधान के निर्माण और उसके स्रोतों से जुड़े है संविधान जीवन का वह मार्ग है, जिसे राज्य ने अपने लिए अपनाया है। राज्य के इस जीवन मार्ग को निर्धारित करने के लिए विभिन्न पद्धतियां अपनायी जा सकती हैं। 17वीं और 18वीं सदी की प्रजातान्त्रिक क्रान्तियों ने इस विचार को जन्म दिया कि शासन के मौलिक कानूनों का निर्माण नागरिकों की एक विशिष्ट प्रतिनिधि सभा द्वारा किया जाना चाहिए। यद्यपि संविधान सभा के इस विचार का प्रतिपादन सर्वप्रथम इंग्लैण्ड में समानतावादियों और हेनरी मेन ने किया, पर इस सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप में सर्वप्रथम अमरीका और फ्रांस में ही अपनाया गया। साधारण शब्दों में, संविधान सभा का आशय किसी देश के लिए संविधान का निर्माण करने वाली सभा से लिया जाता है। 'एनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंसेज' के अनुसार, "यह एक ऐसी प्रतिनिध्यात्मक संस्था होती है जिसे नवीन संविधान पर विचार करने और अपनाने या विद्यमान संविधान में महत्वपूर्ण परिवर्तन करने के लिए चुना

जाय।" लेकिन वस्तुतः संविधान सभा का अर्थ इससे अधिक व्यापक और विशिष्ट है, पं. नेहरू के शब्दों में, "यह एक चलायमान राष्ट्र है जो अपनी पुरानी पोशाक को उतार कर स्वनिर्मित नवीन पोशाक धारण करता है। इसमें राष्ट्र के नागरिक अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों के माध्यम से कार्यरत रहते हैं। इस दृष्टि से इसका निश्चित क्रान्तिकारी महत्व है।"

2.2उद्देश्य

भारतीय संविधान के निर्माण और उसके स्रोतों का अध्ययन विद्यार्थियों को निम्नलिखित उद्देश्यों को समझने में मदद करता है:

1. संवैधानिक विकास की समझ: भारतीय संविधान के निर्माण की प्रक्रिया और इसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को समझना।

2. लोकतंत्र और संस्थाओं की भूमिका: लोकतांत्रिक सिद्धांतों और संवैधानिक संस्थाओं की कार्यप्रणाली का ज्ञान प्राप्त करना।

3. विविधता और एकता का अध्ययन: विभिन्न स्रोतों से प्रेरित संविधान के माध्यम से भारत की सांस्कृतिक और सामाजिक विविधता की समझ विकसित करना।

4. अधिकार और कर्तव्य: मौलिक अधिकारों और कर्तव्यों के महत्व और उनके प्रभाव को समझना।

5. वैश्विक दृष्टिकोण: संविधान निर्माण में विदेशी स्रोतों (जैसे ब्रिटेन, अमेरिका, आयरलैंड) की भूमिका का अध्ययन करना।

6. कानूनी जागरूकता: संविधान के माध्यम से विधिक व्यवस्था और न्यायिक प्रक्रिया का बोध।

7. सामाजिक न्याय: समानता, स्वतंत्रता और सामाजिक न्याय के सिद्धांतों को समझकर समाज में सकारात्मक योगदान देना।

8. आधुनिक भारत की नींव: भारतीय संविधान को आधुनिक भारत के निर्माण में एक मजबूत आधार के रूप में समझना।

9. विचारशील नागरिक बनाना: संविधान के सिद्धांतों के अध्ययन से विद्यार्थी जिम्मेदार और जागरूक नागरिक बन सकें।

10. प्रेरणा का स्रोत: भारतीय संविधान के निर्माताओं की दूरदर्शिता और योगदान से प्रेरणा प्राप्त करना।

2.3 संविधान सभा के सिद्धान्त और उनका विकास

भारत में संविधान सभा की माँग एक प्रकार से राष्ट्रीय स्वतंत्रता की ही माँग थी क्योंकि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का यह स्वाभाविक अर्थ है कि भारत के लोग स्वयं अपने राजनैतिक भविष्य का निर्माण करें। संविधान सभा के सिद्धान्त के सर्वप्रथम दर्शन 1895 के 'स्वराज विधेयक' में होते हैं। जिसे तिलक के निर्देशन में तैयार किया गया था। 20वीं सदी में इस विचार की ओर सर्वप्रथम संकेत महात्मा गाँधी ने किया, जब उन्होंने 1922 में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि, "भारतीय संविधान भारतीयों की इच्छानुसार ही होगा।" सन् 1924 में पं. मोतीलाल नेहरू ने ब्रिटिश सरकार के सम्मुख संविधान सभा के निर्माण की माँग प्रस्तुत की, किन्तु उस समय सरकार की ओर से इस पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। इसके बाद औपचारिक रूप से संविधान सभा के विचार का प्रतिपादन एम.एन राय ने किया और इस विचार को मूर्त रूप देने का कार्य पं. जवाहरलाल नेहरू ने किया। प्रमुखतया उन्हीं या उन्हीं के प्रयत्नों से कांग्रेस ने औपचारिक रूप से घोषणा की थी कि "यदि भारत को आत्मनिर्णय का अवसर मिलना है तो भारत के सभी विचारों के लोगों की एक प्रतिनिधि सभा बुलाई जानी चाहिए, जो सर्वसम्मत संविधान का निर्माण कर सके। यही संविधान सभा होगी।"

इसके बाद दिसम्बर 1936 के लखनऊ अधिवेशन में संविधान सभा के अर्थ तथा महत्व की व्याख्या की गई। सन् 1934 एवं 1938 के अधिवेशनों में संविधान सभा की माँग को दोहराया गया। इसी समय गाँधीजी ने कहा कि, "संविधान सभा से देश की साम्यप्रदायिक अशान्ति दूर होगी और वह देश को उचित राजनीतिक दिशा प्रदान करेगी।" उन्होंने आगे कहा कि, "हम एक ऐसी संविधान सभा चाहते हैं जो भारतीय मस्तिष्क का वास्तविक दर्पण हो।"

भारतीय जनता की संविधान सभा की इस माँग का ब्रिटिश शासन द्वारा विरोध किया जाना तो स्वाभाविक था ही, देशी नरेशों और यूरोपवासियों जैसे कुछ निहित स्वार्थ वाले वर्गों द्वारा भी इस प्रस्ताव से अपने विशेषाधिकार खतरे में पड़ते देख इसका विरोध किया गया और उदारवादियों ने इसे अत्यधिक

प्रजातान्त्रिक बताया। शुरू में मुस्लिम लीग ने इसका विरोध किया, किन्तु 1940 में पाकिस्तान के प्रस्ताव का प्रतिपादन करते हुए दो पृथक् पृथक् संविधान सभाओं की माँग प्रारम्भ कर दी।

यद्यपि ब्रिटिश सरकार संविधान सभा की माँग को स्पष्टतया स्वीकार करने के पक्ष में नहीं थी, किन्तु द्वितीय विश्व युद्ध की आवश्यकताओं और राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों ने उसे ऐसा करने के लिए विवश कर दिया 1. अत: 1940 के प्रस्ताव में ब्रिटिश सरकार ने कहा कि, भारत का संविधान स्वभावतः स्वयं भारतवासी ही तैयार करेंगे। इसके बाद 1942 की क्रिप्स योजना के द्वारा ब्रिटेन ने स्पष्टतया स्वीकार किया कि भारत में एक निर्वाचित संविधान सभा का गठन होगा, जो युद्ध के बाद भारत के लिए संविधान तैयार करेगी। लेकिन भारतीयों द्वारा अन्य महत्वपूर्ण आधारों पर क्रिप्स योजना को अस्वीकार कर दिया गया। अन्त में 1946 की केबिनेट मिशन योजना में भारतीय संविधान सभा के प्रस्ताव को स्वीकार कर इसे व्यावहारिक रूप प्रदान किया गया।

2.4 संविधान सभा का प्रस्ताव

केबिनेट मिशन योजना में निश्चित किया गया कि भारतीय संविधान के निर्माण हेतु परोक्ष निर्वाचन के आधार पर एक संविधान सभा की स्थापना की जाय। इस संविधान सभा में कुल 389 सदस्य हों जिनमें 292 ब्रिटिश प्रान्तों के प्रतिनिधि, 4 चीफ कमिश्नर क्षेत्रों के प्रतिनिधि और 93 देशी रियासतों के प्रतिनिधि हों ।

संविधान सभा का गठन केबिनेट मिशन योजना के अनुसार जुलाई 1946 में संविधान सभा के चुनाव हुए। संविधान सभा के प्रान्तों के लिए 296 सदस्यों के लिए ही ये चुनाव हुए। इनमें कांग्रेस के 208, मुस्लिम लीग के 73 तथा 15 अन्य दलों के व स्वतन्त्र उम्मीदवार निर्वाचित हुए। संविधान सभा में अपनी निर्बल स्थिति देखकर मुस्लिम लीग ने संविधान सभा का बहिष्कार का निश्चय किया और 9 दिसम्बर, 1946 को संविधान सभा के प्रथम अधिवेशन में मुस्लिम लीग के प्रतिनिधि सम्मिलित नहीं हुए। अब लीग ने पाकिस्तान के लिए बिल्कुल पृथक् संविधान सभा की माँग प्रारम्भ कर दी। कांग्रेस एवं ब्रिटिश सरकार ने इस बात के लिए प्रयत्न किये कि लीग व्यर्थ का हठ छोड़ दे और संविधान सभा के

कार्य में सहयोग करे, किन्तु सभी प्रयत्न विफल हुए।

वस्तुतः भारतीय संविधान सभा का गठन तीन चरणों में पूरा हुआ (1) सर्वप्रथम 'केबिनेट मिशन योजना' के अनुसार संविधान सभा के सदस्यों का निर्वाचन हुआ एवं कुल 389 सदस्यों की संख्या निश्चित की गयी। (2) द्वितीय चरण की शुरुआत 3 जून, 1947 की विभाजन योजना से होती है और संविधान सभा का पुनर्गठन किया गया, जिसके अनुसार 324 प्रतिनिधि होते थे। (3) तृतीय चरण देशी रियासतों से सम्बन्धित था और उनके

प्रतिनिधि संविधान सभा में अलग-अलग समय में सम्मिलित हुए। हैदराबाद ही एक ऐसी रियासत थी जिसके प्रतिनिधि सम्मिलित नहीं हुए।

संविधान सभा की स्थिति

प्रारम्भ से ही इस बात पर लोगों में मतभेद था कि संविधान सभा की वैधानिक स्थिति क्या है? एक ओर कांग्रेस के कुछ नेताओं का कथन था कि वह सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न संविधान निर्मात्री संस्था है तो दूसरी ओर ब्रिटिश संसद के एक वाद-विवाद में विस्टन चर्चिल ने संविधान सभा की वैधता को ही चुनौती दी थी। वस्तुतः अपने जन्म के समय संविधान सभा पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न संस्था नहीं थी। सत्य तो यह है कि संविधान सभा की शक्तियाँ मूलभूत सिद्धान्तों और प्रक्रिया दोनों में मर्यादित थी। वह केबिनेट मिशन योजना में वर्णित नवीन संविधान की मूल रूप रेखा में कोई परिवर्तन नहीं कर सकती थी। इसके अतिरिक्त संविधान सभा ब्रिटिश संसद की अंतिम सत्ता के अधीन थी, किन्तु 3 जून, 1947 की माउण्टबेटन घोषणा से भारतीय संविधान सभा की स्थिति पूर्ण परिवर्तित हो गई। इस पर आधारित भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम 1947 ने भारतीय संविधान सभा को वैधानिकतः एवं तथ्यतः पूर्ण स्वतंत्रत एवं सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न संस्था बना दिया।

संविधान सभा का कार्यकरण

संविधान सभा का प्रथम अधिवेशन 9 दिसम्बर, 1946 को संसद भवन के केन्द्रीय कक्ष में प्रारम्भ हुआ। डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा को सर्वसम्मति से अस्थायी अध्यक्ष चुना गया। संविधान सभा की इस

पहली बैठक में 210 सदस्य उपस्थित थे। 11 दिसम्बर, 1946 की बैठक में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद को सभा का स्थायी अध्यक्ष चुना गया। बी.एन. राव को संविधान सभा के 'संवैधानिक सलाहकार' के पद पर नियुक्त किया गया। 13 दिसम्बर, 1946 को पं. जवाहर लाल नेहरू ने अपना प्रसिद्ध 'उद्देश्य प्रस्ताव' प्रस्तुत कर संविधान की आधारशिला रखी। यह उद्देश्य प्रस्ताव 23 जनवरी, 1947 को पारित किया गया। इस प्रस्ताव में संविधान सभा ने निश्चय किया कि :

(1) भारत एक पूर्णतया स्वतंत्र और पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न गणराज्य होगा, जिसके द्वारा स्वयं अपने संविधान का निर्माण किया जायेगा।

(2) इस समय ब्रिटिश भारत कहे जाने वाले क्षेत्र, भारतीय रियासतों में आने वाले क्षेत्र और ब्रिटिश भारत तथा रियासतों के बाहर के ऐसे अन्य क्षेत्र, जो स्वतन्त्र प्रभुत्वसम्पन्न भारत में सम्मिलित होना चाहते हैं, सब मिलकर एक संघ कहलायेंगे ।

(3) ये तथाकथित क्षेत्र, अपनी वर्तमान सीमाओं में अथवा संविधान द्वारा निश्चित की गयी सीमाओं में संविधान द्वारा की गयी व्यवस्था के अनुसार स्वायत्तशासी इकाइयां होंगी, जिनको अवशिष्ट अधिकार प्राप्त होंगे और वे उन अधिकारों तथा कार्यों को छोड़कर, जो केन्द्र में निहित अथवा उसे सौंपे गये हों, शासन तथा प्रशासन के सभी अधिकारों तथा कार्यों का पालन करेंगे।

(4) भारतीय संघ तथा उसके अन्तर्गत विविध राज्यों में समस्त राजशक्ति का मूल स्रोत जनता ही होगी।

(5) भारत के सभी नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक न्याय, पद, अवसर एवं कानूनों की समता, विचार, भाषण, अभिव्यक्ति, विश्वास, संघ निर्माण और कार्य की स्वतन्त्रता कानून और सार्वजनिक नैतिकता के अधीन प्राप्त होगी।

(6) अल्पसंख्यक वर्गों, पिछड़ी जातियों व जनजातियों के हितों की रक्षा की समुचित व्यवस्था की जायेगी।

(7) भारत राज्य क्षेत्र की अखण्डता और भूमि, जल तथा वायु पर उसकी सम्प्रभुत्ता की रक्षा, न्याय तथा सभ्य राष्ट्रों के कानूनों के अनुसार की जायेगी।

(8) यह प्राचीन देश विश्व में अपना अधिकार और सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त करता है और विश्व शांति तथा मानव जाति के कल्याण में अपना पूर्ण और स्वैच्छिक योग देता रहेगा।

के.एम. मुन्शी मुन्शी ने कहा था कि "नेहरू का उद्देश्य सम्बन्धी यह प्रस्ताव ही हमारे स्वतन्त्र गणराज्य की जन्म कुण्डली है।"

संविधान सभा द्वारा समितियों का निर्माण

संविधान निर्माण के कार्य को सुगम करने के लिए संविधान सभा ने अनेक महत्वपूर्ण समितियों का निर्माण किया। इन्हें दो भागों में विभाजित किया जा सकता है:

(1) प्रथम वर्ग की समितियाँ संविधान निर्माण की प्रक्रिया के प्रश्नों को हल करने के लिए गठित की गयी थी। इनमें प्रक्रिया समिति, वार्ता समिति, संचालन समिति एवं कार्य समिति विशेष उल्लेखनीय है।

(2) दूसरे वर्ग में संविधान निर्माण करने वाली समितियाँ थीं। जिनमें उल्लेखनीय थीं: संघ संविधान समिति, प्रान्तीय संविधान समिति, संघ शक्ति समिति, मूल अधिकारों एवं अल्पसंख्यकों आदि से सम्बन्धित समिति । इन सबके अतिरिक्त 'प्रारूप समिति' थी, जिस पर संविधान को अन्तिम रूप देने का भार था।

प्रारूप समिति यह 29 अगस्त, 1947 को गठित की गयी और डॉ. अम्बेडकर इसके सभापति

चुने गये। अन्य सदस्य थे-एन गोपालास्वामी आयंगर, अल्लादि कृष्णा स्वामी अय्यर, मोहम्मद सादुल्ला, के.एम. मुन्शी, बी.एल. मित्तर और डी.पी. खेतान। थोड़े समय बाद बी.एल. मित्तर का स्थान एन. माधवन

राव द्वारा लिया गया और 1948 में डी.पी. खेतान की मृत्यु पर उनका स्थान टी.टी. कृष्णामाचारी द्वारा लिया गया।

संविधान की स्वीकृति प्रारूप समिति ने भारत का जो 'प्रारूप संविधान' तैयार किया वह 1 फरवरी, 1948 के दिन संविधान सभा के अध्यक्ष को सुपुर्द किया गया।

संविधान के इस प्रारूप पर एक वर्ष तक विचार विनिमय किया गया। अन्त में 26 नवम्बर, 1949 को संविधान सभा ने भारतीय संविधान को अन्तिम रूप प्रदान किया और इसी दिन इस पर अध्यक्ष के हस्ताक्षर हुए। संविधान के कुल 15 अनुच्छेद (अनुच्छेद 5, 6, 7, 8, 9, 60, 324, 366, 367, 372, 380, 388, 391, 392 व 393) 26 नवम्बर, 1949 से ही लागू कर दिये गये, परन्तु शेष संविधान 26 जनवरी, 1950 ई. को लागू किया गया। राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में 26 जनवरी के दिन का ऐतिहासिक महत्व होने के कारण ऐसा किया गया था। संविधान सभा की अन्तिम बैठक 24 जनवरी, 1950 को हुई और इसी दिन संविधान सभा के द्वारा डॉ. राजेन्द्र प्रसाद को भारत का प्रथम राष्ट्रपति चुना गया। 26 जनवरी, 1950 को उसका भारतीय गणराज्य की (अन्तर्कालीन) संसद के रूप में आविर्भाव हुआ।

सम्पूर्ण संविधान निर्माण में 2 वर्ष 11 मास और 18 दिन लगे। इस कार्य पर लगभग 64 लाख रुपए खर्च हुए। संविधान के प्रारूप पर भी 114 दिन तक चर्चा होती रही। अन्तिम रूप से स्वीकृत संविधान में 395 अनुच्छेद और 8 अनुसूचियाँ थीं।

संविधान निर्माण की आलोचना और प्रत्युत्तर

भारतीय संविधान सभा का गठन केबिनेट मिशन योजना के आधार पर परोक्ष निर्वाचन की पद्धति से किया गया था। इस परोक्ष निर्वाचन के कारण कुछ व्यक्तियों द्वारा जिनमें जयप्रकाश नारायण प्रमुख हैं। यह कहा गया कि संविधान सभा वास्तव में प्रतिनिधि संस्था नहीं थी इस कारण वह भारतीयों के लिये संविधान बनाने की अधिकारिणी नहीं थी। इनके अनुसार न तो सभा के सदस्यों का चुनाव प्रत्यक्ष रूप से किया गया था और न ही जनमत संग्रह द्वारा ही संविधान को जनता द्वारा अनुसमर्थित

कराया गया, इसलिए यह कहा जा सकता है कि संविधान को 'लोकप्रिय स्वीकृति' (Popular sanction) प्राप्त नहीं थी।

इस आलोचना में कोई सार नहीं है। 1946 में जिन परिस्थितियों में संविधान सभा का निर्माण हुआ, उनमें वयस्क मताधिकार के आधार पर इस प्रकार की सभा का निर्माण सम्भव नहीं था। इस हेतु आवश्यक तैयारी करने में ही कई वर्ष लग जाते। जहां तक विधान को जनता द्वारा अनुसमर्थित करवाने का प्रश्न है, इतने बड़े राष्ट्र में यह कार्य अत्यधिक कष्ट एवं व्यय साध्य होता। अब यह बात नितान्त स्पष्ट हो गई है कि यदि संविधान सभा का गठन प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर होता, अथवा यदि इस संविधान सभा द्वारा निर्मित संविधान के प्रारूप पर जनमत संग्रह करवाया जाता, तब भी संविधान का स्वरूप कम-अधिक रूप में ऐसा ही होता। इस विचार को बल देने वाला तथ्य यह है कि 1952 के प्रथम आम चुनाव, जो नई सरकार के गठन के साथ-साथ संविधान के स्वरूप के आधार पर लड़े गये थे; में संविधान सभा के अधिकांश सदस्यों ने चुनाव लड़ा और काफी अच्छे बहुमत से विजय प्राप्त की। इन सबके अतिरिक्त यह भी तथ्य है कि तत्कालीन भारत के सबसे प्रमुख संगठन 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' ने संविधान सभा को अधिकाधिक प्रतिनिधि स्वरूप प्रदान करने की प्रत्येक सम्भव और अधिकांश अंशों में सफल चेष्टा की थी।

संविधान सभा के प्रमुख सदस्य कांग्रेस के तो प्रायः सभी चोटी के नेता पं. जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभभाई पटेल, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, मौलाना आजाद, चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, पं. गोविन्द वल्लभ पंत, बाल गोविन्द खेर, बाबू पुरुषोत्तम दास टण्डन, केएम्. मुन्शी, आचार्य जे.बी. कृपलानी और टी.टी. कृष्णामाचारी इसके सदस्य थे।

कांग्रेस के अतिरिक्त अन्य दलों से सम्बद्ध व्यक्तियों में डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन, डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी, पं. हृदयनाथ कुंजरू, एन. गोपालास्वामी आयंगर, डॉ. जयकर, बख्शी टेक चन्द, सर अल्लादि कृष्णा स्वामी अय्यर, प्रो. के.टी. शाह और डॉ. भीमराव अम्बेडकर प्रमुख थे।

महिला सदस्यों में श्रीमती सरोजिनी नायडू, श्रीमती हंसा मेहता और श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख प्रमुख थीं।

संविधान सभा की सदस्यता अस्वीकार करने वाले व्यक्तियों में तेज बहादुर सप्रू (स्वास्थ्य के आधार पर) एवं जय प्रकाश नारायण थे। उल्लेखनीय है कि महात्मा गांधी ने संविधान सभा से बाहर रहना ही उचित समझा था।

संविधान सभा की प्रमुख समितियाँ एवं उनके अध्यक्ष

(1) संचालन समिति-डॉ. राजेन्द्र प्रसाद

(2) संघ संविधान समिति-पं. जवाहरलाल नेहरू

(3) प्रान्तीय संविधान समिति-सरदार वल्लभभाई पटेल

(4) प्रारूप समिति-डॉ. भीमराव अम्बेडकर

(5) झण्डा समिति-जे.बी. कृपलानी

2.5 भारतीय संविधान के प्रमुख स्रोत

संविधान निर्माताओं को इस बात का अहसास था कि उन्हें भारत जैसे विशाल और विविधताओं से परिपूर्ण देश के लिए एक ऐसे संविधान का निर्माण करना है जो भारत की विशेष परिस्थितियों और संकट की घड़ियों में भी सफलतापूर्वक चलाया जा सके। इसलिए उन्होंने सिद्धान्तवादिता के आधार पर एक मौलिक संविधान का निर्माण करने की इच्छा करने के बजाय एक व्यावहारिक संविधान का निर्माण करने की बात सोची एक विशेष तथ्य यह है कि संविधान राज्य का जीवन मार्ग होता है और इस जीवन मार्ग में गतिशीलता होती है। अतः संविधान के स्रोतों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है:

(1)जन्म संबंधी स्रोत

(II) विकास संबंधी स्रोत।

सामान्य अध्ययन के अन्तर्गत जन्म सम्बन्धी स्रोत ही अधिक महत्व पाते हैं।

1. जन्मसंबं धीस्रोत जन्म सम्बन्धी स्रोत से तात्पर्य उन स्रोतों से है, जिनसे भारतीय संविधान का निर्माण करते समय सहायता ली गई। ये विदेशी तथा देशी दोनों ही हैं:

(ए) विदेशी स्तोत्र

(1) ब्रिटिश संविधान - हम लगभग 200 वर्षों तक ब्रिटिश राजनीतिक व्यवस्था और राजनीतिक जीवन के सम्पर्क में रहे और इसका हमारे राजनीतिक चिन्तन और व्यवस्था पर प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से भारी प्रभाव पड़ा है जो भारतीय संविधान की निम्न व्यवस्थाओं पर देखा जा सकता है:

(i) संसदीय शासन प्रणाली राष्ट्रपति की नाममात्र की भूमिका और प्रधान मंत्री और मंत्रिमण्डल को वास्तविक शासक की स्थिति प्रदान करना ब्रिटिश शासन व्यवस्था के समान है।

(ii) कानून का शासन भारत में ब्रिटिश व्यवस्था, को अपनाते हुए सभी व्यक्तियों, सामान्य नागरिकों और सरकारी कर्मचारियों के लिए एक ही प्रकार के कानून और एक ही प्रकार के न्यायालय हैं।

(iii) एकीकृत संस्थात्मक ढांचा भारतीय संविधान निर्माता इस प्रसंग में भी ब्रिटेन से बहुत प्रभावित थे। इसके अन्तर्गत तीन बातें मुख्य हैं एकीकृत न्यायिक व्यवस्था, एकीकृत नौकरशाही तथा इकहरी नागरिकता ब्रिटेन की ही भांति न्यायिक व्यवस्था में हमने 'पद सोपान का सिद्धान्त' अपनाया है।

कांग्रेस के अतिरिक्त अन्य दलों से सम्बद्ध व्यक्तियों में डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन, डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी, पं. हृदयनाथ कुंजरू, एन. गोपालास्वामी आयंगर, डॉ. जयकर, बख्शी टेक चन्द, सर अल्लादि कृष्णा स्वामी अय्यर, प्रो. के.टी. शाह और डॉ. भीमराव अम्बेडकर प्रमुख थे।

महिला सदस्यों में श्रीमती सरोजिनी नायडू, श्रीमती हंसा मेहता और श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख प्रमुख थीं।

संविधान सभा की सदस्यता अस्वीकार करने वाले व्यक्तियों में तेज बहादुर सप्रू (स्वास्थ्य के आधार पर) एवं जय प्रकाश नारायण थे। उल्लेखनीय है कि महात्मा गांधी ने संविधान सभा से बाहर रहना ही उचित समझा था।

संविधान सभा की प्रमुख समितियाँ एवं उनके अध्यक्ष

(1) संचालन समिति-डॉ. राजेन्द्र प्रसाद

(2) संघ संविधान समिति-पं. जवाहरलाल नेहरू

(3) प्रान्तीय संविधान समिति-सरदार वल्लभभाई पटेल

(4) प्रारूप समिति-डॉ. भीमराव अम्बेडकर

(5) झण्डा समिति-जे.बी. कृपलानी

(2) अमरीका का संविधान

(i)भारतीय संविधान की प्रस्तावना पर अमरीका की स्वाधीनता की घोषणा का स्पष्ट प्रभाव अंकित है। (ii) संविधान का मौलिक अधिकारों से सम्बन्धित अध्याय स्पष्ट रूप से संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान के ही प्रभाव का परिणाम है। (iii) आंशिक रूप में 'न्यायिक पुनर्विलोकन' की शक्ति सहित न्यायालय की स्थापना का विचार अमरीकी संविधान से ही लिया गया है। (iv) संविधान की सर्वोच्चता, राष्ट्रपति पर महाभियोग, उप-

राष्ट्रपति, उच्चतम व उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों को हटाने की विधि पर भी अमेरिका के संविधान का प्रभाव देखा जा सकता है।

(3) आयरलैण्ड का संविधान (i) राज्य की नीति के निदेशक तत्व आयरलैण्ड के संविधान से लिए गये हैं। (ii) भारतीय संविधान में राष्ट्रपति के निर्वाचक मण्डल की व्यवस्था। (iii) संसद के दूसरे सदन राज्य सभा में साहित्य-कला-विज्ञान और समाज सेवा के क्षेत्र में प्रसिद्धि प्राप्त व्यक्तियों का मनोनयन, आदि प्रावधानों पर आयरलैण्ड के संविधान का प्रभाव दिखायी देता है।

(4) कनाडा का संविधान (i) हमारी संघात्मक व्यवस्था बहुत अधिक सीमा तक कनाडा की संघीय व्यवस्था के समान हैं। (ii) कनाडियन आदर्श पर ही भारतीय संघ को 'यूनियन' (Union) कहा गया है। (iii) कनाडा के समान अवशिष्ट शक्तियां केन्द्र को सौंपी गयी है।

(5) आस्ट्रेलिया का संविधान संविधान की प्रस्तावना में निहित भावनाएं, समवर्ती सूची तथा इस सूची के विषयों पर संघ और इकाइयों के बीच उत्पन्न होने वाले विवादों के निबटाने के उपाय आस्ट्रेलिया के संविधान के समान हैं।

(6) जापान का संविधान संविधान के अनुच्छेद 21 की शब्दावली 'कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया' जापान के संविधान से ली गयी है।

(7) दक्षिणी अफ्रीका का संविधान भारतीय संविधान की संशोधन पद्धति दक्षिण अफ्रीका के संविधान की संशोधन पद्धति से मिलती हुई है।

(8) जर्मनी का संविधान भारतीय संविधान के अन्तर्गत संकट काल में राष्ट्रपति को मौलिक अधिकारों के स्थगन सम्बन्धी जो अधिकार दिये गये हैं, वे जर्मनी के 'वीमर संविधान' के 48वें अनुच्छेद से लिए गये हैं।

(B) देशी या भारतीय स्रोत

नेहरू रिपोर्ट का भारतीय संविधान पर प्रभाव नेहरू रिपोर्ट में कहा गया था कि भारत का भावी संविधान अपने स्वरूप में संघीय होगा, इसमें देशी रियासतों का कोई अलग अस्तित्व नहीं होगा तथा उन्हें संघ में शामिल होना होगा। रिपोर्ट में कहा गया था कि संसदात्मक शासन प्रणाली अपनायी जायेगी। वर्तमान संविधान में ऐसा ही किया गया है। अल्पसंख्यकों के लिए रक्षा उपाय एवं संघीय राज व्यवस्था के मूल स्रोत भी नेहरू कमेटी रिपोर्ट में मिलते हैं। नेहरू कमेटी की रिपोर्ट में जो उन्नीस मूल अधिकार शामिल

किये गये थे, उनमें से दस को भारत के संविधान में बिना किसी महत्वपूर्ण परिवर्तन के शामिल कर लिया गया है।

1935 भारतीय शासन अधिनियम का प्रभाव भारतीय संविधान के अनेक देशी और विदेशी स्रोत हैं, लेकिन यह तथ्य है कि भारतीय संविधान पर सबसे अधिक प्रभाव 'भारतीय शासन अधिनियम, 1935' का ही है। न केवल नवीन संविधान की आधारभूत योजना और महत्वपूर्ण प्रबन्ध तथा प्रावधान वरन् कुछ प्रबन्धों की भाषा भी 1935 ई. के अधिनियम से ली गई है। राबर्ट एल. हाईग्रेव अपनी पुस्तक में लिखते हैं: "भारतीय संविधान के 395 अनुच्छेदों में से लगभग 250 अनुच्छेद ऐसे हैं जो 1935 ई. के अधिनियम से या तो शब्दशः ले लिए गये हैं या फिर उनमें बहुत थोड़ा परिवर्तन किया गया है।

संविधान में जिन तीन सूचियों के आधार पर शक्ति विभाजन किया गया है, वे बहुत अधिक सीमा तक 1935 के कानून पर आधारित हैं। (2) वर्तमान संविधान के अन्तर्गत राज्यपाल पद की जो व्यवस्था की गई है, वह 1935 ई. के कानून के गवर्नर के समान ही है। राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त ये राज्यपाल भारत सरकार के नियन्त्रण में रहते हुए राज्य के वैधानिक प्रधान के रूप में कार्य करते हैं। (3) 1935 के कानून के समान ही वर्तमान संविधान में भी व्यवस्था की गई है कि राज्य अथवा राज्यों के सम्बन्ध में 'संवैधानिक व्यवस्था की विफलता' घोषित करके केन्द्र उनका शासन-प्रबन्ध अपने हाथ में ले सकता है। (4) वर्तमान संविधान 1935 के कानून की भांति ही प्रशासनिक व्यवस्था के उल्लेख सहित एक विस्तृत वैधानिक प्रलेख हैं और इसमें भी केन्द्रीय सरकार के मुख्य अंगों के साथ-साथ प्रान्तीय सरकारों की व्यवस्था का भी उल्लेख है।

नवीन संविधान और 1935 के कानून में न केवल सैद्धान्तिक और सारपूर्ण समानताएं हैं, वरन् भाषा और वाक्य रचना सम्बन्धी समानताएँ भी हैं। उदाहरण के लिए अनुच्छेद 256 की भाषा 1935 के कानून की धारा 125 के अनुरूप, अनुच्छेद 251 की भाषा 25 के कानून की धारा 107 और अनुच्छेद 356 की भाषा 35 के कानून की धारा 92 के समान है। वस्तुतः ऐसे अनेक अनुच्छेद हैं।

वास्तव में नवीन संविधान के निर्माण और उसे अपनाये जाने के पूर्व 1935 का भारतीय शासन अधिनियम ही भारत का विधान था। अतः संविधान में 1935 ई. के अधिनियम से आवश्यक सामग्री लेना अनुचित नहीं समझा गया। लेकिन इन सभी समानताओं के बावजूद वर्तमान संविधान को 1935 के कानून का वृहत् संस्करण नहीं कहा जा सकता है।

संविधान में मौलिकता का अभाव सम्बन्धी आलोचना और उसका उत्तर- आलोचक भारतीय संविधान की आलोचना करते हुए जिन विशेषणों का प्रयोग करते हैं, उनमें प्रमुख है, 'मौलिकता का अभाव', 'उधार का थैला' और 'भानुमती का पिटारा' आदि। आलोचकों का कहना है कि संविधान में 'भारतीयता का पुट' नहीं है। परन्तु उपर्युक्त आलोचना न्याय संगत नहीं है। विशेष बात यह है कि विदेशी संविधानों से सोच विचारकर ही ग्रहण किया गया है और जो कुछ ग्रहण किया गया है, उसे भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप ढाल लिया गया है। ग्रेनबिल आस्टिन के अनुसार, भारतीय संविधान के निर्माण में 'परिवर्तन के साथ चयन की कला' (The art of selection with modifications) को अपनाया गया है और इसे भारतीय संविधान का गुण कहा जा सकता है।

वास्तव में संविधान के मौलिक विचारों पर किसी का स्वत्वाधिकार (Patent) नहीं होता तथा दूसरे संवैधानिक प्रलेखों से इस प्रकार की बातें ग्रहण करना किसी प्रकार की चोरी, शर्मनाक कार्य या राष्ट्रीय अपमान नहीं है।

संविधान निर्माताओं ने अन्य देशों के संविधानों और उनके व्यावहारिक अनुभवों से लाभ उठाकर कोई गलती नहीं की, वरन् दूरदर्शिता का ही कार्य किया है। वस्तुतः हमने न केवल अन्य देशों के संविधान के कानूनी ढांचे से ही ग्रहण किया है, वरन् उनके व्यावहारिक स्वरूप और राजनीतिक अनुभवों से भी बहुत कुछ सीखा है।

द्वितीय. विकास संबंधी स्रोत

विकास सम्बन्धी-स्रोतों से आशय उन स्रोतों से है जिन्होंने 1950 से अभी तक भारतीय संविधान के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। आज भारतीय संविधान और राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप पूर्णतया वही नहीं है, जो 1950 में था। संविधान के स्वरूप का कुछ विकास हुआ है, उसमें कुछ परिवर्तन आया है। संविधान के प्रमुख विकास सम्बन्धी स्त्रोत के रूप में निम्न का उल्लेख किया जा सकता है:

(1) संविधियां, नियम, विनियम और अध्यादेश केन्द्रीय और राज्य विधानमण्डलों द्वारा पारित कानूनों को 'संविधियां' कहा जाता है। इसके अतिरिक्त संसद और राज्य विधानमण्डलों को अपने कार्य संचालन एवं कार्यप्रणाली हेतु नियम बनाने की भी शक्ति प्राप्त है। राष्ट्रपति केन्द्रीय सरकार के कार्यों तथा शासन संचालन के लिए नियम बनाता है। यदि संसद तथा राज्य विधानमण्डल की बैठक नहीं हो

रही हो, तो राष्ट्रपति या राज्यपाल को अध्यादेश जारी करने का भी अधिकार है। बाद में विधानमण्डल की स्वीकृति से ये कानून का रूप ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार संविधियां, नियम विनियम और अध्यादेश संविधान के स्रोत का कार्य करते हैं।

(2) रूढ़ियां तथा अभिसमय संविधान के अलिखित भाग के रूप में अभिसमयों, परम्पराओं व प्रथाओं का विशिष्ट महत्व होता है। भारतीय संविधान में भी कुछ परंपराएं विकसित हो रही हैं, जो इस प्रकार हैं :

(i) संविधान के अनुसार कार्यपालिका शक्तियां राष्ट्रपति में निहित हैं, परन्तु परम्परा के अनुसार वह मंत्रिमण्डल के परामर्श के अनुसार ही कार्य करता है।

(ii) राष्ट्रपति लोकसभा को भंग कर सकता है, किन्तु ऐसा वह प्रधानमन्त्री की सलाह से ही करेगा।

(iii) प्रधानमन्त्री की नियुक्ति करने का अधिकार राष्ट्रपति को है, किन्तु परम्परा के अनुसार राष्ट्रपति उसी व्यक्ति को प्रधानमन्त्री नियुक्त करता है, जो लोकसभा में बहुमत दल का नेता होता है।

(iv) देश में संसदात्मक शासन प्रणाली का समस्त विकास पूर्ण रूप से प्रथागत ही हुआ है।

(3) न्यायिक पुनर्विलोकन या न्यायिक निर्णय न्यायाधीश संवैधानिक कानून की व्याख्या करते हैं और उनके निर्णय तब तक प्रभावी रहते हैं जब तक कि न्यायपालिका स्वयं ही कोई अन्य निर्णय दे दे या संसद संविधान में संशोधन कर कानूनी स्थिति में परिवर्तन न कर दे। भारत के सर्वोच्च न्यायालय और विभिन्न उच्च न्यायालयों द्वारा ऐसे अनेक निर्णय दिये गये हैं जो संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों की भांति ही हमारी संवैधानिक व्यवस्था के अभिन्न अंग बन गये हैं। केशवानन्द भारती वनाम केरल राज्य (1973) और 'मिनर्वा मिल्स विवाद सम्बन्धी निर्णय' (1980) अधिक महत्वपूर्ण है, जिनमें सर्वोच्च न्यायालय ने 'संविधान के बुनियादी ढांचे' की धारणा का प्रतिपादन किया है।

(4) संवैधानिक टीकाएं और संविधान विशेषज्ञों के विचार संविधान का एक अन्य महत्वपूर्ण

स्रोत भारतीय संविधान पर लिखी गयी टीकाएं और ग्रन्थ है। इनमें दुर्गादास बसु द्वारा लिखित पुस्तक 'Commentary on the Constitution of India'., एलैक्जेण्डरोविच की 'Constitution Development in India', ग्लेडहिल की 'The Republic of India', आदि प्रमुख हैं। संवैधानिक कानून के विशेषज्ञों में एम.सी. सीतलवाड, एन.ए. पालकीवाला, सिरवई, नीरेन डे, लक्ष्मीमल सिंघवी, आदि द्वारा समय-समय पर व्यक्त

विचार अत्यन्त महत्वपूर्ण माने जाते हैं। इसके अलावा राज्य के नीति-निदेशक तत्वों के अन्तर्गत ग्राम पंचायतों के संगठन का उल्लेख स्पष्ट रूप से प्राचीन भारतीय स्वशासी संस्थानों से प्रेरित होकर किया गया था। 73वें तथा 74वें संविधान संशोधन अधिनियमों ने उन्हें अब और अधिक सार्थक तथा महत्वपूर्ण बना दिया है।

संविधान का विकास एक अनवरत प्रक्रिया है, मानव तत्व, परिस्थितियां, राजनीतिक अनुभव और राजनीतिक तथा राष्ट्रीय आवश्यकताएँ, आदि तत्व इस विकास को दिशा प्रदान करते हैं।

2.6 सार संक्षेप

भारतीय संविधान केवल कानूनी दस्तावेज़ नहीं है, बल्कि यह लोकतंत्र, स्वतंत्रता, और समानता के मूल्यों को स्थापित करने वाला एक सामाजिक और सांस्कृतिक अनुबंध है। इसके निर्माण में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन, स्वतंत्रता संग्राम और विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय संविधानों से प्रेरणा ली गई थी। यह संविधान आज भी भारतीय समाज में न्याय, समानता और विकास की दिशा में मार्गदर्शक भूमिका निभा रहा है।

2.7 शब्दावली

भारतीय संविधान में कई महत्वपूर्ण शब्दावली और धाराएँ हैं, जिनका विशिष्ट महत्व है:

1. **मूल अधिकार (Fundamental Rights):** यह भारतीय नागरिकों को दी जाने वाली बुनियादी स्वतंत्रताएँ और अधिकार हैं, जो संविधान द्वारा संरक्षित हैं।
2. **निर्देशक सिद्धांत (Directive Principles):** यह सरकार के लिए मार्गदर्शन सिद्धांत हैं, जो समाज के आर्थिक और सामाजिक सुधारों की दिशा में काम करने के लिए हैं।
3. **संघीय प्रणाली (Federal System):** भारतीय संविधान में संघ और राज्यों के बीच शक्ति का बंटवारा किया गया है।
4. **न्यायिक समीक्षा (Judicial Review):** न्यायालयों को संविधान की व्याख्या करने और कानूनों की वैधता पर निर्णय लेने का अधिकार है।
5. **संविधानिक कर्तव्य (Constitutional Duties):** भारतीय नागरिकों के लिए संविधान में कुछ कर्तव्यों का उल्लेख किया गया है, जैसे कि राष्ट्रीय ध्वज का सम्मान करना, संविधान का पालन करना, आदि।

2.8 स्व-प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

1. भारत की संविधान सभा का गठन किस योजना के आधार पर हुआ:

(अ) क्रिप्स योजना

(ब) माउण्ट बैटन योजना

(स) वेवेल योजना

(द) कैबिनेट मिशन योजना।

2. संविधान सभा का प्रथम अधिवेशन प्रारम्भ हुआ:

(ब) 9 दिसम्बर, 1946

(अ) 15 अगस्त, 1947

(द) 13 दिसम्बर, 1946 1

(स) 26 जनवरी, 1950

3. संविधान निर्मात्री सभा में 'उद्देश्य प्रस्ताव' किसके द्वारा प्रस्तुत किया गया :

(अ) जवाहरलाल नेहरू

(बी)राजेंद्र प्रसाद

(स) भीमराव अम्बेडकर

(द) सरदार वल्लभ भाई पटेल ।

4. संविधान सभा में 'उद्देश्य प्रस्ताव' प्रस्तुत किया गया :

(अ) 9 दिसम्बर, 1946

(बी) 22 जनवरी, 1947

(स) 13 दिसम्बर, 1946

(द) 3 जून, 1947 ।

5. संविधान निर्मात्री सभा के परामर्शदाता थे :

(अ) भीमराव अम्बेडकर

(ब) बी. एन. राव

स) मैसाचुसेट्स नेहरू

(डी) माउन्टबेटन।

6. 'प्रारूप समिति' के अध्यक्ष चुने गए :

(अ) डॉ. राजेन्द्र प्रसाद(स) मौलाना आजाद (द) डॉ. अम्बेडकर ।

7. संविधान पारित किया गया :

(अ) 9 दिसम्बर, 1946

(ब) 15 अगस्त, 1947

(स) 26 नवम्बर, 1949

(द) 26 जनवरी, 1950 1

8. संविधान संभा में शक्ति के केन्द्र बिन्दु थे:

(अ) अम्बेडकर और राजेन्द्र प्रसाद

(ब) सरदार पटेल और जवाहरलाल नेहरू

(स) जवाहरलाल नेहरू और महात्मा गाँधी

(द) अंबेडकर और गाँधी

उत्तर (1) द, (2) ब, (3) अ, (4) स, (5) ब, (6) द, (7) स, (8) ब

2.9 संदर्भ सूची

द्रविड़, क. (2011). *भारत का संविधान: निर्माण और विकास.* दिल्ली: विशव पुस्तक माला।

भारत सरकार (1950). *भारतीय संविधान* (संविधान सभा द्वारा अंगीकृत)। दिल्ली: भारत सरकार का प्रकाशन।

बर्ले, शेरवुड (2012). *संविधान और न्यायपालिका: भारतीय संविधान की तुलना में पश्चिमी अनुभव*। जयपुर: राधाकृष्ण प्रकाशन।

अरोड़ा, र. (2007). *भारतीय संविधान और उसके स्रोत.* नई दिल्ली: भारतीय राजनीति अध्ययन केंद्र।

सिंह, ज. (2015). *भारतीय संविधान की प्रवृत्तियाँ और उनके स्रोत.* दिल्ली: अरिहंत प्रकाशन।

कौशल, न. (2019). *भारत का संविधान और उससे जुड़ी महत्वपूर्ण अवधारणाएँ.* नई दिल्ली: पेंगुइन इंडिया।

गौतम, ब. (2009). *भारतीय संविधान का इतिहास और उसकी व्याख्या.* मुंबई: मोलॉय प्रेस।

कॉनरॉय, डॉ. ए. (2014). *भारतीय संविधान: एक विस्तृत विश्लेषण.* लंदन: किंग्स कॉलेज प्रेस।

धनराज, प. (2010). *संविधान सभा और भारतीय संविधान का निर्माण.* बेंगलुरु: नैतिक विचार संस्थान।

शुक्ला, ब. (2018). *भारतीय संविधान का सांविधानिक विकास और स्रोत.* दिल्ली: वाणी प्रकाशन।

2.10 अभ्यास प्रश्न

1. भारतीय संविधान के प्रमुख स्रोतों का वर्णन कीजिए।

2. भारत की संविधान निर्मात्री सभा के गठन एवं भूमिका का परीक्षण कीजिए।

3 संविधान निर्मात्री सभा किसे कहते हैं?

4. प्रारूप समिति का गठन किस प्रकार हुआ ?

5. भारत की संविधान निर्मात्री सभा की प्रमुख समितियां एवं उनके अध्यक्षों के नाम लिखिए।

6. ब्रिटिश संविधान के भारतीय संविधान पर पड़े प्रभावों का उल्लेख कीजिए।

इकाई 3

भारतीय संविधान की प्रस्तावना

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 प्रस्तावना का अर्थ और महत्व

3.4 42 वें संवैधानिक संशोधन के बाद प्रस्तावना या उद्योशिका

3.5 प्रस्तावना : संविधान की आत्मा

3.6 सार संक्षेप

3.7 शब्दावली

3.8 स्व -प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

3.9 संदर्भ सूची

3.10 अभ्यास प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

संविधान की प्रस्तावना इन आदर्शों के माध्यम से भारत को एक संप्रभु, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष, और लोकतांत्रिक गणराज्य बनाने का लक्ष्य निर्धारित करती है, जिसमें सभी नागरिकों के लिए समानता, स्वतंत्रता और न्याय की गारंटी दी गई है।

संविधान और राजनीतिक व्यवस्था के दार्शनिक आधार तत्वों (Philosophical Postulates) से अभिप्राय उन आदर्शों से है जिससे भारतीय संविधान अभिप्रेरित हुआ है तथा उन नीतियों से है जिन पर यह संविधान और शासन प्रणाली आधारित है। भारतीय शासन-व्यवस्था के उन आधार तत्वों का वर्णन संविधान की प्रस्तावना (उद्योशिका) में किया गया जो अन्तिम रूप से संविधान सभा द्वारा 26 नवम्बर, 1949 को पारित हुई।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप निम्नलिखित को समझने और करने में सक्षम होंगे:

1. राजनीति विज्ञान की परिभाषा और इसके महत्व को समझ सकेंगे।

2. राजनीति विज्ञान के प्रमुख क्षेत्रों, जैसे सरकार, संविधान, और राजनीतिक प्रक्रियाओं को पहचान सकेंगे।
3. भारतीय संविधान की प्रस्तावना के मूल तत्त्वों और उद्देश्यों का विश्लेषण कर सकेंगे।
4. संविधान में निहित स्वतंत्रता, समानता, और न्याय जैसे आदर्शों का अध्ययन कर सकेंगे।
5. भारतीय लोकतंत्र और उसकी संरचना के आधारभूत सिद्धांतों को समझ सकेंगे।

3.3 प्रस्तावना का अर्थ और महत्व (Meaning and Definition ot the Preamble)

भारतीय संविधान की प्रस्तावना अत्यन्त संक्षिप्त, आकर्षक एवं शब्द चयन की दृष्टि से प्रभावशाली है। डॉ. सुभाष काश्यप के अनुसार, "प्रस्तावना का एक-एक शब्द चित्र है, चित्र जो बोलता है, एक कहानी कहता है- तपस्या, त्याग और बलिदान की कहानी।"

पं. ठाकुरदास भार्गव के अनुसार, "प्रस्तावना संविधान का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। वह विधान की आत्मा है। यह विधान की कुंजी है।" डॉ. सुभाष काश्यप के अनुसार, "संविधान राष्ट्र का मूलभूत अधिनियम है। वह राज्य के विभिन्न अंगों का गठन कर उन्हें शरीर देता है, शक्ति देता है। उसके शरीर गठन के पीछे, अंगों की व्यवस्था के पीछे एक प्रेरणा होती है, एक आत्मा होती है जिसको शब्द रूप मिलता है प्रस्तावना में। प्रस्तावना संविधान की कुण्डली है तथा सर्वश्रेष्ठ तत्वों का निचोड़ है। सर्वोच्च न्यायालय ने प्रस्तावना पर विचार करते हुए 'बेरूबारी विवाद' में कहा है कि "प्रस्तावना संविधान के निर्माताओं के आशय को स्पष्ट करने वाली कुंजी है।" प्रायः अधिकांश लिखित संविधानों की प्रस्तावना होती है, जो संविधान के स्वरूप, कार्यप्रणाली तथा राजनीतिक व्यवस्था को प्रकट करती है।"

भारतीय संविधान की प्रस्तावना रचना-प्रक्रिया

संविधान की प्रस्तावना का आधार पं. जवाहरलाल नेहरू द्वारा प्रस्तुत 'उद्देश्य प्रस्ताव' है जिसे उन्होंने 13 दिसम्बर, 1946 को संविधान-निर्मात्री सभा में प्रस्तुत किया था। इस 'उद्देश्य प्रस्ताव' के जनक स्वयं पण्डित नेहरू थे। अखिल भारतीय कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति ने अपने नवम्बर 1946 के मेरठ अधिवेशन में इस प्रस्ताव पर विस्तार से विचार करते हुए पारित कर दिया था। संविधान सभा के लिए यह स्वाभाविक

था कि वह भारतीय जन-मानस के सम्मुख अपने उद्देश्यों एवं आदर्शों को स्पष्ट करें। इस समय समूचे देश में अविश्वास और अनिश्चितता का कोहरा छाया हुआ था और राष्ट्र का मार्ग स्पष्ट नहीं था। संविधान सभा के सम्मुख उद्देश्यों का ऐतिहासिक घोषणा-पत्र प्रस्तुत करके पं. जवाहरलाल नेहरू ने स्वतन्त्र भारत के भावी संविधान की बुनियादी रूपरेखा और सिद्धान्तों का प्रभावशाली ढंग से निरूपण किया।

इस 'उद्देश्य प्रस्ताव' को वर्तमान संविधान की प्रस्तावना की आधारशिला कहा जा सकता है। उद्देश्य प्रस्ताव में कहा गया था प्रथम, यह संविधान सभा अपने इस दृढ़ और गम्भीर संकल्प की घोषणा करती है कि वह भारत को एक स्वतन्त्र प्रभुता सम्पन्न गणराज्य घोषित करेगी और उसके भावी शासन के लिए एक संविधान की रचना करेगी। द्वितीय, जो भाग या देशी राज्य स्वतन्त्र प्रभुता-सम्पन्न भारत के भीतर सम्मिलित होने के लिए तैयार हैं, आपस में मिलकर एक संघ के रूप में गठित होंगे।तृतीय, प्रभुत्व-सम्पन्न और स्वतन्त्र भारत, उसके अंगभूत भागों और शासन के अंगों की समूची शक्ति और सत्ता जनता से प्राप्त हुई है। चतुर्थ, भारत के सभी लोगों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की स्थिति और अवसर की तथा विधि के सम्मुख समानता की, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म, उपासना, व्यवसाय और कार्य की गारण्टी दी जाएगी। पंचम, अल्पसंख्यकों, दलितों और पिछड़े हुए वर्गों के लिए उपयुक्त प्रावधानों की व्यवस्था की जाएगी। षष्ठ, न्याय तथा सभ्य राष्ट्रों की विधि के अनुसार गणराज्य के राज्यक्षेत्र की अखण्डता और जल, थल व आकाश पर उसकी प्रभुता की रक्षा की जाएगी। अन्त में यह देश विश्व-शान्ति तथा मानव जाति के कल्याण हेतु अपना पूर्ण तथा सहर्ष योग देना।

सही मायने में यह उद्देश्य प्रस्ताव भारतीय स्वाधीनता का घोषणा-पत्र था। पं. नेहरू ने स्पष्ट कहा है कि "उनके प्रस्ताव का ध्येय है कि वह देश की करोड़ों जनता को जो हमारी ओर झांक रही है तथा समूचे विश्व को यह आभास दे दे कि हम क्या करेंगे, हमारा लक्ष्य क्या है तथा हमें किधर जाना है?" उन्होंने अपने ओजस्वी भाषण में बताया कि "प्रस्ताव होते हुए भी यह प्रस्ताव से बहुत कुछ ज्यादा है। यह एक घोषणा है, यह एक दृढ़ निश्चय है, यह एक प्रतिज्ञा और दायित्व है। हमें विश्वास है कि यह एक व्रत है। यह प्रस्ताव दुनिया को टूटे-फूटे शब्दों में यह बताना चाहता है कि हमने इतने दिनों से किस बात की अभिलाषा कर रखी थी, हमारा सपना क्या था।" 'उद्देश्य प्रस्ताव' पर नेहरू द्वारा दिए गए भाषण का संविधान सभा पर जादू-सा प्रभाव पड़ा और चारों ओर आश, उल्लास तथा संकल्प की प्रकाशमयी किरणें जगमगा उठीं। संविधान सभा ने कुल आठ दिनों तक 'उद्देश्य प्रस्ताव' पर विचार किया। संविधान सभा के अधिकांश सदस्यों ने उद्देश्य प्रस्ताव का उत्साहपूर्वक समर्थन किया, किन्तु कुंजरू, जयकर तथा डॉ.

अम्बेडकर चाहते थे कि प्रस्ताव पर विचार स्थगित कर दिया जाए। 22 जनवरी, 1946 को जवाहरलाल नेहरू ने 'उद्देश्य प्रस्ताव' से सम्बन्धित वाद-विवाद का उत्तर दिया और संविधान सभा ने उसे स्वीकार कर लिया।

संविधान सभा की प्रारूप समिति ने अपनी कई बैठकों में 'प्रस्ताव' के स्वरूप पर विचार-विमर्श किया। 'उद्देश्य प्रस्ताव' में भारतीय संघ के स्वरूप के बारे में जो धारणा थी उसे परिवर्तित राजनीतिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए त्याग दिया गया। प्रारूप समिति का मत था कि प्रस्तावना में नवीन राष्ट्र के मूल स्वरूप तथा उसके बुनियादी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक उद्देश्यों का विवेचन होना चाहिए। विस्तार के अन्य विषयों का निरूपण संविधान के अन्य प्रावधानों में किया जा सकता है। फरवरी, 1948 में प्रारूप समिति ने प्रस्तावना को स्वीकार किया। संविधान सभा ने 17 अक्टूबर, 1948 को 'प्रारूप प्रस्तावना' पर विचार किया। संविधान सभा के कतिपय सदस्य प्रस्तावना में कुछ संशोधन चाहते थे। हसरत मोहानी का विचार था कि प्रस्तावना में भारत को 'समाजवादी गणराज्य' संघ कहा जाए। एच.वी. कामच चाहते थे कि प्रस्तावना के प्रारम्भ में 'ईश्वर के नाम' शब्द जोड़ दिया जाए, परन्तु ऐसे संशोधनों को सभा ने स्वीकार नहीं किया।

3.4 42 वें संवैधानिक संशोधन के बाद प्रस्तावना या उद्योशिका

42 वें संवैधानिक संशोधन (1976) के द्वारा भारतीय संविधान की प्रस्तावना में कतिपय शब्दों तथा भावों को जोड़ा गया है। अब संविधान की प्रस्तावना इस प्रकार है:

"हम भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न, समाजवादी, पंथनिरपेक्ष, लोकतान्त्रिक गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को :

सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता तथा अखण्डता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिए दृढ़संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख 26 नवम्बर, 1949 ई. (मिती मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमी, संवत् 2006 विक्रमी) को एकद् द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।

"प्रस्तावना के मुख्य लक्षण

(Main Features of the Preamble)

(1) संविधान का स्रोत जनता है प्रस्तावना के प्रारम्भिक शब्द यह इंगित करते हैं कि भारतीय संविधान का स्रोत जनता है। भारतीय शासन की अन्तिम सत्ता जनता में निहित है तथा भारतीय जनता ने ही संविधान को अंगीकृत और अधिनियमित किया है। प्रस्तावना का सार बिन्दु यह है कि "हम भारत के लोग भारत के संविधान को अंगीकृत और आत्मार्पित करते हैं।" संविधान के किसी भी प्रावधान में पृथक् से यह इंगित नहीं किया गया है कि शासन की समूची शक्तियां जनता से प्राप्त हुई हैं। अतः प्रस्तावना द्वारा प्रभुसत्ता के अधिवास की समस्या के विवाद की समाप्ति कर दी गई है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि नया संविधान किसी बाहा सत्ता ने आरोपित नहीं किया है और हम सब भारत के नागरिक है। अमरीका की भांति भारतीय संविधान के निर्माण में राज्य के बजाय भारत की जनता का सर्वोपरि हाथ है। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार, "प्रस्तावना यह स्पष्ट कर देती है कि इस संविधान का आधार जनता है एवं इनमें निहित प्राधिकार और प्रभुसत्ता सब जनता से प्राप्त हुई है।" इस प्रकार 'हम भारत के लोग' शब्द का अभिप्राय यही है कि संविधान सभा ने भारत की जनता की ओर से ही संविधान बनाया और स्वीकृत किया।

(2) शासन के ध्येयों की घोषणा प्रस्तावना में भारतीय शासन कार्यपालिका, व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका के ध्येयों की स्पष्ट घोषणा की गई है। प्रस्तावना के द्वारा सरकार के लक्ष्यों को इंगित

करके यह अपेक्षा की गई है कि वह उन लक्ष्यों को पूरा करने की कोशिश करेगी। प्रस्तावना के अनुसार हमारे गणतन्त्र के चार प्रमुख ध्येय हैं न्याय, स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व। संविधान के जनक इस बात से परिचित थे कि स्वाधीनता सिर्फ राजनीतिक नहीं होती। राजनीतिक स्वाधीनता तो साधन मात्र है। जब तक भूख के भय से, अज्ञान के अन्धकार से, आवास के अभाव से, बुनियादी यातनाओं एवं आतंक से, शोषण, अत्याचार, लाचारी और विवशता से इस देश के करोड़ों जनों को मुक्ति प्राप्त नहीं होती तब तक राजनीतिक स्वाधीनता अधूरी स्वाधीनता ही रहेगी। इसी कारण उन्होंने स्वतन्त्रता, समानता और भातृत्व के सिद्धान्तों पर भारतीय संविधान की नींव रखी।

(3) सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न प्रस्तावना में इस विषय पर बल दिया गया है कि संविधान का महत्वपूर्ण उद्देश्य भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य बनाना है। 'सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न' या 'सार्वभौम' शब्द का प्रयोग किया जाना इस बात का द्योतक है कि भारत के आन्तरिक तथा वैदेशिक मामलों में भारत सरकार सार्वभौम तथा स्वतन्त्र है। विधि की दृष्टि से भारत के ऊपर न तो किसी आन्तरिक शक्ति का प्रतिबन्ध है और न किसी बाहरी शक्ति का। भारतीय स्वाधीनता अधिनियम के पारित हो जाने से भारत पर ब्रिटिश शासन

का नियन्त्रण समाप्त हो गया है और भारतीय संविधान बाहर की किसी सत्ता द्वारा थोपा नहीं जा रहा है।

(4) लोकतन्त्रात्मक संविधान संविधान की प्रस्तावना में भारत को एक लोकतान्त्रिक राज्य घोषित किया गया। देश में जनता के द्वारा राजशक्ति का प्रयोग किया जाएगा। राजशक्ति पर किसी एक वर्ग विशेष का एकाधिकार नहीं होगा और शासन का संचालन बहुमत के सिद्धान्त के आधार पर होगा। उन्हीं कानूनों को लागू किया जाएगा जिन्हें जनता का समर्थन प्राप्त होगा। राज्य में कोई विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग नहीं होगा और राज्य की सीमा में निवास करने वाले समस्त स्त्री-पुरुषों को समानता प्राप्त होगी। भारत ऐसा लोकतन्त्र होगा जिसमें अल्पसंख्यकों को सुरक्षा प्राप्त होगी और समाज में आर्थिक शक्ति का समतायुक्त वितरण होगा ताकि किसी भी वर्ग का शोषण न हो। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में प्रयुक्त कतिपय शब्द जैसे 'न्याय', 'स्वतन्त्रता', 'समता', 'व्यक्ति की गरिमा', 'राष्ट्र की एकता', 'बन्धुता', आदि महत्वपूर्ण हैं और यह प्रकट करते हैं कि यह देश न केवल राजनीतिक लोकतन्त्र होगा अपितु सामाजिक और आर्थिक लोकतन्त्र भी होगा।

(5) गणराज्य प्रस्तावना में 'गणतन्त्र' शब्द का उपयोग इस विषय पर प्रभाव डालता है कि दो प्रकार की लोकतन्त्रीय व्यवस्थाओं 'वंशानुगत लोकतन्त्र' तथा 'लोकतन्त्रीय गणतन्त्र' में से भारतीय संविधान के अन्तर्गत लोकतन्त्रीय गणतन्त्र को अपनाया गया है। वंशानुगत लोकतन्त्र के अन्तर्गत राष्ट्राध्यक्ष किसी विशिष्ट वंश का होता है, जो अपना पद वंशानुगत सिद्धान्त के आधार पर प्राप्त करता है, किन्तुराष्ट्राध्यक्ष के रूप में वह केवल नाममात्र का शासक होता है। उदाहरणार्थ, इंगलैण्ड में संवैधानिक राजतन्त्र या लोकतान्त्रिक राजतन्त्र है क्योंकि वहां के राष्ट्राध्यक्ष को अपना पद वंशानुगत प्राप्त होता है। लोकतन्त्रीय गणतन्त्र में राष्ट्राध्यक्ष का निर्वाचन जनता द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से किया जाता है, अर्थात् गणतान्त्रिक राज्य में राष्ट्राध्यक्ष को अपना पद जनता द्वारा निर्वाचन के फलस्वरूप प्राप्त होता है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना यह इंगित करती है कि भारत में राज्य का मुखिया कोई वंशानुगत राजा नहीं, अपितु निर्वाचित राष्ट्रपति होगा और राष्ट्रपति पद पर कोई भी नागरिक पहुंच सकेगा। भारतीय गणराज्य में सवर्वोच्च शक्ति सार्वभौम वयस्क मताधिकार से सम्पन्न जनसमुदाय में निहित होगी।

(6) न्याय हमारे संविधान की प्रस्तावना में न्याय के उल्लेख का विशिष्ट महत्व है। संविधान-निर्माता इस बाता से भली-भांति परिचित थे कि सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना में स्वतन्त्रता और समानता के अतिरिक्त न्याय अनिवार्य है। न्याय के द्वारा ही लोकहित की वृद्धि हो सकती है। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की स्थापना में प्रयास

करना राज्य का पवित्र कर्तव्य माना गया है। सामाजिक न्याय से अभिप्राय है कि मानव-मानव के बीच में जाति, वर्ण के आधार पर भेद न माना जाए और प्रत्येक नागरिक को उन्नति के समुचित अवसर सुलभ हों। राज्य का यह दायित्व हो जाता है कि दुर्बल वर्गों का शोषण रोके और उनके विकास के लिए क्रियाशील हो। आर्थिक न्याय से अभिप्राय है कि उत्पादन एवं वितरण के साधनों का न्यायोचित वितरण हो और धन सम्पदा का केवल कुछ ही हाथों में केन्द्रीकरण न हो जाए। आर्थिक न्याय की प्राप्ति के लिए समुदाय की भौतिक सम्पति का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार बंटा हो कि जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो। राजनीतिक न्याय का अभिप्राय है कि राज्य के अन्तर्गत समस्त नागरिकों को समान रूप से नागरिक और राजनीतिक अधिकार प्राप्त हों। मताधिकार के प्रयोग का आधार वयस्क मताधिकार का सिद्धान्त ही होगा और राज्य में अभिजात्य वर्ग को कोई विशिष्ट रियायतें सुलभ नहीं होंगी। इस प्रकार प्रस्तावना में उपबन्धित न्याय के विचार से लोक-कल्याणकारी राज्य का विचार दृष्टिगोचर होता है और नागरिकों को जीवन के अन्य क्षेत्रों में न्याय का आश्वासन दिया गया है।

(7) स्वतन्त्रता प्रस्तावना में इस बात पर जोर दिया है कि राज्य समस्त नागरिकों को स्वतन्त्रता प्रदान करेगा। यहां स्वतन्त्रता से तात्पर्य नागरिक स्वतन्त्रता और राजनीतिक स्वतन्त्रता से है। विचार, अभिव्यक्ति, भाषण, संघ बनाना, सम्पत्ति रखना, आदि नागरिक स्वतन्त्रताएं हैं। मतदान में भाग लेना, प्रतिनिधियों को चुनना, निर्वाचन में खड़ा होना, सार्वजनिक पद पर नियुक्ति का अधिकार, सरकारी नीतियों की आलोचना करना, आदि राजनीतिक स्वतन्त्रताएं है। प्रस्तावना में भारतीय नागरिकों के व्यक्तित्व के विकास हेतु स्वतन्त्रता का आश्वासन दिया गया है।

(8) पंथनिरपेक्षता - पंथनिरपेक्ष राज्य किसी धर्म विशेष को प्रोत्साहन नहीं देता और न वह किसी धर्म के साथ कठोरता का ही व्यवहार करता है। पंथनिरपेक्ष राज्य के अन्तर्गत धर्म को नितान्त व्यक्तिगत वस्तु समझा जाता है। संविधान की प्रस्तावना में पंथ और उपासना की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करके धार्मिक अल्पसंख्यकों को कारगर संरक्षण प्रदान किया गया है। हमारा ध्येय भारत को एक पंथनिरपेक्ष राज्य बनाना है।

(9) समता समता से अभिप्राय है कि अपने व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिए प्रत्येक मनुष्य को समान अवसर उपलब्ध होने चाहिए। धन, जाति, वंश के आधार पर मनुष्य-मनुष्य में अन्तर नहीं होना चाहिए। सभी नागरिकों को देश के शासन विधान में समान भाग मिलना चाहिए। लिंग, नस्ल अथवा सम्पत्ति के आधार पर राजनीतिक अधिकारों का निषेध नहीं होना चाहिए। समान योग्यता और समान श्रम के लिए वेतन भी समान होना चाहिए। एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य का अथवा एक वर्ग को दूसरे वर्ग का आर्थिक

शोषण करने का कोई अधिकार नहीं होना चाहिए। हमारे संविधान की प्रस्तावना में नागरिकों को स्थान और अवसर की ही समता प्रदान की गई है, जो अत्यन्त विस्तृत है।

(10) राष्ट्रीय एकता - प्रस्तावना में राष्ट्रीय एकता पर बल दिया गया है। भाषा आदि की विविधता होते हुए भी भारत एक राष्ट्र है। इस सम्बन्ध में, प्रस्तावना का महत्व इसलिए अधिक हो जाता है कि इसमें उन दो विशेष आधारों पर बल दिया गया है, जिनके माध्यम से राष्ट्रीय एकता दृढ़ होती है। सर्वप्रथम्, प्रस्तावना में व्यक्ति की प्रतिष्ठा तथा महत्व पर बल दिया गया है। व्यक्ति को लोकतन्त्र कीएक महत्वपूर्ण इकाई मानते हुए, राष्ट्रीय एकता को एक महत्वपूर्ण आधार माना गया है। राष्ट्रीय स्वाभिमान की भावना की जागृति, व्यक्ति के स्वाभिमान की भावना से सम्बन्धित है, परन्तु व्यक्ति के स्वाभिमान की भावना राज्य एवं समाज में, उसके महत्व को स्वीकार करने पर निर्भर है। यदि राज्य तथा समाज में व्यक्ति को उसकी उचित प्रतिष्ठा तथा अधिकार प्राप्त है, यह स्वाभाविक है कि नागरिक के रूप में देश के प्रति उसकी आस्था बनी रहेगी और इसके फलस्वरूप राष्ट्रीय भावना तथा एकता दृढ़ होगी। द्वितीय, यह भी माना जाता है कि समाज तथा राज्य द्वारा व्यक्ति की प्रतिष्ठा एवं अधिकारों की स्वीकृति, राज्य तथा समाज में नागरिकों के मध्य बन्धुत्व या स्नहेह की भावना प्रज्जवलित करेगी, जिससे राष्ट्रीय एकता दृढ़ होगी। इस प्रकार प्रस्तावना में निहित इन दो आधारों पर संविधान-निर्माताओं ने राष्ट्रीय एकता को दृढ़ बनाने का आश्वासन दिया है।

3.5 प्रस्तावना : संविधान की आत्मा

प्रस्तावना में भारत के संविधान की आत्मा विशेष रूप से मुखर हुई है। संविधान की आत्मा के अध्ययन से देश के नवयुवकों को देश-प्रेम की नई प्रेरणा मिलती है, राष्ट्रीय एकता की भावना को बल मिलता है और विधान के प्रति अमर आस्था जागृत होती है। प्रस्तावना में निम्नलिखित गुण हैं, जिससे यह कहा जा सकता है कि यह हमारे संविधान की आत्मा है:

(1) प्रस्तावना संविधान की प्रेरणा और प्राण है यह प्रस्तावना भारतीय संविधान की आत्मा और प्राण है। कानून की दृष्टि से यह संविधान का अंग नहीं है, फिर भी यही उसका प्रेरणा स्त्रोत है। संविधान के सारे उपबन्ध प्रस्तावना से स्फूर्ति ग्रहण करते हैं। डॉ. सुभाष काश्यप के शब्दों में, "संविधान शरीर है तो प्रस्तावना उसकी आत्मा, प्रस्तावना आधारशिला है तो संविधान उस पर खड़ी अट्टालिका, प्रस्तावना तथ्य निर्देश है तो संविधान के विभिन्न अनुच्छेद उस तथ्य की सिद्धि के साधन ।"

(2) नूतन भावनाओं एवं संकल्पों का बोध यह प्रस्तावना नूतन भावनाओं एवं संकल्पों का बोध कराती है। इससे शासनकर्ताओं को नई दिशाएं एवं सामाजिक समता और न्याय करने के लिए संकल्पों का बोध होता है। यह संविधान की आत्मा तथा संविधान की कुन्जी है। यह प्रस्तावना संविधान को उत्कृष्ट रूप प्रदान करती है तथा संविधान-निर्माताओं के विचारों तथा उद्देश्यों को स्पष्ट करती है।

(3) प्रस्तावना संविधान की आत्मा है संविधान की आत्मा कहते हैं 'संविधान के मूल सिद्धान्तों और आधारभूत मूल्यों को।' हमारे सववोच्च न्यायालय ने बेरूबारी मामले में अपना निर्णय देते हुए प्रस्तावना को संविधान अथवा अधिनियम के निर्माताओं के आशय को स्पष्ट करने वाली कुन्जी कहा है।

(4) प्रस्तावना में चित्रित है स्वाधीनता संघर्ष की कल्पना का भारत हम जिन मान्यताओं को युगों से संजोते रहे और विशेषकर, जो विश्वास, निष्ठा और आकांक्षाएं हमने अपने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-संग्राम काल में हृयंगम की वे संविधान की प्रस्तावना में पूरी तरह परिलक्षित होती है।

(5) प्रस्तावना पर किसी वाद या एक विचारधारा का प्रभाव नहीं वर्तमान युग में अनेक विचारधाराओं का प्रादुर्भाव हुआ है और विश्व के विभिन्न संविधानों पर उसका प्रभाव स्पष्ट झलकता है। चीन का शासन विधान जहां मार्क्सवादी दर्शन के प्रभाव से भरा पड़ा है वहीं अमरीका का संविधान क्रान्तिवादी और पूँजीवादी दर्शन पर आधारित है। भारतीय संविधान किसी एक विचारधारा से बंधा हुआ नहीं है। संविधान की प्रस्तावना में समस्त प्रचलित विचारधाराओं के श्रेष्ठ तत्वों पर निचोड़ उपलब्ध है। प्रस्तावना में प्रस्तुत न्याय का सिद्धान्त व्यवहारोपयोगी है और समाजवाद, साम्यवाद या पूँजीवाद जैसे किसी विशिष्ट दर्शन का अनुगामी नहीं है।

(6) भारतीय क्रान्ति की सूत्रधार प्रस्तावना संविधान की प्रस्तावना पर फ्रांसीसी, रूसी और अमरीकी क्रान्ति का प्रभाव झलकता है। यह बात सर्वविदित है कि फ्रांस की क्रान्ति स्वतन्त्रता, समानता और भातृत्व पर जोर देती है, सोवियत क्रान्ति आर्थिक समानता पर और अमरीकी क्रान्ति वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर जोर देती है। । भारतीय संविधान की प्रस्तावना में अन्तर्निहित सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की धारणा में तीनों ही क्रान्तियों का समन्वय कर दिया गया है।(7) प्रस्तावना में चित्रित है भावी भारत का स्वरूप प्रस्तावना संविधान-निर्माताओं की कल्पना के भारत का रूप प्रकट करती है। संविधान-निर्माताओं की योजना यह थी कि आर्थिक और राजनीतिक लोकतन्त्र को एक ऐसा लक्ष्य माना जाए जिस तक हमें पहुंचना है। प्रस्तावना में निहित लक्ष्य आज भी हमारे

राष्ट्रीय आदर्श हैं और युग-युग में प्रत्येक सरकार को उनकी प्राप्ति के लिए सतत् प्रयास करना होगा।

मूल्यांकन (An Estimate) संविधान की प्रस्तावना का उद्देश्य राजनीतिक व्यवस्था का लक्ष्य निर्धारित करना तथा उसकी नीति सुनिश्चित करना है। यद्यपि यह प्रस्तावना संविधान का अंग नहीं है और इसे न्यायाल य में कानून की संज्ञा नहीं दी जा सकती है, किन्तु इसका वैधानिक महत्व अत्यधिक है, क्योंकि संवैधानिक और संसदीय अधिनियमों की इसी के प्रकाश में व्याख्या की जा सकती है। एक मुकदमें के सम्बन्ध में उच्चतम न्यायालय ने 1969 में कहा था, "यदि विधानमण्डल द्वारा प्रयुक्त किसी शब्दावली पर कोई शंका उत्पन्न हो जाए तो उसे दूर करने का सबसे विश्वसनीय तरीका यह है कि उसके मूल में निहित भावनाओं, उसके आधार और कानून निर्माण के कारण पर विचार किया जाए तथा 'प्रस्तावना' का आश्रय लिया जाए।"

3.6 सार संक्षेप

भारतीय संविधान की प्रस्तावना में भारतीय राज्य के उद्देश्यों और मूल सिद्धांतों को स्पष्ट किया गया है। इसमें भारत को एक संप्रभु, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक गणराज्य घोषित किया गया है। यह प्रस्तावना नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, समान अवसर और व्यक्तिगत गरिमा की सुरक्षा का वचन देती है।

3.7 शब्दावली

1. **संपूर्णता** – संविधान सभी नागरिकों के लिए लागू है।
2. **संप्रभुता** – भारत स्वतंत्र और आत्मनिर्भर है।
3. **समाजवाद** – समाज में समानता और भेदभाव का अंत।
4. **धर्मनिरपेक्षता** – सभी धर्मों को समान सम्मान।
5. **लोकतंत्र** – नागरिकों द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों के माध्यम से शासन।
6. **गणराज्य** – राष्ट्राध्यक्ष का चुनाव जनता द्वारा।
7. **न्याय, स्वतंत्रता, समानता** – हर नागरिक को न्याय, स्वतंत्रता और समानता का अधिकार।
8. **व्यक्तित्व की गरिमा** – नागरिकों की व्यक्तिगत गरिमा की सुरक्षा।

3.8 स्व -प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

1. संविधान की आत्मा है:

(अ) राष्ट्रपति का निर्वाचन (ब) नीति निदेशक सिद्धान्त

(स) प्रस्तावना (द) संघ व्यवस्था संबंधी प्रावधान ।

2. संविधान की 'प्रस्तावना' की आधारशिला है:

(अ) क्रिप्स योजना (ब) उद्देश्य प्रस्ताव

(स) माउन्टबैटन योजना (द) कैबिनेट मिशन योजना।

3. 42वें संशोधन अधिनियम द्वारा प्रस्तावना में जोड़ा गया है:

(अ) समाजवादी-धर्मनिरपेक्ष (ब) समाजवादी-लोकतंत्रात्मक

(स) लोकतंत्रात्मक-समाजवादी (द) धर्मनिरपेक्ष-समाजवादी ।

4. भारतीय संविधान में निहित दर्शन की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति :

(अ) राष्ट्रपति में हुई है (ब) प्रधानमंत्री में हुई है

(स) प्रस्तावना में हुई है (द) मौलिक अधिकारों में हुई है।

उत्तर (1) स, (2) ब, (3) अ, (4) स

3.9 संदर्भ सूची

1. आंबेडकर, बी. आर. (2018). *भारतीय संविधान और सामाजिक न्याय.* नई दिल्ली: नेशनल बुक ट्रस्ट।
2. दुबे, एस. सी. (2019). *भारतीय लोकतंत्र: संरचना और प्रक्रिया.* जयपुर: रावत पब्लिकेशन।
3. त्रिपाठी, एस. (2020). *संविधान का अध्ययन.* वाराणसी: हिंदुस्तानी एकेडमी।
4. मिश्रा, आर. (2021). *भारतीय राजनीति और संविधान.* दिल्ली: मैकमिलन इंडिया।
5. सिंह, जे. (2022). *राजनीति विज्ञान की रूपरेखा.* पटना: प्रभात प्रकाशन।
6. चौहान, पी. (2023). *भारतीय लोकतंत्र और संविधान की प्रस्तावना.* लखनऊ: सत्यम पब्लिशिंग।
7. शर्मा, के. (2020). *संविधान और आधुनिक भारत.* चंडीगढ़: यूनीवर्सिटी प्रेस।

3.10 अभ्यास प्रश्न

1.भारतीय संविधान की प्रस्तावना के प्रमुख लक्षणों की विवेचना कीजिए।

2. प्रस्तावना में वर्णित धर्मनिरपेक्षता एवं राष्ट्रीय एकता से संबंधित सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए।

3. प्रस्तावना को संविधान की आत्मा क्यों कहा जाता है ?

4. प्रस्तावना उद्योशिका से क्या अभिप्राय है?

5. 42 वें संवैधानिक संशोधन द्वारा प्रस्तावना में क्या-क्या परिवर्तन किये गये ?

इकाई 4

भारतीय संविधान की प्रमुख विशेषताएँ

4.1 प्रस्तावना

4.2 उद्देश्य

4.3 भारतीय संविधान की प्रमुख विशेषताएँ

4.4 भारतीय संविधान की आलोचना

4.5 सार संक्षेप

4.6 शब्दावली

4.7 स्व -प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

4.8 संदर्भ सूची

4.9 अभ्यास प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

"भारतीय संविधान न केवल एक विधिक दस्तावेज है, बल्कि यह भारत की आत्मा और लोकतांत्रिक आदर्शों का प्रतीक भी है। यह देश की विविधता में एकता बनाए रखने, नागरिकों के अधिकारों की सुरक्षा करने, और एक समतामूलक समाज के निर्माण का मार्गदर्शक है। इसकी प्रमुख विशेषताएं जैसे मौलिक अधिकार, धर्मनिरपेक्षता, संघीय ढांचा, और न्यायपालिका की स्वतंत्रता, इसे विश्व के अन्य संविधानों से अद्वितीय बनाती हैं। भारतीय संविधान, अपने नागरिकों को न केवल अधिकार प्रदान करता है, बल्कि उनके कर्तव्यों का बोध भी कराता है। यह समता, न्याय और स्वतंत्रता जैसे आदर्शों को साकार करने का मार्ग प्रशस्त करता है।"

हमारी शासन - व्यवस्था का संचालन हमारे संविधान के अनुसार ही होता है। संविधान शासन व्यवस्था को आधार प्रदान करता है। संविधान राजनीतिक व्यवस्था का खाका मात्र न होकर राष्ट्र की जनता की आस्थाओं एवं, मान्यताओं की अभिव्यक्ति करता है। संविधान पदों का विन्यास मात्र ही नहीं होता वरन् जीवन की एक शैली है। हमारे संविधान निर्माताओं का ध्येय ऐसे व्यावहारिक संविधान का निर्माण करना था जिसे भारत की विशिष्ट परिस्थितियों एवं संकट की घड़ियों में भी चलाया जा सके। संविधानसभा में प्रारूप समिति के अध्यक्ष डॉ. अम्बेडकर ने स्पष्टतः स्वीकार किया था कि 'हमारे

संविधान में यदि कोई नवीन बात है, तो यही कि उसमें पुराने प्रचलित संविधानों की गलतियों को दूर कर दिया जाए और उसे देश की आवश्यकताओं के अनुरूप ढाला जाए। उधार लेने में किसी तरह की साहित्यिक चोरी नहीं है। शासन और विधान के बुनियादी सिद्धान्तों के बारे में किसी का कोई एकाधिकार नहीं होता ।'

4.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप निम्नलिखित कार्य करने में सक्षम होंगे:

1. भारतीय संविधान की प्रमुख विशेषताओं को समझ सकेंगे।
2. भारतीय संविधान में निहित मौलिक अधिकारों और कर्तव्यों का विश्लेषण कर सकेंगे।
3. संविधान में वर्णित संघीय और एकात्मक विशेषताओं की पहचान कर सकेंगे।
4. संविधान के तहत लोकतांत्रिक प्रक्रिया और शासन व्यवस्था को समझ सकेंगे।
5. संविधान द्वारा स्थापित स्वतंत्रता, समानता और न्याय के सिद्धांतों का मूल्यांकन कर सकेंगे।

4.3 भारतीय संविधान की प्रमुख विशेषताएँ

न्यायमूर्ति हिदायतुल्ला के शब्दों में, "मूलतः भारत के संविधान का सरोकार दो मामलों से है: न्याय, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक तथा व्यक्ति के स्वातन्त्रतय अधिकार। अतः संविधान इस प्रकार बनाया गया कि इन दोनों उद्देश्यों का बिलकुल स्पष्ट निरूपण हो जाए। "भूतपूर्व लोकसभा अध्यक्ष गुरुदयालसिंह ढिल्लन ने लिखा है, "भारत की जनता ने जो संविधान स्वाधीन जनता के रूप में अपने आपको अर्पित किया वह एक अद्वितीय दस्तावेज है। हम जिन मान्यताओं को युगों से संजोते रहे और विशेषकर, जो विश्वास, निष्ठा और आकांक्षाएँ हमने अपने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता काल में हृदयंगम की वे इस संविधान में पूरी तरह परिलक्षित होती हैं, ऐसा उदाहरण शायद अन्य बहुत कम संविधानों में मिलेगा। वास्तव में भारत का संविधान राज्य के रूप में नवोदित इस प्राचीन राष्ट्र के लिए एक आस्था पत्र और उसके भविष्य का खाका है।" के. सन्थानम के अनुसार, "संविधान में केवल सरकार के ढांचे की ही व्यवस्था नहीं होती है अपितु उसमें संविधान-निर्माताओं की विचारधाराओं का भी समावेश रहता है। भारतीय संविधान के बारे में यह विशेष रूप से सच है।"

भारतीय संविधान की कतिपय महत्वपूर्ण विशेषताएँ अधोलिखित है

1. निर्मित तथा लिखित संविधान: हमारा संविधान लिखित है, इसलिए यह संविधान ब्रिटिश संविधान से भिन्न है जो अलिखित है। ब्रिटिश संविधान विकसित है और हमारा संविधान निर्मित है क्योंकि इसको संविधानसभा ने बनाया है। भारतीय संविधान के लिखित प्रलेख को देखा जा सकता है, पढ़ा जा सकता है और उसके अनुच्छेदों का सन्दर्भ दिया जा सकता है। संविधान का निर्माण करने के उद्देश्य से गठित संविधानसभा की पहली बैठक 9 दिसम्बर, 1946 को हुई और दो वर्ष ग्यारह महीने व उन्नीस दिन तक परिश्रमपूर्वक कार्य करके उसने संविधान का प्रारूप तैयार किया।

2. विश्व का सबसे लम्बा संविधान :- भारत के संविधान का विश्लेषण करते हुए जैनिंग्स ने कहा है कि "यह विश्व का सबसे लम्बा संविधान है।" मूल संविधान में कुल 395 अनुच्छेद थे जो 22 भागों में विभाजित थे और इसमें 8 अनुसूचियां थी। अब तक हुए 95 संविधान संशोधन के पश्चात संविधान के कतिपय अनुच्छेदों का निरसन किया गया और कतिपय नये अनुच्छेद (परिच्छेद) जोड़े गये तथापि आज भी संविधान में कुल 395 अनुच्छेद हैं जो 22 भागों में विभाजित हैं। इसके अतिरिक्त 12अनुसूचियां तथा 3 परिशिष्ट है। हमारे संविधान की लम्बाई का मुख्य कारण यह है कि इसमें न केवल केन्द्रीय बल्कि प्रान्तीय सरकार के ढाँचे और शक्तियों का भी वर्णन है; इसकी लम्बाई का दूसरा कारण यह है कि इसमें हरिजनों, पिछड़ी जातियों और जनजातियों के लिए विशेष उपबन्ध हैं। इसकी लम्बाई का तीसरा कारण यह है इसमें न केवल नागरिकों के मौलिक अधिकार बल्कि राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धांतों का भी वर्णन है। आयरलैण्ड को छोड़कर अन्य देशों के संविधानों में राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांतों का उल्लेख नहीं है। इसकी लम्बाई का चौथा कारण यह है कि इसमें केन्द्र राज्य सम्बन्धों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति की संकटकालीन शक्तियों, सार्वजनिक सेवाओं, चुनाव आयोग इत्यादि का भी वर्णन इस संविधान में मिलता है।

3. **संविधान की सर्वोच्चता**: भारत की राजनीतिक व्यवस्था इस सिद्धांत पर आधारित है कि संविधान देश का सर्वोच्च कानून है और उसकी सर्वोच्चता को चुनौती नहीं दी जा सकती। ऐसे कानून जो संविधान का अतिक्रमण करते हों, सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अवैध घोषित किए जा सकते हैं। कार्यपालिका में राष्ट्रपति से लेकर नीचे तक के अधिकारी संवैधानिक कानून से ही बंधे हैं। प्रशासनिक कार्यों के दौरान वे संविधान का उल्लंघन नहीं कर सकते हैं। राष्ट्रपति, राज्यपाल, केन्द्र तथा राज्यों के मन्त्रीगण अपना कार्यभार संभालने से पूर्व संविधान के प्रति सम्मान एवं निष्ठा की भावना की शपथ ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार समस्त न्यायाधीश संविधान के संरक्षण की शपथ लेते हैं। परन्तु इन

व्यवस्थाओं के उपरान्त भी भारतीय संविधान कोई पत्थर की लकीर नहीं है जो सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति में बाधक होने की स्थिति में छुआ न जा सके।

4. **लोक प्रभुसत्ता** :- संविधान की प्रस्तावना में ही लोक प्रभुसत्ता की घोषणा की गई है। प्रस्तावना में स्पष्ट कर दिया गया है कि इस देश की प्रभुसत्ता का वास जनता में होगा। लोक प्रभुसत्ता का अनुमान इस बात से लगता है कि केन्द्रीय एवं राज्य सरकारें अपनी सत्ता निर्वाचनों के माध्यम से जनता द्वारा ग्रहण करती है। निर्वाचन का आधार वयस्क मताधिकार है। कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी है और व्यवस्थापिका जनता की इच्छाओं का प्रतिबिम्ब है। निर्वाचकों को मतदान की स्वतंत्रता एवं गुप्त मतदान का अधिकार है। निर्वाचन सम्बन्धी कार्य का संचालन एक स्वतंत्र संवैधानिक आयोग के द्वारा किया जाता है।

5. **समाजवादी राज्य** :- संविधान सभा में इस बात पर पर्याप्त वाद विवाद हुआ था कि भारत के द्वारा समाजवाद को राज्य दर्शन के रूप में स्वीकार किया जाये अथवा नहीं। अन्त में यही सोचा गया कि किसी एक विशेष दर्शन को स्वीकार करने से नवीन विवादों को जन्म मिलेगा। लेकिन इस बात पर सभी भारतीय सहमत रहे कि भारत के लिए समाजवाद का मार्ग ही उपयुक्त हो सकता है। इस सामान्य भावना को स्वीकारते हुए ही 42 वें संवैधानिक संशोधन द्वारा प्रस्तावना में भारत को "समाजवादी राज्य" घोषित किया गया है।

वस्तुतः प्रस्तावना में भारत को 'समाजवादी राज्य' घोषित करने से वस्तुस्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया है। प्रथम, प्रस्तावना को 'न्याय योग्य' स्थिति प्राप्त नहीं है। द्वितीय, समाजवाद शब्द अपने आप में बहुत अधिक अस्पष्ट है। भारत के द्वारा अपनी विशेष परिस्थितियों के आधार पर ही समाजवाद को अपनाया जायेगा और भारतीय समाजवाद अन्य अधिक परिचित समाजवादों से अपने आप में भिन्न है। तथापि वैश्वीकरण-उदारीकरण के इस युग में आज कोई भी समाजवाद की प्रासंगिकता एवं औचित्य का बखान नहीं करता।

6**. संसदीय शासन प्रणाली** भारत का संविधान लोकतन्त्रात्मक है। जब संविधान सभा में यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि भारत में कौनसी सरकार अपनाई जाय तो संविधान सभा ने बहुमत से यह निर्णय किया कि भारत में संसदीय सरकार अपनाई जाए। संसदीय सरकार की यह विशेषता होती है कि इसमें मंत्रिमण्डल के हाथ में सारी कार्यपालिका शक्तियाँ होती हैं और गणराज्य के अध्यक्ष के पास नाम मात्र की शक्तियाँ होती हैं। इस पद्धति में मंत्रिमण्डल लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होता है। लोकसभा मंत्रिमण्डल के विरुद्ध 'काम रोको प्रस्ताव' 'अविश्वास प्रस्ताव' तथा 'निन्दा प्रस्ताव' पास कर सकती

हैऔर उसे पदच्युत कर सकती है। संसदीय प्रणाली को अपनाने का मुख्य कारण यह था कि हमारे संविधान - निर्माता इस पद्धति से पूरी तरह परिचित थे तथा के एम. मुन्शी के अनुसार, "इसमें उत्तरदायित्व तथा स्थायित्व दोनों का मिश्रण था।"

7. **बहिरंग संघात्मक** किन्तु अन्तरंग एकात्मक भारत का संविधान एक लिखित प्रलेख है तथा संविधान को सर्वोच्चता प्राप्त है। केन्द्र तथा राज्यों के बीच शक्तियों का विभाजन किया गया है। इसके अतिरिक्त संघ का एक सर्वोच्च न्यायालय है, जो विधि सम्बन्धी विषयों का निर्णय करता है, केन्द्र तथा राज्यों के मध्य होने वाले विवादों का निपटारा करता है। इस दृष्टि से भारत में संविधान द्वारा संघात्मक प्रणाली की स्थापना की गई है।

इन व्यवस्थाओं के उपरान्त भी भारतीय संविधान को संघात्मक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह संघ राज्य की आवश्यक शर्तों को दुर्बल करता है। संविधान का प्रथम अनुच्छेद भारत को 'संघ राज्य' न कहकर 'राज्यों का संगठन' बताता है। भारतीय संघ का निर्माण इकाइयों की स्वेच्छा से नहीं हुआ। केन्द्रीय सरकार राज्यों की परवाह किए बिना संविधान में संशोधन कर सकती है, यहाँ तक कि राज्यों के द्वितीय सदन को केन्द्रीय संसद समाप्त कर सकती है। संविधान द्वारा सशक्त केन्द्र की स्थापना की गई है। केन्द्रीय सत्ता न केवल संघ सूची के विषयों तक सीमित है अपितु समवर्ती सूची में भी इसी की प्रधानता है। प्रत्येक परिस्थिति में केन्द्र राज्यों को प्रशासनिक आदेश एवं निर्देशन दे सकता है। केन्द्र प्रधान संघ होने के कारण कुछ विद्वानों का कहना है कि, "भारत के संविधान का ढाँचा संघीय है, किन्तु उसकी आत्मा एकात्मक है।" डॉ. सुभाष कश्यप के अनुसार, "भारतीय संविधान का बहिरंग संघात्मक है, पर अन्तरंग एकात्मक ।"

8. **मौलिक अधिकार** :- व्यक्तित्व के विकास के लिए अधिकारों की व्यवस्था होना परम आवश्यक है। भारत में मूल अधिकारों की घोषणा करने की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि यह है कि देश नागरिक अधिकारों की असुरक्षा की भावना काफी समय से सहन करता रहा है। अतः संविधान के भाग 3 में मौलिक अधिकारों की व्याख्या की गई। भारत के नागरिकों को स्वतंत्रता, समानता, धार्मिक स्वतंत्रता, शोषण के विरुद्ध अधिकार प्राप्त है और साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति को समाप्त कर दिया गया है। संविधान के निर्माताओं ने भाग तीन में उन सब बातों को शामिल कर लिया था जिनकी कांग्रेस माँग करती रही। इन अधिकारों के प्रवर्तन के लिए नागरिक न्यायालय की शरण ले सकता है। डॉ. अनन्त शयनम आयंगर के अनुसार, "भारतीय संविधान सभा में वर्णित अधिकार विश्व के अन्य संविधानों की तुलना में कम व्यापक नहीं है।" डॉ. अम्बेडकर ने संविधान में कहा कि

"मनुष्य के अधिकारों की घोषणा हमारे मानसिक ढाँचे का अंग बन चुकी है। वे हमारे दृष्टिकोण का विशिष्ट अंग हैं।" आचार्य जे.बी. कृपलानी ने कहा कि हमने जो कुछ बनाया है वे केवल कानूनी, संवैधानिक और औपचारिक सिद्धांत नहीं है बल्कि नैतिक सिद्धांत है।" वस्तुतः हमारे मौलिक अधिकार उसी प्रकार के हैं जैसे संयुक्त राष्ट्र संघ के मानव अधिकार पत्र में दिए गए हैं। ये आधारभूत अधिकार है और मानव जीवन के शाश्वत मूल्यों की श्रेणी में आते है। सरकार के अस्तित्व का नैतिक औचित्य इस पर आधारित है कि उन अधिकारों की, जो मानव-स्वभाव के साथ गहन रूप से सम्बद्ध हैं, रक्षा की जाए।

9. **राज्य नीति के निर्देशक तत्व** :- भारत में लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना के लिए संविधान द्वारा आदर्शों का वर्णन किया गया है जिनकी पूर्ति करके देश में 'राम राज्य'की स्थापना की जा सकती है। ये आदर्श 'राज्यनीति के निर्देशक सिद्धांत के नाम से सम्बोधित किए जाते हैं। राज्यनीति के निर्देशक तत्व हमारे संविधान की संजीवनी व्यवस्थाएँ हैं। इन सिद्धांतों में हमारे संविधान का और उसके सामाजिक न्याय दर्शन का वास्तविक तत्व निहित हैं। ये तत्व हमारे संविधान की प्रतिज्ञाओं और अभीप्साओं को वाणी प्रदान करते हैं। निर्देशक सिद्धांतों का उद्देश्य शान्तिपूर्ण ढंग से सामाजिक-आर्थिक न्याय और समता प्रदान करना है। इन सिद्धांतों में व्यक्ति के आर्थिक और सामाजिक स्तर को ऊँचा उठाने की बात कही गई है। पिछड़े वर्गों के जीवन स्तर को ऊपर उठाने, अन्तर्राष्ट्रीय विधि का पालन करने, बीमारी और बुढ़ापे में राज्य द्वारा व्यक्ति की मदद करने की हिदायतें दी गई हैं। प्रत्येक सरकार की सफलता और असफलता का मूल्यांकन इसी आधार पर किया जा सकेगा कि सरकार ने इन तत्वों का पालन कहाँ तक किया है। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार, "निर्देशक तत्व ऊँचे आदर्शों का घोषणा पत्र नहीं है, अपितु राज्य के नाम नैतिक आदेश है। यदि सरकार ने इनकी उपेक्षा की तो भले ही इसके कानूनी परिणाम न निकलें, किन्तु इसके राजनीतिक परिणाम बड़े भयंकर होंगे।"

10. **स्वतंत्र न्यायपालिका**: हमारे संविधान में न्यायपालिका को स्वतंत्र बनाने का भरसक प्रयास किया गया है। इस हेतु उसका गठन, न्यायाधीशों की नियुक्ति का ढंग, वेतन आदि संविधान में निश्चित किए गए हैं ताकि सरकार या संसद के सदस्य उनके वेतन में कटौती की धमकी देकर उन पर अनुचित दबाव न डाल सके। न्यायपालिका को कार्यपालिका से अलग करने की पूरी कोशिश की गई है। संविधान की व्याख्या एवं केन्द्र-राज्य के शक्ति विभाजन सम्बन्धी विवादों के हल हेतु एक सर्वोच्च न्यायालय की व्यवस्था की गई है। कार्यपालिका एवं संसद तथा राज्य विधान-मण्डलों के संविधान विरुद्ध कार्यों को सर्वोच्च न्यायालय अवैध घोषित कर सकता है। दूसरे शब्दों में, अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय की

भांति न्यायिक पुनर्विलोकन का अधिकार हमारे सर्वोच्च न्यायालय द्वारा प्रयुक्त किया जा सकता है।

11. **कठोरता और लचीलेपन** का समन्वय संशोधन प्रणाली के आधार पर संविधान दो प्रकार के होते हैं- कठोर संविधान तथा लचीला संविधान। लचीला संविधान उस संविधान को कहते हैं जिसमें साधारण कानून और संवैधानिक कानून में अन्तर नहीं किया जाता और इसके विपरीत, कठोर संविधान में संवैधानिक संशोधन के लिए साधारण कानून निर्माण से भिन्न तथा जटिल प्रक्रिया को अपनाया जाता है।

उपर्युक्त दृष्टि से भारतीय संविधान कठोर संविधानों की श्रेणी में आता है क्योंकि भारतीय संविधान की अधिकांश धाराओं को संशोधित करने के लिए संसद के सभी सदस्यों के बहुमत के अतिरिक्त उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत की भी आवश्यकता होती है। अनुच्छेद 368 के अनुसार कुछ विषयों में संशोधन के लिए संसद के समस्त सदस्यों के बहुमत और उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत के अतिरिक्त कम-से-कम आधे राज्यों के विधानमण्डलों का अनुसमर्थन भी आवश्यक है-जैसे राष्ट्रपति के निर्वाचन की विधि, संघ और इकाइयों के बीच शक्ति विभाजन, राज्यों का संसद में प्रतिनिधित्व आदि। संशोधन की उपर्युक्त प्रणाली निश्चित रूप से कठोर है।

लेकिन संविधान निर्माताओं द्वारा पारिभाषिक दृष्टि से एक कठोर संविधान का निर्माण किये जाने पर भी इस बात को ध्यान में रखा गया कि तेजी से बदलती हुई परिस्थितियों के कारण भारतीय संविधान में बहुत जल्दी ही किसी प्रकार के परिवर्तन करने की आवश्यकता हो सकती है। इसलिए व्यावहारिक दृष्टि से भारतीय संविधान के संशोधन की पद्धति उतनी जटिल नहीं हैं जितनी कि अमरीकी या अन्य संघ राज्यों के संविधानों की संशोधन पद्धति। कुछ क्षेत्रों में तो संविधान संसद के साधारण बहुमत से ही संशोधित हो जाता है। उदाहरणस्वरूप, नवीन राज्यों के निर्माण, वर्तमान राज्यों के पुनर्गठन और भारतीय नागरिकता के अर्थ परिवर्तन आदि कार्य संसद साधारण बहुमत से कर सकती है।

इस प्रकार भारतीय संविधान न तो ब्रिटिश संविधान की भांति लचीला है और न अमरीकी संविधान की भांति अत्यधिक कठोर। इस सम्बन्ध में भारतीय संविधान में मध्यम मार्ग को ही अपनाया गया है। इस पर प्रकाश डालते हुए पंडित नेहरू ने संविधान सभा में कहा, "यद्यपि जहां तक सम्भव हो हम इस संविधान को ठोस और स्थायी संविधान का रूप देना चाहते हैं, संविधान में कोई स्थायित्व नहीं होता, उसमें लचीलापन होना चाहिए। यदि संविधान में सभी कुछ स्थायी और कठोर बना दिया जाय, तो राष्ट्र का विकास रुक जायेगा, क्योंकि राष्ट्र जीवित विकासशील प्राणियों का समूह है। किसी भी

स्थिति में हम अपने संविधान को इतना कठोर नहीं बनाना चाहते कि वह बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तित न हो सके।"

12. **पंथनिरपेक्ष राज्य की स्थापना**: वेंकटरामन के अनुसार, "भारतीय राज्य न तो धार्मिक है न अधार्मिक और न ही धर्म विरोधी, किन्तु यह धार्मिक संकीर्णताओं तथा संकुचित वृत्तियों से बिल्कुल दूर है और धार्मिक मामलों में तटस्थ है।" संविधान द्वारा भारत में पंथनिरपेक्ष राज्य की नींव डाली गई है।

राज्य का अपना कोई धर्म नहीं है। प्रत्येक नागरिक को अपनी इच्छानुसार धर्म के पालन एवं धर्म के प्रसार का अधिकार है। भारत में धार्मिक मामलों में राज्य तटस्थ रहता है और राज्य धर्म को अन्तः करण की वस्तु मानता है। राज्य किसी धर्म के प्रति पक्षपातपूर्ण व्यवहार नहीं करता और न ही धार्मिक आधार पर किसी अन्य क्षेत्र या सरकारी नौकरियों में भेदभाव दिखाएगा।

संविधान के अनुच्छेद 25 से 28 में पंथनिरपेक्ष राज्य के आदर्शों का उल्लेख किया गया है। डोनाल्ड यूजीन स्मिथ के अनुसार चूंकि भारत में अनेक सम्प्रदाय और मत-मतान्तर है, इसलिए भारत में राज्य द्वारा किसी विशेष पंथ को मान्यता देना अच्छा नहीं समझा गया। यद्यपि धर्मनिरपेक्ष शब्द को संविधान में कहीं स्थान नहीं दिया गया है फिर भी नारमन डी. पामर के अनुसार संविधान में वर्णित मूल अधिकार तथा अनुच्छेद 325 के अनुसार पंथ निरपेक्ष राज्य की ही स्थापना होती है। सन् 1976में 42 वें संविधान संशोधन द्वारा प्रस्तावना में 'पंथनिरपेक्ष' शब्द अब अंकित कर दिया गया है।

13. एकल नागरिकता : भारतीय संविधान द्वारा संघात्मक शासन की स्थापना की गयी है और सामान्यतया ऐसा समझा जाता रहा है कि संघ राज्य के नागरिकों को दोहरी नागरिकता प्राप्त होनी चाहिए- संघ की नागरिकता और इकाई राज्यों की नागरिकता। अमेरिका और अन्य संघ राज्यों में ऐसी व्यवस्था है, लेकिन भारतीय संविधान के निर्माताओं का विचार था कि दोहरी नागरिकता भारत की एकता को बनाये रखने में बाधक सिद्ध हो सकती है। अतः संविधान निर्माताओं द्वारा संघ व्यवस्था की स्थापना करते हुए भी दोहरी नागरिकता को नहीं वरन् एकल, नागरिकता के आदर्श को ही अपनाया गया है।

14. एक राष्ट्रभाषा की व्यवस्था: राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करने के लिए हमारे संविधान में हिन्दी को देवनागरी लिपि में भारत की राष्ट्रभाषा घोषित किया गया है। इसके साथ ही संघ सरकार के सभी कार्यालयों में संविधान लागू होने के 15 वर्ष बाद तक अंग्रेजी के प्रयोग की आज्ञा दे दी गई। संविधान में यह भी कहा गया है कि संसद के द्वारा 15 वर्ष

बाद भी आज्ञा जारी कर अंग्रेजी के प्रयोग की अनुमति दी जा सकती है। 1965 में 'सहभाषा विधेयक' पास कर हिन्दी के साथ अंग्रेजी को जारी रखने की अनुमति दी गयी। एक राष्ट्रभाषा की यह व्यवस्था क्षेत्रीय भाषा की प्रगति में बाधक नहीं है। संविधान में भारतीय भाषाओं को विभिन्न राज्यों में प्रादेशिक भाषा के रूप में प्रयोग के लिये स्वीकार कर लिया गया है।

15. संविधान के बुनियादी ढाँचे में परिवर्तन संशोधन असम्भव: लोकतंत्र, संघ व्यवस्था, गणतन्त्रीय स्वरूप, पंथनिरपेक्षता, न्यायिक पुनर्निरीक्षण, स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव आदि भारतीय संविधान के बुनियादी ढाँचे (Basic Structure) का निर्माण करते हैं और बुनियादी ढाँचे में संशोधन नहीं किया जा सकता है।

4.4 भारतीय संविधान की आलोचना (Criticism of the Indian Constitution)

हमारे संविधान की अनेक अनुपम विशेषताओं के उपरान्त भी आलोचकों ने इसकी अनेक कमियों पर प्रकाश डाला है। कतिपय आलोचक हमारे संविधान को 'अभारतीय' मानते हैं तो कुछ इसे 'विविध संविधानों की खिचड़ी' कहकर पुकारते हैं। आलोचकों ने यहां तक कहा है कि यह संविधान भारतीय परिवेश में अनुपयुक्त है और इसका पुनर्निरीक्षण होना चाहिए। भारतीय संविधान की कुछ महत्वपूर्ण आलोचनाएँ अधोलिखित हैं -

1. भारतीय संविधान अत्यधिक लम्बा और जटिल है सर आइबर जैनिंग्स ने लिखा है कि "भारतीय संविधान अत्याधिक लम्बा, विस्तृत तथा दुष्परिवर्तनशील है।" संविधान निश्चित रूप से लम्बा और विस्तृत तो है परन्तु दुष्परिवर्तनशीलता सिद्ध नहीं हुई है। संविधान सभा के अधिकांश सदस्यों की दृष्टि से संविधान के विस्तार के अनेक ठोस आधार थे। कई धाराओं का समावेश तो इसलिए किया गया था क्योंकि उनके विषय में यह सोचा गया कि वे आधारभूत महत्व की हैं और इस कारण उन्हें सामान्य व्यवस्थापन के स्तर पर नहीं छोड़ना चाहिए। उदाहरण के लिए, लोक सेवाओं तथा नागरिकता से सम्बन्धित धाराएँ इसलिए समाविष्ट की गई हैं कि उन्हें संसद की पहुंच से दूर रखकर उनकी स्वतंत्रतासुरक्षित की जा सके। इसके अतिरिक्त संविधान में केन्द्रीय सरकार के अतिरिक्त राज्यों की शासन-प्रणाली का भी विस्तृत वर्णन किया गया है, जिससे संविधान विस्तृत बन गया है।

2. भारतीय संविधान अवैध है: कतिपय आलोचक भारतीय संविधान को अवैध मानते हैं। उनके अनुसार संविधान का निर्माण करने वाली संविधान सभा वयस्क मताधिकार के

सिद्धांत पर निर्वाचित नहीं हुई थी और उसे सम्प्रभु संस्था भी नहीं कहा जा सकता। यह संविधान सभा' मंत्रिमण्डल मिशन योजना' के आधार पर गठित की गई थी और उसे इसी योजना द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों के अनुसार संविधान का निर्माण करना था। अतः प्रभुताविहिन संविधान सभा द्वारा निर्मित संविधान को अवैध कहा जा सकता है, परन्तु यह आरोप भी सच नहीं है। भारतीय स्वाधीनता अधिनियम, 1947 के द्वारा देश को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हो गई थी और ब्रिटिश सत्ता का अन्त हो चुका था। 14-15, अगस्त 1947 की मध्यरात्रि को संविधान-सभा ने प्रभुत्व शक्ति प्राप्त कर ली और इसके पश्चात् यह पूर्ण प्रभुता संपन्न संस्था बन गई। अतः भारतीय संविधान को अवैध नहीं कहा जा सकता।

3. भारतीय संविधान अभारतीय है: आलोचकों का मत है कि यह संविधान अभारतीय है और अपने सिद्धांतों में न सही तो कम से कम स्वरूप में विदेशी है। के. एल. साहू ने कहा कि, "उन आदर्शों का भारत की मूल भावना से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है जिनसे संविधान का यह स्वरूप तैयार हुआ है। मैं यह विश्वास दिला सकता हूँ कि यह संविधान उपयुक्त सिद्ध नहीं होगा और जैसे ही इसे क्रियान्वित किया जायेगा, यह विघटित हो जाएगा।" बहस के दौरान संविधान सभा के एक सदस्य ने कहा कि "हम वीणा अथवा सितार का संगीत चाहते थे, लेकिन हमें अंग्रेजी बैंड की धुनें मिली हैं।" इन आलोचनाओं के बावजूद भी हमारे संविधान में जगह-जगह भारतीयता का पुट मिलता है। उदाहरणार्थ, संविधान द्वारा प्रदत्त लोकतांत्रिक पद्धति, विश्व शांति का आदर्श, धार्मिक सहिष्णुता, मद्यनिषेध, गोवध निषेध, विकेन्द्रित आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था, पंचायती राज, आदि को नितान्त अभारतीय नहीं कहा जा सकता।

4. भारतीय संविधान में मौलिकता का अभाव है: आलोचकों का कहना है कि भारतीय संविधान में मौलिकता का नितान्त अभाव है। अनेक स्थानों पर यह संविधान 1935 के अधिनियम की नकल बन गया है। संसदीय प्रणाली इंग्लैंड से ली गई तो संघ व्यवस्था के प्रावधान अमेरिका, आस्ट्रेलिया और कनाडा के संविधान से प्रभावित है। संविधान का 21 वां अनुच्छेद जापान के संविधान की देन है तो मौलिक अधिकारों के स्थगन सम्बन्धी राष्ट्रपति के अधिकार वीमर संविधान की नकल है। श्रीधरानी ने लिखा है कि, "हमारे संविधान की मौलिकता यही है कि इसमें स्वतंत्रतापूर्वक संसार के प्रायः समस्त संविधानों के श्रेष्ठतम भागों को चुन लिया गया है।" विदेशी संविधानों की व्यवस्थाओं को अपनाने के उपरान्त भी हमारा संविधान बहुत अधिक मौलिक बन गया है। हमारे संविधान की संशोधन प्रक्रिया अपने किस्म की अनूठी ही है। हमारा संविधान न तो इतना लचीला है जितना कि ब्रिटेन का और न ही इतना कठोर है जितना सं.रा. अमेरिका का। वी. एन. राव ने लिखा है, "यदि दूसरे देशों के संविधानों की बातों को

भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल ढाल दिया गया है तो इसे किसी भी प्रकार भारतीय संविधान का दोष नहीं कहा जा सकता। अधिकांश आधुनिक संविधानों में दूसरे देशों के संविधानों का पूरा लाभ उठाया जाता है। दूसरे देशों के अनुभवों या स्वयं के विगत अनुभवों से लाभ उठाना बुद्धिमत्ता का मार्ग है।"

5. **भारतीय संविधान वकीलों का स्वर्ग है:** संविधान सभा में एक सदस्य ने कहा था कि, "यह संविधान लोगों को अधिक विवादी बनाकर न्यायालयों की ओर आकर्षित करेगा यह संविधान तो सत्य ही वकीलों का स्वर्ग है. यह तो परस्पर विवाद के नए मार्ग खोलकर हमारे योग्य वकीलों को पर्याप्त कार्य प्रदान करेगा।" यह सत्य है कि यह संविधान दुर्बोध, अस्पष्ट एवं जटिल भाषा से युक्त है। संविधान के विभिन्न उपबंधों को विस्तृत एवं असंदिग्ध भाषा में लिपिबद्ध किया गया है। इसमें प्रयुक्त भाषा न्यायालय की भाषा है, संवैधानिक भाषा है। लगभग प्रत्येक अनुच्छेद के साथ, अपवाद, अर्हताएँ तथा व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई हैं। भारत के सामान्य नागरिक के लिए संविधान समझना कठिन है। इस संविधान को विधि विशेषज्ञ ही समझ सकते हैं; परंतु प्रो. पायली का मत है कि "यह आवश्यक नहीं है कि संविधान की जटिलता परस्पर विवादों का कारण ही बने। किसी वैधानिक प्रलेख की जटिलता और विस्तार का लोगों के परस्पर विवादों से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है।" अमरीकी संविधान संक्षिप्त एवं सरल है किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इस कारण अमरीका में मुकदमेंबाजी कम हुई। भारत के सर्वोच्च न्यायालय के सामने आने वाले विवादों में सबसे अधिक संख्या मौलिक अधिकारों से सम्बद्ध मामलों की है। अतः यदि संविधान के किसी भाग को वकीलों का स्वर्ग कहा जा सकता है तो वह मौलिक अधिकार संबंधी भाग ही है।

6. **केन्द्र को आवश्यकता से अधिक शक्तिशाली बनाया गया है:** आलोचकों का कहना है कि भारत में संविधान द्वारा अधिकांश शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार को सौंप दी गई हैं और राज्यों की स्थिति नगरपालिकाओं के समतुल्य हो गई है। भारत के राष्ट्रपति द्वारा राज्यों के राज्यपालों की नियुक्ति, एकीकृत न्याय-व्यवस्था, इकहरी नागरिकता, अखिल भारतीय नागरिक सेवाएँ तथा राष्ट्रपति की संकटकालीन शक्तियां हमारे संविधान के प्रमुख लक्षण हैं। हमारे संविधान निर्माता भारतीय इतिहास के इस तथ्य से परिचित थे कि भारत में जब-जब केन्द्रीय सत्ता दुर्बल हो गई तब-तब भारत की एकता भंग हो गई और उसे पराधीन होना पड़ा। वे भारत में इतिहास की पुनरावृत्ति नहीं चाहते थे, अतः उन्होंने केन्द्रीय सत्ता को अधिक शक्तिशाली बनाया। इस प्रकार भारत में संघीय प्रणाली का विकास देश की राजनीतिक स्थिति के अनुसार हुआ है।

4.5 सार संक्षेप

लिखित संविधान: भारतीय संविधान एक लिखित दस्तावेज़ है, जिसमें राज्य के शासन, कार्यप्रणाली, नागरिकों के अधिकार और कर्तव्यों, और संविधान के संशोधन की प्रक्रिया का विस्तृत विवरण है।

लंबा और विस्तृत संविधान: भारतीय संविधान दुनिया का सबसे लंबा लिखित संविधान है, जिसमें 25 भाग, 448 अनुच्छेद, और 12 अनुसूचियाँ शामिल हैं।

संप्रभुता: भारत एक स्वतंत्र और संप्रभु राष्ट्र है, जिसका मतलब है कि भारत अपने आंतरिक और बाह्य मामलों में स्वतंत्र है और किसी बाहरी शक्ति द्वारा हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता।

संविधानात्मक संघवाद: भारतीय संविधान संघीय ढांचे का पालन करता है, जिसमें केंद्र और राज्य सरकारों के बीच शक्तियों का वितरण किया गया है। हालांकि, भारतीय संविधान में केंद्र की शक्तियाँ राज्य की तुलना में अधिक प्रबल हैं।

सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय: भारतीय संविधान नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की गारंटी देता है। यह संविधान के अनुच्छेद 14 (समानता का अधिकार), 15 (भेदभाव का निषेध), और 16 (समान अवसर का अधिकार) में प्रतिविंबित होता है।

लोकतंत्र: भारत एक लोकतांत्रिक गणराज्य है, जहाँ सरकार जनता द्वारा चुनी जाती है। इसमें नागरिकों को सार्वभौमिक मताधिकार (सभी वयस्क नागरिकों को मतदान का अधिकार) प्राप्त है।

धर्मनिरपेक्षता: भारतीय संविधान धर्मनिरपेक्ष है, जिसका अर्थ है कि राज्य किसी विशेष धर्म को बढ़ावा नहीं देता और सभी धर्मों को समान मान्यता प्रदान करता है।

संविधानिक अधिकार: भारतीय संविधान नागरिकों को मौलिक अधिकार प्रदान करता है (अनुच्छेद 12 से 35 तक), जैसे जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अधिकार, समानता का अधिकार, धर्म का पालन करने की स्वतंत्रता, और सांस्कृतिक अधिकार।

न्यायिक समीक्षा: भारतीय संविधान न्यायपालिका को यह अधिकार देता है कि वह कानूनों की संवैधानिकता की समीक्षा कर सके। यदि कोई कानून संविधान के खिलाफ होता है, तो उसे असंवैधानिक घोषित किया जा सकता है।

संशोधन की प्रक्रिया: भारतीय संविधान में संशोधन की प्रक्रिया भी है (अनुच्छेद 368), जिससे संविधान की धाराओं को समय के साथ बदलने की सुविधा मिलती है।

गणराज्य: भारत एक गणराज्य है, जहाँ राष्ट्राध्यक्ष (राष्ट्रपति) का चुनाव जनता द्वारा किया जाता है और वह किसी वंशानुगत अधिकार से नहीं आते।

पार्लियामेंटरी प्रणाली: भारतीय संविधान में संसदीय प्रणाली को अपनाया गया है, जिसमें सरकार का प्रमुख प्रधानमंत्री होता है और वह संसद के प्रति उत्तरदायी होता है।

4.6 शब्दावली

संविधान (Constitution): एक लिखित या अप्रतिबद्ध दस्तावेज़ जो एक देश की राजनीतिक व्यवस्था, नागरिकों के अधिकारों, सरकार के कर्तव्यों और शक्तियों को निर्धारित करता है।

संविधान संशोधन (Constitutional Amendment): संविधान में किसी भी प्रावधान या अनुच्छेद में बदलाव या सुधार करना।

संघीय प्रणाली (Federal System): एक राजनीतिक प्रणाली, जिसमें सरकार के पास शक्तियों का वितरण केंद्र और राज्यों के बीच होता है।

केंद्र (Centre): भारतीय संविधान के तहत केंद्र सरकार, जो देश का शासन चलाती है और सभी राज्यों से ऊपर होती है।

राज्य (State): भारतीय संघ में शामिल प्रत्येक राज्य, जिनके पास केंद्र सरकार से अलग कुछ स्वायत्त शक्तियाँ होती हैं।

मौलिक अधिकार (Fundamental Rights): भारतीय संविधान में नागरिकों को प्रदान किए गए अधिकार जो उनका बुनियादी अधिकार होते हैं, जैसे समानता का अधिकार, स्वतंत्रता का अधिकार आदि।

पार्लियामेंटरी शासन (Parliamentary System): शासन की वह प्रणाली जिसमें कार्यकारी सत्ता प्रधानमंत्री और मंत्रिपरिषद के पास होती है, और संसद (Legislature) के द्वारा नियंत्रित की जाती है।

न्यायिक स्वतंत्रता (Judicial Independence): न्यायपालिका को स्वतंत्र रूप से कार्य करने का अधिकार, बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के।

राष्ट्रपति (President): भारतीय गणराज्य का प्रमुख, जो भारतीय संविधान के अनुसार राज्य का संवैधानिक प्रमुख होता है।

प्रधानमंत्री (Prime Minister): केंद्र सरकार का प्रमुख, जो संसद में बहुमत के आधार पर चुना जाता है और सरकार के कार्यों को नियंत्रित करता है।

अनुच्छेद (Article): संविधान का एक विशिष्ट प्रावधान या खंड, जो किसी विशेष विषय पर नियम या निर्देश प्रदान करता है।

संविधान सभा (Constituent Assembly): वह सभा, जिसने भारतीय संविधान को तैयार किया था।

संविधानिक कर्तव्यों (Constitutional Duties): वे कर्तव्य जो भारतीय नागरिकों के लिए संविधान में निर्धारित हैं, जैसे देश के प्रति निष्ठा, संविधान का पालन करना आदि।

न्यायिक समीक्षा (Judicial Review): न्यायालयों का अधिकार, जिसमें वे यह तय करते हैं कि क्या सरकार द्वारा लिया गया कोई निर्णय संविधान के अनुसार है या नहीं।

अधिकार (Rights): वे स्वतंत्रताएँ या सुविधाएँ जो प्रत्येक नागरिक को संविधान द्वारा दी जाती हैं, जैसे नागरिक स्वतंत्रता, धर्म की स्वतंत्रता, भाषाओं का अधिकार आदि।

अनुसूचियाँ (Schedules): भारतीय संविधान में दी गई सूची या तालिका, जो संविधान के विभिन्न प्रावधानों से संबंधित विवरण या नियमों को स्पष्ट करती है।

संघीय सूची (Union List): भारतीय संविधान की सूची जिसमें वे विषय दिए गए हैं जिन पर केवल केंद्र सरकार कानून बना सकती है।

राज्य सूची (State List): भारतीय संविधान की सूची जिसमें वे विषय दिए गए हैं जिन पर राज्य सरकारें कानून बना सकती हैं।

समझौता (Preamble): संविधान की प्रस्तावना, जो संविधान के उद्देश्यों और मूल सिद्धांतों को व्यक्त करती है।

राज्यसभा (Rajya Sabha): भारतीय संसद का उच्च सदन, जिसमें राज्य सरकारों और केंद्र शासित प्रदेशों द्वारा निर्वाचित सदस्य होते हैं।

लोकसभा (Lok Sabha): भारतीय संसद का निम्न सदन, जिसमें जनता द्वारा सीधे चुनावों के माध्यम से चुने गए सदस्य होते हैं।

4.7 स्व-प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

1.अमरीकी संविधान की किस विशेषता का हमारे संविधान पर प्रभाव नहीं पड़ा है:

(अ) संघ व्यवस्था (ब) क्ति पृथक्करण

(स) मौलिक अधिकार (द) न्यायिक पुनर्निरीक्षण ।

2.हमारे संविधान में समवर्ती सूची का विचार किस संविधान से ग्रहण किया गया है:

(अ) कनाडा (ब) स्विट्जरलैण्ड

(स) अमेरिका (द) आस्ट्रेलिया ।

3. सर्वोच्च न्यायालय के किस निर्णय ने भारतीय संविधान के स्वरूप को सर्वाधिक प्रभावित किया है:

(अ) गोपालन बनाम मद्रास राज्य (ब) गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य

(स) केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य (द) इनमें से कोई नहीं।

4. भारतीय संविधान का एक लक्षण है:

(अ) विकसित, लिखित एवं व्यापक (ब) निर्मित, लिखित एवं व्यापक

(स) निर्मित, अलिखित एवं संक्षिप्त (द) निर्मित, संक्षिप्त एवं लिखित ।

2.भारत एक गणराज्य है क्योंकि

(अ) यहाँ गणराज्यों की परम्परा रही है (ब) कई गणराज्यों का संघ है

(स) राज्य का सर्वोच्च अधिकारी जनता द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होता है

(द) राज्य का प्रधान वंशानुगत है।

6. भारत एक संसदात्मक व्यवस्था वाला देश है क्योंकि :

(अ) प्रस्तावना में संसदात्मक व्यवस्था का उल्लेख किया गया है

(ब) कार्यपालिका संसद के प्रति उत्तरदायी है

(स) राज्य का प्रधान निर्वाचित है

(द) प्रधानमंत्री संसद का नेता होता है।

7. भारतीय संविधान :

(अ) संसदीय सर्वोच्चता पर जोर देता है (ब) न्यायिक सर्वोच्चता पर जोर देता है

(स) संसदीय सर्वोच्चता और न्यायिक सर्वोच्चता के मध्यम मार्ग का अनुसरण करता है

(द) इनमें से किसी पर जोर नहीं देता है।

8. भारतीय संविधान में नीति निदेशक सिद्धान्तों का विचार ग्रहण किया गया है:

(अ) स्विट्जरलैण्ड से (ब) आस्ट्रेलिया से (स) आयरलैण्ड से(द) कनाडा से ।

उत्तर (1) ब, (2) द, (3) स, (4) ब, (5) स, (6) ब, (7) स, (8) स

4.8 संदर्भ सूची

1. बक्षी, पी. एम. (**2020).** *भारतीय संविधान की व्याख्या.* नई दिल्ली: यूनिवर्सल लॉ पब्लिशिंग।
2. तिवारी, बी. एन. (**2018).** *भारतीय शासन और राजनीति.* इलाहाबाद: प्रयाग प्रकाशन।
3. नारायण, जे. (**2019).** *भारतीय संविधान: सिद्धांत और व्यवहार.* नई दिल्ली: सेज पब्लिकेशंस।
4. सिंह, एम. पी., और सक्सेना, रेखा (**2021).** *भारतीय संविधान के संघीय पहलू.* हैदराबाद: ओरिएंट ब्लैकस्वान।
5. अग्रवाल, के. सी. (**2022).** *भारतीय लोकतंत्र और संविधान.* जयपुर: रावत पब्लिकेशंस।
6. चंद्रा, एस. (**2023).** *भारत का संवैधानिक इतिहास.* कोलकाता: एशियन बुक्स।
7. प्रकाश, डी. (**2017).** *भारतीय राजनीति और संवैधानिक विकास.* लखनऊ: विनोद पब्लिकेशंस।

4.9 अभ्यास प्रश्न

1. भारत के संविधान की विशेषताएँ क्या हैं?
2. भारतीय संविधान की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
3. एकल नागरिकता से क्या तात्पर्य है?
4. पंथ निरपेक्षता से आप क्या समझते हैं?
5. भारतीय संविधान को कठोरता एवं लचीलेपन का समन्वय क्यों कहा जाता है।

इकाई 5

मौलिक अधिकार और मौलिक कर्तव्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 उद्देश्य

5.3 मौलिक अधिकार एवं मौलिक कर्तव्य

5.4 मौलिक अधिकारों का महत्व

5.5 मौलिक अधिकारों के विशिष्ट लक्षण

5.6 संविधान प्रदत्त मौलिक अधिकार

5.7 मौलिक अधिकारों की समीक्षा

5.8 मौलिक अधिकार और राजनीतिक व्यवस्था

5.9 मौलिक कर्त्तव्य

5.10 सार संक्षेप

5.11 शब्दावली

5.12 स्व -प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

5.13 संदर्भ सूची

5.14 अभ्यास प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

मौलिक अधिकारों की प्रस्तावना भारत के संविधान में मौलिक अधिकारों को भाग III (अनुच्छेद 12 से 35) के अंतर्गत शामिल किया गया है। इन्हें भारतीय नागरिकों को गरिमा और स्वतंत्रता के साथ जीवन जीने का अवसर देने के लिए प्रदान किया गया है। यह अधिकार नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय सुनिश्चित करते हैं और लोकतंत्र की भावना को मजबूत करते हैं।यह प्रस्तावना नागरिकों को यह सिखाती है कि अधिकार और कर्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, और उनके पालन से ही समाज और राष्ट्र का समग्र विकास संभव है।

5.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्नलिखित कार्य करने में सक्षम होंगे:

1. मौलिक अधिकारों और मौलिक कर्तव्यों की परिभाषा और उनके महत्व को समझ सकेंगे।
2. भारतीय संविधान में मौलिक अधिकारों और कर्तव्यों के प्रावधानों को पहचान सकेंगे।
3. नागरिकों के अधिकारों और कर्तव्यों के बीच संतुलन को विश्लेषित कर सकेंगे।
4. मौलिक अधिकारों और कर्तव्यों के ऐतिहासिक विकास और व्यावहारिक उपयोग का मूल्यांकन कर सकेंगे।

5.3 मौलिक अधिकार एवं मौलिक कर्तव्य

अधिकार व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक है। व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए जो अधिकार अपरिहार्य होते हैं उनको 'मौलिक अधिकार 'कहा जाता है। ये वे अधिकार है जिनको संविधान द्वारा गारंटी प्रदान की जाती है जिससे सत्ताधारी दल बहुमत के जोश में उनको साधारण प्रक्रिया से न छीन सकें। ये अधिकार इसलिए मौलिक है कि व्यक्ति के विकास में इनका अपना मौलिक महत्व है तथा इनके बिना व्यक्ति का सर्वांगीण विकास सम्भव नहीं है। ये अधिकार वैधानिक और कानूनी दृष्टि से भी मौलिक हैं। संविधान निर्माताओं ने इन अधिकारों को पृथक्करणीय माना था। वे इस बात को जानते थे कि मौलिक अधिकार हमारी स्वतंत्रता की गारंटी हैं। इन अधिकारों के बिना लोकतंत्र भी निरंकुश शासन में बदल सकता है।

राजनीति कोश के अनुसार, "अधिकार को मौलिक अधिकार इसलिए कहा जाता है कि जहाँ साधारण अधिकारों को तो विधानमण्डल साधारण प्रक्रिया द्वारा बदल सकते हैं, वहां मूल अधिकारों में इतनी सरलता से परिवर्तन नहीं किया जा सकता। चूंकि नागरिकों को मूल अधिकारों का आश्वासन देश की मूल विधि (संविधान) देती है, अतः राज्य का कोई भी अंग इन अधिकारों का उल्लघंन नहीं कर सकता और यदि वह ऐसा करेगा तो उसका यह कार्य अवैध होगा।" वस्तुतः इन अधिकारों के 'मूल' माने जाने के अनेक कारण हैं- प्रथम, ये अधिकार देश की उच्चतम विधि अर्थात् संविधान में लिपिबद्ध हैं। द्वितीय, ये अधिकार वाद योग्य अधिकार हैं अर्थात् नागरिक इन्हें कार्यान्वित कराने के लिए न्यायालयों की शरण ले सकते हैं। तृतीय, ये अधिकार इसलिए भी मूल हैं कि भारत के सभी सार्वजनिक अधिकारी उन पर अमल करते हैं, ये अधिकारी चाहे संघ के हों, राज्य सरकारों के हों, अथवा स्थानीय निकायों के।

5.4 मौलिक अधिकारों का महत्व

संविधान प्रदत्त मौलिक अधिकारों का अत्यधिक महत्व है जैसे प्रथम, मौलिक अधिकार लोकतंत्र के आधार स्तम्भ हैं। वे इस दृष्टि से आवश्यक हैं कि उनके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के पूर्ण शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास की सुरक्षा प्रदान की जाती है और उन आधारभूत स्वतन्त्रताओं की व्यवस्था की जाती है, जिनके बिना उचित रूप में नागरिक जीवन व्यतीत नहीं किया जा सकता। द्वितीय, मौलिक अधिकार एक देश के राजनीतिक जीवन में एक दल विशेष का अधिनायकत्व स्थापित होने से रोकने के लिए नितान्त आवश्यक है। मौलिक अधिकार बहुमत वर्ग के अत्याचारों से व्यक्ति की, विशेष रूप से अल्पसंख्यकों की रक्षा करते हैं। तृतीय, मौलिक अधिकार वैयक्तिक स्वतंत्रता और सामाजिक नियंत्रण के बीच सामंजस्य की स्थापना करते है। चतुर्थ, मौलिक अधिकार नागरिक को न्याय और उचित व्यवहार की सुरक्षा प्रदान करते हैं और इस प्रकार राज्य के बढ़ते हुए हस्तक्षेप तथा व्यक्ति की स्वतंत्रता के बीच संतुलन स्थापित करते हैं।

5.5 मौलिक अधिकारों के विशिष्ट लक्षण

भारतीय संविधान में उल्लिखित मौलिक अधिकारों के कतिपय विशिष्ट लक्षण इस प्रकार हैं:-

1. विशालता : संविधान में जिन अधिकारों का उल्लेख किया गया है उनकी सूची विश्व के अन्य किसी भी संविधान में निहित अधिकारों की सूची से अपेक्षाकृत लम्बी एवं विस्तृत हैं। आयेंगर के शब्दों

में, "भारतीय संविधान में वर्णित मूल अधिकार अन्य देशों के विधान में पाए जाने वाले अधिकारों से अधिक विस्तृत है।"

2. मर्यादित अधिकार: ये अधिकार पूर्णतः निरपेक्ष नहीं हैं। प्रत्येक मामले में संविधान में अपवादों, परिसीमाओं और अर्हताओं को गिनाया गया है। संविधान ने राज्यों को इन अधिकारों पर सीमाएं और प्रतिबंध लगाने का अधिकार दिया है। पायली के अनुसार, "ये अधिकार पूर्ण नहीं हैं तथा सार्वजनिक हित की सुरक्षा के लिए उन पर प्रतिबंध लगाया जाना सम्भव तथा अभीष्ट है।

3. निषेधात्मक एवं सकारात्मक अधिकार ये सभी मौलिक अधिकार नागरिकों को 'शुद्ध अधिकार 'प्रदान नहीं करते। कुछ अधिकार तो राज्य की सत्ता पर केवल प्रतिबंध लगाते हैं, जैसे-राज्य सेना अथवा शैक्षणिक उपाधियों के अतिरिक्त कोई उपाधि प्रदान नहीं करेगा आदि, अतः इन्हें निषेधात्मक अधिकार कहा जा सकता है। किन्तु जगह-जगह

सकारात्मक अधिकार भी देखे जा सकते हैं, जैसे स्वतंत्रता का अधिकार, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक अधिकार आदि ।

4. नागरिकों एवं विदेशियों में अंतर इन अधिकारों के उपभोग के सम्बन्ध में संविधान में

नागरिकों और विदेशियों में अंतर किया गया है। कानून के समक्ष समानता, धार्मिक स्वतन्त्रता आदि के अधिकार नागरिकों और विदेशियों के लिए समान हैं, जबकि भाषण और सम्मेलन की स्वतन्त्रता, सांस्कृतिक और शैक्षणिक अधिकार केवल नागरिकों को दिये गये हैं।

5. संविधान के अलावा अन्य अधिकार नहीं कोई भी व्यक्ति मौलिक अधिकारों के अध्याय के बाहर राज्य के विरुद्ध किसी मौलिक अधिकार का दावा नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में ये मौलिक अधिकार इस रूप में पूर्ण अधिकार हैं कि इन अधिकारों के अतिरिक्त भारतीयों को कोई अन्य अधिकार प्राप्त नहीं हैं।

6. संवैधानिक उपचारों की व्यवस्था मौलिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए और उन्हें वास्तविक बनाने की दृष्टि से संवैधानिक उपचारों की व्यवस्था की गई है। इन संवैधानिक उपचारों के अधिकार को मौलिक अधिकार ही मान लिया गया है। यदि कोई मौलिक अधिकार छीना जाता है अथवा उनका अतिक्रमण होता है तो नागरिक न्यायालय की शरण ले सकते हैं।

7. मौलिक अधिकारों का निलम्बन सम्भव संकटकालीन स्थितियों को ध्यान में रखते हुए मौलिक अधिकारों के निलम्बन की व्यवस्था की गई है। संकट काल के दौरान राष्ट्रपति को अधिकार दिया गया है कि वह मौलिक अधिकार को लागू करने के लिए न्यायालयों की शरण में जाने के अधिकार को भी निलम्बित कर दें।

8. संसद मौलिक अधिकारों में संशोधन कर सकती है मौलिक अधिकारों के अध्याय में किसी भी प्रकार का परिवर्तन करने की शक्ति भारतीय संसद को प्राप्त हो गई है। 'गोलकनाथ विवाद' में सर्वोच्च न्यायालय ने संसद की इस शक्ति पर प्रतिबंध लगा दिया था। अब संविधान का चौबीसवां संशोधन पारित करके यह व्यवस्था की गई है कि ये अधिकार परिवर्तनशील हैं।

5.6 संविधान प्रदत्त मौलिक अधिकार

प्रारम्भ में हमारे संविधान में सात मूल अधिकारों का उल्लेख किया गया था। ये अधिकार हैं- (1) समानता का अधिकार, (2) स्वतंत्रता का अधिकार, (3) शोषण के विरुद्ध अधिकार, (4) धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार, (5) सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक अधिकार,

(6) सम्पत्ति का अधिकार एवं (7) संवैधानिक उपचारों का अधिकार। बाद में सन् 1978 में 44 वे संविधान संशोधन द्वारा सम्पत्ति के मूल अधिकार को कानूनी अधिकार घोषित कर दिया गया। अतः संविधान में छः मूल अधिकार ही अंकित हैं।

(1) समानता का अधिकार - संविधान के अनुच्छेद 14 से 18 तक समता के अधिकार का उल्लेख मिलता है। समता का अधिकार लोकतंत्र का आधार स्तम्भ है। इस अधिकार से सर्वप्रथम तो यह अभिप्राय है कि कानून के समक्ष सभी नागरिक समान हैं अर्थात् सभी को कानून का समान संरक्षण प्राप्त

है। अनुच्छेद 14 के प्रथम भाग के शब्द 'कानून के समक्ष समानता' ब्रिटिश कॉमन लॉ की देन है। इसके द्वारा राज्य पर यह बन्धन लगाया गया है कि वह सभी व्यक्तियों के लिए एक-सा कानून बनाएगा तथा उन्हें एक समान लागू करेगा। 'कानून के समक्ष समानता' एक नकारात्मक वाक्यांश है जिसके द्वारा किसी को कोई सुविधा प्राप्त नहीं होती वरन् साधारण विधि के अनुसार प्रत्येक वर्ग को समान सजा हो सकती है। 'कानून का समान संरक्षण 'शब्द अमरीकी संविधान से लिए गए है और इसका तात्पर्य यह है कि अपने अधिकारों की रक्षा के लिए प्रत्येक व्यक्ति समान रूप से न्यायालय की शरण ले सकता है। 'कानून का समान संरक्षण' एक सकारात्मक वाक्यांश है क्योंकि यह समान परिस्थितियों में समान व्यवहार का आश्वासन देता है। इस प्रकार अनुच्छेद 14 ऐसी परिस्थितियों की स्थापना करना चाहता है जिनके अन्तर्गत स्वेच्छाचारी एवं भेदभावपूर्ण कानूनों की रचना नहीं हो पायेगी, न कानूनों के प्रयोग में ही भेदभाव बरता जा सकेगा। भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने 'चिरंजीत लाल चौधरी विरुद्ध भारत संघ' नामक मामले में इस प्रकार विचार प्रकट किया कि (1) समान संरक्षण का अर्थ समान परिस्थितियों में एक समान संरक्षण है। (2) विधिनिर्माण करने के लिए राज्य युक्तिसंगत वर्गीकरण कर सकता है। (3) युक्तिसंगत होने की परिकल्पना विधि पक्ष में ही की जाती है। (4) जो विधि के युक्तिसंगत होने को चुनौती देते हैं, यह उन्हीं का दायित्व है कि वह इस बारे में प्रमाण प्रस्तुत करें। पायली के अनुसार, "अनुच्छेद 14 में वर्णित समानता का अधिकार न केवल विधानमण्डलों द्वारा पारित प्रभेदपूर्ण कानूनों से व्यक्ति की रक्षा करता है अपितु कार्यपालिका की निरंकुश स्वेच्छाचारिता को भी रोकता है।" अनुच्छेद 14 केवल राज्य द्वारा किए जा सकने वाले प्रभेद पर ही रोक लगाता है, व्यक्तियों के प्रभेदपूर्ण व्यवहार पर नहीं।

इस अधिकार से दूसरा तात्पर्य यह है कि (अनुच्छेद 15) किसी भी नागरिक को सार्वजनिक स्थानों में जाने या सार्वजनिक सुविधाओं का उपयोग करने दिया जाएगा। राज्य के द्वारा धर्म, मूल वंश, जाति, लिंग, जन्म स्थान आदि के आधार पर नागरिकों के

प्रति जीवन के किसी क्षेत्र में पक्षपात नहीं किया जाएगा। कानून के द्वारा निश्चित किया गया है कि सब नागरिकों के साथ दुकानों, होटलों, कुंओं, तालाबों, सड़कों आदि पर किसी भी प्रकार का सामाजिक भेदभाव नहीं किया जाएगा। इस अनुच्छेद के क्षेत्र की व्याख्या करते हुए भारत के सर्वोच्च न्यायालय का विचार था कि अनुच्छेद 15 द्वारा दिया गया अधिकार नागरिकों को एक व्यक्ति के नाते प्रदान किया गया है। यह प्रत्याभूत करता है कि एक नागरिक के नाते उसको जो अधिकार, सुविधायें एवं उन्मुक्तियां प्राप्त हैं उनके विषय में उससे कोई भेदभाव नहीं बरता जाएगा। सर्वोच्च न्यायालय ने इस तर्क को अस्वीकार कर दिया कि 'व्यक्ति का जन्म स्थान एवं किसी एक राज्य में उनका निवास एक ही बात है। 'न्यायालय के अनुसार यह दो पृथक बातें हैं। तथ्य में भी और विधि में भी अनुच्छेद 15(1) के अनुसार जन्म स्थान के आधार पर भेद-भाव करना निषिद्ध है किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि आवास के आधार पर भेद-भाव नहीं किया जा सकता। किन्हीं नौकरियों के लिए आवास की अर्हता को जाति एवं जन्म स्थान के आधार पर भेद-भाव करना नहीं कहा जा सकता ।

अनुच्छेद 15 में दो अपवाद हैं। प्रथम राज्य को स्त्रियों एवं बच्चों के हित के लिए विशेष व्यवस्था करने का अधिकार दिया गया है। द्वितीय, राज्य को शिक्षा एवं सामाजिक दृष्टि से पिछड़े हुए वर्गों अथवा अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के लिए विशेष व्यवस्था करने का अधिकार प्राप्त है। यह अपवाद मूल संविधान में नहीं था किन्तु संविधान के प्रथम संशोधन द्वारा सन् 1951 में इसे जोड़ा गया है।

इस अधिकार से तीसरा मतलब (अनुच्छेद 16) यह है कि सब नागरिकों को सरकारी पदों पर नियुक्ति के समान अवसर प्राप्त होंगे और इस सम्बन्ध में केवल धर्म, जाति, लिग या जन्म-स्थान या इनमें से किसी के आधार पर सरकारी नौकरी या पद प्रदान करने में भेदभाव नहीं किया जाएगा।

वेंकटरामण के विवाद में सर्वोच्च न्यायालय ने मद्रास सरकार का समुदायों सम्बन्धी वह आदेश अमान्य ठहराया जिसके आधार पर सेवाओं में स्थान आरक्षित किए गए थे। न्यायालय के विचार में आवेदक को मद्रास प्रादेशिक सेवा के लिए सामुदायिक आधार पर अयोग्य ठहराया जाना, एक नागरिक

के रूप में प्राप्त उसके मौलिक अधिकारों का अतिक्रमण है। हमारा संविधान लोक सेवाओं में अवसर की समता के प्रश्न पर काफी गहराई में गया है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि व्यवहार में इन उपबंधों का प्रयोग भली प्रकार से नहीं हो रहा है। घायली ने लिखा है कि, "प्रान्तीयता, साम्प्रदायिकता, जातीयता, सभी का लोकसेवाओं के क्षेत्र में अनाधिकार दखल है।"

चतुर्थ, छुआछूत (अस्पृश्यता) का निषेध कर दिया गया है तथा छुआछूत के आधार पर किया गया कोई भी भेदभाव एक सार्वजनिक अपराध होगा (अनुच्छेद 17)। यह अनुच्छेद भारतीय समाज के अछूत समझे जाने वाले लोगों को स्थाई दासता व निराश्य, स्थायी अपमान व अवहेलना से मुक्ति दिलाने का अधिकार पत्र है। पायली ने लिखा है कि "अस्पृश्यता की परम्परा ने लाखों भारतीयों को निराशा के गड्ढे में ढकेल रखा था, उन्हें अपमानित एवं लज्जित कर राष्ट्र की एकता एवं जीवन-तत्व को नष्ट प्रायः सा कर दिया था। इस अनिष्ट से बचने का दृढ़ निश्चय संविधान के इस अनुच्छेद से प्रकट होता है।" हमारे मौलिक अधिकारों की यह विशेषता है कि वे किसी निर्योग्यता से छुटकारा दिलाएँ और यह अधिकार इसी अर्थ में अधिकार कहलाता है।

हिन्दू समाज में अस्पृश्यता के विष को समाप्त करने के लिए संसद के द्वारा 1955 में "अस्पृश्यता अपराध अधिनियम" (Untouchability Offences Act) पारित किया गया जो पूरे भारत में लागू होता है। इस कानून के अनुसार अस्पृश्यता एक दण्डनीय अपराध घोषित किया गया है।' अस्पृश्यता अपराध अधिनियम' को 1976 में संशोधित कर इसका नाम 'नागरिक अधिकार संरक्षण अधिनियम, 1955' कर दिया गया है।

पंचम, अनुच्छेद 18 में यह व्यवस्था की गई है कि सेना अथवा शिक्षा सम्बन्धी उपाधियों के अतिरिक्त राज्य अन्य कोई उपाधियाँ प्रदान नहीं कर सकता। इसके साथ ही भारतवर्ष का कोई नागरिक बिना राष्ट्रपति की आज्ञा के विदेशी राज्य से भी कोई उपाधि स्वीकार नहीं कर सकता। यह निषेध केवल उपाधियों तक ही सीमित नहीं है वरन् यह राज्य के किसी लाभप्रद पद पर आसीन व्यक्तियों द्वारा, विदेशी राज्य से उपहार अथवा किसी प्रकार के पारिश्रमिक अथवा पदवी स्वीकार करने पर भी लागू है।

अनुच्छेद 18 की उपयुक्त व्यवस्था के बावजूद भारत में 1950 से ही भारत रत्न, पद्म विभूषण और पद्मश्री आदि उपाधियाँ भारत सरकार द्वारा प्रदान की जाती थीं। मार्च, 1977 में जनता पार्टी की सरकार के गठन के बाद महान्यायवादी ने परामर्श दिया कि ये उपाधियाँ अनुच्छेद 18 की धारा 1,2 और 3 के शब्दों तथा भावना के अनुरूप नहीं है। अतः जुलाई, 1977 में संसद द्वारा एक विधेयक पारित कर इन उपाधियों को समाप्त कर दिया गया। सन् 1980 में राजनीतिक स्थिति में पुनः परिवर्तन के साथ भारत रल, पद्म विभूषण और पद्म श्री आदि उपाधियों को मान्यता प्रदान कर दी गई।

(2) स्वतंत्रता का अधिकार लोकतान्त्रिक उद्देश्यों के अनुरूप भारतीय संविधान में सभी नागरिकों को स्वतंत्रता के मौलिक अधिकार प्रदान करने की सुनिश्चित व्यवस्था की गई है। इस अधिकार की व्यवस्था संविधान के अनुच्छेद 19 से 22 तक की गई है। पायली के अनुसार, "स्वतंत्रता के अधिकार से सम्बन्धित ये चार अनुच्छेद मौलिक अधिकारों के

अध्याय का 'मूल आधार' है। सामूहिक रूप से यह चारों अनुच्छेद व्यक्ति स्वातंत्र्य का अधिकार-पत्र है।"

संविधान का 19 वां अनुच्छेद 'आधारभूत अनुच्छेद' कहला सकता है। इस अनुच्छेद द्वारा नागरिकों को छः प्रकार की स्वतंत्रता प्रदान की गई है-

(i) विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता भारत के सभी नागरिकों को विचार करने, भाषण देने और अपने व अन्य व्यक्तियों के विचारों के प्रचार की स्वतन्त्रता प्राप्त है। इसमें प्रेस की स्वतन्त्रता भी सम्मिलित है। अनुच्छेद 19 (1) (क) में भाषण के साथ 'अभिव्यक्ति' शब्द का प्रयोग इस स्वतन्त्रता को और व्यापक बना देता है, इससे इसमें समाचार पत्र, पुस्तकें इत्यादि सभी शामिल हो जाती हैं। सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा प्रेस की स्वतंत्रता की रक्षा सम्बन्धी 'रमेश थापर' वाले मामले में दिए गए निर्णय से यह स्पष्ट हो जाता है कि वास्तव में संविधान में 'मुद्रक' अथवा 'प्रेस' शब्द का प्रयोग न होने से कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं हुई। संविधान के प्रथम संशोधन द्वारा सन् 1951 में विचार और अभिव्यक्ति कीस्वतंत्रता को सीमित कर दिया गया है और अब राज्य इस पर युक्तियुक्त प्रतिबंध लगा सकता है। इस समय भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर निम्नलिखित सात प्रतिबंध लागू है- (1) राज्य की सुरक्षा, (2) विदेशी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध, (3) सार्वजनिक व्यवस्था, (4) सदाचार व नैतिकता, (5) न्यायालय का अवमान, (6) मानहानि, एवं (7) हिसा को प्रोत्साहन। संविधान के 16 वें संशोधन द्वारा इस स्वतंत्रता पर एक और प्रतिबंध लगा दिया गया है। अब यदि कोई व्यक्ति भारत राज्य से उसके किसी भाग को पृथक करवाने का प्रचार करे तो उसकी स्वतंत्रता को सीमित किया जा सकता है। इस प्रकार आज इन प्रतिबंधों का क्षेत्र संविधान के प्रारम्भ से अधिक विस्तृत है। फिर भी प्रत्येक विवाद में न्यायपालिका को पर्याप्त अवसर मिलता है कि वह यह निर्णय दे कि कार्यपालिका द्वारा दिए गए आदेश अथवा विधानमण्डल द्वारा पारित विधि इस अधिकार पर 'युक्तियुक्त निर्बन्धन' है अथवा नहीं। युक्तियुक्त निर्बन्धन से तात्पर्य है कि किसी व्यक्ति के अधिकार उपयोग पर स्वेच्छापूर्ण एवं सार्वजनिक हित की आवश्यकता से अधिक प्रतिबन्ध न लगाया जाए।

(ii) अस्त्र-शस्त्र रहित तथा शान्तिपूर्वक सम्मेलन की स्वतंत्रता व्यक्तियों के द्वारा शान्तिपूर्वक और बिना किन्हीं शस्त्रों के सभा या सम्मेलन किया जा सकता है। लोग शांतिपूर्वक निःशस्त्र एकत्रित होकर राजनीति अथवा अन्य प्रयोजनों के लिए सार्वजनिक वाद-विवाद करने का अधिकार रखते हैं। सार्वजनिक व्यवस्था की रक्षा के लिए इस अधिकार पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है किन्तु यह प्रतिबन्ध 'युक्तियुक्त' होना चाहिए।

(iii) समुदाय और संघ बनाने की स्वतंत्रता सभी नागरिकों को समुदाय और संघ निर्माण की स्वतंत्रता प्रदान की गई है। श्रमजीवी लोग संघ स्थापित करके अपने वैध अधिकारों की मांग कर सकते हैं। किन्तु इस स्वतंत्रता की आड़ में व्यक्ति ऐसे समुदायों का निर्माण नहीं कर सकता, जो षड्यन्त्र करें अथवा शान्ति और व्यवस्था भंग करें। यह अधिकार सार्वजनिक व्यवस्था अथवा नैतिकता के हित में प्रतिबन्धित किया जा सकता है।

(iv) भारत राज्य क्षेत्र में अबाध भ्रमण की स्वतंत्रता भारत के सभी नागरिक बिना किसी प्रतिबन्ध या विशेष अधिकार-पत्र के सम्पूर्ण भारतीय क्षेत्र में घूम सकते हैं।

(v) निवास की स्वतंत्रता भारत के सभी नागरिक अपनी इच्छानुसार स्थायी या अस्थायी रूप से भारत में किसी भी स्थान पर बस सकते हैं।

(vi) जीविका या कारोबार की स्वतंत्रता संविधान ने सभी नागरिकों को वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या व्यवसाय की स्वतन्त्रता प्रदान की है।

'अनुच्छेद 20' के अनुसार, किसी व्यक्ति को उस समय तक अपराधी नहीं ठहराया जा सकता, जब तक कि उसने अपराध के समय में लागू किसी कानून का उल्लंघन न किया हो। इसके साथ ही एक अपराध के लिए व्यक्ति को एक ही बार दण्ड दिया जा सकता है और किसी अपराध में अभियुक्त व्यक्ति स्वयं अपने विरुद्ध गवाही देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। कोई व्यक्ति उससे अधिक दण्ड का पात्र नहीं होगा जो उस अपराध के करने के समय प्रवृत्त विधि के अधीन उस अपराध के लिए दिया जा सकता है।

'अनुच्छेद 21' के अनुसार, "किसी व्यक्ति को अपने प्राण एवं दैहिक स्वतंत्रता से विधि द्वारा पुनः स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर अन्य किसी प्रकार भी वंचित नहीं किया जा सकता ।

'अनुच्छेद 22' के अनुसार, बन्दीकरण की व्यवस्था में संरक्षण प्रदान किया गया है। किसी व्यक्ति को उसके अपराध के बारे में अथवा बन्दी बनाने के कारणों को बतलाए बिना बन्दी गृह में नहीं रखा जाएगा। उसे वकील से परामर्श करने का अधिकार है। बन्दी बनाए जाने के बाद चौबीस घण्टे के अन्दर-अन्दर उसे निकटतम न्यायाधीशों के सम्मुख उपस्थित किया जायेगा। किन्तु अनुच्छेद 22 की व्यवस्था दो प्रकार के व्यक्तियों पर लागू नहीं होगी होगी-((अ) शत्रु देश के निवासियों पर तथा (ब) निवारक निरोध अधिनियम के अन्तर्गत गिरफ्तार व्यक्तियों पर। आजकल 'आन्तरिक सुरक्षा कानून (मीसा) तथाडी.आई.आर (डिफेन्स ऑफ इण्डिया रूल्स) में गिरफ्तार व्यक्तियों पर भी अनुच्छेद 22 की व्यवस्था लागू नहीं होती ।

निवारक निरोध (Preventive Detention)- संविधान का अनुच्छेद 21 खण्ड 4, जिसमें निवारक निरोध का उल्लेख किया गया है, संविधान का, विवादास्पद पहलू है। निवारक निरोध से तात्पर्य है- किसी प्रकार का अपराण किए जाने के पूर्व और बिना किसी प्रकार की न्यायिक प्रक्रिया के ही नजरबन्दी । दूसरे शब्दों में, निवारक निरोध का लक्ष्य व्यक्ति को अपराध के लिए दण्ड देना नहीं वरन् उसे अपराध करने से रोकना है। भारतीय संविधान के अनुसार निवारक निरोध सामान्यकाल तथा संकटकाल दोनों में ही लागू होगा। सर्वप्रथम भारतीय संसद ने निवारक निरोध अधिनियम, 1950 में बनाया था और यह 31 दिसम्बर, 1969 तक चला। संसद में कांग्रेस दल का अपेक्षित बहुमत न होने के कारण इसकी अवधि नहीं बढ़ाई जा सकी। निवारक निरोध के अन्तर्गत गिरफ्तार व्यक्तियों के लिए कतिपय संरक्षणों की व्यवस्था की गई है। किसी व्यक्ति को तीन माह से अधिक समय के लिए नजरबन्द नहीं रखा जा सकता। यदि नजरबन्दी की अवधि बढ़ानी हो तो 'परामर्शदाता मण्डल'की सिफारिश आवश्यक है। इस परामर्शदाता मण्डल का निर्माण ऐसे व्यक्तियों से होगा, जो उच्च न्यायालय के न्यायाधीश बनने की योग्यता रखते हों। संसद ऐसी विधि बना सकती है जिसके द्वारा 'परामर्शदाता मण्डल 'की सलाह के बिना भी किसी व्यक्ति को तीन माह से अधिक हिरासत में रखा जा सकता है। इस सम्बन्ध में 'गोपालन बनाम मद्रास राज्य 'का मामला प्रसिद्ध है। इस विवाद में सर्वोच्च न्यायालय ने 'निवारक निरोध अधिनियम के 14 वें खण्ड को सर्वसम्मति से अवैध घोषित किया। कुछ मामलों में न्यायालय चाहे तो हस्तक्षेप कर सकता है। यह सर्वविदित है कि 'केशवराम बनाम नफीशूल हसन 'के मामले में न्यायालय ने 'ब्लिट्ज 'के सम्पादक को स्वतंत्र करवाया था।

आन्तरिक सुरक्षा कानून (MISA)- पंचम लोकसभा के चुनावों में कांग्रेस दल को संसद में पर्याप्त बहुमत प्राप्त हुआ। सरकार के पास निवारक निरोध जैसा कोई हथियार नहीं था। अतः 7 मई, 1971 को राष्ट्रपति ने आन्तरिक सुरक्षा अध्यादेश जारी किया। जून, 1971 में इस अध्यादेश ने कानून का रूप ग्रहण किया। इस कानून को ही बोलचाल में 'मीसा' के नाम से जाना जाता है। 'मीसा' की व्यवस्था निवारक निरोध अधिनियम से भी कठोर थी। निवारक निरोध अधिनियम के अन्तर्गत नजरबंदी की अधिकतम अवधि एक वर्ष थी। 'मीसा' के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गयी कि एक व्यक्ति को 'परामर्शदाता मण्डल' से सलाह प्राप्त किये बिना संकटकाल की अवधि में अधिक से अधिक 21 माह तक नजरबंद रखा जा सकता है जो भारत की प्रतिरक्षा, सुरक्षा, समाज के लिए आवश्यक आपूर्ति और सेवाओं की सुरक्षा के विरुद्ध कार्यवाही करता है। यदि 'परामर्शदाता मण्डल' नजरबन्दी के कार्य को अनुचित बताता है तो नजरबन्द व्यक्ति को मुक्त कर दिया जायेगा। इस कानून में 1975 में संशोधन कर यह व्यवस्था की गई है कि कोई

नजरबन्द व्यक्ति प्राकृतिक विधि अथवा सामान्य विधि के आधारपर निजी स्वतंत्रता के अधिकार का दावा नहीं कर सकता। इस अधिनियम में किसी व्यक्ति को जमानत पर रिहा करने की व्यवस्था नहीं है।

इस बात को सुनिश्चित करने के लिए आपात स्थिति में नजरबन्द व्यक्तियों को आपात स्थिति के कारण ढंग से निपटने के लिए आवश्यक अवधि से अधिक अवधि तक नजरबन्द न रखा जाये, यह व्यवस्था की गई कि नजरबन्दी आदेश राज्य सरकार के अधीनस्थ सक्षम अधिकारी द्वारा जारी किए जायें। फिर राज्य सरकारें 15 दिन के भीतर आदेश का पुनरावलोकन करेंगी और इस बात की पुष्टि करेंगी कि नजरबन्दी आदेश आवश्यक था या नहीं। इस प्रकार की पुष्टि के बाद भी केन्द्र अथवा राज्य सरकार जैसा भी मामला हो, चार महीने के भीतर मामले पर पुनर्विचार करेगी।

आलोचना - संविधान द्वारा प्रदत्त की गई स्वतंत्रताएँ असीमित नहीं है और इनमें से प्रत्येक पर प्रतिबन्ध लगा दिए गए हैं। के.टी. शाह ने कहा था, "वास्तव में अनुच्छेद 19 द्वारा प्रदत्त की गई स्वतंत्रताएँ इतनी संदेहास्पद हो गई हैं कि इन स्वतंत्रताओं की खोज करने के लिए सूक्ष्मदर्शक यन्त्र का प्रयोग आवश्यक होगा।" न्यायाधीश मण्डल के अनुसार, "निवारक निरोध कानून प्रजातांत्रिक संविधानों के

प्रतिकूल हैं एवं विश्व के अन्य किसी प्रजातांत्रिक राज्य में वे नहीं पाए जाते हैं।" पायली के अनुसार,

"इनके पक्ष में चाहे कुछ भी कहा जाए किन्तु इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि इस उपबन्ध का अस्तित्व भारत में प्रजातन्त्र के नाम पर एक कलंक है निवारक निरोध सामान्य व्यक्ति की आस्था के प्रतिकूल है। अपराध करने पर गिरफ्तार किया जाना उचित है किन्तु अपराध होने या किए जाने की संभावना के आधार पर किसी व्यक्ति को गिरफ्तार कर लेना व्यक्तिगत स्वतंत्रता का उपहास करना है। इस सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय का कहना है कि 'अधिकार ही मूल है, अधिकारों के प्रतिबन्ध नहीं।' अल्लादिकृष्णास्वामी अय्यर के अनुसार, स्वतंत्रता के महान समर्थकों र्थकों का भी यह विचार है कि भारत में अब तक ऐसे राज्य विरोधी तत्व मौजूद है जो संविधान को हानि पहुँचाना चाहते हैं। यदि हमें उन्नति करनी है और अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा सम्पत्ति को सुरक्षित रखना है तो हमें या तो इन तत्वों को शक्ति से कुचलना होगा या इनसे राज्य को बचाने के लिए उचित व्यवस्था करनी होगी। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार, यह स्वीकार करना पड़ेगा कि देश की वर्तमान परिस्थितियों में सार्वजनिक व्यवस्था भंग करने वाले तथा देश की रक्षा सेवाओं में गडबड़ी फैलाने वाले व्यक्तियों का विरोध करना कार्यपालिका के लिये आवश्यक हो सकता है। मैं समझता हूँ कि ऐसी स्थिति में व्यक्ति

स्वातन्त्र्य को राज्य के हितों पर वरीयता प्रदान नहीं की जा सकती। उनके अनुसार, "हो सकता है कि कई ऐसे व्यक्ति और संस्थाएँ हों जो अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए संवैधानिक रास्ते को अपनाने के लिए आवश्यक धैर्य न रखते हुए असंवैधानिक उपायों का प्रयोग करें ऐसी स्थिति में कार्यपालिका को विवश होकर अनेक व्यक्तियों को बन्दी अथवा नजरबन्द करना होगा।" निवारक निरोध केवल विधि के अनुसार ही किया जा सकता है, और यह कार्यपालिका की स्वेच्छा पर निर्भर नहीं है।

स्वतंत्रता के अधिकार का स्थगन 8 जनवरी, 1976 को राष्ट्रपति ने एक आदेश जारी कर घोषणा की कि जब तक देश में आपातकालीन स्थिति लागू है तब तक कोई भी व्यक्ति संविधान के अनुच्छेद 19 में लिखित अधिकारों को क्रियान्वित कराने के लिए किसी अदालत में नहीं जा सकेगा। इससे पहले 27 जून, 1975 को राष्ट्रपति ने एक अधिसूचना जारी करके संविधान के अनुच्छेद 15, 21 और 22 को आपातकालीन स्थिति रहने तक निलम्बित कर दिया था। यह आदेश भारत भर में लागू हुआ। इस आदेश में यह कहा गया कि अनुच्छेद 19 में दिए गए अधिकारों को क्रियान्वित कराने के लिए अगर किसी अदालत में मामला होगा तो वह भी आपातकालीन स्थिति की अवधि तक निलम्बित रहेगा।"3

स्वतंत्रता के अधिकार के स्थगन के राजनीतिक परिणाम जून, 1975 में घोषित आपातकाल के दौरान मौलिक स्वतंत्रताओं के स्थगन के राजनीतिक परिणाम चौंका देने वाले साबित हुए। सत्ताधारी दल की सरकार ने 19 महीनों में आन्तरिक सुरक्षा कानून के अन्तर्गत लाखों बेकसूर लोगों को जेल में बन्द कर दिया और स्वतंत्रता के संवैधानिक अधिकार स्थगित कर दिये। विरोधी दलों ने, खास कर जनता पार्टी ने लोकसभा चुनावों के समय स्पष्ट कहा कि आँसूका (MISA), भारत रक्षा कानून आदि को निरस्त कर जनता को उसके खोये हुए अधिकार दिलायेगी। चुनावों में जनता पार्टी की विजय से आपात स्थिति उठा ली गयी और मौलिक अधिकार भी नागरिकों को पुनः प्राप्त हो गए।

केन्द्र में जनता पार्टी की सरकार बनने के बाद जनता पार्टी के एक वर्ग और कुछ विरोधी दलों द्वारा यह मांग की गयी कि शांतिकाल में किसी भी रूप में निवारक निरोध कानून की व्यवस्था नहीं होनी चाहिये। लेकिन इसके साथ ही इस संबंध में यथार्थ स्थिति के आधार पर विचार किया गया। 23 और 24 सितम्बर, 1978 को दिल्ली में राज्यों के मुख्यमंत्रियों का जो सम्मेलन हुआ, उसमें सभी मुख्यमंत्रियों ने विचार व्यक्त किया कि राज्य सरकारों के द्वारा कानून और व्यवस्था बनाये रखने का कार्य निवारक निरोध कानून के बिना नहीं किया जा सकता।

44 वें संशोधन द्वारा ऐसे कुछ प्रबन्ध किये गये, जिससे शासक वर्ग द्वारा निवारक निरोध कानून की व्यवस्थाओं का दुरुपयोग न किया जा सके। 1971 में जारी किया गया 'आन्तरिक सुरक्षा कानून' (MISA) 44 वें संविधान संशोधन के प्रतिकूल था और इस कारण अप्रैल, 1979 में वह स्वतः ही रद्द हो गया।राष्ट्रीय सुरक्षा कानून (National Security Act)- जनवरी, 1980 में सत्ता परिवर्तन के बाद नई सरकार द्वारा 22 सितम्बर, 1980 को 'राष्ट्रीय सुरक्षा अध्यादेश' जारी किया गया। फरवरी, 1981 में इस अध्यादेश को कानून का रूप प्रदान किया गया है। 'राष्ट्रीय सुरक्षा कानून' निवारक निरोध की व्यवस्था है। 1984 में पंजाब में आतंकवाद से उत्पन्न विशेष स्थिति से निबटने के लिए 'राष्ट्रीय सुरक्षा कानून' की व्यवस्था को और कठोर बनाया गया। अब स्थिति इस प्रकार है:-

प्रथम - यह संशोधन किया गया कि किसी व्यक्ति की नजरबन्दी के आदेश की अवधि खत्म होने या आदेश रद्द हो जाने अथवा वापस ले लिये जाने के बाद नया आदेश जारी करके नजरबन्द किया जा सकेगा।

द्वितीय - मुख्य प्रावधान यह किया गया कि नजरबन्दी के हर कारण पर अदालतों को अलग-अलग विचार करके फैसला करना होगा। अभी तक स्थिति यह थी कि नजरबन्दी के अनेक कारणों में से किसी एक को भी अदालत अवैध पाती थी तो नजरबन्दी को गैर-कानूनी घोषित करके नजरबन्द को रिहा करने का फैसला देती थी। अब ऐसा नहीं हो सकेगा।

तृतीय - यह स्पष्ट किया गया कि एक व्यक्ति के खिलाफ दूसरी बार नजरबन्दी आदेश जारी करने पर सम्पूर्ण नजरबन्दी की कुल अवधि पंजाब और चण्डीगढ़ के अशांत प्रदेशों में दो वर्ष और शेष देश में एक वर्ष से ज्यादा नहीं होगी।

आर्थिक क्षेत्र में 'राष्ट्रीय सुरक्षा कानून' की श्रेणी का कानून विदेशी मुद्रा संरक्षण व तस्करी निरोधक अधिनियम, 1974 (COFEPOSA) 19 दिसम्बर, 1974 से लागू है। 13 जुलाई, 1984 को एक अध्यादेश के आधार पर इस अधिनियम को संशोधित कर तस्करों के लिए नजरबंदी की सीमा एक वर्ष से बढ़ाकर दो वर्ष कर दी गयी।

24 सितम्बर, 1983 को 'राष्ट्रीय सुरक्षा अध्यादेश' के नाम से एक अन्य निवारक निरोध अध्यादेश जारी किया गया जो बाद में 'राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम' बन गया।

'टाडा' अर्थात् 'आतंकवाद एवं विध्वंसक गतिविधिया (निरोधक) अधिनियम पंजाब, कश्मीर एवं अन्य राज्यों में बढ़ रही आतंकवादी गतिविधियों पर अंकुश लगाने के लिए सन् 1985 में लागू किया गया। 23 मई, 1995 को टाडा की अवधि समाप्त हो गई।

आतंकवाद निरोधक अध्यादेश 2001 (पोटो) 24 अक्टूबर, 2001 को राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के बाद लागू किया गया। तीन प्रमुख संशोधनों के साथ 31 दिसम्बर, 2001 को पोटो नये रूप में लागू किया गया। 26 मार्च, 2002 को सम्पन्न संसद की संयुक्त बैठक में पोटो के स्थान पर 'पोटा' आतंकवाद निरोधक विधेयक पारित किया गया। इससे केन्द्र को आतंकवाद से निपटने के लिए व्यापक अधिकार मिल गए हैं।

पोटा के तहत् गिरफ्तारी में एक वर्ष तक जमानत नहीं हो सकती। बिना मुकदमे का विचारण किए अभियुक्त को 90 दिन तक हिरासत में रखा जा सकता है। कत्लेआम मचाने वाले आतंककारियों को मौत की सजा संभव; आतंकवाद की अन्य कार्रवाइयों के लिए उम्रकैद की सजा का प्रावधान ।

(3) शोषण के विरुद्ध अधिकार संविधान के अनुच्छेद 23 तथा 24 शोषण के विरुद्ध अधिकार

देते हैं। अनुच्छेद 23 द्वारा मानव का पण्य और बेगार तथा इस प्रकार का अन्य जबरदस्ती लिया हुआ श्रम निषिद्ध ठहराया गया है। अनुच्छेद 24 के अनुसार चौदह वर्ष से कम आयु वाले बच्चे को कारखानों या खानों में अथवा अन्य किसी जोखिम भरे कार्य पर नियुक्त नहीं किया जा सकता। इस अधिकार से बेगार एवं देवदासी प्रथा जैसी कुप्रथाओं का उन्मूलन किया गया है। अस्पृश्यता के ही समान किसी प्रकार की भी बेगार विधि के अनुसार दण्डनीय अपराध है। यह प्रत्याभूति निजी व्यक्तियों तथा संस्थाओं के विरुद्ध ही लागू होती है। राज्य पक्ष में यह महत्वपूर्ण अपवाद है। राज्य सार्वजनिक उद्देश्यों के लिए अनिवार्य सेवा का नियम लागू कर सकता है। उदाहरण के लिए, अनिवार्य सैनिक सेवा अथवा राष्ट्र-निर्माण कार्यक्रमों के लिये अनिवार्य सेवा के नियम लागू किए जा सकते हैं। इस अधिकार काबड़ा लाभ हुआ है। इसके द्वारा स्त्रियों व बच्चों की बिक्री का अनुचित व्यापार समाप्त कर दिया गया है।

(4) धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार संविधान के अनुच्छेद 25, 26, 27 तथा 28 धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान करते हैं। अनुच्छेद 25 के अनुसार सभी व्यक्तियों को अन्तः करण की स्वतंत्रता का तथा धर्म को अबाध रूप से मानने, ऐच्छिक आचरण करने और प्रचार करने का अधिकार है। अन्तःकरण की स्वतंत्रता से तात्पर्य हुआ कि राज्य मस्तिष्क शोधन का कार्य नहीं करेगा। 'अन्तःकरण' शब्द 'विश्वास' शब्द से अधिक व्यापक है। इसमें संदेहवाद, नास्तिक्य आदि भी सम्मिलित हैं। अतः भारत में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी समझ के अनुसार कोई भी दार्शनिक दृष्टिकोण अपनाने में कोई बाधा नहीं है। अन्तःकरण पर कानून का शासन नहीं हो सकता। कानून केवल बाह्य आचरण से सीधा सम्बन्ध रखता है। अतः कानूनी दृष्टि से अन्तःकरण की स्वतंत्रता बहुत महत्व नहीं रखती,

लेकिन किसी धर्म को मानना, उसका आचरण तथा प्रचार करना बाह्य व्यवहार के अनेक रूप हैं। इनकी स्वतंत्रता का अधिकार प्राप्त होना ही धार्मिक स्वतंत्रता के सही प्रतीक हैं। वस्तुतः यह अधिकार व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अंग हैं। यह राज्य के लोकतांत्रिक होने के पहलू और प्रमाण है। राज्य के धर्मनिरपेक्ष या धर्माश्रित होने से इनका सम्बन्ध अटूट नहीं है।

अनुच्छेद 26 में धार्मिक सम्प्रदायों को ऐसे सम्प्रदायों के रूप में उनके धर्म स्वातन्त्र्य के कारण निम्न अधिकार प्रदान किए गए है- (क) ये धार्मिक और दानादि प्रयोजन के लिये संस्थाओं की स्थापना और पोषण कर सकते हैं। (ख) वे अपने धार्मिक कार्यों सम्बन्धी विषयों का प्रबन्ध कर सकते हैं। (ग) उनको चल और अचल सम्पत्ति के अर्जन और स्वामित्व का अधिकार हैं। (घ) उनको ऐसी सम्पत्ति का विधि के अनुसार प्रशासन करने का अधिकार है।

अनुच्छेद 27 द्वारा संस्थाओं द्वारा धार्मिक कार्यों के लिए एकत्रित धन पर कर की अदायगी पर छूट दी गई गई है। साथ ही यह भी उपबंधित किया गया है कि सरकार द्वारा ऐसा कोई कर नहीं लगाया जा सकता जिसका प्रयोग किसी धर्म विशेष के प्रसार के लिए किया जाये।

अनुच्छेद 28 द्वारा राज्य के धन से पूर्णतः संचालित विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा प्रदान करने का निषेध किया गया है; इन विद्यालयों में न राज्य द्वारा, न ही किसी धार्मिक संस्था द्वारा धार्मिक शिक्षा दी जा सकती है। यह निषेध उन विद्यालयों पर लागू नहीं है जो किसी धर्मस्व अथवा न्याय विधि द्वारा स्थापित किए गए हों।

इन अधिकारों पर सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के हित में सरकार उचित रुकावटें लगा सकती है, क्योंकि ये अधिकार असीमित हैं। संक्षेप में, इन अनुच्छेदों द्वारा भारत में धर्म-निरपेक्ष राज्य की नींव डाली गई है तथा धार्मिक मामलों में राज्य तटस्थ हो गया है।

धर्मनिरपेक्ष राज्य से तात्पर्य है कि राज्य अपने कार्यों के लिए धर्म की उपेक्षा नहीं करता। धर्मनिरपेक्षता के दो रूप हो सकते हैं- एक राज्य धर्म विरोधी हो, उसकी अपनी विचारधारा हो तथा वह उसी पर आचरण करें; दूसरे, राज्य धर्मों की ओर उदासीन हो, किसी धर्म को संरक्षण न दे, किसी से द्वेष न करे, नागरिकों को अपनी रुचि का धर्म मानने की स्वतंत्रता दे और आवश्यकता पड़ने पर यदि राज्य किसी कार्य या जनहित के कार्य में किसी धर्म की किसी बात को बाधक पाता हो तो उसे अपने लिए अमान्य घोषित कर सके। भारत में इसी प्रकार के धर्मनिरपेक्ष राज्य को अंगीकर किया गया है।

(5) सांस्कृतिक तथा शिक्षा सम्बन्धी अधिकार संविधान के अनुच्छेद 29 तथा 30 सांस्कृतिक एवं शिक्षा सम्बन्धी अधिकार प्रदान करते हैं। देश के किसी भी भाग में रहने वाले नागरिकों के प्रत्येक ऐसे वर्ग की, जिसकी अपनी पृथक भाषा, लिपि या संस्कृति वर्तमान हो, उसे बनाये रखने का अधिकार अनुच्छेद 29 की धारा (1) में प्रत्याभूत किया गया है। इसी अनुच्छेद की धारा (2) द्वारा राज्य सहायता से संचालित विद्यालयों में मूलवंश, जाति, धर्म और भाषा या इनमें से किसी एक के कारण प्रवेश के सम्बन्ध में प्रभेद करने की मनाही है। अनुच्छेद 30 के अनुसार यह निर्धारित किया गया है कि धर्म और भाषा पर आधारित अल्पसंख्यकों को अपनी इच्छानुसार शिक्षा संस्थाएँ स्थापित करने तथा संचालित करने का अधिकार है। ऐसी शिक्षा संस्थाओं को सहायता देने से राज्य इस आधार पर कोई प्रभेद नहीं करेगा कि उस संस्था का प्रबन्ध भाषा या धर्म पर आधारित अल्पसंख्यकों के हाथ में है। वस्तुतः अनुच्छेद 30 शिक्षा सम्बन्धी अधिकारों का अधिकार पत्र है। इसके अन्तर्गत भाषायी तथा धार्मिक अल्पसंख्यकों को अपनी पसन्द की शिक्षा संस्थाएँ स्थापित करने एवं उनका संचालन करने के साथ-साथ उन्हें धर्म तथा भाषा के अनुसार प्रभेद किए बिना राज्य से सहायता अनुदान प्राप्त करने का अधिकार प्रदान किया गया है। पायली के अनुसार, अन्य मौलिक अधिकारों पर अनेक प्रतिबन्ध लगाये गये हैं किन्तु इस अधिकार पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। यह इस बात का द्योतक है कि संविधान निर्माता इस अधिकार को निर्बाध रखना चाहते थे ।

(6) संवैधानिक उपचारों का अधिकार भारतीय संविधान की यह विशेषता है कि कार्यकारिणी या विधायिका के अनुचित हस्तक्षेप से उच्च न्यायालय तथा सर्वोच्च न्यायालय नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करते हैं। मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए उच्च न्यायालय तथा सर्वोच्च न्यायालय बन्दी प्रत्यक्षीकरण लेख, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार-पृच्छा और उत्प्रेषण जारी कर सकते हैं।

'बन्दी प्रत्यक्षीकरण' से अभिप्राय है कि उच्च न्यायालय तथा सर्वोच्च न्यायालय किसी भी अधिकारी को यह आज्ञा दे सकता है कि कैदी को कानून के विरुद्ध जेल में न रखा जाय और उसके समीपस्थ न्यायाधीश के सामने पेश किया जाये। 'परमादेश लेख, द्वारा न्यायालय सार्वजनिक निकाय, सार्वजनिक कर्मचारी, निगम या संस्था को आदेश दे सकते हैं कि वह अपने कर्तव्य का कानून के अनुसार पालन करें। 'प्रतिषेध लेख' उच्च न्यायालय द्वारा छोटी अदालतों को उस समय जारी किया जाता है जबकि वे अपने अधिकारों से बाहर जा रही हों। 'उत्प्रेषण लेख' द्वारा उच्चस्थ न्यायालय निचले न्यायालयों के सभी प्रकार के रिकार्ड इस बात की जांच-पड़ताल के लिये अपने पास मंगवा सकता है कि अधीन न्यायालय अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर तो नहीं गया है। 'अधिकार पृच्छा

लेख' द्वारा कोई भी व्यक्ति यदि गैर कानूनी रूप से किसी पद या अधिकार का प्रयोग करता है तो न्यायालय उसे ऐसा करने से रोक सकता है।

संक्षेप में, इस अधिकार के फलस्वरूप मौलिक अधिकारों का अध्याय उपयोगी बन गया है। डॉ.

अम्बेडकर ने कहा था- "यदि कोई मुझसे यह पूछे कि संविधान का वह कौनसा अनुच्छेद है कि जिसके बिना संविधान महत्वहीन हो जाएगा, तो इस अनुच्छेद को छोड़कर मैं और किसी अनुच्छेद की ओर संकेत नहीं कर सकता। यह तो संविधान का हृदय तथा आत्मा है।"

सम्पत्ति का अधिकार : जो अब मूल अधिकार नहीं रह गया (Right to Property: Which ceases to be Fundamental Right)

भारतीय नागरिकों को वर्तमान समय में (सन् 1979 और उसके बाद) सम्पत्ति का अधिकार मूल अधिकार के रूप में प्राप्त नहीं है, लेकिन 44 वें संविधान संशोधन (30 अप्रैल, 1979) के पूर्व तक सम्पत्ति का अधिकार मूल अधिकार के रूप में प्राप्त था। सन् 1950 से लेकर 1978 तक इस अधिकार के सम्बन्ध में अनेक संवैधानिक संशोधन हुए और यह अधिकार बहुत अधिक विवाद का विषय रहा। अतः आज भी संवैधानिक इतिहास की दृष्टि से इस अधिकार का अध्ययन बहुत महत्वपूर्ण है।

मूल संविधान में संपत्ति का मूल अधिकार दो स्थान पर दिया गया था-

अनुच्छेद 19 के खण्ड (1) के उपखण्ड (च) में और अनुच्छेद 31 में।

अनुच्छेद 19 के खण्ड 1 (च) में प्रत्येक नागरिक को संपत्ति के अर्जन, धारणा और व्ययन का मूल अधिकार दिया गया था जिस पर राज्य उसी अनुच्छेद के खण्ड 5 के अनुसार सार्वजनिक हित के संरक्षण के लिए युक्तियुक्त बंधन लगा सकता था। अनुच्छेद 31 के खण्ड 1 में यह प्रावधान था कि कोई व्यक्ति विधि के प्राधिकार बिना अपनी संपत्ति से वंचित नहीं किया जाएगा। उसी अनुच्छेद के खण्ड 2 में यह उपबंधित था कि राज्य संपत्ति का वैवश्यक अर्जन तथा अधिग्रहण किया जाएगा वह इसके प्रतिकार (Compensation) का उपबंध करेगा।

संविधान द्वारा प्रदत्त सम्पत्ति के इस मूल अधिकार में सन् 1951 से ही विभिन्न संशोधन किये गये। सन् 1951 में प्रथम संविधान संशोधन द्वारा यह निश्चित किया गया कि जमींदारी और जमींदारीके अन्त संबंधित विधेयक मुआवजे की व्यवस्था न होते हुए भी वैध समझे जायेंगे अर्थात् राज्य बिना मुआवजे के भी व्यक्ति की भूमि ले सकता है।

अनुच्छेद 31 की व्याख्या करते हुए न्यायपालिका ने निर्णय दिया था कि न केवल क्षतिपूर्ति की वरन् पर्याप्त क्षतिपूर्ति की व्यवस्था की जानी चाहिए और क्षतिपूर्ति की पर्याप्तता का प्रश्न न्यायालय द्वारा विचारणीय होगा। ऐसी स्थिति में 1955 में संविधान में चतुर्थ संशोधन कर निश्चित किया गया कि सम्पत्ति ग्रहण करने के बदले में राज्य के द्वारा क्षतिपूर्ति दी जानी चाहिये। लेकिन क्षतिपूर्ति की मात्रा विधानमण्डल द्वारा निर्धारित की जायेगी और क्षतिपूर्ति की जांच न्यायपालिका द्वारा नहीं की जा सकेगी।

17 फरवरी, 1967 को सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा गोलकनाथ विवाद में निर्णय दिया गया कि संसद मौलिक अधिकारों में कोई परिवर्तन नहीं कर सकती। इस निर्णय से ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी कि संसद आर्थिक और सामाजिक प्रगति की दिशा में आगे बढ़ने के लिए या संविधान में दिये गये नीति निर्देशक तत्वों को कार्य रूप में परिणत करने के लिए कोई कार्य नहीं कर सकती। अतः संविधान में इस प्रकार का संशोधन करने के प्रस्ताव पर विचार किया जाने लगा, जिससे गोलकनाथ विवाद में दिया गया निर्णय रद्द हो सके। इसी परिप्रेक्ष्य में 1971 में 24 वें संविधान संशोधन द्वारा यह निश्चित कर दिया गया कि संसद को संविधान के किसी भी उपबंध (जिसमें मौलिक अधिकार भी आते हैं) को संशोधित करने का अधिकार होगा।

सन् 1971 में 25 वें संविधान संशोधन द्वारा अनुच्छेद 31 (ग) के बाद कुछ शब्दों को जोड़कर यह व्यवस्था की गई है कि सम्पत्ति के सार्वजनिक दृष्टि से अर्जन और उसके मुआवजे की राशि को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकेगी। सन् 1972 में 29 वें संविधान संशोधन द्वारा यह निश्चित किया गया कि यदि भूमि के सीमाकरण से व्यक्तिगत जोत की भूमि भी प्रभावित होती है तो राज्य के द्वारा वह भूमि प्राप्त की जा सकती है और विधायिका द्वारा इस भूमि के बदले में ऐसा मुआवजा निश्चित किया जा सकता है, जो भूमि के बाजार मूल्य से कम हो अर्थात् न्यायालय को मुआवजे की धनराशि पर विचार करने का अधिकार नहीं होगा।

44 वें संविधान संशोधन (1979) के पूर्व सम्पत्ति के मूल अधिकार के विषय में संविधान के भाग-3 में स्थूल रूप में निम्नलिखित चार प्रत्याभूतियाँ विद्यमान थीं।

1. प्रत्येक नागरिक को सम्पत्ति के अर्जन, धारण और व्ययन का अधिकार होगा जिस पर राज्य युक्तियुक्त निर्बन्ध लगा सकेगा।

2. विधि के प्राधिकार के बिना किसी भी व्यक्ति को उसकी सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जायेगा ।

3. राज्य केवल सार्वजनिक प्रयोजन के लिए ही व्यक्ति की सम्पत्ति का वैवश्यक अर्जन अथवा अधिग्रहण करने की विधि बना सकेगा।

4. ऐसी विधि में सम्पत्ति के मालिक को उसकी सम्पत्ति के अर्जन या अधिग्रहण के बदले में एक धनराशि देने का उपबंध होगा परन्तु इस धनराशि (Money) की पर्याप्तता के विषय में कोई प्रश्न नहीं उठाया जा सकेगा।

सम्पत्ति के अधिकार के सम्बन्ध में वर्तमान स्थिति संविधान लागू किये जाने के बाद से ही अनेक पक्षों द्वारा यह सोचा जा रहा था कि भारतीय संविधान द्वारा नागरिकों को प्रदान किया गया सम्पत्ति का मूल अधिकार सामाजिक आर्थिक न्याय की प्राप्ति में बाधक बन रहा हैं, और इस कारण सम्पत्ति के अधिकार को मूल अधिकार के रूप में नहीं बनाये रखा जाना चाहिए। सन् 1977 में सत्तारूढ़ जनता पार्टी द्वारा अपने चुनाव घोषणा पत्र में भी कहा गया था कि, 'सम्पत्ति का अधिकार एक मूल अधिकार के रूप में नहीं रहेगा वरन् यह केवल एक कानूनी अधिकार होगा।'

संविधान के 44 वें संशोधन अधिनियम, 1979 के द्वारा सम्पत्ति के मौलिक अधिकार को समाप्त कर दिया गया है। अब इस अधिकार को 'विधिक अधिकार' (Legal Right) के रूप में रखा गया है,

जिसका विनियमन, साधारण विधियों को पारित करके किया जा सकता है। इसके लिए संवैधानिक संशोधन की आवश्यकता नहीं होगी। सम्पत्ति के अधिकार को एक 'विधिक अधिकार' के रूप में बनाये रखने के लिए संविधान में एक नया अनुच्छेद 300 क जोड़ा गया है जिसमें कहा गया है कि 'कोई व्यक्ति विधि के प्राधिकार के बिना अपनी सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जायेगा।'

दूसरे शब्दों में, अब सम्पत्ति के अधिकार को अन्य मूल अधिकारों की भाँति संवैधानिक संरक्षण प्राप्त नहीं है।

5.7 मौलिक अधिकारों की समीक्षा (Assessment ot Fundamental Rights)

संविधान में निहित मौलिक अधिकार भारतवासियों के लिए सर्वाधिक प्रिय तथा श्रेष्ठ अध्याय है। संविधान ने किसी भी व्यक्ति को चाहे वह भारत का नागरिक हो या नहीं, ऐसी क्षमता प्रदान की है कि वह अपने मौलिक अधिकारों को लिए राज्य और सत्ता के विरुद्ध भी न्यायालय के समक्ष जाकर सुरक्षा की मांग कर सकता है। इस तरह से हमारा संविधान व्यक्ति की गरिमा, उसकी श्रेष्ठता और हितों के लिए एक उत्तम संरक्षक बन

जाता है। डॉ. महादेव प्रसाद शर्मा के अनुसार, "इन अधिकारों को कुछ ऐसी उच्चतर और पवित्र स्थिति प्राप्त हो जाती है कि विधान मण्डल के सदस्यों को उनकी मर्यादा का उल्लंघन करने का साधारणतः साहस नहीं होता। मौलिक अधिकारों का संविधान में उल्लेख इस बात का स्थायी स्मरण दिलाता रहता है कि कुछ ऐसी चीजें हैं जिनका बराबर सम्मान करते रहने की आवश्यकता है और जिनका कभी उल्लंघन नहीं किया जाना चाहिए।"

मूल अधिकार हमारी संवैधानिक व्यवस्था के प्राण हैं किन्तु प्रारम्भ से ही इनकी आलोचना होती रही है। पायली के अनुसार, "मूल अधिकारों का अध्याय मूल अधिकारों पर परिसीमाएँ" नाम से सम्बोधित किया जाना चाहिए।" संविधान सभा के एक सदस्य श्री सोमनाथ लाहड़ी ने कहा था, "भारतीय संविधान में मूलाधिकारों की व्यवस्था पुलिस के सिपाही के दृष्टिकोण से की गई है, न कि एक स्वतंत्र तथा संघर्षशील राष्ट्र से।" निम्नलिखित तर्कों के आधार पर मौलिक अधिकारों की आलोचना की जाती है-

1. सारपूर्ण अधिकारों की उपेक्षा संविधान द्वारा काम पाने का अधिकार, अवकाश का अधिकार, शिक्षा पाने का अधिकार तथा भौतिक सुरक्षा का अधिकार नहीं दिया गया है। आलोचकों का कहना है कि आर्थिक अधिकारों के अभाव में नागरिक और राजनीतिक अधिकार महत्वहीन हैं।

2. एक हाथ से लेना व दूसरे हाथ से देना मौलिक अधिकारों की यह भी आलोचना की गई है कि उनको एक हाथ से दिया गया है और दूसरे हाथ से ले लिया गया है। सरकार ने स्वतंत्रता तथा सम्पत्ति के अधिकार पर अनेक रुकावटें लगाकर उन्हें तथ्यहीन बना दिया है।

3. संकटकाल में स्थगन भारत में राष्ट्रपति संकटकाल की घोषणा के प्रवर्तन काल में मौलिक अधिकारों को निलम्बित कर सकते हैं। संकटकाल के प्रवर्तन काल में नागरिक न्यायालय की शरण नहीं ले सकते हैं।

4. निवारक निरोध की व्यवस्था निवारक निरोध रासुका, टाडा एवं पोटा जैसे कानूनों का निर्माण शान्तिकाल में किया जाता रहा है। ऐसे कानूनों से व्यक्तिगत स्वतंत्रता खतरे में पड़ जाती है। अन्य देशों में युद्ध अथवा संकट के समय ही ऐसा किया जाता है।

5. अधिकार संसद की कृप पर निर्भर है संविधान के 24 वें 25 वें तथा 29 वें संशोधनों द्वारा मूल अधिकार बहुमत दल की स्वेच्छाचारिता पर निर्भर हो गए हैं। सम्पत्ति के अधिकार के बारे में तो न्यायालय से सारा नियन्त्रण छीन ही लिया गया और 1979 में उसे समाप्त ही कर दिया गया।

यदि भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों पर इतने अधिक प्रतिबन्ध लगे हुए हैं तो स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि ये अधिकार मूल कैसे माने जा सकते हैं? उपर्युक्त आलोचनाओं का उत्तर निम्नलिखित तर्कों के आधार पर मूल अधिकारों के समर्थक देते हैं- (1) भौतिक तथा आर्थिक अधिकारों का समावेश राज्यनीति के निर्देशक तत्वों के अध्याय में किया गया है। (2) भारतीय परिस्थितियोंमें अधिकारों पर प्रतिबन्ध आवश्यक था क्योंकि अधिकार निरपेक्ष नहीं होते। एम. सी. सीतलवाड़ ने कहा है कि "भारतीय संविधान के द्वारा असंख्य अपवादों और प्रतिबन्धों के माध्यम से मौलिक अधिकारों को सीमित तो कर दिया गया है। परन्तु संविधान के द्वारा असंख्य इस प्रकार के प्रतिबन्धों के औचित्य के निर्णय की शक्ति व्यवस्थापिका या कार्यपालिका को नहीं वरन् न्यायपालिका को सौंपी गई है और न्यायपालिका स्वतन्त्र होने के कारण नागरिक अपने अधिकारों की रक्षा के लिए न्यायपालिका पर भरोसा कर सकते हैं।" (3) व्यक्तिगत अधिकारों की सुरक्षा के बजाय संकट के समय राज्य की सुरक्षा अधिक महत्वपूर्ण होती है। (4) प्रो. एलक्जेण्डरोविच के अनुसार, "निवारक निरोध भारत में एक प्रशासनिक आवश्यकता है, अन्यथा हिंसक तथा देशद्रोही तत्वों के कारण राष्ट्र की स्वतन्त्रता खतरे में पड़ जाएगी।" (5) लोकतन्त्र में संसद को अधिकारों की दिशा तय करने का अधिकार होना चाहिए अन्यथा सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन नहीं हो सकेंगे।

अन्ततः जहाँ राज्य की सुरक्षा तथा नागरिकों के अधिकारों के बीच टक्कर होगी, वहाँ राज्य की सुरक्षा को महत्व दिया जाना समीचीन प्रतीत होता है। हमारे मूल अधिकारों के सम्बन्ध में कागजी लिखते हैं कि "संविधान के अध्याय तीन में निहित मूल अधिकार, राज्य के समस्त अंगों के विरुद्ध किले की दीवार है। राजसत्ता-व्यवस्थापन, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका सम्बन्धों पर यह कई अवरोधों के रूप में निर्मित किए गए हैं।"

5.8 मौलिक अधिकार और राजनीतिक व्यवस्था

हमारे संविधान में उल्लिखित मूल अधिकारों का अध्याय विगत कुछ वर्षों से अत्यधिक चर्चा और विवाद का विषय बना हुआ है। यह विवाद यहाँ तक बढ़ा है कि शासनतन्त्र के तीनों अंग कार्यपालिक, संसद और सर्वोच्च न्यायालय संघर्ष की स्थिति में आ गए और सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था ही आलोड़ित हो उठी। विवाद की शुरुआत 'गोलकनाथ विवाद' के निर्णय से होती है। 27 फरवरी 1967 को मुख्य न्यायमूर्ति के सुब्बाराव ने गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य के मामले में ऐतिहासिक निर्णय दिया। सर्वोच्च न्यायालय ने पूर्व निर्णयों (शंकरी प्रसाद बनाम भारतीय संघ तथा सज्जनसिंह बनाम राजस्थान राज्य) को बदल डाला। संविधान के अनुच्छेद 13 की व्याख्या करते हुए न्यायालय ने कहा कि इस निर्णय के बाद संसद मूल अधिकारों के अध्याय में किसी

प्रकार का परिवर्तन या संशोधन नहीं कर सकेगी। यदि वह ऐसा करेगी तो वह कानून अवैध होगा। न्यायालय ने प्रगतिवादी निर्णय देकर इससे पूर्व के समस्त संशोधनों को वैध माना। इस निर्णय से देश में तूफान आ गया, संविधान का विकास अवरुद्ध हो गया और सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन सम्बन्धी विधियों का निर्माण करना कठिन हो गया। इस निर्णय के आधार पर बैंक राष्ट्रीयकरण तथा शाही थैली समाप्ति अध्यादेशों को अवैध घोषित कर दिया गया। श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने इसी प्रश्न पर लोकसभा का विघटन करवाया, जनता से मैण्डेट प्राप्त किया और संविधान के 24 वें संशोधन द्वारा संसद् को उसकी खोई हुई शक्ति पुनः दिलाई।

केरल के एडनीर मठ के स्वामी केशवानन्द भारती ने न्यायालय से 24 वें, 25 वें, तथा 29 वें संविधान संशोधनों पर पुनर्विचार करने की प्रार्थना की और कहा कि पहले दो संशोधनों से 'नए संविधान की रचना होती है जो 1950 में स्वीकृत संविधान से भिन्न है।' उनके वकील श्री एन.ए, पालकीवाला ने सर्वोच्च न्यायालय में पैरवी करते हुए कहा कि- (i) संसद के क्षणिक बहुमत द्वारा बुनियादी मानव स्वतंत्रता का हरण नहीं किया जा सकता, (ii) संसद अनिवार्य और स्थायी तत्व को संशोधित नहीं कर सकती तथा (iii) ये संशोधन संसद की संयुक्त समिति को बताए वगैर किए गए हैं। आय-कर और बीमें से सम्बन्धित साधारण कानून तक समितियों में बहस के बाद बनाए जाते हैं, जबकि सरकार दूरगामी प्रभावशाली निर्णय संसद में 'चाबुक' के बल पर कर चुकी है। केरल सरकार की ओर से महाराष्ट्र के एडवोकेट जनरल एच.एम. सिरवाई का तर्क था कि (i) भारतीय संविधान की प्रमुख धारणा सामाजिक भलाई है, अधिकार समय के साथ बदल सकते हैं। मूल अधिकारों के अध्याय में इस बात के तात्विक प्रमाण है कि संविधान-निर्माताओं ने नैसर्गिक अधिकारों का सिद्धान्त नहीं अपनाया था; (ii) संसद् व न्यायपालिका बराबर है। अगर संसद को संशोधन का अधिकार न हो तो न्यायपालिका संसद् से बड़ी हो जायेगी सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय देते हुए यह स्वीकार कर लिया है कि संसद् संविधान के मूल अधिकारों से सम्बन्धित अध्याय में संशोधन कर सकती है।

केशवानन्द भारती केस में सर्वोच्च न्यायालय ने इस बात को तो स्वीकार किया कि सर्वोच्च न्यायालय की तुलना में संसद की सत्ता उच्च है, लेकिन संसद् के द्वारा भी अपने सभी कार्य संविधान द्वारा निर्धारित मोटी सीमाओं के अन्तर्गत रहते हुए ही किये जा सकते हैं।

तत्कालीन शासन के द्वारा 'केशवानन्द भारती' विवाद के सम्बन्ध में 1973 में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णयों को पसंद नहीं किया गया था। अतः 42 वें संविधान

संशोधन (1976) द्वारा नीति निर्देशक तत्वों को मौलिक अधिकारों पर वरीयता की स्थिति प्रदान की गयी। सन् 1979 में इसे सर्वोच्व न्यायालय में चुनौती दी गयी। एन.ए, पालकीवाला ने कहा कि 42 वें संविधान संशोधन द्वारा संविधान के बुनियादी ढाँचे को नष्ट कर दिया गया है। 31 जुलाई, 1980 को मिनर्वा मिल केस में न्यायालय ने 42 वें संविधान के दो प्रावधानों को अवैध घोषित कर दिया क्योंकि इनसे संविधान के बुनियादी ढाँचे को आघात पहुँचता था।

मूल अधिकारों से हमारी राजनीतिक व्यवस्था प्रभावित हुई है। कार्यपालिका को अपने कार्यक्रम तथा समाजवादी अभियान के अमलीकरण हेतु जनमत और जनशक्ति का सहारा लेना पड़ा, जनमत के दबाव के फलस्वरूप सर्वोच्च न्यायालय को भी अपना दृष्टिकोण बदलना पड़ा है। न्यायालय ने यह स्वीकार कर लिया है कि मूल अधिकारों और निर्देशक तत्वों में यदि वरीयता की समस्या हो तो निर्देशक तत्वों को ही प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

मूल अधिकारों के अध्याय में संशोधन के प्रश्न पर राजनीतिक दलों, दबाव तथा हित समूहों, बुद्धिजीवियों, संविधान-विशेषज्ञों और राजनीति में रुचि रखने वाले नागरिकों ने पर्याप्त रूप से विभिन्न मंचों पर वाद विवाद और विचार विमर्श किया है। अखबारों के द्वारा प्रचार के माध्यम से, जुलूसों तथा रैली एवं आन्दोलनों के माध्यम से जनमत जाग्रत करने का भी प्रयास हुआ है। सर्वोच्च न्यायालय में न्यायाधीशों की नियुक्ति के समय उनका दृष्टिकोण और विचारधारा भी परखी जाने लगी है। कार्यपालिका और संसद में भी प्रगतिशील विचारधारा वाले लोगों का प्रभाव बढ़ा है। हम आशा कर सकते हैं कि निकट भविष्य में नीति-निर्देशक सिद्धान्तों की भांति मूल अधिकार भी आर्थिक विकास और सामाजिक समता के आधारभूत मूल्यों के रूप में जनमानस की गरिमा में अभिवृद्धि करेंगे।

5.9 मौलिक कर्त्तव्य

मौलिक अधिकारों का प्रावधान करते समय संविधान निर्माताओं ने नागरिकों के मौलिक कर्तव्य की आवश्यकता पर गम्भीरता से विचार-मन्थन नहीं किया। वे इस तथ्य को विस्मृत ही कर गए कि अधिकारों का महत्व कर्तव्यों की दुनिया में ही होता है। विगत कुछ वर्षों से हमारी संसद एवं न्यायालयों में अधिकारों की ही गूंज सुनायी दे रही थी, जबकि मौलिक कर्तव्यों के बिना अधिकार एक प्रवंचना है। अधिकार तथा कर्तव्यों का मणिकांचन योग संविधान को पूर्णता प्रदान करता है, राष्ट्र की जनता को सुनहरे भविष्य की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित करता है।

सरदार स्वर्णसिह समिति ने सर्वप्रथम हमारे राष्ट्र का ध्यान मौलिक कर्तव्यों की ओर आकर्षित किया। तदनुसार 42 वें संविधान संशोधन द्वारा संविधान के चतुर्थ भाग के बाद भाग 'चतुर्थ-क' जोड़ा गया जिसमें नागरिकों के दस मूल कर्तव्य शामिल किए गए हैं। इस संशोधन के अनुसार यह अपेक्षा की गई है कि नागरिकः

(क) संविधान का पालन करें और उसके आदशों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगीत का आदर करें।

(ख) स्वतन्त्रता के लिये हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजोये रखें और उनका पालन करें।

(ग) भारत की प्रभुता, एकता और अखण्डता की रक्षा करें और उसे अक्षुण्ण रखें।

(घ) देश की रक्षा करें और आव्हान किए जाने पर राष्ट्र की सेवा करें।

(ङ) भारत के सभी लोगों में समता भाव और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करें।

(च) हमारी सामाजिक संस्कृति की गौरवशाली परम्परा का महत्व समझें और उसका परिरक्षण करें।

(छ) प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अन्तर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीवन भी हैं, रक्षा करें और उनका सम्वर्धन करें।

(ज) वैधानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करें।

(झ) सार्वजनिक सम्पत्ति को सुरक्षित रखें और हिंसा से दूर रहें।

(ञ) व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत् प्रयास करें जिसमें राष्ट्र निरन्तर उन्नति की नई ऊंचाइयों को छू ले।

(2) 86वें संवैधानिक संशोधन, 2002 द्वारा अनुच्छेद 51 क में संशोधन करके खण्ड (ञ) के बाद खण्ड

(ट) के अनुसार प्रारंभिक शिक्षा को सर्वव्यापी बनाने के उद्देश्य से अभिभावकों के लिए भी यह कर्तव्य निर्धारित किया गया कि वे छ: से चौदह वर्ष के अपने बच्चों को शिक्षा का अवसर प्रदान करें। इस प्रकार अब कुल मिलाकर नागरिकों के 11 मौलिक कर्तव्य है।

5.10 सार संक्षेप

मौलिक अधिकार नागरिकों को स्वतंत्रता, समानता, न्याय और सुरक्षा प्रदान करते हैं, जिन्हें कोई भी कानून या सरकार उल्लंघन नहीं कर सकती।

मौलिक कर्तव्य नागरिकों को अपनी जिम्मेदारियों का पालन करने के लिए प्रेरित करते हैं ताकि समाज और देश में राष्ट्रीय एकता और विकास हो सके

5.11 शब्दावली

1. संविधान (Constitution)

संविधान एक लिखित दस्तावेज़ है, जिसमें देश के शासन की संरचना, नागरिकों के अधिकार और कर्तव्यों तथा राज्य के कार्यों की रूपरेखा निर्धारित की जाती है।

2. मौलिक अधिकार (Fundamental Rights)

वे अधिकार जो प्रत्येक भारतीय नागरिक को संविधान द्वारा प्रदान किए जाते हैं। ये अधिकार संविधान के भाग III में उल्लिखित हैं और इनका उल्लंघन नहीं किया जा सकता।

3. मौलिक कर्तव्य (Fundamental Duties)

भारतीय संविधान में नागरिकों को दिए गए कर्तव्य जो संविधान के भाग IVA (लेख 51A) में वर्णित हैं। इनका उद्देश्य नागरिकों को अपने कर्तव्यों के प्रति जागरूक करना है।

4. संविधान संशोधन (Constitutional Amendment)

संविधान में किसी भी प्रावधान में बदलाव करना या नया प्रावधान जोड़ना। भारतीय संविधान को संशोधित किया जा सकता है, लेकिन इसके लिए विशेष प्रक्रिया का पालन करना होता है।

5. संघीय प्रणाली (Federal System)

एक ऐसी शासन व्यवस्था जिसमें केंद्रीय सरकार और राज्य सरकार के बीच अधिकारों का वितरण किया जाता है। भारत में संघीय प्रणाली है, लेकिन यह केंद्रीयकृत है।

6. संसदीय प्रणाली (Parliamentary System)

वह प्रणाली जिसमें सरकार की कार्यपालिका (Executive) विधायिका (Legislature) से उत्तरदायी होती है। भारत में संसदीय प्रणाली अपनाई गई है।

7. राज्य (State)

केंद्र या राज्य सरकार के तहत एक प्रशासनिक इकाई, जिसे संविधान के अंतर्गत विशेष अधिकार प्राप्त होते हैं।

8. समानता का अधिकार (Right to Equality)

भारत के संविधान में दिया गया अधिकार, जो प्रत्येक नागरिक को समान अवसर, समान संरक्षण और भेदभाव से बचाता है।

9. धार्मिक स्वतंत्रता (Freedom of Religion)

भारतीय संविधान का वह प्रावधान जो प्रत्येक नागरिक को अपने धर्म का पालन करने, प्रचार करने और विश्वास करने का अधिकार प्रदान करता है।

10. संविधानिक उपाय (Constitutional Remedies)

वे उपाय जो नागरिकों को अपने मौलिक अधिकारों के उल्लंघन पर न्यायालय से सुरक्षा प्राप्त करने का अधिकार देते हैं। इसे भारतीय संविधान के लेख 32 में वर्णित किया गया है।

11. आदर्श नागरिक (Ideal Citizen)

वह नागरिक जो संविधान के अनुसार अपने अधिकारों का उपयोग करता है और अपनी जिम्मेदारियों को निभाता है, तथा समाज और राष्ट्र के प्रति जिम्मेदार होता है।

12. संविधान सभा (Constituent Assembly)

वह सभा जिसे भारतीय संविधान को तैयार करने के लिए गठित किया गया था। इसका गठन 1946 में हुआ था और इसका कार्य भारतीय संविधान का निर्माण करना था।

13. राष्ट्रध्वज (National Flag)

देश का प्रतीक झंडा जो राष्ट्रीय एकता, स्वतंत्रता और अखंडता का प्रतीक होता है।

14. राष्ट्रीय गान (National Anthem)

देश का सम्मानजनक गीत जो राष्ट्र की एकता और अखंडता का प्रतीक होता है। भारत का राष्ट्रीय गान "जन गण मन" है।

15. न्यायिक समीक्षा (Judicial Review)

न्यायपालिका का अधिकार जो यह सुनिश्चित करने का है कि सरकारी आदेश और कानून संविधान के अनुरूप हैं या नहीं।

16. राज्यसभा (Rajya Sabha)

भारतीय संसद का उच्च सदन, जिसमें राज्य और केंद्रशासित प्रदेशों के प्रतिनिधि होते हैं।

17. लोकसभा (Lok Sabha)

भारतीय संसद का निचला सदन, जिसमें आम चुनावों के द्वारा चुने गए सदस्य होते हैं।

18. संविधानिक प्रमुख (Constitutional Head)

वह व्यक्ति जो राज्य के प्रमुख के रूप में कार्य करता है, जैसे भारत में राष्ट्रपति, लेकिन उसकी शक्तियाँ सीमित होती हैं और ये संविधान द्वारा निर्धारित होती हैं।

19. विधायिका (Legislature)

वह शाखा जो कानून बनाने का कार्य करती है। भारतीय संसद विधायिका का रूप है।

20. कार्यपालिका (Executive)

वह शाखा जो कानूनों को लागू करने और प्रशासनिक कार्यों को संचालित करने का कार्य करती है। इसमें राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, मंत्रिपरिषद आदि शामिल होते हैं।

5.12 स्व-प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

1. 1925 में अधिकारों की घोषणा किस रूप में की गई:

(अ) मेग्नाकार्टा (ब) होमरूल विधेयक (स) अधिकार पत्र (द)दि कामनवेल्थ ऑफ इण्डिया बिल ।

2. कांग्रेस के किस अधिवेशन में मौलिक अधिकारों की मांग को दोहराया गया

(अ) 1931 के करांची अधिवेशन (ब) 1885 के बम्बई अधिवेशन (स) 1886 के कलकत्ता अधिवेशन (द) 1916 के लखनऊ अधिवेशन ।

3. मौलिक अधिकारों की निर्माण प्रक्रिया को संविधान सभा में सर्वाधिक प्रभावित करने वाला व्यक्ति था:

(अ) महात्मा गांधी (ब) बी. एन. राव (स) डॉ. राजेन्द्र प्रसाद (द) हंसा मेहता ।

4. नागरिकों को कितने मौलिक अधिकार प्राप्त हैं:

(अ) 7 (ब) 5 (स) 6 (द) 81

5. निम्न में से कौन-सा मौलिक अधिकार नहीं है?

(अ) समानता का अधिकार (ब) शोषण के विरुद्ध अधिकार (स) धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार (द) सम्पत्ति का अधिकार ।

6. कानून के समक्ष समानता :

(अ) सोवियत संविधान का प्रभाव है (ब) अमरीकी संविधान से लिया गया है (स) ब्रिटिश सामान्य विधि की देन है (द) इनमें से कहीं से भी नहीं लिया गया है।

7. कानून का समान संरक्षण वाक्य कहां से लिया गया है :

(अ) अमेरिका(ब) कनाडा (स) ब्रिटेन (द) आस्ट्रेलिया ।

8. कानून के समक्ष समानता का अर्थ है:

(अ) राज्य सभी व्यक्तियों के लिए एक-सा कानून बनाएगा तथा उन्हें एक समान लागू करेगा

(ब) अपने अधिकारों की रक्षा के लिए प्रत्येक व्यक्ति समान रूप से न्यायालय की शरण ले सकता है

(स) औचित्यपूर्ण आधार पर और कानून द्वारा मान्य किसी भेदभाव की भी व्यवस्था नहीं की जा सकती

(द) इनमें से कोई नहीं।

9. संविधान में मूल अधिकारों से संबंधित उपबन्धों को समाविष्ट करने का उद्देश्य है

(अ) संविधान को गरिमा प्रदान करना

(ब) नीति निदेशक तत्वों की तुलना में उन्हें विशिष्ट स्थिति प्रदान करना

(स) विधि शासित सरकार की स्थापना करना न कि मनुष्य द्वारा संचालित सरकार की
(द) इनमें से कोई नहीं।

उत्तर (1) द, (2) अ, (3) ब, (4) स, (5) द, (6) स, (7) अ, (8) अ, (9) स,

5.13 संदर्भ सूची

1. बक्षी, पी. एम. (2020). *भारतीय संविधान का परिचय.* नई दिल्ली: ईस्टर्न बुक कंपनी।
2. जोशी, के. सी. (2019). *भारतीय संविधान और राजनीतिक व्यवस्था.* जयपुर: राजस्थान प्रकाशन।
3. शर्मा, बी. के. (2021). *भारतीय संविधान और शासन व्यवस्था.* नई दिल्ली: लक्ष्मी पब्लिकेशन।
4. अग्रवाल, आर. के. (2022). *भारतीय लोकतंत्र और कानून.* आगरा: केंद्रीय प्रकाशन।
5. सिंह, एम. पी. (2023). *मौलिक अधिकार और कर्तव्य: भारतीय संदर्भ.* दिल्ली: यूनिवर्सल लॉ पब्लिशिंग।
6. पांडे, जे. एन. (2018). *संविधान का परिचय.* इलाहाबाद: सेंट्रल लॉ एजेंसी।

7. चतुर्वेदी, अरविंद. (2017). *भारतीय संविधान: संरचना और कार्यप्रणाली.* भोपाल: ज्ञानदीप प्रकाशन।

5.14 अभ्यास प्रश्न

1. भारत के संविधान में प्रदत्त मौलिक अधिकारों का वर्णन कीजिए।

2 निम्नांकित पर टिप्पणियां लिखिए

(अ) समता व स्वतन्त्रता के मौलिक अधिकार,

(ब) मौलिक कर्तव्य

3. भारतीय नागरिकों के मूल अधिकारों और कर्तव्यों के महत्व तथा उपयोगिता का विवेचन कीजिए।

(अ) मौलिक कर्तव्यों की व्याख्या कीजिए।

(ब) समानता के मौलिक अधिकार का वर्णन कीजिए

4. भारतीय संविधान में मौलिक अधिकारों एवं कर्तव्यों की समीक्षा कीजिए।

5. मौलिक अधिकारों से क्या अभिप्राय है?

6. 'कानून के समक्ष समानता' से क्या अभिप्राय है?

7. संवैधानिक उपचारों के अधिकार की व्याख्या कीजिए।

8. संविधान में निहित मूल कर्तव्यों का वर्णन कीजिए ।

ब्लॉक - II

इकाई 6

राज्य नीति के निर्देशक तत्व

6.1 प्रस्तावना

6.2 उद्देश्य

6.3 राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांत

6.4 नीति निर्देशक तत्वों का अर्थ और उद्देश्य

6.5 नीति निर्देशक सिद्धान्तों तथा मौलिक अधिकारों में अन्तर

6.6 नीति निर्देशक सिद्धान्तों का वर्गीकरण

6.7 नीति निर्देशक सिद्धांतों की आलोचना

6.8 नीति निर्देशक सिद्धान्तों का महत्व

6.9 सार संक्षेप

6.10 शब्दावली

6.11 स्व -प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

6.12 संदर्भ सूची

6.13 अभ्यास प्रश्न

6.1 प्रस्तावना

भारतीय संविधान का उद्देश्य भारत को एक मजबूत और समृद्ध लोकतांत्रिक गणराज्य बनाना है, जो सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय प्रदान करे। इसके कुछ मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं:

1. **समानता और स्वतंत्रता:** सभी नागरिकों को समान अधिकारों का प्राप्त करना, बिना किसी भेदभाव के।
2. **संविधानिक व्यवस्था की सुरक्षा:** भारत में एक सशक्त और स्थिर संवैधानिक ढांचा बनाना।

3. **सामाजिक और आर्थिक भलाई:** नागरिकों को बुनियादी मानवाधिकार और जीवन की गुणवत्ता सुनिश्चित करना।
4. **धार्मिक और सांस्कृतिक विविधता की रक्षा:** सभी धर्मों और संस्कृतियों को समान सम्मान देना और उनकी रक्षा करना।
5. **लोकतांत्रिक स्वतंत्रता:** एक लोकतांत्रिक प्रणाली के तहत नागरिकों को अपने अधिकारों का प्रयोग करने का अवसर देना।

6.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप निम्नलिखित कार्य करने में सक्षम होंगे:

1. राज्य नीति के निर्देशक तत्वों की परिभाषा और महत्व को समझ सकेंगे।
2. भारतीय संविधान में निर्देशक तत्वों की भूमिका का विश्लेषण कर सकेंगे।
3. राज्य और नागरिकों के संबंधों को बेहतर ढंग से समझ पाएंगे।
4. सामाजिक-आर्थिक नीतियों में इन तत्वों के योगदान का मूल्यांकन कर सकेंगे।
5. राज्य के कल्याणकारी उद्देश्यों की दिशा में इन तत्वों की प्रभावशीलता का निरीक्षण कर सकेंगे।

6.3 राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांत

राज्य नीति के निदेशक तत्व हमारे संविधान की संजीवनी व्यवस्थाएँ हैं। इन सिद्धान्तों में हमारे संविधान का और उसके सामाजिक न्याय दर्शन का वास्तविक तत्व निहित है। ये तत्व हमारे संविधान की प्रतिज्ञाओं और अभीप्साओं को वाणी प्रदान करते हैं। संविधान निदेशक सिद्धान्तों का मार्ग प्रशस्त करता है और निदेशक सिद्धान्त एवं उनका क्रियान्वयन संविधान को सामाजिक शक्ति से अभिसंचित करते हैं। निर्देशक सिद्धान्तों का प्रयोजन शान्तिपूर्ण तरीकों से सामाजिक क्रान्ति का पथ-प्रशस्त कर कुछ सामाजिक और आर्थिक उद्देश्यों को तत्काल सिद्ध करना है। इस प्रकार की सामाजिक क्रान्ति के माध्यम से संविधान सामान्य व्यक्ति की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति और हमारे समाज की संरचना में परिवर्तन करना चाहता है। संविधान के भाग चतुर्थ, जिसमें राज्य नीति के निदेशक तत्वों का विवेचन किया गया है, का उद्देश्य उस सामजिक और आर्थिक क्रान्ति को मूर्त रूप प्रदान करना है, जिसे स्वाधीनता के पश्चात् पूरा करना बाकी रह गया था।

6.4 नीति निर्देशक तत्वों का अर्थ और उद्देश्य

संविधान के चतुर्थ भाग में अनुच्छेद 36 से 51 तक निदेशक तत्वों का उल्लेख किया गया है। राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्त देश की विभिन्न सरकारों और सरकारी अभिकरणों के नाम जारी किए गए निर्देश हैं, जो देश की शासन व्यवस्था के मौलिक तत्व हैं। दूसरे शब्दों में निदेशक सिद्धान्त कार्यपालिका और व्यवस्थापिका को दिए ऐसे निर्देश हैं जिनके अनुसार उन्हें अपने अधिकारों का प्रयोग इस प्रकार करना होता है कि इन सिद्धान्तों का पूरा और उचित रूप से पालन हो। ये सिद्धान्त ऊँचे-ऊँचे आदर्शों की घोषणाएँ हैं। ये सिद्धान्त पथ प्रदर्शक तथा ऊँची-ऊँची आकाँक्षाओं के घोषणा-पत्र है। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के अनुसार, "राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्तों का उद्देश्य जनता के कल्याण को प्रोत्साहित करने वाली सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करना है।" संविधान में कहा गया है कि ये 'तत्व' देश का शासन चलाने में 'मूलभूत' है और कानून बनाते वक्त राज्य का दायित्व है कि वह इनको ध्यान में रखें। संविधान की प्रस्तावना में जिन उद्देश्यों को प्रकट किया गया है, उन्हें व्यावहारिक रूप देने के लिये राज्य के नीति निदेशक सिद्धान्तों को स्थान दिया गया है। जिस प्रकार 1935 के भारत सरकार अधिनियम में गवर्नर जनरल तथा गवर्नरों के लिए अनुदेश-पत्र जारी किए गए थे, उसी तरह नए संविधान में निदेशक सिद्धान्त हमारे शासनकर्ताओं के लिए हिदायतें या अनुदेश हैं। ये सिद्धान्त कार्यपालिका तथा विधानमण्डल के लिए निदेशन है कि उन्हें किस तरह शासन संचालन करना है। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार, "राज्य की नीति के निदेशक सिद्धान्त सन् 1935 के अधिनियम में जारी किए गए अनुदेश पत्रों के समान ही हैं। बस अन्तर यही है कि अधिनियम में गवर्नर जनरल तथा गवर्नरों को निर्देशन दिए गए थे जबकि इस संविधान में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका को निदेशन दिए गए हैं। सर आईवर जैनिंग्स के अनुसार, "भारतीय संविधान का यह भाग फेबियन समाजवाद की ही स्थापना करता है जबकि समाजवाद शब्द का उल्लेख नहीं मिलता है।" प्रो. पायली के अनुसार, "निदेशक तत्व भारतीय प्रशासकों के आचरण के सिद्धान्त हैं।" जी.एन. जोशी के शब्दों में, "इन निदेशक तत्वों का विधानमण्डलों को कानून बनाते समय और कार्यपालिका को इन तत्वों को लागू करते समय ध्यान रखना चाहिए। ये उस नीति की ओर संकेत करते हैं जिनका अनुसरण संघ और राज्यों को करना चाहिए।" न्यायाधीश केनिया के अनुसार, "निदेशक तत्वों में राष्ट्र की बुद्धिमत्तापूर्ण स्वीकृति बोल रही है, जो संविधान सभा के माध्यम से अभिव्यक्त हुई थी।" संक्षेप में ये सिद्धान्त शासन की नीतियों को निर्दिष्ट करने के लिए विधान में निहित किए गए हैं।

डॉ. पायली ने इसे आधुनिक संवैधानिक प्रशासन की एक नवीन विशेषता बतलाया है, जिसकी प्रेरणा हमें आयरिश संविधान से ही मिली है। ये सिद्धान्त

प्रजातन्त्रात्मक भारत का शिलान्यास करते हैं। जब भारत सरकार इन्हें कार्यरूप में परिणत कर सकेगी तो भारत एक सच्चा लोक कल्याणकारी राज्य कहला सकेगा।

निदेशक सिद्धान्त को संविधान का अंग बनाने में संविधान निर्माताओं का उद्देश्य क्या था ? इन आधारभूत सिद्धान्तों का उद्देश्य कल्याणकारी राज्य स्थापित करना है। सामूहिक रूप से सिद्धान्त भारत में आर्थिक एवं सामाजिक लोकतन्त्र की रचना करते हैं। निदेशक सिद्धान्त का वास्तविक महत्व इस बात में है कि ये नागरिकों के प्रति राज्य के दायित्व के द्योतक है। संविधान की प्रस्तावना में जिन आदर्शों की प्राप्ति की इच्छा प्रकट की गई है, ये उन आदशों की ओर बढ़ने के लिए पथ-प्रदर्शन का कार्य करते हैं। जिन आदर्शों की प्राप्ति भारतीय राज्य का लक्ष्य है, ये उन आदर्शों की गणना है।

6.5 नीति निर्देशक सिद्धान्तों तथा मौलिक अधिकारों में अन्तर

भारतीय संविधान के भाग तीन में मौलिक अधिकारों तथा भाग चार में निदेशक सिद्धान्तों का वर्णन मिलता है। राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्तों तथा मौलिक अधिकारों में बड़ा भारी अन्तर है। मौलिक अधिकार जहाँ नागरिकों को ऐसी सुविधाएँ प्रदान करते हैं, जिन्हें उनके सर्वांगीण विकास की आवश्यक शर्त कहा जा सकता है, वहाँ राज्य की नीति के निदेशक तत्व मनुष्यों के इस सर्वांगीण विकास की आवश्यक परिस्थितियों के निर्माण के लिए कुछ सकारात्मक आज्ञाएँ हैं। ग्लेडहिल के अनुसार, "मौलिक अधिकार राज्य के लिए कुछ निषेध आज्ञाएं हैं। इनके द्वारा राज्य को यह आदेश दिया गया है कि उसे लोगों के इन अधिकारों में अनुचित हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्त इसके विरुद्ध यह बतलाते हैं कि राज्य को क्या करना चाहिए।" दोनों में मूल अन्तर इस प्रकार है-

(1) जहाँ मौलिक अधिकार न्यायालयों द्वारा लागू हो सकते हैं, वहाँ राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्त न्यायालयों द्वारा लागू नहीं हो सकते। दूसरे शब्दों में प्रथम वाद योग्य (justiciable) है तथा द्वितीय वाद योग्य नहीं (non-jesticiable) है।

(2) मौलिक अधिकार नकारात्मक है जबकि निदेशक सिद्धान्त सकारात्मक हैं। मौलिक अधिकारों की प्रकृति इस रूप में नकारात्मक है कि ये राज्य के किन्हीं कार्यों पर प्रतिबंध लगाते हैं। इसके प्रतिकूल नीति-निर्देशक तत्व राज्य को किन्हीं निश्चित कार्यों को करने का आदेश देते हैं।

(3) जहाँ मौलिक अधिकारों के द्वारा राजनीतिक लोकतंत्र की स्थापना की गई है, वहाँ नीति-निदेशक सिद्धान्तों द्वारा आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना होती है। ग्रेनविल ऑस्टिन ने इसी कारण इन निदेशकों को 'घोषणा' कहा है आर्थिक स्वाधीनता की घोषणा ।

(4) मौलिक अधिकारों का कानूनी महत्व है जबकि निदेशक सिद्धान्त 'नैतिक आदेश' (Moral precepts) मात्र है। जी. एन. जोशी ने इसी कारण लिखा है कि "राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्त मानवीय आदर्शवाद के ढेर हैं, जिन्हें ऐसे व्यक्तियों ने संग्रहित किया है जो दीर्घकालीन स्वातन्त्र्य संघर्ष के पश्चात् स्वप्निल भावातिरेक की स्थिति में थे।

(5) मौलिक अधिकारों के मुकाबले में निदेशक सिद्धान्त कम महत्वपूर्ण हैं। 'कुरेशी बनाम बिहार राज्य' के मुकदमें में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों ने यह विचार प्रकट किया था कि "राज्य को चाहिए कि वे निदेशक सिद्धान्तों को लागू कराने के लिए कानून बनाएं, लेकिन उनके द्वारा बनाए गए कानूनों से मौलिक अधिकारों को हानि नहीं पहुँचनी चाहिए, नहीं तो उनकी सुरक्षा सम्बन्धी धाराएँ निरर्थक समझी जाएँगी।"

(6) नीति-निदेशक तत्वों का सीधा सम्बन्ध राज्य से है, जबकि मौलिक अधिकारों का सम्बन्ध नागरिकों से है।

7) मौलिक अधिकार कुछ परिस्थितियों में सीमित, मर्यादित या स्थगित किए जा सकते हैं, परन्तु राज्य के नीति निदेशक तत्वों के साथ ऐसी कोई बात नहीं है।

(8) मौलिक अधिकारों का विषय व्यक्ति है। व्यक्ति के व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिए मौलिक अधिकारों की व्यवस्था की गई है। नीति निदेशक तत्वों का विषय सामूहिक रूप से राज्य है। संविधान द्वारा राज्य को कतिपय दायित्व और कर्तव्य सौंपे गये हैं।

(9) मौलिक अधिकारों का उपभोग संविधान के आदेश से ही नागरिक करते हैं जबकि निदेशक तत्वों का उपभोग राज्य द्वारा प्रवर्तित लोक-कल्याणकारी विधियों के माध्यम से ही नागरिक कर पाते है।

दोनों एक दूसरे के पूरक हैं ऊपर वर्णित अन्तर से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिए कि मूल अधिकारों और निदेशक तत्वों में कोई संघर्ष है, अपितु वस्तुतःवे एक दूसरे के पूरक हैं। ग्रेनविल ऑस्टिन ने कहा है कि 'संविधान में इन्हें (मूल अधिकार एवं नीति-निर्देशक तत्व) इस आशा और अपेक्षा से सम्मिलित किया गया था कि एक दिन भारत में वास्तविक स्वाधीनता का वृक्ष लहलहायेगा। 'अधिकार और तत्व' इस प्रकार भारत के भविष्य, वर्तमान और भूत को जोड़ देते हैं; इसमें वे संविधान में अपने को निहित किए जाने को विशेष महत्व प्रदान कर देते हैं तथा भारत में सामाजिक क्रांति के लक्ष्य को शक्ति प्रदान करते है। "जस्टिस हेगड़े कहते हैं कि 'मूल अधिकारों का प्रयोजन एक समतापूर्ण समाज की सृष्टि करना, समस्त नागरिक को समाज के प्रतिबन्धों और दबावों से मुक्त करना तथा उनके लिए स्वतंत्रता का स्वर्ण विहान लाना है। निदेशक सिद्धान्त का प्रयोजन वैधानिक तरीकों से सामाजिक क्रांति का पथ-प्रशस्त कर कुछ

सामाजिक और आर्थिक उद्देश्यों को तत्काल सिद्ध करना है। इस प्रकार दोनों का ध्येय एवं प्रयोजन समान है। सच बात तो यह है कि मौलिक अधिकार और निदेशक सिद्धान्तों का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है और यह सोचना उचित नहीं है कि उनमें किसका अधिक महत्व है और किसका कम। राज्य को उन्हें इस प्रकार लागू करना चाहिए कि दोनों एक साथ व्यक्ति और समाज की उन्नति के लिए उपयोगी हों। प्रसिद्ध न्यायाधीश हेगड़े ने भी कहा है कि एक ही संविधान के दो भागों में कोई असंगति नहीं हो सकती। राज्य नीति के निदेशक तत्व बनाकर हमारे संविधान निर्माताओं ने कोई असंगति उत्पन्न नहीं की। उनका प्रयत्न वैयक्तिक अधिकार और सामाजिक तारतम्य स्थापित करना था।" डॉ. गजेन्द्र गडकर ने भी कहा कि "भारतीय लोकतंत्र संविधान के भाग तीन में नागरिकों को दिए गए मूल अधिकारों का पालन करते हुए भाग चार में निहित सामाजिक, आर्थिक सिद्धान्तों को क्रियान्वित करने के लिए निष्ठापूर्वक प्रयत्न करने को वचनबद्ध है।

यदि मूल अधिकार में कोई अनुचित हस्तक्षेप किया जाये तो वह हस्तक्षेप निष्पभावी होगा। इसी प्रकार यह भी साफ है कि निदेशक सिद्धान्तों के विरुद्ध कोई भी राज्य कार्य अथवा विधान निष्प्रभावी होना चाहिए। परन्तु वास्तविक कठिनाई तो तब उत्पन्न होती है जब दोनों के बीच में विरोध आता है। उदाहरण के लिए 'सम्पत्ति' को लीजिये। मूल अधिकार के रूप में सम्पत्ति को बनाये रखा जा सकता है किन्तु अपरिहार्य सामाजिक परिवर्तनों की दृष्टि से उस पर नियन्त्रण आवश्यक है। अगर भू-स्वामी वर्ग यह समझता है कि सम्पत्ति को बनाये रखने के लिए गरीबी को भी स्वीकार किया जाना चाहिये तो यह उसकी भयंकर भूल है। बी.एन. राव ने तो स्पष्ट कहा था कि संघर्ष की स्थिति में मूल अधिकारों की अपेक्षा निदेशक सिद्धान्तों को प्रमुखता दी जानी चाहिए अन्यथा अत्यधिक उपयोगी व्यवस्थापन का उद्देश्य समाप्त हो जायेगा। स्व प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने भी कहा था कि 'हम निदेशक तत्वों की क्रियान्विति हेतु कृतसंकल्प हैं और इस हेतु मौलिक अधिकारों को संशोधित भी करना पड़ा तो हम करेंगे।' संविधान का चतुर्थ संशोधन प्रस्तुत करते समय स्वर्गीय श्री नेहरू ने भी प्रबल शब्दों में कहा था कि "जहाँ कहीं किसी मौलिक अधिकार एवं निदेशक सिद्धान्त में परस्पर विरोध हो वहाँ निदेशक सिद्धान्त को वरीयता दी जानी चाहिए।"

'चम्पकम् दोरायजन' के विवाद में सर्वोच्च न्यायालय की ओर से निर्णय देते हुए न्यायाधीश दास ने कहा कि "अनुच्छेद 37 द्वारा निदेशक सिद्धान्तों को स्पष्टतः न्यायालय द्वारा प्रवर्तन योग्य नहीं बनाया गया इसलिए इन्हें संविधान के तृतीय भाग में प्रदत्त मौलिक अधिकारों की अपेक्षा वरीयता प्रदान नहीं की जा सकती। मौलिक अधिकारों से सम्बद्ध अध्याय पुनीत है। राज्य के नीति निदेशक सिद्धान्तों को इनके अनुरूप होकर

चलना होगा।" इस निर्णय के फलस्वरूप 1951 में अनुच्छेद 15 का संशोधन किया गया और सामाजिक एवं शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े हुए वर्गों के हितों की रक्षा के हेतु राज्य को विशेष व्यवस्था करने का अधिकार दिया गया। इसके बाद जब न्यायालय में जमींदारी उन्मूलन सम्बन्धी विवादों पर विचार किया गया तो सर्वोच्च न्यायालय का दृष्टिकोण बदला। 'बिहार राज्य बनाम कामेश्वर सिंह' विवाद में न्यायालय ने निदेशक सिद्धान्तों का सहारा लिया। न्यायाधीश महाजन ने स्पष्ट कहा कि "अब यह स्पष्ट हो गया है कि बड़े-बड़े भूखण्डों का कतिपय व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित होना उन सिद्धान्तों के विपरीत है जिन पर भारत का संविधान टिका है।"

उच्चतम न्यायालय ने 'विजय कॉटन मिल्स लि. बनाम स्टेट बैंक ऑफ अजमेर' में इसी विचारधारा का आश्रय लिया। न्यायाधिपति श्री मुकर्जी ने कहा, "इस बारे में कोई विवाद नहीं हो सकता कि श्रमिकों के लिए ऐसी निर्वाह मजदूरी की सुरक्षा करना जो न केवल न्यूनतम भौतिक जीवन के लिए आवश्यक है, बल्कि जिससे स्वास्थ्य और शिष्टता को भी बनाये रखा जा सकता है, सर्वसाधारण के सामान्य हित में है। यह हमारे संविधान के अनुच्छेद 43 में निहित राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्तों में से एक हैं।" मेसर्स क्राउन एल्यूमिनियम वर्क्स बनाम उनके मजदूरों के मामले में न्यायालय ने कहा कि यहाँ उन मुख्य उद्देश्यों को ध्यान में रखना आवश्यक है, जिन्हें आधुनिक लोकतांत्रिक कल्याणकारी राज्य में औद्यौगिक न्यायाधिकरण आवश्यक रूप से मजदूरी का निर्धारण करते समय ध्यान में रखता है।" 'चन्द्र भवन बोर्डिंग एण्ड लॉजिंग बंगलौर बनाम मैसूर राज्य' के मामले में न्यायालय ने कहा कि "व्यापार की स्वतंत्रता का अर्थ शोषण करने की स्वतन्त्रता नहीं है। संविधान के उपबन्धों को प्रगति के मार्ग में बाधाओं के रूप में खड़ा नहीं किया जा सकता। यह सोचना मिथ्या धारणा है कि हमारे संविधान के अधीन केवल अधिकारों की व्यवस्था है कर्तव्यों की नहीं। जबकि तीसरे भाग में प्रदान किए गए अधिकार मूल अधिकार हैं, चौथे भाग में दिये गये निर्देश देश के शासन में मूलभूत है। संविधान के तीसरे और चौथे भाग में दिए गए उपबन्धों में हमें कोई विरोध प्रतीत नहीं होता है। वे एक-दूसरे के पूरक है।" फिर भी फरवरी 1967 में सर्वोच्च न्यायालय ने 'गोलकनाथ विवाद' में निर्णय देते हुए मूल अधिकारों को अक्षुण्ण बना दिया और कहा कि राज्य संविधान के अध्याय तीन में किसी प्रकार का संशोधन नहीं कर सकेगा। इससे यह कठिनाई पैदा हो गई कि निदेशक सिद्धान्तों के क्रियान्वयन हेतु अब मूल अधिकारों पर आवश्यक प्रतिबंध नहीं लगाया जा सकता। इसको आधार बनाकर दिसम्बर 1971 में प्रधानमंत्री ने लोकसभा को भंग करवाया और जनता से अभूतपूर्व सत्ता (मैण्डेट) प्राप्त की। संविधान में 24 वें, 25वें और 29 वें संशोधन द्वारा आवश्यक परिवर्तन किए ताकि निर्देशक तत्वों का क्रियान्वयन शीघ्रता से हो सके। इन संविधान संशोधनों को न्यायालय

में चुनौती दी गई। सर्वोच्च न्यायालय ने 'केशवानन्द भारती के विवाद' में यह स्वीकार कर लिया कि निर्देशक सिद्धान्तों को अमली जामा देने के लिये मूल अधिकारों को संशोधित किया जा सकता है।

बयालीसवाँ संशोधन निदेशक सिद्धांतों को प्राथमिकता 42 वें संविधान संशोधन में पहली बार संविधान में वर्णित राज्य की नीति के निदेशात्मक तत्वों को नागरिक के मौलिक अधिकारों पर प्राथमिकता दी गई। सामान्यतया अदालतों को मौलिक अधिकारों के आधार पर अभियोगों का फैसला करने का अधिकार होगा, मगर यदि मौलिक अधिकारों और राष्ट्र के सामूहिक अधिकारों के बीच यदि कोई संघर्ष हो तो संविधान के निदेशात्मक सिद्धांतों को ही वरीयता मिलेगी।

इस तरह यह संशोधन संविधान की बुनियादी धारणा में आमूल-चूल परिवर्तन कर देता है और मौलिक अधिकारों की स्थिति गौण बन जाती है।

सन् 1979 में 'मिनर्वा मिल केस' में 42 वें संशोधन के कतिपय अंशों को उच्चतम न्यायालय में चुनौती दी गयी। उच्चतम न्यायालय ने 42 वें संशोधन के दो प्रावधानों खण्ड 4 व खण्ड 55 को अवैध घोषित कर दिया क्योंकि इनसे संविधान के बुनियादी ढाँचे को आघात पहुँचता है और ये केशवानन्द भारती के विवाद में उच्चतम न्यायालय के द्वारा दिए गए निर्णय का उल्लंघन करते हैं।

इस निर्णय (मिनर्वा मिल केस, 1980) के बाद वर्तमान समय में स्थिति यह है कि संविधान के अनुच्छेद 39 के भाग 'ब'और 'स' (आर्थिक और सामाजिक न्याय से सम्बद्ध तत्व) की क्रियान्विति के लिए ऐसे किसी कानून का निर्माण नहीं किया जा सकेगा जो मौलिक अधिकारों को सीमित या संशोधित करता हो। इस प्रकार वैधानिक अर्थों में पुनः मौलिक अधिकारों को निदेशक तत्वों पर वरीयता की स्थिति प्राप्त हो गयी है।

6.6 नीति निर्देशक सिद्धान्तों का वर्गीकरण (Classification ot the Directive Principles)

संविधान के 36 वें अनुच्छेद से लेकर 51 तक, सोलह अनुच्छेदों में राज्य नीति के निदेशक सिद्धांतों का वर्णन है। इनमें विभिन्न क्षेत्रों में राज्य के कार्य क्षेत्र पर विचार किया गया है, जैसे आर्थिक, सामाजिक, वैधानिक, शिक्षा सम्बन्धी तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र। इनको तीन भागों में विभाजित करके सरलता से देखा जा सकता है

1. लोक कल्याणकारी तथा समाजवादी राज्य की स्थापना करने वाले सिद्धांत भारतीय संविधान के निर्माताओं का उद्देश्य भारत में लोक कल्याणकारी एवं समाजवादी राज्य

की स्थापना करना था, इस दृष्टि से अधिकांश निदेशक सिद्धांतों द्वारा आर्थिक और सामाजिक न्याय के सम्बन्ध में व्यवस्था की गई है। निदेशक सिद्धांतों का सार तत्व संविधान के अनुच्छेद 38 में दिया गया है। इसमें संविधान की प्रस्तावना की प्रतिध्वनि सुनाई देती है। "राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करें जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्रमाणित करें, भरसक कार्य-साधक के रूप में स्थापना और संरक्षण करके लोक-कल्याण की उन्नति का प्रयास करेगा।" निदेशक सिद्धांतों में कहा गया है कि

(i) राज्य लोगों के जीवन स्तर को सुधारने और स्वास्थ्य सुधार के लिए प्रयत्न करेगा।

(ii) राज्य जनता के दुर्बलतम अंगों के, मुख्यतया अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित आदिम जातियों के शिक्षा तथा अर्थ-सम्बन्धी हितों की विशेष सावधानी से रक्षा करेगा और सामाजिक अन्याय तथा सभी प्रकार के शोषण से उनकी रक्षा करेगा।

(iii) राज्य प्रत्येक स्त्री और पुरुष को समान रूप से जीविका के साधन प्रदान करने का प्रयत्न करेगा।

(iv) राज्य देश के भौतिक साधनों के स्वामित्व और नियन्त्रण की ऐसी व्यवस्था करेगा कि अधिक-से-अधिक सार्वजनिक हित हो सके।

(v) राज्य इस बात का भी ध्यान रखेगा कि सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों का केन्द्रीयकरण न हो,

(vi) राज्य प्रत्येक नागरिक को, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, समान कार्य के लिए समान वेतन प्रदान करेगा।

(vii) राज्य श्रमिक पुरुषों और स्त्रियों के स्वास्थ्य और शक्ति तथा बालकों को सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न होने देगा।

(viii) राज्य प्रयास करेगा कि सभी नागरिक अपनी योग्यता के अनुसार रोजगार पा सके, शिक्षा पा सकें एवं बेकारी, बीमारी और अंगहीनता आदि दशाओं में सार्वजनिक सहायता प्राप्त कर सकें।

(ix) वैज्ञानिक आधार पर कृषि का संचालन करना भी राज्य का कर्तव्य होगा।

(x) राज्य संविधान के आरम्भ होने से दस वर्ष के भीतर चौदह वर्ष तक की आयु के बालकों के लिए मुक्त और अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध करेगा। इस प्रकार इन निदेशक सिद्धांतों में भारतीय समाज के पुनर्जागरण को सुनिश्चित करने का संकल्प निहित है। ये

सिद्धांत राज्य के ऊपर यह ठोस जिम्मेदारी डालते हैं कि वह देश में लोकतन्त्र के लिए सुदृढ़ आधार का निर्माण करे।

2. गाँधी विचारधारा से सम्बन्धित निदेशक तत्व गाँधीजी ने हमें सामाजिक उत्तरदायित्व के सार तत्व की शिक्षा प्रदान की है। उनकी विचारधारा का प्रभाव भी इन सिद्धांतों में कई स्थानों पर देखा जा सकता है, जैसे-

(1) संविधान के अनुच्छेद 43 के अनुसार राज्य कुटीर उद्योगों को बढ़ावा देगा;

(ii) अनुच्छेद 40 के अनुसार राज्य पंचायतों का संगठन करेगा। राज्य पिछड़ी हुई और निर्बल जातियों की विशेष रूप से शिक्षा तथा आर्थिक हितों की उन्नति करेगा।

(iii) अनुच्छेद 47 के अनुसार राज्य नशीली वस्तुओं के प्रयोग की औषधियों के अतिरिक्त शेष उद्देश्यों के लिए मना करेगा।

(iv) अनुच्छेद 46 के अनुसार, राज्य कृषि और पशुपालन को आधुनिक ढंग से संगठित करेगा।

(v) अनुच्छेद 49 के अनुसार, राज्य राष्ट्रीय और ऐतिहासिक महत्व वाले स्मारकों और स्थानों की रक्षा करेगा।

(vi) अनुच्छेद 50 के अनुसार, राज्य न्यायापालिका को कार्यपालिका से अलग करने के लिए कदम उठाएगा।

(vii) अनुच्छेद 44 से अनुसार, राज्य सारे देश के लिए एक समान दीवानी तथा फौजदारी कानून बनाने का यत्न करेगा। इस प्रकार उपर्युक्त अंश राष्ट्रपिता बापू के दृष्टिकोण से मिलते-जुलते हैं।

3. अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को बढ़ावा देने वाले निदेशक तत्व - संविधान के अनुच्छेद 51 के अनुसार, राज्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बढ़ावा देगा। राज्य राष्ट्रों के मध्य न्याय और सम्मानपूर्वक सम्बन्धों को बनाए रखने का प्रयास करेगा। राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों तथा सन्धियों की तरफ मान बढ़ाएगा। राज्य अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को पंच-फैसलों द्वारा निपटाने की रीति को बढ़ावा देगा।

4. कतिपय नये निदेशक तत्व 42 में संशोधन द्वारा कतिपय नए निदेशक तत्व भी संविधान में जोड़े गए हैं। अनुच्छेद 39 की धारा (एफ) को बदल दिया गया है। इसका उद्देश्य बच्चों तथा नवयुवकों को शोषण से बचाना तथा उनके स्वस्थ विकास के लिए उपयुक्त अवसर तथा सुविधायें उपलब्ध कराना है। अनुच्छेद 39 के बाद एक नया

अनुच्छेद 39 (ए) जोड़ दिया गया है। इसमें समान न्याय दिलाने तथा मुफ्त कानूनी सहायता उपलब्ध करने की व्यवस्था है। अनुच्छेद 43 के बाद एक नया अनुच्छेद 43 (B) जोड़ा गया है। इसमें उद्योगों के प्रबन्ध में कर्मचारियों के भाग लेने की व्यवस्था है। अनुच्छेद 48 (B) के अनुसार वनों तथा वन्य जीवों की सुरक्षा की व्यवस्था है।

6.7 नीति निर्देशक सिद्धांतों की आलोचना

संविधान के किसी भी भाग के बारे में इतनी गलत धारणाएँ नहीं हैं, जितनी कि इसके चौथे भाग-निदेशक तत्वों के बारे में हैं। संविधान के निर्माण के दौरान भी संविधान सभा में कुछ शंकाएँ व्यक्त की गयी थीं कि ये निर्देश पवित्र आशाओं से अधिक और कुछ नहीं हैं और इनका महत्व उद्घोषणाओं से अधिक और कुछ नहीं होगा। संविधान सभा के एक सदस्य ने कहा था कि "ये निदेशक सिद्धांत भावनाओं के कूड़ेदान है- इन सिद्धांतों में इतना लचीलापन है कि इस सदन का कोई भी सदस्य इनमें अपनी मनचाही चीज पा सकता है।" सर आइवर जैनिंग्स ने अपनी पुस्तिका 'कैरेक्टोस्टिक्स ऑफ द कॉन्स्टीट्यूशन' में शंका व्यक्त करते हुए लिखा है- "भारतीय संविधान आवश्यक रूप में एक व्यक्तिवादी प्रलेख है। इसके प्रेरणास्त्रोत बर्क, मिल और डायसी रहे हैं। फिर भी, संविधान सभा के कम-से-कम कुछ सदस्यों ने समूहवादी सन्दर्भ में विचार किया, जिसका परिणाम एक विचित्र द्वन्द्व के रूप में हमारे सामने है।" प्रो. के टी. शाह के अनुसार, ये सिद्धांत एक चैक के समान है जिसका भुगतान बैंक की पवित्र इच्छा पर छोड़ दिया गया है। के सी. व्हीयर के अनुसार, "ये सिद्धांत उद्देश्यों और आकाँक्षाओं के घोषणापत्र हैं।" श्रीनिवासन के अनुसार, "राज्य की नीति के निदेशक सिद्धान्त विशेष प्रभाव नहीं डालते। वे स्पष्ट भी नहीं हैं और उनमें एक बात ही बार-बार दोहराई गई है।" राघवाचारी के अनुसार, "ये निदेशक सिद्धान्त न तो अधिकारों के जनक है और न दायित्वों को उत्पन्न करते हैं। अपितु ये पवित्र इच्छाएँ ही है।" निदेशक सिद्धान्तों के आलोचक निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं-

1. इनके पीछे कानूनी सत्ता नहीं है निदेशक तत्वों के पीछे कोई बाध्यकारी कानूनी सत्ता नहीं है और यदि शासन इनकी उपेक्षा करता है तो उसकी कोई प्रत्यौषधि नहीं है, अतः ये सिद्धांत व्यर्थ है तथा इनकी अवहेलना की जाती है।

2. ये जनता को गुमराह करते हैं ये सिद्धांत जनता को खुश करने तथा शासन के प्रति सस्त भक्ति पैदा करने हेतु जानबूझकर बनाए गए आकर्षक सिद्धांत हैं।

3. ये मात्र राजनीतिक दर्शन हैं ये सिद्धान्त दार्शनिकों और राजनीतिज्ञों की ऊंची-ऊंची कल्पनाएँ हैं। इनका कोई व्यवहारिक महत्व और मूल्य नहीं हैं, ये तो केवल नीरस राजनीतिक दर्शन हैं।

4. एक प्रभुता सम्पन्न राज्य में अस्वाभाविक कानूनवेत्ताओं की दृष्टि में एक प्रभुत्ता-सम्पन्न राज्य में इस प्रकार के आदर्शों का कोई औचित्य नहीं है।

5. अव्यवहारिक एवं अनुचित ये सिद्धान्त व्यवहारिक नहीं है। उदाहरण के लिए मद्य निषेध से सम्बन्धित निदेशक तत्वों की देश की स्वतंत्र अर्थ-व्यवस्था के प्रतिपादकों द्वारा कटु आलोचना की गई है। । डॉ. जैनिंग्स के अनुसार, "आने वाली शताब्दी में ये तत्व निस्सन्देह निरर्थक हो जायेंगे।"

6.8 नीति निर्देशक सिद्धान्तों का महत्व

जस्टिस हैगड़े के अनुसार, यदि हमारे संविधान के कोई भाग ऐसे हैं, जो साधारणतया दुर्बोध है, जिन पर सावधानी, और गहराई से विचार करने तथा जिन्हें ईमानदारी से कार्यान्वित करने की आवश्यकता है, तो वे हैं, भाग तीन और चार। उनमें हमारे संविधान का दर्शन निहित है और एक लेखक के शब्दों में, 'वे हमारे संविधान की अन्तरात्मा हैं।' उनमें एक कार्य-पद्धति का निर्धारण किया गया है और संजोया गया है एक उज्जवल भविष्य का स्वप्न। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार, "यह कहना व्यर्थ है कि राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्तों का कोई मूल्य नहीं है। मेरी धारणा के अनुसार उनका बड़ा भारी महत्व है क्यांकि वे बतलाते हैं कि हमारा लक्ष्य आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना करना है।" टी. के. टोपे के अनुसार, "यदि भारतीय जनता और विधान मण्डलों में उनके प्रतिनिधि कार्यकारिणी की गतिविधियों को अच्छी प्रकार निगरानी करें तो निर्देशक सिद्धान्त अवश्य ही सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक सुधारों के लिए एक प्रभावशाली साधन प्रमाणित हो सकते हैं। श्री छागला के अनुसार, "यदि इन सिद्धान्तों को पूरा किया जाता है तो निश्चित रूप से धरती पर स्वर्ग का सपना साकार होगा।" डॉ. पायली के अनुसार, "इन निदेशक तत्वों का महत्व इस बात में है कि ये नागरिकों के प्रति राज्य के सकारात्मक दायित्व है।" डॉ. सिंघवी ने लिखा है कि "इनमें एक कल्याणकारी समाज और न्याययुक्त सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की परिकल्पना की गई है। हमारे संविधान ने हमें किसी प्रकार से भी धोखा नहीं दिया है। आवश्यकता इस बात की है कि हम संविधान की कसौटी पर खरे उतरें।" अल्लादि कृष्णास्वामी अय्यर के अनुसार, "कोई भी उत्तरदायी सरकार इन सिद्धान्तों की उपेक्षा नहीं कर सकती।" वस्तुतः इन्हें हमारे संविधान में इस आशा और आकांक्षा से महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है कि

निकट भविष्य में, वास्तविक स्वतंत्रता का वटवृक्ष पल्लवित होगा। ये तत्व भारत के भविष्य, वर्तमान और भूत को एक-दूसरे से सम्बन्धित करते हैं और देश में सामाजिक क्रान्ति का अलख जगाते हैं। यह बात स्पष्ट है कि निदेशक सिद्धान्त महत्वहीन नहीं है और निम्नलिखित तर्कों द्वारा इनकी उपयोगिता प्रकट होती है।

1. श्रेष्ठ नैतिक आदर्श के रूप में ये सिद्धान्त नैतिक आदर्श के रूप में उपयोगी हैं; ये प्रेरणा प्रदान करते हैं कि सरकार को नागरिकों के कल्याण एवं भलाई के लिए क्या करना चाहिए। जैसा कि ग्लेडहिल ने लिखा है, "नैतिक उपदेशों से तो करोड़ों व्यक्तियों के जीवन सुधरे हैं।"

2. आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना करने में नीति निदेशक तत्वों द्वारा भारत में लोकतन्त्र की नींव सुदृढ़ होगी। जैसा कि डॉ. अम्बेडकर ने कहा है, "संविधान का लक्ष्य केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही

लोकतन्त्र की स्थापना करना नहीं है बल्कि कल्याणकारी राज्य को बढ़ावा देना है जिसमें सामाजिक और आर्थिक लोकतन्त्र भी होता है।

3. संवैधानिक महत्व के दृष्टिकोण से इन सिद्धान्तों का महान संवैधानिक महत्व है। जनता प्रत्येक सरकार की सफलता और असफलता का मूल्यांकन इस आधार पर करेगी कि उसने इन सिद्धांतों का कहां तक क्रियान्वयन किया है। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार, "यदि कोई सरकार इनकी अवहेलना करती है, तो उसे निर्वाचन के समय निर्वाचकों को निश्चित रूप से जवाब देना होगा।"

4. मार्ग दर्शक के रूप में ये सिद्धान्त कार्यपालिका, न्यायपालिका तथा व्यवस्थापिका के मार्गदर्शक के रूप में प्रकाश स्तम्भ हैं। प्रत्येक शासनांग इन्हीं के अनुरूप अपनी नीतियाँ तय करेगा।

6.9 सार संक्षेप

राज्य नीति के निदेशक तत्व भारतीय संविधान में सामाजिक और आर्थिक न्याय को बढ़ावा देने के लिए निर्देशित प्रावधान हैं। इनका उद्देश्य समाज में समानता, भाईचारे और समृद्धि लाना है, हालांकि ये कानूनी रूप से बाध्यकारी नहीं हैं।

6.10 शब्दावली

सेक्युलर (Secular):धर्मनिरपेक्षता, जिसका अर्थ है कि राज्य का किसी विशेष धर्म से कोई संबंध नहीं होता। भारतीय संविधान में इसे एक महत्वपूर्ण सिद्धांत के रूप में शामिल किया गया है।

लोकतंत्र (Democracy):एक शासन प्रणाली जिसमें नागरिकों को उनके प्रतिनिधियों का चुनाव करने का अधिकार होता है। भारतीय संविधान के अनुसार, भारत एक लोकतांत्रिक गणराज्य है।

समानता (Equality):सभी नागरिकों को समान अवसर और अधिकार देने का सिद्धांत। यह भारतीय संविधान के मौलिक अधिकारों में से एक है।

न्याय (Justice):संविधान में राज्य को न्याय सुनिश्चित करने का निर्देश दिया गया है, ताकि सभी नागरिकों को समान अवसर मिल सके, और किसी के साथ भेदभाव न हो।

धार्मिक स्वतंत्रता (Religious Freedom):प्रत्येक नागरिक को अपने धर्म का पालन करने, प्रचार करने और विश्वास करने का अधिकार। यह भारतीय संविधान में मौलिक अधिकारों के अंतर्गत आता है।

सामाजिक न्याय (Social Justice):समाज में सभी वर्गों, विशेषकर गरीबों और उत्पीड़ितों के लिए समान अवसर और अधिकार सुनिश्चित करना। यह राज्य नीति के निदेशक तत्वों में से एक है।

संप्रभुता (Sovereignty):राज्य की सर्वोच्च शक्ति और स्वतंत्रता, जिसके तहत कोई बाहरी सत्ता राज्य के अंदरूनी मामलों में हस्तक्षेप नहीं कर सकती। भारतीय संविधान के प्रस्तावना में भारत को संप्रभु बताया गया है।

धारा (Article):भारतीय संविधान का मूल संरचनात्मक घटक, जिसमें संविधान के विभिन्न प्रावधानों की व्याख्या और नियम दिए गए हैं। उदाहरण: "धारा 21" (जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अधिकार)।

गणराज्य (Republic):एक प्रकार का शासन व्यवस्था जिसमें सर्वोच्च पद, जैसे राष्ट्रपति, जनता द्वारा चुने जाते हैं और ये पद निर्वाचित होते हैं, न कि वंशानुगत। भारतीय संविधान में भारत को गणराज्य के रूप में परिभाषित किया गया है।

6.11 स्व-प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

1. "मूल अधिकार और राज्य के नीति निदेशक तत्व परस्पर में पूरक हैं एक के लिए दूसरे का त्याग आवश्यक नहीं है।" न्यायपालिका ने यह कहा था :

(अ) केशवानन्द भारती के केस में

(ब) मिनर्वा मिल्स के केस में

(स) गोलकनाथ के केस में

(द) बनारसीदास के केस में।

2. राज्य के नीति निदेशक सिद्धान्तों की क्रियान्विति की प्रगति का सर्वोत्तम स्पष्टीकरण है:

(अ) बिचौलियों का समापन

(ब) लोकायुक्त

(स) योजना आयोग

(द) चुनाव प्रक्रिया ।

3.नीति निदेशक तत्व जिसको 42वें संवैधानिक संशोधन द्वारा संविधान में स्थान मिला है, वह है:

(अ) पर्यावरण की रक्षा

(ब) कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन

(स) समान कार्य के लिए समान वेतन

(द) अर्राष्ट्रीय कानून के प्रति आदर भाव बढ़ाना ।

4. भारतीय संविधान के अन्तर्गत धन का केन्द्रीकरण अतिक्रमण करता है:

(अ) समानता के अधिकार का

(ब) निदेशक तत्व का

(स) स्वतंत्रता के अधिकार का

(द) कल्याण की भावना का ।

.

(अ) बच्चों और युवा वर्ग की शोषण से रक्षा अनुच्छेद 39

(ब) काम करने, शिक्षा प्राप्त करने और कुछ मामलों में सार्वजनिक सहायता प्राप्त करने का अधिकारअनुच्छेद 41

(स) 14 वर्ष से कम आयु वाले बच्चों के लिए निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान अनुच्छेद 45

(द) स्मारकों और राष्ट्रीय महत्व की वस्तुओं और स्थानों की रक्षा अनुच्छेद 48A

6. इनमें से निदेशक सिद्धान्त नहीं है :

(ब) महिलाओं के लिए आरक्षण

(अ) समान कार्य के लिए समान वेतन

(स) 14 वर्ष तक के बालकों के लिए मुफ्त शिक्षा

(द) पंचायती राज की स्थापना।

7.गांधी विचारधारा से संबंधित निदेशक तत्व है:

(अ) बेकारी और बीमारी में सार्वजनिक सहायता

(ब) सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों का केन्द्रीकरण न हो

(स) कुटीर उद्योगों को बढ़ावा देना

(द) ऐतिहासिक स्मारकों की सुरक्षा।

8. 42वें संविधान संशोधन द्वारा जोड़ा गया निदेशक तत्व है :

(अ) अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को पंच फैसलों द्वारा निपटाना

(ब) मुफ्त कानूनी सहायता

(स) कृषि और पशु पालन को आधुनिक ढंग से संगठित करना

(द) न्यायपालिका को कार्यपालिका से अलग करना।

9. 42वें संविधान संशोधन द्वारा जोड़ा गया निदेशक तत्व है :

(अ) उद्योगों के प्रबन्ध में कर्मचारियों के भाग लेने की व्यवस्था

(ब) पंचायतों का संगठन

(स) वैज्ञानिक आधार पर कृषि का संचालन करना

(द) मद्यनिषेध ।

10.निदेशक तत्वों के बारे में यह कथन किसका है- 'यह एक ऐसा चेक है जिसका भुगतान बैंक की इच्छा पर छोड़ दिया गया है।'

(अ) जैनिंग्स (ब) के टी. शाह (स) डॉ. राजेन्द्र प्रसाद (द) डॉ. अम्बेडकर ।

उत्तर (1) ब, (2) अ, (3) अ, (4) ब (5) द, (6) व (7) स, (8) ब, (9) अ, (10) ब

6.12 संदर्भ सूची

1. सु, डी. डी. (2018). *भारतीय संविधान का परिचय.* नई दिल्ली: लेक्सिसनेक्सिस।
2. अग्रवाल, आर. एन. (2019). *राजनीति विज्ञान का परिचय.* नई दिल्ली: एस. चंद एंड कंपनी।
3. जयसवाल, वी. (2020). *भारतीय संविधान और राजनीति.* नई दिल्ली: प्रकाशन संस्थान।
4. मिश्रा, एस. (2021). *संविधान और राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांत.* लखनऊ: भारतीय प्रकाशन।
5. शुक्ला, वी. एन. (2022). *भारतीय संविधान का अध्ययन.* नई दिल्ली: यूनिवर्सल लॉ पब्लिशिंग।
6. त्रिपाठी, ए. (2023). *राजनीति विज्ञान के नवीन दृष्टिकोण.* वाराणसी: काशी हिंदू विश्वविद्यालय।
7. शर्मा, पी. (2017). *भारतीय संविधान और सामाजिक न्याय.* जयपुर: राष्ट्रीय प्रकाशन।

6.13 अभ्यास प्रश्न

1. राज्य के नीति निदेशक तत्वों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

2. राज्य के नीति निदेशक तत्व और मौलिक अधिकारों के बीच विभेद स्पष्ट कीजिए।

3. राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्तों का अर्थ तथा महत्व समझाइये। कुछ सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।

4. राज्य की नीति के निदेशक सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।

5. राज्य के नीति निदेशक सिद्धान्तों से आप क्या समझते हैं?

6. 42वें संवैधानिक संशोधन द्वारा कौन से निदेशक सिद्धान्त संविधान में जोड़े गये ?

7. निदेशक सिद्धान्तों का महत्व समझाइये ।

इकाई 7

संघीय कार्यपालिका : राष्ट्रपति

7.1 प्रस्तावना

7.2 उद्देश्य

7.3 संघ कार्यकारिणी :अध्यक्ष

7.4 राष्ट्रपति का निर्वाचन

7.5 राष्ट्रपति की शक्तियाँ एवं कार्य

7.6 राष्ट्रपति तथा प्रधानमंत्री

7.7 राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति

7.8 सार संक्षेप

7.9 शब्दावली

7.10 स्व -प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

7.11 संदर्भ सूची

7.12 अभ्यास प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

संघीय कार्यपालिका की प्रस्तावना

संघीय कार्यपालिका भारत के शासन तंत्र का एक महत्वपूर्ण अंग है, जो देश के संविधान द्वारा स्थापित एक संघीय प्रणाली के तहत काम करती है। यह राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, मंत्रिपरिषद, और सिविल सेवाओं जैसी संस्थाओं से मिलकर बनी है। इसका मुख्य उद्देश्य नीतियों का कार्यान्वयन, प्रशासनिक संचालन, और कानूनों को प्रभावी ढंग से लागू करना है।

7.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप निम्नलिखित कार्यों को समझने और विश्लेषण करने में सक्षम होंगे:

1. भारत के राष्ट्रपति के संवैधानिक प्रावधानों और भूमिका को स्पष्ट कर सकेंगे।
2. संघीय कार्यपालिका में राष्ट्रपति की शक्तियों और दायित्वों का मूल्यांकन कर सकेंगे।
3. राष्ट्रपति के चुनाव प्रक्रिया और योग्यता के प्रावधानों का वर्णन कर सकेंगे।
4. राष्ट्रपति की कार्यपालिका, विधायी, और न्यायिक शक्तियों का अध्ययन कर सकेंगे।
5. संघीय ढांचे में राष्ट्रपति की भूमिका का समग्र दृष्टिकोण विकसित कर सकेंगे।

7.3 संघ कार्यकारिणी :अध्यक्ष

भारतीय संघ की कार्यपालिका के प्रधान को राष्ट्रपति कहा जाता है। संघ की कार्यपालिका की शक्ति राष्ट्रपति में निहित है। भारत में संसदात्मक शासन प्रणाली प्रचलित है, इसलिए राष्ट्रपति कार्यपालिका के औपचारिक प्रधान हैं और मंत्रिमंडल वास्तविक कार्यकारी है। रस्मी प्रधान होने के कारण हमने अपने राष्ट्रपति को वास्तविक शक्तियाँ नहीं दी है, तथापि उनके पद को सत्ता और गरिमा से युक्त बनाया है। वे राज्य के शक्तिशाली शासक होने की अपेक्षा भारतीय राज्य की एकता के प्रतीक हैं। उनकी स्थिति वैधानिक अध्यक्ष की है, फिर भी शासन में उनका पद धुरी के समान है जो संकट के समय संवैधानिक यन्त्र को संतुलित कर सकता है।

7.4 राष्ट्रपति का निर्वाचन

राष्ट्रपति का चुनाव

योग्यता - संविधान में राष्ट्रपति के पद पर निर्वाचित होने वाले व्यक्ति के लिए निम्नलिखित योग्यताएँ निश्चित की गई हैं-

(1) वह भारत का नागरिक हो,

(2) वह 35 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो,

(3) वह लोकसभा का सदस्य निर्वाचित होने की योग्यता रखता हो,

(4) वह संघ सरकार या राज्य सरकारों या किसी स्थानीय सरकार के अधीन किलाभ के पद पर कार्य नहीं कर रहा हो। जब तक कोई व्यक्ति शासकीय पद पर आसीन है, वह

राष्ट्रपति पद के लिए चुनाव नहीं लड़ सकता। परन्तु राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, राज्यपाल और मंत्रियों के लिए त्याग-पत्र देना आवश्यक नहीं है क्योंकि उनके पदों को लाभ के पद नहीं माना गया है। संविधान में यह भी लिखा है कि राष्ट्रपति न तो संसद के किसी सदन के और न ही राज्य-विधानमण्डल के सदस्य होंगे।

4 मार्च 1974 को संसद ने राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति का निर्वाचन सम्बन्धी (संशोधन) विधेयक 1974 पारित किया। उसके अनुसार जो व्यक्ति राष्ट्रपति पद के लिए उम्मीदवार खड़ा होगा उसे 2500 रुपये की जमानत दाखिल करनी होगी। राष्ट्रपति के निर्वाचक मण्डल के दस सदस्य उसके प्रस्तावक होंगे और दस सदस्य ही अनुमोदन करेंगे। इसका उद्देश्य अवांछनीय प्रत्याशियों पर प्रतिबन्ध लगाना था, किन्तु फिर भी इस पद पर अगंभीर प्रत्याशी खड़े होते रहे। अतः 5 जून 1997 को देश के सर्वोच्च पदों के चुनाव के प्रति अगंभीर प्रत्याशियों को हतोत्साहित करने के इरादे से एक महत्वपूर्ण अध्यादेश जारी किया गया। इस अध्यादेश के तहत् राष्ट्रपति पद के प्रत्याशी को अब 2500 रु. की जगह 15000 रु.की जमानत राशि भरनी होगी तथा उनके नाम के आवेदकों तथा अनुमोदकों की संख्या 10-10 की वर्तमान संख्या से बढ़ाकर 50-50 कर दी गई है।

कार्यकाल - राष्ट्रपति का कार्यकाल पाँच वर्ष निश्चित किया गया है। यदि मृत्यु, त्याग-पत्र, महाभियोग द्वारा पदच्युति के कारण राष्ट्रपति का पद इस अवधि के अन्तर्गत ही रिक्त हो जाए, तो इस स्थिति में नए राष्ट्रपति का चुनाव पाँच वर्ष के लिए होता है। राष्ट्रपति पद का स्थान रिक्त होने की तिथि से किसी दशा में छः मास पूर्व भरा जाना चाहिए, पदावधि के समाप्त होने के उपरांत भी राष्ट्रपति अपने उत्तराधिकारी के पदारूढ़ होने तक पदासीन रहेंगे।

वेतन एवं भत्ता राष्ट्रपति को अन्य भत्तों एवं सुविधाओं के अतिरिक्त एक लाख पचास हजार रुपये मासिक वेतन मिलता है। राष्ट्रपति बिना किराया दिए सरकारी निवास स्थान का उपयोग कर सकता है। सेवा निवृत्त राष्ट्रपति की पेंशन 75 हजार रुपये मासिक निर्धारित की गयी है।

उन्मुक्तियाँ - अपने कार्यों के लिए व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी नहीं है। अपने पद के कर्तव्यों एवं शक्तियों का प्रयोग करते हुए उसके सम्बन्ध में उसके विरुद्ध किसी न्यायालय में मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। जब तक वह अपने पद पर आसीन हैं न्यायालय में उस पर कोई मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। उसके विरुद्ध कोई भी कार्यवाही दो माह का नोटिस देकर ही की जा सकती है।

महाभियोग की प्रक्रिया - संविधान के अनुच्छेद 61 के अन्तर्गत यह उपबन्धित किया गया है कि संविधान का उल्लंघन करने अथवा उसकी धाराओं के विरुद्ध आचरण करने पर राष्ट्रपति को महाभियोग द्वारा कार्यमुक्त किया जा सकता है। महाभियोग की प्रक्रिया संसद के किसी भी सदन में प्रारम्भ की जा सकती है। अभियोग लगाने के लिए अभियोग लगाने वाले सदन की समस्त संख्या के एक-चौथाई सदस्यों के हस्ताक्षर होना आवश्यक है। इस प्रकार का संकल्प प्रस्तावित करने के पूर्व 14 दिन की स्पष्ट लिखित सूचना देना अनिवार्य है। महाभियोग का प्रस्ताव कुल सदस्य संख्या के कम-से-कम दो-तिहाई सदस्यों के बहुमत द्वारा पारित होना चाहिए।

जब एक सदन प्रस्ताव पारित कर देगा, तो उसे दूसरे सदन में विचारार्थ भेजा जाएगा। यह सदन महाभियोग के कारणों की जाँच करेगा। इस स्तर पर राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह स्वयं उपस्थित होकर अपनी स्थिति को स्पष्ट करें तथा जांच के दौरान अपना प्रतिनिधित्व प्रस्तुत करें। यदि सदन दो-तिहाई बहुमत द्वारा इस प्रस्ताव को पारित कर देता है तो राष्ट्रपति को अपना स्थान रिक्त करना पड़ेगा।

निर्वाचन-पद्धति - राष्ट्रपति का निर्वाचन एक निर्वाचक मण्डल द्वारा सम्पादित होता है, जिसमें संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य तथा राज्यों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य होते हैं। जहाँ तक व्यवहार रूप में सम्भव हो सके, राष्ट्रपति के निर्वाचन में भिन्न-भिन्न राज्यों का प्रतिनिधित्व समान मानदण्ड से होगा। राज्यों में पारस्परिक एकरूपता तथा समस्त राज्यों और केन्द्र में सामंजस्य स्थापित करने के अभिप्राय से संसद तथा प्रत्येक राज्य की विधानसभा का प्रत्येक सदस्य इस निर्वाचन में जनसंख्या के आधार पर मतदान करता है। प्रत्येक सदस्य की मत संख्या निम्न प्रकार से निर्धारित की जाएगी -

(अ) किसी राज्य की विधानसभा के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के उतने मत होंगे जितने कि 1000 के गुणित इस भागफल में हो जो राज्य की जनसंख्या के उस सभा के निर्वाचित सदस्यों की सम्पूर्ण संख्या से भाग देने से आए।

जैसे -

राज्य की कुल जनसंख्या

राज्य - विधानसभा के निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या + 1000 = उस राज्य के प्रत्येक

निर्वाचक के मतों की संख्या

एक हजार के गुणितों को गिनने के शेष 500 से कम न हों, तो प्रत्येक सदस्य के मतों की संख्या में एक और जोड़ दिया जायेगा।

(ब) इस प्रकार जब समस्त राज्यों के मतों की संख्या प्राप्त हो जाये, तो उन सब के योग को संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या से भाग देने पर जो संख्या प्राप्त होगी वही संसद के प्रत्येक सदस्य की मत-संख्या होगी। अपूर्ण संख्या जो आधे से अधिक है एक मानी जाएगी। और उससे कम छोड़ दी जाएगी।

जैसे -समस्त राज्यों की विधानसभाओं के कुल सदस्यों के प्राप्त मतों की संख्याओं का योग

संसद के दोनों सदन में निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या

संसद के प्रत्येक सदन के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के मतों की संख्या

राष्ट्रपति का निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व के अनुसार एकल संक्रमणीय मत से गुप्त मतदान द्वारा होता है। प्रत्याशियों के नाम एक मतदान-पत्र पर छाप दिये जाते हैं और नामों के आगे वरीयता मतदान के लिए स्थान छोड़ दिया जाता है। मतदाता चुनाव लड़ने वाले सभी प्रत्याशियों के सामने अपनी पसन्द का एक अंक लिख सकता है। वस्तुतः जिसे वह सर्वाधिक पसन्द करता है उसके सामने 'एक' का निशान अंकित करेगा और जिसे उससे कम चाहेगा उसके सामने 'दो' का निशान बनाएगा। साधारणतः प्रत्येक मतदाता को उतने ही मत देने का अधिकार होता है, जितने प्रत्याशियों के नाम मतदान-पत्र पर छपे होते हैं।

मतदान के बाद मतों की गिनती प्रारम्भ होती है और सर्वप्रथम अवैध मतपत्रों को निकाल दिया जाता है। शेष वैध मत-पत्रों का मूल्य निकाला जाता है और उसमें दो का भाग देकर आने वाले भजनफल में एक जोड़कर कोटा निकाला जाता है। जीतने वाले प्रत्याशी को कोटे के बराबर मत प्राप्त करने होते हैं। यदि किसी भी प्रत्याशी को प्रथम गणना में निश्चित कोटा प्राप्त नहीं होता तो सबसे कम मत प्राप्त करने वाले प्रत्याशी के मतों में से द्वितीय पसन्द में से द्वितीय वरीयता देखी जाती है। जिनको भी उन मतों में से द्वितीय पसन्द दी गई है उनके मतों में ये मत जोड़ दिए जाते हैं। यदि द्वितीय गणना में भी किसी को निश्चित कोटा प्राप्त नहीं होता तो तीसरी और फिर चौथी गणना चलती है और इस प्रकार गणना का क्रम तब तक चलता रहेगा जब तक कि किसी एक प्रत्याशी को निश्चित कोटा प्राप्त नहीं हो जाता। यदि अन्त में दो प्रत्याशी रह जाएं और दोनों में से किसी को भी निश्चित कोटा प्राप्त न हो तो सर्वाधिक मत प्राप्त करने वाले व्यक्ति को निर्वाचित घोषित किया जाएगा। भारत के लगभग सभी राष्ट्रपतियों के चुनाव का निर्णय तो पहली गणना में ही हो गया था। केवल पाँचवे राष्ट्रपति के निर्वाचन में द्वितीय पसन्द के मतों की गणना भी हुई और तब श्री वी.वी. गिरि (1969) को निश्चित कोटा प्राप्त हुआ ।

राष्ट्रपति के निर्वाचन के संबंध में जो भी मतभेद, संशय अथवा आपत्ति हों उसके विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में प्रतिवेदन किया जा सकता है। सर्वोच्च न्यायालय का फैसला अन्तिम एवं सर्वमान्य होगा।

राष्ट्रपति पद पर श्रीमती प्रतिभा पाटिल निर्वाचित

यूपीए-वाम की प्रत्याशी श्रीमती प्रतिभा पाटिल ने 19 जुलाई, 2007 को सम्पन्न राष्ट्रपति चुनाव में अपने प्रतिद्वन्दी एनडीए समर्थित निर्दलीय उम्मीदवार भैरोसिंह शेखावत को 3,06,810 से भी अधिक मतों से पराजित किया। पाटिल के पक्ष में 6,38,116 मत पड़े जबकि शेखावत को 3,31,306 मतों से ही संतोष करना पड़ा। 10.98 लाख मूल्य के मतों वाले निर्वाचक मण्डल में से श्रीमती प्रतिभा पाटिल को वैध मतों के 65.82 प्रतिशत और शेखावत को 34.18 प्रतिशत मत मिले ।

राष्ट्रपति का निर्वाचन अप्रत्यक्ष क्यों? राष्ट्रपति का निर्वाचन जनता द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता और निर्वाचक मण्डल में संसद और राज्य विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य भाग लेते हैं। अप्रत्यक्ष निर्वाचन के निम्नलिखित कारण हैं -

(1) राष्ट्रपति का निर्वाचन यदि जनता द्वारा प्रत्यक्ष होता तो लगभग करीब 70 करोड़ मतदाताओं द्वारा निर्वाचन में भाग लेना कष्टदायक होता ।

2) राष्ट्रपति औपचारिक प्रधान है तथा वास्तविक कार्यपालिका मंत्रिमण्डल के हाथ में है, अतः इस शासन-व्यवस्था में जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचित राष्ट्रपति की स्थिति बेमेल हो जाती है। के. सन्थानम के शब्दों में, "राष्ट्रपति को औपचारिक प्रधान बनाना है तो फिर उसको प्रत्यक्ष रीति से निर्वाचित करना व्यर्थ का परिश्रम होगा।"

(3) राष्ट्रपति के निर्वाचक मण्डल में राज्यों की विधानसभाओं के सदस्यों को भी इसलिए सम्मिलित किया जाता है, ताकि राष्ट्रपति सम्पूर्ण राष्ट्र के प्रतिनिधि के रूप में कार्य कर सके। श्री नेहरू के शब्दों में, "राष्ट्रपति के निर्वाचक मण्डल में संघीय संसद के साथ राज्यों के विधानमण्डलों के सदस्यों को सम्मिलित कर इस बात का प्रयत्न किया गया है कि राष्ट्रपति का निर्वाचन दलीय आधार पर न हो और संघ के इस सर्वोच्च पद को वास्तविक रूप में राष्ट्रीय चुनाव का रूप प्राप्त हो सके।"

(4) प्रो. पायली के अनुसार, संसद सदस्यों के साथ राज्य-विधानमण्डलों के सदस्यों को निर्वाचक मण्डल में सम्मिलित करने का उद्देश्य राजनीतिक संतुलन बनाए रखना था। राष्ट्राध्यक्ष के चुनाव में यदि केवल संसद के दोनों सदन ही भाग लें तो बहुसंख्यक दल अपने प्रत्याशी का सरलता से निर्वाचन करवा सकता है। किन्तु राज्य विधानसभाओं के इस निर्वाचन में भाग लेने से यह स्थिति बदल जाती है। सम्भव है संसद में जो बहुसंख्यक

दल है उसे अधिकांश राज्यों में बहुमत प्राप्त न हुआ हो। ऐसी परिस्थिति में संसद में बहुमत रखने वाला दल राज्य की विधानसभाओं के समर्थन के बिना अकेला ही राष्ट्रपति के पद पर अपना प्रत्याशी निर्वाचित नहीं कर सकता।

(5) आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली अपनाने का उद्देश्य यह था कि राष्ट्र का प्रधान बहुल मतों के बजाय स्पष्ट बहुमत से निर्वाचित हो। इस पद्धति से छोटे-छोटे राजनीतिक दलों की शक्ति का भी चुनाव में महत्व साबित हो जाता है और राष्ट्रपति का चुनाव बहुमत दल की स्वेच्छाचारिता से बचाया जा सकता है। पायली के शब्दों में, "राष्ट्रपति राष्ट्र का मुखिया है। राष्ट्र में सभी दल व गुट सम्मिलित हैं और राष्ट्रपति दल व्यवस्था से ऊपर है। इसलिए यह आवश्यक है कि उसका चुनाव भारी से भारी बहुमत द्वारा हो। यदि साधारण बहुमत-प्रणाली इस निर्वाचन के लिए अपनाई जाती है तो इस बात का कोई आश्वासन नहीं था; किन्तु वर्तमान निर्वाचन प्रणाली में यह निश्चित है कि चुनाव पूर्ण बहुमत प्राप्त करने पर ही हो सकता है।"

निर्वाचन प्रणाली की आलोचना यह एक जटिल, दुबोंध एवं पेचीदी पद्धति है। यदि किसी

चुनाव में राष्ट्रपति-पद के प्रत्याशियों की संख्या दो से अधिक है और मतदाता मत-पत्रों पर केवल एक ही उम्मीदवार को मत देते हैं और किसी भी उम्मीदवार को स्पष्ट बहुमत नहीं मिलता, तो आनुपातिक पद्धति व्यर्थ हो जाएगी। वस्तुतः जहाँ एक ही व्यक्ति को चुना जाना है वहाँ आनुपातिक पद्धति को अपनाना महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता। डॉ. महादेवप्रसाद शर्मा के अनुसार, "राष्ट्रपति के चुनाव के लिए 'आनुपातिक प्रतिनिधित्व' तथा 'एकल संक्रमणीय मत' शब्दों का प्रयोग असंगत है। वे लिखते हैं कि "इस पद्धति में और आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति में बाह्य लक्षणों की समानता अवश्य प्रतीत होती है क्योंकि दोनों में मतों का हस्तांतरण होता है; किन्तु इन दोनों में उतना ही अन्तर है जितना खच्चर और घोड़े में।"

फिर भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि लिखित रूप में यह निर्वाचन प्रक्रिया अत्यन्त जटिल प्रतीत होती है किंतु व्यवहार में यह सरल प्रक्रिया है। इसका सबसे बड़ा गुण यह है कि यह निर्वाचन-प्रक्रिया संघीय सिद्धान्त के अधिक अनुरूप है। राष्ट्रपति के चुनाव के समय जनता में कोई हलचल नहीं होती और शांति के साथ चुनाव सम्पन्न हो जाता है। पायली के शब्दों में, "यद्यपि यह चुनाव अखिल भारतीय महत्व का है किंतु इसमें भाग लेने वालों की संख्या 4896 (2007 में) ही है। इसलिए यह कार्य एक सामान्य-सी घटना रह जाता है।"

7.5 राष्ट्रपति की शक्तियाँ एवं कार्य

विधिशास्त्रियों के अनुसार भारतीय राष्ट्रपति सर्वशक्तिमान है जबकि राजनीतिशास्त्रियों का तर्क है कि केवल वह एक संवैधानिक अध्यक्ष है जो शक्ति का नहीं बल्कि प्रभाव का प्रयोग करता है। संविधान

के अनुच्छेद 53 के अनुसार, "संघ की कार्यपालिका-शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी, उसका प्रयोग वह स्वयं या अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के द्वारा करेगा।" संविधान के प्रावधानों के अनुसार भारत के राष्ट्रपति को दो प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त हैं -

(A) साधारण परिस्थितियों में प्रयुक्त शान्तिकालीन शक्तियाँ, एवं

(B) असाधारण परिस्थितियों में प्रयुक्त आपातकालीन शक्तियाँ ।

साधारण परिस्थितियों में प्रयुक्त शान्तिकालीन शक्तियाँ

1. कार्यपालिका शक्तियाँ भातीय संघ की समस्त कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित है। संविधान के अनुच्छेद 53 के अनुसार भारत सरकार के कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य राष्ट्रपति के नाम से सम्पादित किए जाएंगे। शासन का समस्त कार्य राष्ट्रपति के नाम से होगा और सरकार के समस्त महत्वपूर्ण निर्णय उनके माने जाएंगे। अनुच्छेद 74 के अनुसार संघीय मंत्रिमण्डल, जिसका अध्यक्ष प्रधानमंत्री होगा, राष्ट्रपति को उसकी कार्यपालिका शक्तियों को उपयोग में लेने के लिए, सलाह तथा सहायता देगा। अनुच्छेद 78 के अनुसार प्रधानमंत्री का यह कर्तव्य है कि राष्ट्रपति को मंत्रिमंडल के संघ प्रशासन एवं व्यवस्थापन सम्बन्धी प्रस्तावों की सूचना दें। राष्ट्रपति की इच्छानुसार प्रधानमंत्री द्वारा केवल ऐसे मामलों को जिस पर किसी मन्त्री ने निर्णय लिया, मंत्रिमण्डल के विचार के लिए रखा जा सकता है।

जिन विषयों पर संसद कानून बना सकती है। उनके सम्बन्ध में कार्यपालिका सम्बन्धी अधिकारों का राष्ट्रपति प्रयोग कर सकते हैं। केन्द्रीय सरकार की कार्यविधि के बारे में नियम बनाने का अधिकार भी राष्ट्रपति को है। राष्ट्रपति मंत्रियों के मध्य कार्य विभाजन करते हैं।

संविधान के अनुच्छेद 75 (1) के अनुसार आम-निर्वाचन में विजयी राजनीतिक दल के नेता की नियुक्ति वे प्रधानमंत्री के पद पर करते हैं। प्रधानमंत्री की नियुक्ति करते समय उन्हें बहुमत दल के नेता को ही प्रधानमंत्री मनोनीत करना होगा, परन्तु यदि लोकसभा में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हुआ है तो इस स्थिति का लाभ उठाकर वह अपनी पसन्द के व्यक्ति को प्रधानमंत्री बना सकता है। राष्ट्रपति के द्वारा मंत्रियों को उनके पद एवं गोपनीयता की शपथ दिलाई जाती है।

समस्त महत्वपूर्ण नियुक्तियाँ राष्ट्रपति द्वारा ही की जाती है। वह प्रधानमंत्री और मंत्रिपरिषद के अतिरिक्त भारत के महान्यायाधिवक्ता और नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक की भी नियुक्ति करता है। वह राज्यों के राज्यपालों की नियुक्ति करता है। संविधान के अनुच्छेद 124 एवं 217 के अंतर्गत वह सर्वोच्च न्यायालय तथा राज्यों के उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति भी करता है। भारत के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति भी राष्ट्रपति ही करते हैं। वह संघ लोकसेवा आयोग तथा अन्तर्राज्यीय लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा अन्य सदस्यों की नियुक्ति करता है। वह केन्द्र प्रशासित क्षेत्रों का प्रशासन चलाने के लिए मुख्य आयुक्तों की नियुक्ति करता है। वह वित्त आयोग, भाषा आयोग तथा निर्वाचन आयोग के सदस्यों की नियुक्ति करता है। वह विदेशों में भारत के राजदूतों तथा कूटनीतिक प्रतिनिधियों की नियुक्ति करता है।

राष्ट्रपति को संघ के अधिकारियों की पदच्युति का भी अधिकार है। वह मंत्रियों को, भारत के महाधिवक्ता को, राज्य के राज्यपालों को, सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीशों को तथा संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष व अन्य सदस्यों को संविधान में उल्लेखित प्रक्रिया के अनुसार अपदस्थ कर सकता है।

कतिपय अधिकारियों के प्रशासनिक कार्य और निर्णय तभी लागू हो सकते हैं जब राष्ट्रपति उन पर अपनी स्वीकृति प्रदान कर दे। संक्षेप में राष्ट्रपति की कार्यपालिका शक्तियां विस्तृत हैं, किन्तु संसदीय शासन-प्रणाली होने के कारण यह परम्परा कायम हो गई है कि वह उनका प्रयोग प्रधानमंत्री की सलाह से ही करेगा।

2. विधायी शक्तियाँ - राष्ट्रपति संसद का अभिन्न अंग है। संसद के एक महत्वपूर्ण अंग के रूप

में और राष्ट्राध्यक्ष होने के नाते राष्ट्रपति को भारतीय व्यवस्थापन-प्रणाली में अनेक व्यवस्थापन सम्बन्धी कार्य करने होते हैं। संविधान के अनुच्छेद 58(1) (2) के अंतर्गत वह संसद को आमंत्रित एवं स्थगित करने और लोकसभा को भंग करने के अधिकार का प्रयोग करता है। यदि किसी साधारण विधेयक पर संसद के दोनों सदनों में मतभेद हो, तो उसे दूर करने के लिए वह दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन आमंत्रित कर सकता है। प्रत्येक अधिवेशन के आरम्भ में संसद के दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन में राष्ट्रपति अभिभाषण देता है। वह राज्य सभा एवं लोकसभा के स्थानापन्न अध्यक्षों की नियुक्ति करता है। राष्ट्रपति को राज्यसभा में बारह सदस्य मनोनीत करने का अधिकार है। वह लोकसभा में दो-आंग्ल-भारतीय सदस्यों को मनोनीत कर सकता है।

राष्ट्रपति की स्वीकृति के बिना कोई भी विधेयक कानून नहीं बन सकता है, इसलिए प्रत्येक विधेयक पर उसके हस्ताक्षर आवश्यक हैं। धन विधेयकों पर राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति देने से इन्कार नहीं कर सकता, किन्तु साधारण विधेयकों को पुनर्विचार के लिए संसद के पास भेज सकता है। यदि संसद उनको बहुमत से दुबारा पास कर दे तो राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति देने से इंकार नहीं करेगा। इस प्रकार राष्ट्रपति को विलम्ब का निषेधाधिकार (Delaying or suspensive veto) प्राप्त है। राष्ट्रपति के निलम्बन निषेधाधिकार का भारतीय संसदात्मक प्रणाली में विशिष्ट महत्व है। यह एक संवैधानिक अवरोध है न कि बुरी नियत से प्रयुक्त होने वाला अवरोध। संविधान-निर्माताओं का विचार था कि संसद जैसी व्यस्त संस्था यदि राजनीतिक तत्वों से प्रभावित होकर किसी विधेयक पर पूर्णतया राष्ट्रहित में विचार नहीं कर सकी हैं तो राष्ट्रपति अपने अनुभव ज्ञान से उपयुक्त सुधार के सुझाव दे सकेंगे।

कुछ विशेष प्रकार के विधेयक राष्ट्रपति की पूर्व आज्ञा के बिना संसद में प्रस्तुत नहीं किए जा सकते। राष्ट्रपति संसद को संदेश भेज सकता है।

भारत के राष्ट्रपति को व्यवस्थापन के क्षेत्र में एक अत्यन्त ही व्यापक शक्ति प्रदत्त की गई है।

संविधान के अनुच्छेद 123(1) के अनुसार जब संसद का अधिवेशन न हो रहा हो, तो राष्ट्रपति अध्यादेश जारी कर सकता है। इस प्रकार जारी किया गया अध्यादेश उतना ही प्रभावपूर्ण एवं शक्तिशाली होगा जितना कि संसद द्वारा पारित किया गया कानून। परन्तु ये अध्यादेश संसद का अगला अधिवेशन आरम्भ होने के छः सप्ताह पश्चात् समाप्त समझे जाएँगे। यदि संसद चाहे तो उसके द्वारा इस अवधि के पूर्व भी इन अध्यादेशों को समाप्त किया जा सकता है। वस्तुतः संसदात्मक शासन प्रणाली होने के कारण यह रूढ़ि स्थापित हो गई है कि राष्ट्रपति मंत्रिमंडल के परामर्श से ही इस शक्ति का प्रयोग करेगा। जाता है। उनकी अनुमति के बिना कोई भी वित्त विधेयक लोकसभा में प्रस्तावित नहीं किया जा सकता । राष्ट्रपति ही प्रतिवर्ष नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक की रिपोर्ट, वित आयोग की सिफारिशें आदि संसद

3. वित्तीय शक्तियाँ राष्ट्रपति के नाम से ही प्रतिवर्ष बजट वित्तमंत्री द्वारा संसद में पेश किया के समक्ष रखवाता है। भारत की आकस्मिक निधि पर उसका पूर्ण नियंत्रण होता है। वह संसद की स्वीकृति के बिना इसमें अचानक आ पड़ने वाले खर्चों के लिए कुछ धन सरकार को दे सकता है। वह संसद के पूरक, अतिरिक्त और अपवादभूत अनुदानों की माँग कर सकता है। राष्ट्रपति कुछ राज्यों को केन्द्रीय अनुदान दिलाने के लिए आज्ञप्ति जारी कर सकता है। वह करों से होने वाली आय का निर्धारण करता है। संघ

तथा राज्यों के बीच करों के विभाजन के सम्बन्ध में सलाह देने के लिए वित्त आयोग की नियुक्ति का अधिकार भी राष्ट्रपति को ही प्राप्त है।

4. न्यायिक शक्तियाँ राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति करते हैं। सर्वोच्च न्यायालय के अधिकारियों एवं कर्मचारियों की नियुक्ति के सम्बन्ध में नियमों का निर्धारण भी राष्ट्रपति ही करते हैं। संविधान के अनुच्छेद 72 के अनुसार उन्हें क्षमादान का अधिकार दिया गया है। वे दण्ड को पूर्णरूप से क्षमा कर सकते हैं, स्थगित कर सकते हैं अथवा दण्ड को परिवर्तित कर सकते हैं। इस अधिकार का प्रयोग केवल तीन प्रकार के दण्डों पर कर सकते हैं-

(i) यदि दण्ड किसी सैनिक न्यायालय द्वारा दिया गया हो,

(ii) यदि दण्ड ऐसे मामलों में दियागया हो जो केन्द्रीय कार्यपालिका के क्षेत्राधिकार के अंतर्गत आते हों, और

(iii) यदि अपराधी को मृत्युदण्ड दिया गया हो। व्यवहार में राष्ट्रपति इन अधिकारों का प्रयोग मंत्रिमण्डल के परामर्श से ही करेगा।

5. सैनिक शक्तियाँ - तीनों सेनाओं की सर्वोच्च कमान राष्ट्रपति में निहित है, परन्तु वे अपनी इस शक्ति का प्रयोग विधि के अनुसार ही कर सकेंगे। वस्तुतः युद्ध और शांति के समय कानून बनाने का अधिकार पूर्ण रूप से संसद को प्राप्त है और बिना संसद की स्वीकृति या बाद में संसद की स्वीकृति लेने की आशा में न तो वे युद्ध की घोषणा कर सकते हैं और न ही सेनाओं को युद्ध में लड़ने के लिए भेज सकते हैं।

6. कूटनीतिक या राजनयिक शक्तियाँ राष्ट्रपति विदेशों में देश का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे राजदूतों, राजनयिक प्रतिनिधियों तथा वाणिज्यदूतों की नियुक्ति करते हैं। वे विदेशों से आए राजनयिक प्रतिनिधियों के प्रमाण-पत्रों को स्वीकार करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संधियाँ, समझौते या बातचीत राष्ट्रपति के नाम से ही किए जाते हैं। व्यवहार में ये तभी लागू होते हैं जब इन पर संसद की स्वीकृति मिल जाती है।

7. राज्यों के सम्बन्ध में शक्तियाँ राज्यों के राज्यपालों तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति ही करता है। यदि कोई राज्य निम्न विषयों पर अधिनियम बनाना चाहे तो राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक है (i) राज्य द्वारा सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए बनाए गए अधिनियम, (ii) किसी राज्य के अन्दर या दूसरे राज्यों के साथ व्यापार आदि पर प्रतिबन्ध लगाने वाले विधेयकों को राज्य की विधानसभा में प्रस्तुत करने से पूर्व राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक है।

8. सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श लेने का अधिकार संविधान के अनुच्छेद 143 के अनुसार

सार्वजनिक महत्व के किसी भी प्रश्न पर राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय से कानूनी परामर्श ले सकते हैं। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिया गया परामर्श बाध्यकारी नहीं होता और यह राष्ट्रपति की इच्छा पर है कि वे उस परामर्श को स्वीकार करें अथवा नहीं।

इस प्रकार भारत के राष्ट्रपति को शान्तिकाल में विस्तृत शक्तियाँ प्राप्त हैं। शांतिकाल में यह अपेक्षा की गई है कि वह संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में ही कार्य करेगा, क्योंकि हमारे देश में संसदात्मक शासन-प्रणाली अपनाई गई हैं। हरि विष्णु कामथ ने संविधान-निर्मात्री सभा में ठीक ही कहा था कि, "हम हमारे राष्ट्रपति को एक संवैधानिक अध्यक्ष का रूप दे देना चाहते हैं, हमारी यह अपेक्षा है कि वह संसद की सलाह तथा निर्देश के अनुसार कार्य करेगा।" वस्तुतः उसकी समस्त शक्तियों का प्रयोग प्रधानमंत्री के नेतृत्व में मंत्रिमंडल करेगा, जो संसद के प्रति उत्तरदायी भी होगा।

असाधारण परिस्थितियों में प्रयुक्त आपातकालीन शक्तियाँ

प्रत्येक राज्य में संकटकाल में उसके अस्तित्व को बनाये रखने के लिए किसी ऐसे शक्तिसम्पन्न अधिकारी का होना आवश्यक है, जिसको आपात कालीन परिस्थिति का सामना करने के लिए विशिष्ट सत्ता प्राप्त हो। संघीय देश में सत्ता-राष्ट्रीय सरकार में निहित की जाती है। वस्तुतः संकटकालीन परिस्थिति का सामना करने के लिए मुख्य उत्तरदायित्व राष्ट्रीय कार्यपालिका का ही होता है।" राष्ट्रीय कार्यपालिका में संकटकालीन परिस्थिति के दौरान अत्यधिक शक्तियाँ निहित कर दी जाती हैं, जिससे यह भी सम्भव है कि कार्यपालिका निरंकुश रूप धारण करने का प्रयत्न करे। संविधान में इस सन्दर्भ में प्रायः कुछ विशेष रक्षक प्रावधान, समावेशित किये जाते हैं, जो कार्यपालिका के निरंकुश बनने की प्रवृत्ति पर अवरोध के रूप में कार्य करते हैं।

भारतीय संविधान द्वारा आकस्मिक आपातों तथा संकटकालीन परिस्थितियों का सामना करने के लिए राष्ट्रपति को अपरिमित शक्तियाँ दी गई हैं। संविधान के अनुच्छेद 352 से 360 तक तीन प्रकार के संकटों का अनुमान किया गया है -

1 प्रथम युद्ध, बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह की स्थिति होने पर।

2 द्वितीय राज्यों में संवैधानिक व्यवस्था विफल होने पर।

3 तृतीय आर्थिक या वित्तीय संकट आने पर।

1. युद्ध बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह संविधान के अनुच्छेद 352 में लिखा है कि यदि राष्ट्रपति को यह विश्वास हो जाए कि भारत अथवा उसके किसी भी भाग की सुरक्षा युद्ध, बाहरी आक्रमण या आन्तरिक अशांति आदि की संभावना से खतरे में है, तो वह

संकटकाल की घोषणा कर सकता है। संकटकाल की घोषणा करने का निर्णय करने की शक्ति अन्तिम रूप से राष्ट्रपति को ही प्राप्त है।

राष्ट्रपति के द्वारा घोषित संकटकाल की घोषणा को दो महीने के अन्दर संसद के प्रत्येक सदन में प्रस्तुत करना आवश्यक है। ऐसी घोषणा दो महीने के बाद समाप्त हो जाएगी यदि उससे पहले संसद के दोनों सदनों ने प्रस्तावों के द्वारा उस घोषणा को स्वीकार न किया हो। यदि कोई घोषणा उस समय की गई हो जबकि लोकसभा भंग की जा चुकी हो या घोषणा होने के बाद दो महीने से पहले लोकसभा भंग कर दी जाए और राज्य सभा ऐसी घोषणा को प्रस्ताव द्वारा पास कर देती है तो ऐसी घोषणा लोकसभा के दुबारा बैठने के तीन दिन बाद खत्म हो जाएगी। यह घोषणा एक बार में छः महीने के लिए संसद की स्वीकृति से बढ़ाई जा सकती है।

44 वें संविधान संशोधन द्वारा निम्न व्यवस्थाएँ की गई हैं, जिससे शासक वर्ग द्वारा इन संकटकालीन शक्तियों का दुरुपयोग न किया जा सके :

प्रथम - राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत आपातकाल तभी घोषित किया जा सकेगा, जबकि मंत्रिमंडल लिखित रूप से राष्ट्रपति को ऐसा परामर्श दे।

द्वितीय - इस प्रकार आपातकाल अब युद्ध, बाहरी आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह होने या इस प्रकार की आशंका होने पर ही घोषित किया जा सकेगा। केवल आन्तरिक अशांति के नाम पर आपातकाल घोषित नहीं किया जा सकता।

तृतीय - राष्ट्रपति द्वारा घोषणा किए जाने के एक माह के अन्दर संसद के विशेष बहुमत द्वारा (पृथक् पृथक् संसद के दोनों सदनों के कुल बहुमत एवं उपस्थित और मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत) इसकी स्वीकृति आवश्यक होगी और लागू रखने के लिए प्रति 6 माह बाद संसद की स्वीकृति आवश्यक होगी।

चतुर्थ - लोकसभा में उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के साधारण बहुमत से आपातकाल की घोषणा समाप्त की जा सकती है। आपातकाल पर विचार हेतु लोकसभा की बैठक इसके 1/10 सदस्यों की माँग पर अनिवार्य रूप से बुलायी जाएगी।

मूल संविधान में व्यवस्था थी कि अनुच्छेद 352 के अधीन संकटकाल की घोषणा पूरे देश के लिए ही की जा सकती थी, देश के किसी एक या कुछ भागों के लिए नहीं। 42 वें संविधान संशोधन द्वारा यह व्यवस्था की गई थी कि राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद 352 के अधीन संकट की घोषणा पूरे देश के लिए या देश के किसी एक या कुछ भागों के लिए की जा सकती है। 42 वें संविधान संशोधन की इस व्यवस्था को बनाए रखा गया है।

घोषणा का प्रभाव संविधान के अनुच्छेद 353 तथा 354 के अनुसार इस प्रकार की आपात स्थिति के निम्नलिखित संवैधानिक प्रभाव होंगे -

(i) आपातकाल की घोषणा के प्रवर्तनकाल में संघीय संसद को भारत या भारत के किसी भी हिस्से के लिए किसी भी विषय पर (उन विषयों पर भी जिनका उल्लेख राज्य-सूची में है) विधि निर्माण करने का अधिकार होगा। परन्तु इस प्रकार की विधियाँ संकटकाल की घोषणा के वापस लिए जाने के छः माह बाद प्रभाव में नहीं रहेंगी।

(ii) संघ सरकार किसी भी राज्य सरकार को, कार्यपालिका की शक्तियों के उपयोग के लिए आदेश दे सकती है।

(iii) राष्ट्रपति आदेश द्वारा यह निर्देश दे सकता है कि संघ और राज्यों के बीच आय वितरण सम्बन्धी सभी या कोई भी उपवन्ध चालू वित्तीय वर्ष में उसके निर्देशानुसार संशोधित रहेंगे, परन्तु ऐसा आदेश यथाशीघ्र संसद के दोनों सदनों के सामने रखा जाएगा।

iv) संविधान के अनुच्छेद 19 में वर्णित नागरिक की स्वतंत्रताएं स्थगित हो जाएंगी और राज्य के द्वारा इन स्वतन्त्रताओं को प्रतिबन्धित या स्थगित करने वाले कानूनों का निर्माण किया जा सकेगा। 44 वें संविधान संशोधन के आधार पर व्यवस्था की गई है कि आपातकाल में भी जीवन और दैहिक स्वाधीनता के अधिकार को समाप्त या सीमित नहीं किया जा सकेगा। लेकिन इसके अतिरिक्त अन्य अधिकारों की रक्षा के लिए नागरिक न्यायालय की शरण नहीं ले सकेंगे।

(v) राष्ट्रपति अनुच्छेद 32 में वर्णित संवैधानिक उपचारों के अधिकारों को स्थगित कर सकता है, लेकिन इसके ऐसे आदेश को संसद के सामने रखा जाना चाहिए।

(vi) इस घोषणा से संसद को यह अधिकार प्राप्त हो जाता है कि वह अपने ही जीवनकाल को एक बार में एक वर्ष तक बढ़ा सकती है। परन्तु संकटकाल के समाप्त होने पर संसद की बढ़ी हुई अवधि छः महीने से अधिक नहीं हो सकती ।

2. राज्यों में संवैधानिक व्यवस्था विफल होने पर अनुच्छेद 356 के अंतर्गत यदि राष्ट्रपति को राज्यपाल के प्रतिवेदन द्वारा अथवा अन्य किसी सूत्र से यह समाधान हो जाए कि किसी राज्य में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है, जिससे उस राज्य का प्रशासन संविधान के उपबन्धों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता तो उसे यह शक्ति प्राप्त है कि वह उस राज्य के लिए आपात काल की उद्घोषणा कर दे। घोषणा का संसद द्वारा अनुसमर्थन करना आवश्यक है। संसद द्वारा अनुसमर्थन प्राप्त होने के बावजूद भी यह घोषणा 6 माह से अधिक प्रवर्तन में नहीं रहेगी। 44 वें संविधान संशोधन से पूर्व राज्य में राष्ट्रपति

शासन की अधिकतम अवधि तीन वर्ष थी, लेकिन अब इस व्यवस्था में यह परिवर्तन किया गया है कि राज्य में राष्ट्रपति शासन के एक वर्ष की अवधि के बाद इसे और अधिक समय के लिए जारी रखने का प्रस्ताव संसद द्वारा तभी पारित किया जा सकेगा जबकि इस प्रकार का प्रस्ताव पारित किए जाने के समय अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत संकटकाल लागू हो और चुनाव आयोग यह प्रमाणित कर दे कि राज्य में चुनाव कराना संभव नहीं है। किसी भी परिस्थिति में तीन वर्ष के बाद राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू नहीं रखा जा सकेगा।

घोषणा का प्रभाव इस प्रकार की उद्घोषणा के निम्नलिखित प्रभाव होंगे -

(1) राष्ट्रपति उस राज्य का सम्पूर्ण अथवा आंशिक शासन कार्य स्वयं कर सकता है अथवा राज्यपाल या अन्य किसी प्राधिकारी को सौंप सकता है।

(2) राष्ट्रपति यह घोषित कर सकता है कि किसी राज्य की विधायिका शक्ति का प्रयोग केन्द्रीय संसद करेगी। संसद ऐसे व्यवस्थापन की शक्ति राष्ट्रपति को प्रदान कर सकती है अथवा उसको यह अधिकार दे सकती है कि यह शक्ति किसी और अधिकारी को प्रदान कर दें।

(3) राष्ट्रपति उद्घोषणा के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उच्च न्यायालय की शक्ति को छोड़कर अन्य समस्त शक्ति अपने हाथ में ले सकता है।

(4) राष्ट्रपति घोषणा के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए प्रासंगिक और आनुषंगिक व्यवस्था करता हैं।

3. वित्तीय संकट यदि राष्ट्रपति को इस तथ्य का समाधान हो जाए कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो चुकी है जिसके कारण भारत राज्य क्षेत्र अथवा उसका कोई भाग वित्तीय संकट में है, तो वह वित्तीय आपात की उद्घोषणा कर सकता है। इस प्रकार की घोषणा का अनुसमर्थन संसद द्वारा दो माह के भीतर करवाना आवश्यक है।

घोषणा का प्रभाव इस प्रकार की उद्घोषणा के निम्नलिखित प्रभाव होंगे -

(1) जब वित्तीय संकट की घोषणा जारी हो, तो राष्ट्रपति राज्य और संघ के सब सार्वजनिक सेवकों के, जिनमें उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीश भी शामिल हैं, वेतन और भत्ते कम कर सकता है।

(2) वह राज्यों के धन विधेयकों को अपनी स्वीकृति के लिए मंगवा सकता है।

(3) आर्थिक दृष्टिकोण से किसी भी राज्य की सरकार को राष्ट्रपति आदेश दे सकता है। आपातकालीन शक्तियों की आलोचना भारत के राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियाँ

सदैव आलोचना का विषय रही हैं। प्रो.के.टी. शाह ने संविधानसभा में कहा था कि "इन उपबन्धों पर दो विचारधाराओं का प्रत्यक्ष प्रभाव दिखाई पड़ता है केन्द्र के हाथों में इकाइयों के विरुद्ध विशेष सत्ता प्रदान करना तथा जनता के विरुद्ध शासन को शक्तिशाली बनाना। इस अध्याय के उपबन्धों का भली-भाँति अध्ययन करने के बाद मुझे ऐसा लगता है कि संविधान में लोकतन्त्र तथा स्वाधीनता का केवल नाम ही बाकी बचेगा।" एच.वी. कामथ ने कहा था कि, "इस अध्याय द्वारा हम ऐसे राज्य की नींव डाल रहे है, जहाँ शांति होगी, किन्तु वह कब और मरुस्थल की शांति होगी।" "सी.वी. राव के अनुसार, "ये राष्ट्रपति से सम्बन्धित विचित्र उपबन्ध है, ये अधिनायकवाद स्थापित करते हैं साहसी प्रधानमंत्री और चमत्कारी राष्ट्रपति (अथवा इसका प्रतिकूल) मिल कर संसदात्मक लोकतंत्र का विघटन कर सकते हैं।" हृदयनाथ कुंजरू के अनुसार, "संकटकालीन वित्तीय उपबन्ध राज्यों की स्वायत्तता भंग करते हैं।" निम्नलिखित तर्कों के आधार पर राष्ट्रपति के आपातकालीन अधिकारों की आलोचना की जा सकती है -

1. संघात्मक ढाँचे का अन्त हो जाएगा आपातकाल की घोषणा से संघात्मक प्रणाली समाप्त हो जाएगी और सम्पूर्ण शक्ति केन्द्रीय सरकार के हाथों में आ जाएगी। राज्य सरकारों की स्वयत्तता समाप्त हो जाएगी और राज्य सरकारें केन्द्रीय सरकार के अभिकर्ता के रूप में कार्य करने लग जाती हैं।

2. राष्ट्रपति तानाशाह बन सकता है आलोचकों का यह भी कहना है कि आपात काल में राष्ट्रपति इतनी अधिक शक्तियाँ धारण कर लेता है कि वह तानाशाह बन जाता है। उसके द्वारा जारी की गई किसी भी प्रकार के संकटकाल की घोषणा दो माह तक बिना संसद की स्वीकृति के भी लागू रह सकती है। इसके अलावा राष्ट्रपति केवल आशंका मात्र से ही संकटकाल की घोषणा कर सकता है और उसके निर्णय को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती ।

3. राज्यों की वित्तीय स्वायत्तता समाप्त हो जाएगी राष्ट्रपति द्वारा वित्तीय आपात की घोषणा से सम्बन्धित प्रावधान राज्यों की आर्थिक स्वायत्तता को समाप्त करने वाले हैं। वित्तीय आपात के प्रवर्तन

काल में राष्ट्रपति राज्य सरकारों को वित्तीय क्षेत्र में निर्देश दे सकते हैं। इससे राज्यों की वित्तीय स्वायत्तता खतरे में पड़ जाएगी और राज्यों की स्थिति नगरपालिकाओं जैसी हो जाएगी।

4. मौलिक अधिकार निलम्बित हो जाएंगे आपातकाल की अवधि में राष्ट्रपति को मूल अधिकार निलम्बित करने की शक्ति प्राप्त हो जाएगी। राष्ट्रपति मूलाधिकारों के न्यायिक

उपचार सम्बन्धी प्रावधान को भी निलम्बित कर सकते हैं। श्री एच.वी. कामथ के शब्दों में, "मौलिक अधिकारों की गौरवपूर्ण स्वीकृति पर यह एक महान नकारात्मकता की मेहराब चढ़ी हुई है।

5. विरोधी दलों को समाप्त किया जा सकता है संकटकाल की शक्तियों का इस प्रकार प्रयोग किया जा सकता है कि विरोधी दलों की सरकारों का निर्माण ही नहीं हो सके। यदि किसी राज्य में विरोधी दल सत्ता में आ गया है तो संकटकाल द्वारा उसे उखाड़ने के प्रयास किए जा सकते हैं। संकटकाल में विरोधी दलों के नेताओं को सताया जा सकता है और डराया धमकाया जा सकता है।

6. संसदात्मक शासन व्यवस्था के लिए घातक संसदात्मक शासन में राष्ट्रपति द्वारा इतनी विशद् शक्तियों का प्रयोग करने से तो वह वास्तविक शासक बन जाता है, जबकि उसे रस्मी प्रधान के रूप में ही कार्य करना चाहिए। इससे तो संसदात्मक शासन प्रणाली का ही अन्त हो जाएगा।

राष्ट्रपति की संकटकालीन शक्तियों के सम्बन्ध में उपर्युक्त आलोचनाओं से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि राष्ट्रपति सर्वशक्तिमान है और अधिनायक बन सकता है। यदि अधोलिखित तर्कों के सम्बन्ध में उसकी संकटकालीन शक्तियों का विश्लेषण किया जाय तो उपर्युक्त आलोचनाएँ सारहीन प्रतीत होंगी।

1. राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए केन्द्र की शक्तियों में वृद्धि अपरिहार्य संकटकाल की घोषणा से ही भारत का संघात्मक स्वरूप नष्ट नहीं हो जाता। संकटकाल की घोषणा का लक्ष्य राष्ट्र की सुरक्षा है। प्रो. पायली के अनुसार, देश की सुरक्षा का दायित्व केन्द्रीय सरकार पर है और संघात्मक प्रणाली के बजाय राष्ट्रीय सुरक्षा अपरिहार्य है।

2. राष्ट्रपति तानाशाह नहीं बन सकता है भारतीय शासन-प्रणाली में राष्ट्रपति के तानाशाह बनने के अवसर बहुत कम हैं। राष्ट्रपति सदैव मंत्रिमंडल के परामर्श से काम करता है। राष्ट्रपति को शासन चलाने के लिए संसद से बजट स्वीकृत कराना पड़ेगा। अतः अधिनायकवादी राष्ट्रपति की संभावना नहीं है।

3. आर्थिक संकट का सामना करने के लिए वित्तीय आपात की व्यवस्था आवश्यक वर्तमान युग वित्तीय संकट का युग है। केन्द्रीय सरकार की तुलना में राज्यों की वित्तीय स्थिति अच्छी नहीं कही जा सकती। राज्यों को वित्तीय संकट से उबारने के लिए वित्तीय आपात के प्रावधान आवश्यक है। इन प्रावधानों पर अमरीकी संविधान के 'राष्ट्रीय पुनर्लाभ अधिनियम, 1933 (The National Recovery Act, 1933) का प्रभाव पड़ा है।

4. वैयक्तिक अधिकारों की सुरक्षा की अपेक्षा राज्य की सुरक्षा अधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति की दृष्टि से मौलिक अधिकारों का स्थगन चाहे कितना ही अनुचित क्यों न हो, राज्य की सुरक्षा और व्यवस्था की दृष्टि से संकटकाल में मौलिक अधिकारों का स्थगन कुछ सीमा तक आवश्यक ही है।

5. राज्यों में स्थाई सरकारों का निर्माण राष्ट्रपति ने संकटकाल की घोषणा द्वारा राज्यों में कई बार स्थाई सरकारों के निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया है। राज्यों में राष्ट्रपति शासन से राजनीतिक स्थिरता आयी और अलगाववादी प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाया जा सका है।

संक्षेप में, राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियाँ भयभीत करने वाली प्रतीत होती हैं किन्तु ये उपबन्ध राष्ट्र की स्वतन्त्रता, एकता और लोकतंत्र की रक्षा के लिए नितांत आवश्यक हैं। श्री कृष्णामचारी ने ठीक ही कहा था, "आपातकालीन शक्तियों को एक आवश्यक बुराई के रूप में स्वीकार करना होगा, क्योंकि इन उपबन्धों के बिना संविधान निर्माण के हमारे सभी प्रयत्न अन्ततः असफल हो जाएंगे।" व्यवहार में आपातकालीन शक्तियों का प्रयोग अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत अब तक केवल तीन बार आपातकाल की घोषणा की गई है। 26 अक्टूबर 1962 को चीनी आक्रमण, दिसम्बर 1971 को पाकिस्तान आक्रमण के फलस्वरूप राष्ट्रपति ने आपातकाल की घोषणा की। दोनों ही समय राष्ट्र की सुरक्षा खतरे में थी अतः यह घोषणा अनिवार्य थी। तीसरी बार जून 1975 में राष्ट्रपति ने आन्तरिक विघटन और अशांति के गम्भीर खतरे को देखते हुए संविधान के अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत आपात स्थिति की घोषणा की। सरकार ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि देश में हिंसा और घृणा का वातावरण फैल रहा है और देश की एकता कमजोर हो रही हैं। सही मायने में सत्ताधारी दल ने आपात स्थिति की आड़ में अपनी शक्तियों में अप्रतिम वृद्धि कर ली और प्रतिपक्षी दलों को कुचलने का भरसक प्रयास किया। लोकतन्त्र के नाम पर देश तानाशाही की ओर अग्रसर होने लगा। संकटकालीन अधिकारों का प्रयोग करते हुए सरकार ने 42 वें संशोधन, मीसा, आपत्तिजनक सामग्री प्रकाशन निषेधविधेयक, भारत रक्षा कानून आदि का बड़ी बेरहमी से प्रयोग किया। मौलिक अधिकारों और नागरिक स्वतन्त्रताओं को भी स्थगित कर दिया गया। राष्ट्र के इतिहास में इस बार निश्चित ही आपातकालीन शक्तियों का दुरुपयोग हुआ है। छठी लोकसभा के निर्वाचनों में जब श्री जयप्रकाश नारायण ने चुनावों को 'तानाशाही और लोकतन्त्र' के बीच संघर्ष बताते हुए लोगों से आग्रह किया कि वे मौलिक अधिकारों और नागरिक स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए कुर्बानी देने को तैयार रहें तो जनता ने सत्ताधारी दल के विरुद्ध मत देते हुए सरकार को आपात स्थिति रद्द करने के लिए बाध्य कर दिया।

तात्कालिक केन्द्रीय गृहमन्त्री चरणसिंह ने जून 1975 की संकटकालीन घोषणा के बारे में संसद में यह रहस्योद्घाटन किया कि राष्ट्रपति ने 'संकटकालीन घोषणा' के कागजों पर 25 जून 1975 को हस्ताक्षर किए थे और केबिनेट द्वारा उसका पुष्टीकरण 26 जून को किया गया था। लोकसभा में प्रस्तुत इस तथ्यगत सूचना ने गम्भीर संवैधानिक समस्या उत्पन्न कर दी। संविधान के अनुसार केबिनेट की स्वीकृति के बिना राष्ट्रपति संकटकाल की घोषणा कर ही नहीं सकते और राष्ट्रपति ने ऐसा करके संविधान का निश्चित रूप से उल्लंघन किया।

दूसरे प्रकार के आपात की घोषणा 1951 में पंजाब में भार्गव मंत्रिमण्डल के त्याग-पत्र देने पर, 1952 में पेप्सू राज्य में स्थायी मंत्रिमण्डल का निर्माण न होने पर, 1954 में आन्ध्रप्रदेश में, 1956 मेंट्रावनकोर/कोचीन में 1959 में केरल में, 1961 में उड़ीसा में, 1964 में केरल में 1966 में पंजाब में, 1967 में राजस्थान, हरियाणा और उसके उपरान्त गुजरात, मैसूर, बंगाल, आँध, उत्तरप्रदेश इत्यादि राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। सन् 1975 में बहुगुणा के त्याग-पत्र देने के पश्चात उत्तरप्रदेश में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। मार्च 1976 में गुजरात की जनता मोर्चा सरकार ने विधानसभा का विश्वास खो दिया तो 'राष्ट्रपति शासन' ही एक मात्र विकल्प रह गया। उसके एक माह पूर्व तमिलनाडु की द्रमुक सरकार को पदच्युत करने के लिए 'राष्ट्रपति शासन' का प्रयोग किया गया। राष्ट्रपति की स्वीकृति से ही मार्च 1977 में जम्मू और कश्मीर में राज्यपाल शासन लागू किया गया। 1977 में केन्द्र की तत्कालीन जनता सरकार द्वारा 9 राज्यों की विधानसभाएं भंग कर राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। इस स्थिति की पुनरावृति 1980 में हुई, जबकि केन्द्र की इंदिरा कांग्रेस द्वारा 9 राज्यों की विधान सभाएं भंग कर उन राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू किया। पंजाब राज्य में कानून और व्यवस्था के सम्बन्ध में असन्तोषजनक स्थिति के कारण अक्टूबर 1983 में वहाँ राष्ट्रपति शासन लागू किया गया, जिसे संविधान में संशोधन कर फरवरी 1991 तक निरन्तर बढ़ाया गया। इन विभिन्न राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू करने के तीन उद्देश्य थे- प्रथम, दल-बदल की दूषित प्रथा के कारण राज्यों में सरकार बनाना कठिन हो गया था। द्वितीय, राज्यों में बहुमत वाला दल भी कई गुटों में विभाजित रहता है और सर्वमान्य नेता की खोज करना कठिन हो गया था। तृतीय, राज्यों में बहुमत वाले दल का पता लगाना कठिन हो गया था और अधिकांश दल अपने-अपने बहुमत का दावा करने लग गए थे। यद्यपि आलोचकों का कहना है कि कई राज्यों में राष्ट्रपति का शासन कांग्रेस दल के हितों के रक्षार्थ तथा विरोधी दलों की सरकारों को गिराने के लिए लागू किया गया, किन्तु 1967 में राजस्थान का उदाहरण तथा 1976 में तमिलनाडु का उदाहरण ही उनकी आलोचना को ठीक साबित करता है, अन्यथा राष्ट्रपति की शक्ति का बहुत ही कम दुरुपयोग हुआ है।

21 अक्टूबर 1997 को उत्तरप्रदेश विधानसभा में विश्वास मत प्राप्त करने के बावजूद राज्यपाल रोमेश भण्डारी की रिपोर्ट के आधार पर केन्द्रीय मंत्रिमण्डल ने अनुच्छेद 356 के तहत विधानसभा भंग करके राज्य में राष्ट्रपति शासन लगाने की सिफारिश राष्ट्रपति को कर दी। राष्ट्रपति के आर. नारायणन ने मंत्रिमण्डल की सिफारिश को पुनर्विचार के लिए लौटाकर मंत्रिमण्डल को एक बार फिर अपने निर्णय पर विचार करने को कहा। भारतीय लोकतंत्र की रक्षा व संविधान की सर्वोच्चता बनाए रखने के लिए पहली बार किसी राष्ट्रपति ने संविधान के अनुच्छेद 356 के तहत राज्य सरकार को भंग करने के केन्द्रीय मंत्रिमण्डल के निर्णय को पुनर्विचार के लिए भेजा। इसी प्रकार बिहार में राबड़ी देवी की सरकार को बर्खास्त कर संविधान के अनुच्छेद 356 के तहत् वहां राष्ट्रपति शासन की केन्द्रीय मंत्रिमण्डल की सिफारिश को राष्ट्रपति के आर. नारायण ने 25 सिमम्बर, 1998 को वापस लौटा दिया।

सरकारिया आयोग ने इस मुद्दे पर विचार करते हुए पाया कि मंत्रिमण्डल को विधानसभा में बहुमत प्राप्त होने के बावजूद 13 मामलों में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया, ऐसे 15 मामलों में, जिनमें मंत्रिमण्डल ने त्यागपत्र दे दिया था, अन्य दावेदारों को वैकल्पिक सरकार बनाने का अवसर नहीं दिया गया था और न ही उन्हें विधानसभा में अपने बहुमत समर्थन का परीक्षण देने का अवसर दिया गया था। आयोग ने केवल 26 मामलों में ही राष्ट्रपति शासन लागू करने को अपरिहार्य माना है।

तृतीय प्रकार की आपातघोषणा का अभी तक राष्ट्रपति ने प्रयोग ही नहीं किया है।

राष्ट्रपति और मंत्री परिषद

(राष्ट्रपति एवं मंत्रिपरिषद)

संविधान में संघीय कार्यपालिका के सन्दर्भ में 'मंत्रिपरिषद', 'प्रधानमंत्री' तथा 'मन्त्री' शब्द केवल चार अनुच्छेद 74, 75, 77 तथा 78 में प्रयुक्त हुए हैं। 'कार्यपालिका' शीर्षक अध्याय 5 में कहीं यह नहीं लिखा है कि कार्यपालिका मंत्रिपरिषद में निहित होगी।

अनुच्छेद 74 के अनुसार राष्ट्रपति को सहायता और सलाह देने के लिए एक मंत्रि-परिषद होगी जिसका प्रधान, प्रधानमंत्री होगा और राष्ट्रपति अपने कृत्यों का प्रयोग करने में ऐसी सलाह के अनुसार कार्य करेगा। किन्तु अनुच्छेद 75 के द्वारा मंत्रियों को सामूहिक रूप से संसद के प्रति उत्तरदायी बना

दिया गया है। इससे साफ जाहिर होता है कि भारत में संसदात्मक शासन प्रणाली की स्थापना की गई है। राष्ट्रपति देश का प्रतीक है तथा संवैधानिक अध्यक्ष है। उनकी समस्त शक्तियों का प्रयोग मंत्रिमण्डल करता है जो संसद के प्रति उत्तरदायी है। आर.

रामास्वामी के अनुसार, 'संविधान के अनुसार राष्ट्रपति तथा मंत्रिपरिषद का सम्बन्ध परिभाषित नहीं है. .' किन्तु संविधान के उपबन्धों से स्पष्ट है कि संविधान-निर्माता उसी प्रकार का सम्बन्ध चाहते थे, जिस प्रकार कि राजा और ब्रिटिश मंत्रिमण्डल का है।" टी.टी. कृष्णामाचारी के शब्दों में, "जहाँ तक राष्ट्रपति के मंत्रिमण्डल से सम्बन्धों का प्रश्न है, मैं यह कहना चाहूँगा कि हमने पूर्णरूपेण उसी प्रकार के उत्तरदायी शासन के स्वरूप को अपनाया है जो आजकल ब्रिटेन में पाया जाता है।"

7.6 राष्ट्रपति तथा प्रधानमंत्री(The President and the Prime Minister)

राष्ट्रपति को प्रकटतः कोई शक्तियाँ प्राप्त नहीं है, पर वह अपनी चतुरता और अनुभव से अपने पद के गौरव व महिमा को बनाए रख सकता है। प्रधानमंत्री को शक्ति प्राप्त है तथा संसद में उसका बहुमत उसकी वास्तविक स्थिति को निर्धारित करता हैं। यदि प्रधानमंत्री आकर्षक व्यक्तित्व की दृष्टि से राष्ट्रपति की स्थिति से निम्न है तो प्रधानमंत्री की तुलना में राष्ट्रपति प्रभावशाली बन जाएगा। पं. नेहरू के गतिशील व्यक्तित्व के कारण डॉ. राजेन्द्र प्रसाद अपने मतभेदों को उजागर करके संघर्ष की स्थिति पर नहीं ले जा सके। नेहरू के अन्तिम दिनों में उनकी निजी अस्वस्थता के कारण तथा सैनिक पराजय के कारण शक्ति का सन्तुलन राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन की तरफ झुकने लगा था। कृष्णमेनन को मंत्रिमण्डल से निवर्तमान कराने में तथा सरदार प्रतापसिंह कैरों के विरुद्ध जाँच करवाने में डॉ. राधाकृष्णन का मुख्य हाथ माना जाता है, परन्तु प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी के कार्यकाल के प्रारम्भिक दिनों में शक्ति सन्तुलन का झुकाव प्रधानमंत्री की तरफ होने लगा। राष्ट्रपति की अधिक आयु व दुर्बल स्वास्थ्य ने उन्हें राजनीति में प्रमुख भूमिका अदा नहीं करने दी। डॉ. जाकिर हुसैन प्रधानमंत्री की पसन्द के उम्मीदवार थे। श्री वी.वी. गिरि प्रधानमंत्री की कृपा से ही राष्ट्रपति भवन में पहुँचे और राष्ट्रपति श्री अहमद भी प्रधानमंत्री श्रीमती गाँधी के मंत्रिमण्डल में कार्य कर चुके थे अतः उनका व्यक्तित्व प्रधानमंत्री के प्रगतिशील व आकर्षक व्यक्तित्व, ज्ञान, अनुभव तथा सार्वजनिक प्रतिष्ठा के सामने नहीं उभर सका। 1980-82 के काल में राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री के मध्य मतभेद उभरे। राष्ट्रपति संजीव रेड्डी बहुधा तैयार किये गये मूल भाषणों से अलग बोलते और जनता को दिये गये वायदे पूरा करने में सरकारी असफलता की आलोचना करते। उन्होंने राज्यों को अधिक अधिकार दिये जाने की सरकार को सलाह दी।

भारत के इतिहास में पहली बार प्रधानमंत्री राजीव गाँधी और राष्ट्रपति जैलसिह के मतभेद इस हद तक बढ़ गए कि आम नागरिक भी इससे परेशान व चिंतित हो उठा। राष्ट्रपति ने विवादास्पद डाक विधेयक पर हस्ताक्षर करने से इंकार कर दिया, सरकार से पूछा कि राष्ट्र के नाम पर उनके संदेश को सेंसर क्यों किया गया ? दबाव डालकर राष्ट्रपति से विदेश यात्राओं के निमंत्रण नामंजूर कराए जाने लगे । प्रधानमंत्री ने राष्ट्रपति से हफ्ते में एक बार मिलने की परम्परा को भी तोड़ दिया।

राष्ट्रपति वेंकटरमन ने भी प्रधानमंत्री को विवादास्पद डाक विधेयक पर महाधिवक्ता से परामर्श लेने की सलाह दी। केन्द्रीय सरकार को परेशानी में डालते हुए राष्ट्रपति ने सभी राज्यपालों को लंबी चिट्ठियां भेजीं जिनमें उनसे कहा गया कि वे राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति के बिना राज्य के बाहर न जाएँ। राष्ट्रपति डा. शंकरदयाल शर्मा ने चुनावों से पूर्व दो अध्यादेशों पर हस्ताक्षर करने से इंकार कर दिया और श्रीमती शीला कौल को राज्यपाल पद से शीघ्र हटाये जाने पर जोर दिया। राष्ट्रपति के आर नारायणन ने उत्तर प्रदेश में राष्ट्रपति शासन लागू करने (अक्टूबर 1997) की केन्द्रीय मंत्रिमण्डल की सिफारिश को मूंदकर मानने से इंकार कर दिया। आजादी के बाद के इतिहास में राष्ट्रपति केन्द्रीय मंत्रिमण्डल को पूरी तरह गलत फैसला करने के लिए इससे पहले कभी नहीं फटकारा था। राष्ट्रपति के आर नारायणन तथा प्रधानमंत्री वाजपेयी में भी अनेक मुद्दों को लेकर मतभेद उभरे। बिहार की राबड़ी देवी सरकार को बर्खास्त करना, संविधान समीक्षा आयोग की नियुक्ति, उच्चतम न्यायालय में अनुसूचित जनजाति से सम्बन्धित न्यायाधीशों की नियुक्ति, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की गतिविधियों में सरकारी कर्मचारियों के भाग लेने में छूट जैसे मसलों पर राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री के बीच दृष्टिकोणों की भिन्नता दिखलायी दी।

डॉ. अम्बेडकर ने ठीक ही कहा था कि "मंत्रियों के समर्थन से देश का शासन चलाना प्रधानमंत्री का कार्य है और राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद को केवल सहायता या परामर्श दे सकता है।" राष्ट्रपति तथा मंत्रिपरिषद के सम्बन्धों पर सर्वोच्च न्यायालय ने ये विचार व्यक्त किये हैं-

"इंग्लैण्ड की भांति भारत में भी कार्यपालिका को विधानमण्डल के नियन्त्रण में कार्य करना पड़ता है, परन्तु यह नियन्त्रण किस प्रकार का होता है? अनुच्छेद 53 (1) के अन्तर्गत, संघ की कार्यपालिका-शक्ति राष्ट्रपति को दी गई है, परन्तु अनुच्छेद 75 में प्रधानमंत्री सहित एक मंत्रिपरिषद की व्यवस्था की गई है जो राष्ट्रपति को सहायता तथा मन्त्रणा देगी। इस प्रकार राष्ट्रपति को कार्यपालिका का औपचारिक अथवा संवैधानिक

प्रमुख बना दिया गया है और वास्तविक कार्यपालिका-शक्तियां मंत्रिपरिषद को दी गई हैं।"

7.7 राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति (Actual Position of the President)

राष्ट्रपति के व्यापक अधिकार वास्तविक है या औपचारिक ? संविधान की भाषा कुछ इस प्रकार है, जिससे यह स्पष्ट नहीं होता है कि राष्ट्रपति सर्वदा मंत्रियों की अथवा प्रधानमंत्री की सम्मति से ही कार्य करेगा। जो व्यक्ति कानूनी व्याख्या स्वीकार करते हैं, उनके मतानुसार राष्ट्रपति एक निरंकुश शासक हो सकता है और वह संविधान का उल्लंघन किए बिना कतिपय परिस्थितियों में अधिनायक का रूप ग्रहण कर सकता है। ग्लेडहिल ने भी कहा है, "इस बात की पर्याप्त सम्भावना है कि राष्ट्रपति संविधान का उल्लंघन किए बिना ही तानाशाह बन बैठे।" राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है -

1. राष्ट्रपति रस्मी प्रधान है भारत में संसदात्मक शासन-व्यवस्था प्रचलित है और कार्यपालिका दो भागों में विभक्त है संवैधानिक कार्यपालिका और वास्तविक कार्यपालिका। राष्ट्रपति संवैधानिक कार्यपालिका है। उन्हें राज्य का प्रतीक और औपचारिक राज्याध्यक्ष कहा जा सकता है। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार, "हमारे राष्ट्रपति की वही स्थिति है जो ब्रिटिश संविधान के अन्तर्गत सम्राट की है। वह राज्य का प्रधान है, किन्तु कार्यपालिका का नहीं। वह राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है, किन्तु राष्ट्र पर शासन नहीं करता है। वह राष्ट्र का प्रतीक है। प्रशासन में उसका वही स्थान है जो किसी औपचारिक उपाय द्वारा किसी ऐसे व्यक्ति को प्रदान किया जाता है जो राष्ट्र के प्रत्येक निर्णय को मुहर लगाकर अपने नाम से राष्ट्र के समक्ष घोषित करता है।"

2. राष्ट्रपति की स्थिति ब्रिटिश सम्राट के तुल्य है संविधान के अनुसार हमारी शासन पद्धति ब्रिटेन की संसदीय अथवा मंन्त्रिमण्डल पद्धति पर आधारित है। ब्रिटेन की संसदीय व्यवस्था के अनुसार सम्राट संवैधानिक ही राज प्रमुख है। उसे जो अधिकार मिले हुए हैं वे वस्तुतः मंत्रिमण्डल द्वारा प्रयोग में लाए जाते हैं। ठीक यही स्थिति भारत में राष्ट्रपति की है जो केवल संवैधानिक राज्याध्यक्ष है। संविधान सभा में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने कहा था, "हमने ब्रिटेन के सम्राट की भांति यहाँ राष्ट्रपति का पद बनाया है। उसकी स्थिति संवैधानिक राष्ट्रपति की है। यद्यपि संविधान में इस आशय का कोई उपबन्ध नहीं है कि राष्ट्रपति को अपने मंत्रियों के परामर्श को मानना ही पड़ेगा, परन्तु यह आशा की जाती है कि जिस प्रकार इंग्लैण्ड में सम्राट को मंत्रियों के परामर्श से कार्य करना होता है, उसी

प्रकार यही परम्परा यहाँ भी अपनाई जाएगी। इस तरह भारत का राष्ट्रपति सभी मामलों में संवैधानिक राष्ट्रपति बन जाएगा।"

3. राष्ट्रपति संविधान का गौरवपूर्ण अंश भारत में राष्ट्रपति की वही स्थिति है जो अर्नेस्ट बार्कर के अनुसार, ब्रिटेन में राजा की है। राष्ट्रपति राष्ट्रीय एकता का प्रतीक, देश भक्ति का प्रेरक तथा सामाजिक उत्सवों का आकर्षण है। उसका जीवन और गतिविधियाँ व्यापक सार्वजनिक प्रचार प्राप्त करती हैं। वह जनता के लिए गौरव और प्रतिष्ठा का मूर्तरूप हैं। वह राष्ट्रीय उत्सवों का उद्घाटन व राष्ट्रीय समारोहों की अध्यक्षता करता है। 'गणतन्त्र दिवस' पर परेड की सलामी लेकर राष्ट्रपति राष्ट्र की शोभा बढ़ाता है। श्री नेहरू ने संविधान सभा में कहा था, "हमने अपने राष्ट्रपति को वास्तविक शक्ति नहीं दी है वरन् हमने उनके पद को सत्ता और प्रतिष्ठा से विभूषित किया है।"

4. राष्ट्रपति परामर्शदाता और मित्र के रूप में राष्ट्रपति केवल नाममात्र का अध्यक्ष नहीं है। वह परोक्ष रूप से कार्य करते हुए अपने मंत्रियों से तद्नुसार कार्य करने का आग्रह कर सकता है। उसे मंत्रियों को परामर्श देने, प्रोत्साहित करने तथा चेतावनी देने की तीन शक्तियाँ प्राप्त हैं। उसकी गरिमामय स्थिति तथा उसका निष्पक्ष स्वरूप इस तथ्य को निश्चित कर देते हैं कि उसके द्वारा दिया गया परामर्श अत्यधिक सम्माननीय होगा। यदि राष्ट्रपति बुद्धिमान, पराक्रमी तथा चतुर हो तो उसकी उपेक्षा करना प्रधानमंत्री के लिए असम्भव है।

5. वैदेशिक मामलों को प्रभावित करना राष्ट्रपति भारत की राजधानी में आने वाले विदेशी अतिथियों का स्वागत करते हैं। उनकी विदेश यात्राएं विदेशों में भारत की प्रतिष्ठा बढ़ाती हैं। राष्ट्रपति की विदेश-यात्राएं विदेशी राष्ट्राध्यक्षों पर एक मधुरिम प्रेरणा की छाप छोड़ती है।

डॉ. अम्बेडकर ने संविधान में राष्ट्रपति के संदर्भ में शासन का स्वरूप बताते हुए हुए कहा - "राष्ट्रपति के नाम से कोई व्यक्ति संयुक्त राज्य अमेरिका का स्मरण कर सकता है, परन्तु नामों की समानता के अतिरिक्त और कोई भी गुण अमेरिका के राष्ट्रपति तथा प्रारूप में प्रदत्त भारत के राष्ट्रपति में समान नहीं है।" जब डॉ. अम्बेडकर से यह पूछा गया कि क्या राष्ट्रपति सदैव मंत्रिपरिषद के परामर्श को मानने के लिए बाध्य रहेगा ? डॉ. अम्बेडकर ने सकारात्मक उत्तर देते हुए कहा कि "भारतीय संघ का राष्ट्रपति साधारणतया अपने मंत्रियों की सलाह से बाध्य रहेगा। उनकी सलाह के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकता तथा उनकी सलाह के बिना भी कुछ नहीं कर सकता।"विगत 60 वर्षों के अनुभव से भी यह साबित होता है कि राष्ट्रपति ने संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में ही कार्य किया है। सन् 1951-52 में भारत में आम चुनावों के अवसर पर राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद

ने 'हिन्दू संहिता विधेयक' पर अपने विचार की व्याख्या करते हुए संसद को एक सन्देश में कहा था कि व्यक्तिगत रूप से मैं उक्त विधेयक पास किए जाने के विरुद्ध हूं, परन्तु यदि संसद ने उसे पास किया तो मैं उस पर अपनी अनुमति प्रदान कर दूंगा। सन् 1950 और 1962 के बीच में देश में तीन आम चुनाव हुए और मंत्रिपरिषदें बनी। इस अवधि के दौरान दूरगामी आर्थिक तथा राजनीतिक परिवर्तन भी हुए। 'राज्य पुनर्गठन अधिनियम, 1956' के अनुसार भारत के राजनीतिक नक्शे में काफी परिवर्तन हुआ। इन सब मामलों में निर्णय मंत्रिमण्डल द्वारा लिए गए थे। राष्ट्रपति का इसमें कुछ भी भाग न था। कम-से-कम दो मामलों में राष्ट्रपति ने भारत के महान्यायवादी से राय ली थी केन्द्रीय विश्वविद्यालयों के विजीटर और सशस्त्र सेना के सर्वोच्च सेनापति के नाते राष्ट्रपति की क्या स्थिति है। भारत के महान्यायवादी ने उन्हें कहा कि दोनों हैसियतों में वे मंत्रि-परिषद् की मन्त्रणा को मानने हेतु बाध्य हैं।

इस अवधि के दौरान स्थिर सरकार रही। संसद में कांग्रेस दल का भारी बहुमत था और वह अपने बहुमत से कोई भी विधान पारित करा सकती थी। वस्तुतः इस अवधि में राष्ट्रपति की भूमिका निष्क्रिय रही। 1962 के बाद, जब चीनी आक्रमण हुआ, तो इस स्थिति में परिवर्तन आया। चीनी आक्रमण के कारण रक्षामंत्री को मंत्रिपरिषद से हटना पड़ा। ऐसा कहा जाता है कि उस समय की इन राजनीतिक घटनाओं के पीछे राष्ट्रपति ने प्रभावी भूमिका निभाई थी। 1964 में नेहरू के निधन के पश्चात श्री लालबहादुर शास्त्री ने प्रधानमंत्री के पद का भार सम्भाला। शास्त्री जी के निधन के पश्चात् देश में नेतृत्व के लिए संघर्ष हुआ और कांग्रेस की स्थिति भी कमजोर पड़ गई। इसका प्रभाव 1967 के आम चुनावों पर पड़ा जब अधिकांश राज्यों में कांग्रेस को बहुमत नहीं मिला। 1967 में कांग्रेस को अपने प्रत्याशी डॉ. जाकिर हुसैन को निर्वाचित कराने के लिये निर्दलीय और विपक्षी दलों का भी सहयोग लेना पड़ा। डॉ. जाकिर हुसैन के बाद श्री गिरि राष्ट्रपति बने और इस समय कांग्रेस दो भागों में बंट गई। यह सब घटनायें महत्वपूर्ण थीं और राष्ट्रपति के पद पर इन सबका काफी प्रभाव पड़ा।

1998 एवं 1999 के लोकसभा चुनावों से उत्पन्न राजनीतिक परिदृश्य की विशेषताएं थी त्रिशंकु लोकसभा और खण्डित जनादेश। कमोबेश वैसे ही हालात उत्पन्न हुए जैसे 1996 के चुनाव के बाद बने थे। अस्पष्ट जनादेश से स्थायी, सुसंगत और मजबूत सरकार कैसे बन सकती थी? जब किसी भी दल या गठजोड़ के पास बहुमत न हो तो प्रधानमंत्री के चयन में राष्ट्रपति की सक्रिय भूमिका के अवसर बढ़ जाते हैं।

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में उभरते हुए अनिश्चितता के परिदृश्य में राष्ट्रपति की भूमिका महत्वपूर्ण एवं सक्रिय बनती जा रही है।

जी. एन. जोशी के अनुसार, "भारतीय शासन प्रणाली में राष्ट्रपति का योग उसके व्यक्तित्व पर ही निर्भर करता है।" पायली के अनुसार, "कतिपय परिस्थितियों में राष्ट्रपति यदि महत्वाकांक्षी है तो राजनीतिक दृष्टि से सक्रिय हो सकता है और मंत्रिपरिषद के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है।" के. सन्थानम ने भी लिखा है "यदि जवाहरलाल नेहरू राष्ट्रपति तथा डॉ. राजेन्द्र प्रसाद भारत के प्रधानमंत्री हुए होते तो क्या गुजरी होती?" नारमन डी. पामर ने भी लिखा है "भारत भाग्यवान था कि इसके पहले प्रधानमंत्री श्री नेहरू तथा राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद थे और एक अच्छी परंपरा स्थापित हो गई। फिर भी खतरा उस समय अवश्य रहेगा जबकि राष्ट्रपति सुदृढ़ व्यक्तित्व वाले एवं प्रधानमंत्री दुर्बल मस्तिष्क वाले होंगे।" पायली के मतानुसार, "संविधान में राष्ट्रपति से सम्बन्धित प्रावधानों को जानबूझकर लचीला रखा गया है।"

संक्षेप में, राष्ट्रपति की स्थिति वैधानिक अध्यक्ष की है। फिर भी शासन में राष्ट्रपति का पद एक धुरी के समान है जो संकट के समय संवैधानिक यन्त्र को संतुलित कर सकता है। उसका पद गौरव, गरिमा और प्रतिष्ठा का है। यह सच है कि वह अपने स्वविवेक से कार्य नहीं कर सकता, परन्तु उसके पास दो विशेषाधिकार है एक है प्रधानमंत्री की नियुक्ति का और दूसरा है संसद को भंग करने का। वस्तुतः राष्ट्रपति राज्य के अध्यक्ष के रूप में नहीं अपितु भारत की स्वतन्त्र आवाज के रूप में भी कार्य करता है। राष्ट्रपति का प्रतिष्ठित पद, अन्ततः हमारी संवैधानिक व्यवस्था में एक श्रेष्ठ सामाजिक संस्था और एक वैधानिक आवश्यकता है।

7.8 सार संक्षेप

भारतीय संविधान में राष्ट्रपति को संघीय कार्यपालिका का प्रमुख माना जाता है। भारतीय संघीय ढांचे में राष्ट्रपति राज्य का संवैधानिक प्रमुख होते हैं, जबकि प्रधानमंत्री और कैबिनेट उनके कार्यकारी अधिकारियों के रूप में कार्य करते हैं। राष्ट्रपति का पद औपचारिक रूप से राज्य का सर्वोच्च प्रतिनिधि होता है, लेकिन वास्तविक कार्यकारी शक्ति प्रधानमंत्री और कैबिनेट के माध्यम से कार्यान्वित होती है। राष्ट्रपति की भूमिका अधिकतर प्रतीकात्मक होती है और उन्हें संविधान के तहत निर्धारित विशेष परिस्थितियों में ही निर्णय लेने की शक्ति होती है।

7.9 शब्दावली

1. **राष्ट्रपति (President):**भारतीय गणराज्य का संवैधानिक प्रमुख, जो भारतीय संघ के प्रतीक के रूप में कार्य करता है। राष्ट्रपति का पद मुख्य रूप से आदर्श और प्रतीकात्मक होता है।

2. **संघीय कार्यपालिका (Federal Executive):**एक शासन व्यवस्था जिसमें राज्य का कार्यकारी सत्ता केंद्रीय सरकार के नियंत्रण में होती है। इसमें राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री और अन्य मंत्रियों का समूह शामिल होता है।
3. **प्रधानमंत्री (Prime Minister):**राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त, वह व्यक्ति जो सरकार की कार्यपालिका प्रमुख होता है और अपने मंत्रिमंडल के साथ कार्य करता है। प्रधानमंत्री की भूमिका राष्ट्रपति के निर्णयों को कार्यान्वित करने में होती है।
4. **कैबिनेट (Cabinet):**प्रधानमंत्री के नेतृत्व में मंत्रियों का एक समूह, जो शासन के विभिन्न विभागों का संचालन करता है। यह मंत्रिपरिषद राष्ट्रपति के परामर्श से काम करती है।
5. **विधायिका (Legislature):**एक सरकारी निकाय जो कानून बनाने का कार्य करता है। भारत में यह संसद के रूप में कार्य करती है, जिसमें लोकसभा और राज्यसभा शामिल हैं।
6. **न्यायपालिका (Judiciary):**वह संस्था जो कानूनों की व्याख्या और लागू करती है। इसमें सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय आते हैं।
7. **आपातकाल (Emergency):**एक असाधारण स्थिति, जब सरकार को संविधान द्वारा निर्धारित विशेष शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। राष्ट्रपति को आपातकाल की घोषणा का अधिकार होता है।
8. **संविधान (Constitution):**वह विधिक दस्तावेज जो एक राष्ट्र की शासन व्यवस्था और उसके नागरिकों के अधिकारों और कर्तव्यों को निर्धारित करता है। भारतीय संविधान 1950 में लागू हुआ।
9. **माफी (Pardon):**किसी अपराधी को कानूनी दंड से मुक्ति देने की प्रक्रिया। राष्ट्रपति को यह शक्ति होती है कि वह किसी व्यक्ति को माफी दे सकते हैं।
10. **सैन्य कमांडर (Commander-in-Chief):**वह सर्वोच्च अधिकारी जो सशस्त्र बलों का प्रमुख होता है। भारतीय राष्ट्रपति को सेना, नौसेना और वायु सेना के सर्वोच्च कमांडर के रूप में कार्य करने का अधिकार है।
11. **संविधानिक भूमिका (Constitutional Role):**वह भूमिका जो राष्ट्रपति या अन्य सरकारी निकाय संविधान द्वारा निर्धारित करते हैं। इसमें राष्ट्रपति की शक्तियों और कर्तव्यों का निर्धारण किया जाता है।

7.10 स्व -प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

1. संघ की कार्यपालिका शक्ति निहित है:

(अ) राष्ट्रपति में (ब) मंत्रिपरिषद में (स) प्रधानमंत्री (द) संसद में

राष्ट्रपति के निर्वाचन में :

(अ) संसद के दोनों सदनों के सदस्य भाग लेते हैं

(ब) लोकसभा के सदस्य भाग लेते हैं

(स) संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य तथा राज्य विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य भाग लेते हैं

(द) राज्य की विधानसभाओं के सदस्य भाग लेते हैं।

3. मान लीजिए दो राज्यों की विधानसभाएं विघटित हो चुकी है तो क्या राष्ट्रपति के चुनाव को इस आधार पर स्थगित किया जा सकता है:

(अ) स्थगित किया जा सकता है

(ब) स्थगित नहीं किया जा सकता

(स) विघटित विधानसभाओं के सदस्य बाद में मतदान कर सकते हैं।

(द) विघटित विधानसभाओं वाले राज्यों से विधान परिषद के निर्वाचित सदस्य मतदान करेंगे।

4. राष्ट्रपति निर्वाचक मण्डल के सदस्य :

(अ) संसद के दोनों सदन और राज्यों की विधानसभाएँ है

(ब) राज्यसभा और लोकसभा के निर्वाचित सदस्य हैं

(स) लोकसभा के निर्वाचित सदस्य है

(द) संसद के दोनों सदनों और राज्यों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य हैं।

5. राष्ट्रपति निर्वाचन के अभ्यर्थी के नाम को :

(अ) कम से कम 15 मतदाताओं द्वारा प्रस्तावित तथा 15 मतदाताओं द्वारा समर्थित होना चाहिए।

(ब) कम से कम निर्वाचक मण्डल के 50 मतदाताओं द्वारा प्रस्तावित तथा 50 मतदाताओं द्वारा समर्थित होना चाहिए

(स) निर्वाचक मण्डल के एक-तिहाई सदस्यों द्वारा प्रस्तावित होना चाहिए

(द) भारत का कोई भी नागरिक प्रस्तावित कर सकता है।

6. यदि राष्ट्रपति अपने पद से त्यागपत्र देना चाहे तो वह किसको सम्बोधित करके अपना त्यागपत्र प्रस्तुत करेगा :

(अ) लोकसभा के अध्यक्ष को

(ग) प्रधानमंत्री को

(स)प्रतिद्वंद्वी क

(द) राज्यसभा के सभापति को ।

7.राष्ट्रपति पर महाभियोग का आरोप संसद के किसी सदन द्वारा लगाया जा सकता है। लेकिन ऐसा कोई भी आरोप तब तक नहीं लगाया जायेगा तब तक कि (जो सही नहीं है उसे इंगित कीजिए) :

(अ) प्रस्तावित आरोप एक संकल्प के रूप में न हो

(ब) जो कि कम से कम 14 दिन की लिखित सूचना देने के बाद न प्रस्तुत किया गया हो

(स) जिस पर सदन के 1/3 सदस्यों ने हस्ताक्षर करके प्रस्तावित करने का तथ्य प्रकट न किया हो

(द) उस सदन के कुल सदस्य संख्या के कम से कम 3/4 बहुमत द्वारा ऐसे संकल्प को पारित न कर दिया गया हो।

उत्तर (1) अ, (2) स, (3) ब. (4) द, (5) ब, (6) स, (7) द

7.11 संदर्भ सूची

1. श्रीवास्तव, ए. (2019). *भारतीय राजनीतिः एक परिचय.* नई दिल्ली: प्रभात प्रकाशन।
2. जोशी, डी. (2020). *संविधान और संघीय शासन व्यवस्था.* जयपुर: राजकमल पब्लिशिंग।
3. सिंह, आर. (2021). *भारतीय संविधान का विश्लेषण.* वाराणसी: जैन पब्लिशिंग।
4. मिश्रा, के. (2022). *भारतीय कार्यपालिका: सिद्धांत और व्यवहार.* पटना: नीलम प्रकाशन।
5. गुप्ता, एस. (2023). *भारतीय राजनीति और शासन प्रणाली.* लखनऊ: शिक्षण प्रकाशन।
6. वर्मा, पी. (2018). *संविधान का परिचय और संघीय ढांचा.* दिल्ली: ओमेगा पब्लिकेशन।
7. शर्मा, ए. (2020). *भारत के राष्ट्रपतिः संवैधानिक भूमिका.* कोलकाता: यूनिवर्सिटी प्रेस।

7.12 अभ्यास प्रश्न

1. भारत के राष्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति का प्रतिपादन कीजिए।

2'राष्ट्रपति राज्य का प्रधान है, कार्यपालिका का नहीं।' इस कथन से आप कहां तक सहमत हैं? भारत के राष्ट्रपति की शक्तियों और स्थिति की विवेचना दिए गए कथन के संदर्भ में कीजिए।

3. भारत के राष्ट्रपति की शक्तियों एवं कार्यों का वर्णन कीजिए।

4. राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री के आपसी संबंधों का परीक्षण कीजिए।

5. राष्ट्रपति की निर्वाचन पद्धति समझाइये ।

6. महाभियोग की प्रक्रिया समझाइये ।

7. राष्ट्रपति की विधायी शक्तियाँ स्पष्ट कीजिए।

8. राष्ट्रपति की कार्यपालिका शक्तियाँ स्पष्ट कीजिए ।

इकाई 8

मंत्रिमंडल तथा प्रधानमंत्रि

8.1 प्रस्तावना

8.2 उद्देश्य

8.3 कैबिनेट और प्रधान मंत्री

8.4 कैबिनेट प्रणाली की प्रमुख विशेषताएं

8.5 मंत्रि-परिषद् का निर्माण

8.6 मंत्रि- परिषद और मंत्रिमंडल में अंतर

8.7 मंत्रिमण्डल के कार्य एवं शक्तियाँ

8.8 मंत्रिमंडल और संसद

8.9 प्रधानमंत्री

8.10 भारत में प्रधानमन्त्रीय शासन-प्रणाली

8.11 भारत में प्रधानमंत्री की नियुक्ति

8.12 प्रधानमंत्री के अधिकार और उत्तरदायित्

8.13 प्रधानमंत्री की स्थिति

8.14 सार संक्षेप

8.15 शब्दावली

8.16 स्व -प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

8.17 संदर्भ सूची

8.18 अभ्यास प्रश्न

8.1 प्रस्तावना

प्रस्तावना- भारत के शासनतंत्र का महत्वपूर्ण अंग, मंत्रिमंडल और मंत्रिपरिषद, लोकतांत्रिक प्रणाली में शक्ति का संतुलन बनाए रखने का कार्य करते हैं। भारत में संसद द्वारा निर्वाचित और देश के संविधान के अंतर्गत स्थापित ये दोनों निकाय सरकार की कार्यपालिका शाखा के स्तंभ हैं, जो सरकार की नीति निर्माण, क्रियान्वयन और प्रशासनिक निर्णयों के माध्यम से देश के विकास, सुरक्षा और स्थिरता सुनिश्चित करते हैं। मंत्रिमंडल, प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में वरिष्ठ मंत्रियों का एक चुनिंदा समूह है, जो प्रमुख नीतिगत निर्णयों का नेतृत्व करता है और राष्ट्र के महत्वपूर्ण मामलों पर अंतिम निर्णय लेता है। इसके साथ ही मंत्रिपरिषद, जो विभिन्न विभागों के मंत्रियों से मिलकर बनी होती है, मंत्रिमंडल द्वारा निर्धारित नीतियों को क्रियान्वित करने का कार्य करती है और विभिन्न प्रशासनिक कार्यों में अपनी भूमिका निभाती है। संविधान की लोकतांत्रिक भावना को बनाए रखते हुए, मंत्रिमंडल और मंत्रिपरिषद का उद्देश्य सरकार की पारदर्शिता, उत्तरदायित्व और जनहित को सुनिश्चित करना है। भारत की लोकतांत्रिक प्रणाली में ये निकाय समर्पण और सेवा भाव के साथ राष्ट्र की प्रगति और कल्याण के लिए कार्य करते हैं।

8.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्नलिखित कार्य करने में सक्षम होंगे:

1. राजनीति विज्ञान की परिभाषा को समझ सकेंगे।
2. राजनीति विज्ञान के प्रमुख क्षेत्रों जैसे शासन, राजनीतिक संस्थाएं, और राजनीति के सिद्धांतों को पहचान सकेंगे।
3. राजनीति विज्ञान के विकास और इसकी उपयोगिता का विश्लेषण कर सकेंगे।
4. भारतीय राजनीतिक प्रणाली की संरचना और कार्यप्रणाली को समझ सकेंगे।
5. मंत्रिमंडल और प्रधानमंत्री की भूमिका को पहचानने में सक्षम होंगे।

8.3 कैबिनेट और प्रधान मंत्री

भारत में संसदात्मक अथवा मंत्रिमण्डलात्मक शासन प्रणाली की स्थापना की गई है। सैद्धान्तिक रूप से संविधान द्वारा समस्त कार्यपालिका-शक्ति राष्ट्रपति में निहित मानी गई है तथापि यथार्थ में कार्यपालिका की समस्त सत्ता मंत्रिपरिषद् में निहित होती है। वास्तविक रूप मे मंत्रिपरिषद ही शासन की समस्त शक्तियों का उपयोग करती है। ब्रिटिश मंत्रिमण्डल के संबंध में प्रयुक्त उक्तियाँ भारतीय मंत्रिमण्डल के स्वरूप को अक्षरशः प्रकट करती हैं। रेम्जे म्योर के अनुसार, "मंत्रिमण्डल राज्य के जहाज का

परिचालक यन्त्र है।" मेरियट के शब्दों में, "मंत्रिमण्डल वह धुरी है जिस पर प्रशासन-चक्र घूमता है।" हमारे संविधान के अनुच्छेद 74 में उल्लेखित है कि "राष्ट्रपति को उसके कार्यों के सम्पादन में सहायता एवं परामर्श देने के लिए मंत्रिपरिषद होगी जिसका प्रधान प्रधानमंत्री होगा।" यह प्रावधान जान-बूझकर रखा गया है तथा संसदीय शासन के लचीलेपन को बनाए हुए हैं, अन्यथा भारतीय संविधान के विगत व्यवहार से प्रकट होता है कि राष्ट्रपति वैधानिक अध्यक्ष है एवं मंत्रिमण्डल ही सक्रिय कार्यपालिका है।

8.4 कैबिनेट प्रणाली की प्रमुख विशेषताएं

मंत्रिमण्डलात्मक पद्धति को 'उत्तरदायी सरकार' भी कहते हैं। मंत्रिमण्डलात्मक पद्धति में देश की सर्वोच्च कार्यकारिणी मंत्रिमण्डल के पास रहती है। इस पद्धति की सरकार की कतिपय महत्वपूर्ण विशेषताएँ इस प्रकार है -

1. दोहरी कार्यपालिका संसदीय शासन के अंतर्गत दो कार्यकारी होते हैं, जिनमें एक रस्मी प्रधान होता है और दूसरा वास्तविक। रस्मी प्रधान राज्य का औपचारिक प्रमुख होता है। चाहे उसका नाम कुछ भी हो, परन्तु उसके पास वास्तविक सत्ता नहीं होती। शासन की वास्तविक सत्ता एक मंत्रिमण्डल को प्राप्त होती है जो संसद के प्रति उत्तरदायी होता है। भारतीय राष्ट्रपति ब्रिटिश सम्राट की भांति कार्यपालिका सत्ता का एक संवैधानिक प्रधान मात्र है तथा यथार्थ सत्ता का प्रयोग मंत्रिमण्डल ही करता है।

2. राजनीतिक-एकता - मंत्रिमण्डल में सभी सदस्यों का समान दृष्टिकोण होता हैं। वे समान रूप से अपने राजनीतिक दल के कार्यक्रम और नीतियों को कार्यरूप देने का यत्न करते हैं। शासन में एक टीम के रूप में कार्य करते हैं।

3. प्रधानमंत्री का नेतृत्व मंत्रिमण्डल का नेता प्रधानमंत्री होता है। मंत्रिपरिषद का निर्माण उसी की इच्छा से होता है। सदस्यों के बीच विभागों का वितरण भी प्रधानमंत्री की इच्छा से होता है। प्रधानमंत्री को किसी भी मन्त्री से त्याग-पत्र देने के लिए कहने का अधिकार है।

4. सामूहिक उत्तरदायित्व मान्त्रमण्डल के सदस्य व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से संसद के प्रति उत्तरदायी होते हैं। । मंत्रिमण्डल अपनी नीति के लिए सामूहिक रूप से उत्तरदायी होता है, किन्तु कभी-कभी विभागीय मामलों में मंत्रिमण्डल सामूहिक उत्तरदायित्व को स्वीकार नहीं करता और संबंधित मन्त्री को उत्तरदायी ठहराता है। सामान्यतः अपनी नीतियों और राष्ट्र की दृष्टि से महत्वपूर्ण कार्यों से के लिए वह सामूहिक उत्तरदायित्व स्वीकार करता है जिसका अर्थ यह होता है कि मंत्रिमण्डल आलोचकों को

उत्तर देने के लिए तत्पर रहता है चाहे किसी मन्त्री की आलोचना की जा रही हो उसके सहयोगी उसकी रक्षा के लिए उद्यत होते हैं।

भारतीय शासन एवं राजनीति

5. गोपनीयता मंत्रिमण्डल की कार्यवाहियों की गोपनीयता भी इसी शासन प्रणाली की विशेषता है। भारत में गोपनीयता के सिद्धान्त के अंतर्गत अनुच्छेद 75 के अंतर्गत पद ग्रहण करने से पूर्व प्रत्येक मन्त्री को गोपनीयता की शपथ लेनी होती है। संवैधानिक दृष्टि से प्रत्येक मन्त्री इस बात के लिए बाध्य है कि वह मंत्रिमण्डल के किसी भेद को प्रकट नहीं करेगा।

6. विधायिका तथा कार्यपालिका का घनिष्ठ सम्बन्ध मंत्रिमण्डल विधायिका के दोनों सदनों का प्रतिनिधित्व करता है तथा मंत्रिमण्डल के सदस्यों के लिए यह आवश्यक है कि वह संसद के किसी भी सदन के सदस्य हों। मंत्रिमण्डल के उत्तरदायित्व का मूल्यांकन सदन मंत्रिमण्डल के मंत्रियों से विभाग के प्रशासन के बारे में प्रश्न पूछकर कर सकता है, मंत्रिमण्डल द्वारा प्रस्तुत बजट को अस्वीकार कर सकता है। अविश्वास का प्रस्ताव पारित करके मंत्रिमण्डल को हटा सकता है। मंत्रिमण्डल लोकसभा को भंग करवा सकता है।

8.5 मंत्रि-परिषद् का निर्माण

संविधान के अनुच्छेद 74 में बताया गया है कि राष्ट्रपति को उसके कृत्यों को पूरा करने में सहायता तथा परामर्श देने के लिए प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में मंत्रिपरिषद् होगी। प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा तथा अन्य मंत्रियों की नियुक्ति प्रधानमंत्री के परामर्श से होगी जो राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त पदासीन रहेंगे और मंत्रि-परिषद सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी रहेगी।

संविधान के अनुसार राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की नियुक्ति करता है किन्तु व्यवहार में राष्ट्रपति के अधिकार अत्यन्त सीमित हैं। राष्ट्रपति अनिवार्यतः बहुमत दल के नेता को ही प्रधानमंत्री पद ग्रहण करने के लिए आमंत्रित करता है। कतिपय परिस्थितियों में राष्ट्रपति को प्रधानमंत्री की नियुक्ति में स्वविवेक से कार्य करने का अवसर मिल सकता है। प्रथम, उस समय जबकि लोकसभा में किसी भी दल का बहुमत अस्पष्ट हो। द्वितीय, उस समय जब बहुमत वाले दल में कोई निश्चित नेता नहीं रहे या प्रधानमंत्री पद के दो समान रूप से प्रभावशाली दावेदार हो। तृतीय, राष्ट्रीय संकट के समय राष्ट्रपति लोकसभा को भंग

करके कुछ समय के लिए स्वेच्छा से कामचलाऊ सरकार का नेता मनोनीत कर सकता है।

व्यवहारतः अन्य मंत्रियों की नियुक्ति में प्रधानमंत्री की ही इच्छा सर्वोपरि रहती है तथा राष्ट्रपति प्रधानमंत्री के परामर्श को मानने के लिए बाध्य है। परन्तु प्रधानमंत्री को भी मंत्रियों की नियुक्ति में कई बातों पर ध्यान देना होता है- वह अपने दल के प्रमुख और प्रभावशाली सदस्यों को नहीं भूल सकता क्योंकि उनकी अप्रसन्नता से दल में असन्तोष और फूट पैदा होने का भय रहेगा। व्यवहार में मंत्रियों की नियुक्ति के समय दल के सदस्यों की स्थिति, समुदायों के एवं भौगोलिक क्षेत्रों तथा दोनों सदनों को उचित प्रतिनिधित्व प्रदान करने पर गम्भीर विचार करना होता है। विज्ञान और तकनीकी विकास के इस युग में कतिपय विशेषज्ञों को भी मंत्रिमण्डल में स्थान प्रदान करना अपरिहार्य हो गया है। कोई ऐसा व्यक्ति भी जो संसद का सदस्य न हो, 6 माह के लिए मन्त्री नियुक्त किया जा सकता है।

8.6 मंत्रि- परिषद और मंत्रिमंडल में अंतर

मंत्रिपरिषद् और मंत्रिमण्डल में अन्तर है। मंत्रि परिषद में वे सब सदस्य होते हैं जो महत्वपूर्ण प्रशासकीय पदों पर हों, जबकि मंत्रिमण्डल में कुछ सीमित सदस्य रहते हैं। मंत्रिमण्डल मंत्रिपरिषद् की अन्तः परिषद् (inner circle) होती है। प्रधानमंत्री शासन के संचालन के लिए संसद के तीस-चालीस सदस्यों को नियुक्त करता है। वे संसद के प्रति उत्तरदायी रहते हैं। इन्हें सामूहिक रूप से मंत्रिपरिषद कहा जाता है। मंत्रिमण्डल में केवल महत्वपूर्ण विभागों के मन्त्री होते हैं। मंत्रिमण्डल का प्रत्येक सदस्य मंत्रिपरिषद् का भी सदस्य रहता है। मंत्रिमण्डल मंत्रिपरिषद् की कार्यकारिणी के रूप में कार्य करता है।

मंत्रिपरिषद में पाँच स्तर के सदस्य होते हैं, जिसमें से केवल प्रथम स्तर के सदस्यों को सामूहिक रूप से मंत्रिमण्डल या केबिनेट कहा जाता है। मंत्रिपरिषद के निम्न पांच स्तर के सदस्य होते हैं- (1) मंत्रिमण्डल के सदस्य, (2) मंत्रिमण्डल स्तर के मंत्री होते हुए भी मंत्रिमण्डल के सदस्य नहीं होते हैं, (3) राज्यमंत्री, (4) उपमंत्री, और (5) संसदीय सचिव। संक्षेप में, मंत्रिपरिषद् एक विशाल संस्था है, जबकि मंत्रिमण्डल के अंतर्गत एक छोटा-सा समूह होता है। मंत्रिमण्डल के सदस्य विभागों के अध्यक्ष होते हैं, तथा प्रशासनिक नीति निर्माण में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। रेम्जे म्योर के शब्दों में, : 'मंत्रिमण्डल मंत्रिपरिषद् का हृदय है।' पायली के शब्दों में, "स्वभावतः मंत्रिमण्डल एक छोटी-सी और बहुत शक्तिशाली संस्था है संविधान द्वारा मंत्रिपरिषद को प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग भी मंत्रिमण्डल के हाथों में आ गया है।"

8.7 मंत्रिमण्डल के कार्य एवं शक्तियाँ (Functions and Powers of the Cabinet)

भारत में मंत्रिमण्डल के विस्तृत कार्य है क्योंकि वह राष्ट्रपति की वैधानिक शक्तियों का प्रयोग स्वयं करता है। मंत्रिमण्डल के प्रमुख कार्यों को निम्न भागों में बाँटा जा सकता है -

1. व्यवस्थापन सम्बन्धी कार्य मंत्रिमण्डल संसद के अधिवेशन का समय निर्धारित करता है तथा संसद को स्थगित एवं भंग करवाता है। संसद के प्रथम उद्घाटन अधिवेशन में राष्ट्रपति द्वारा जो भाषण दिया जाता है उसे मंत्रिमण्डल ही तैयार करता है। इसके अन्तर्गत आगामी वर्ष की नीति एवं कार्यक्रम का उल्लेख रहता है। संसद में प्रस्तुत होने वाले विधेयकों को अंतिम रूप मंत्रिमण्डल द्वारा ही दिया जाता है। संसद के कार्यक्रमों के अंतर्गत मंत्रिमण्डल यह भी निश्चित करता है कि सदस्यों को प्रश्न पूछने के लिए कितना समय दिया जाये तथा व्यक्तिगत विधेयकों का समय भी वही निश्चित करता है। संसद के समस्त शासकीय विधेयकों का संचालन मंत्रिमण्डल ही करता है। वस्तुतः मंत्रिमण्डल ही संसद पर शासन करता है और विधायी क्षेत्र में छाया रहता है।

2. कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य मंत्रिमण्डल कार्यपालिका का ही एक भाग है, अतः इस क्षेत्र में इसके पास महत्वपूर्ण अधिकार एवं कार्य है। राष्ट्रपति के सभी अधिकारों का व्यवहार में मंत्रिमण्डल ही प्रयोग करता है। शासन की नीति का निर्माण मंत्रिमण्डल द्वारा ही किया जाता है। शासन के उच्च आधिकारियों की नियुक्ति इसी के द्वारा की जाती है। मंत्रिमण्डल ही उनका चयन करता है, राष्ट्रपति तो मात्र औपचारिक रूप से उस पर अपनी स्वीकृति प्रदान करते हैं। मंत्रिमण्डल ही शासन की नीतियों को लागू करता है। संसद में शासन सम्बन्धी पूछे जाने वाले प्रश्नों के जवाब का उत्तरदायित्व मंत्रिमण्डल पर रहता है। उसे सरकार की आलोचना का प्रत्युत्तर देना पड़ता है।

3. समन्वयकारी कार्य सरकार का कार्य अनेक विभागों, खण्डों तथा उपखण्डों द्वारा सम्पन्न किया जाता है। विभिन्न विभागों मे मतभेद तथा गतिरोध होना स्वाभाविक है। सुशासन के लिए प्रशासन के विभिन्न विभागों में समन्वय नितान्त आवश्यक होता है। समन्वय सम्बन्धी महत्वपूर्ण कार्य मंत्रिमण्डल ही करता है। भारत में अनेक मंत्रिमण्डल समितियाँ इस कार्य में रत हैं।

4. वित्त सम्बन्धी कार्य वित्तीय क्षेत्र में भी उसके महत्वपूर्ण अधिकार हैं। राष्ट्रीय बजट का निर्माण एवं उसको संसद में प्रस्तुत करने का कार्य मंत्रिमण्डल का ही है। मंत्रिमण्डल राष्ट्र के समस्त व्यय के लिए उत्तरदायी है और उस व्यय की पूर्ति करना भी उसी का कार्य है। वार्षिक बजट पर

मंत्रिपरिषद का ही वस्तुतः पूर्ण नियंत्रण होता है। 5. अन्तर्राष्ट्रीय कार्य - मंत्रिमण्डल भारत का विदेशों से सम्बन्ध स्थापित करता है। युद्ध की घोषणा एवं शांति की स्थापना सम्बन्धी समस्याओं का निराकरण मंत्रिमण्डल द्वारा किया जाता है।

भारत में संघीय मंत्रिमण्डल अपने कार्यों को अधिक अच्छे ढंग से संचालित करने हेतु समितियों का प्रयोग करता है। इन समितियों के सदस्यों को केवल मंत्रिपरिषद् के सदस्यों में से ही मनोनीत किया जाता है। इनका सम्बन्ध उच्च नीति संबंधी प्रश्नों के निर्धारण से होता है। इस प्रकार की समितियों में आर्थिक, राजनीतिक, संसदीय व कानूनी, भारी उद्योग, प्रतिरक्षा, विदेश सम्बन्ध, उच्च नियुक्तियाँ, वैज्ञानिक मामलों से सम्बन्धित समिति, मानव शक्ति समिति इत्यादि प्रमुख हैं। ये समितियाँ अपने क्षेत्र में आने वाले सभी महत्वपूर्ण मामलों पर विचार करती हैं, किन्तु उन पर अन्तिम निर्णय केवल मंत्रिमण्डल द्वारा ही लिया जाता है।

साधारणतः सप्ताह में एक बार मंत्रिमण्डल की बैठक होती है। विशेष परिस्थिति में एक से अधिक बैठकें भी सप्ताह में हो सकती हैं। मंत्रिमण्डल की बैठकों की अध्यक्षता प्रधानमंत्री करता है

तथा समस्त कार्यवाही गुप्त रखो जाती है। साधारणतः मंत्रिमण्डल की बैठकों का कार्यक्रम प्रधानमंत्री के द्वारा ही तय किया जाता है।

8.8 मंत्रिमंडल और संसद

भारत में संसदात्मक शासन प्रणाली अपनायी गयी है। संसदात्मक शासनप्रणाली में कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका का अभिन्न सम्बन्ध होता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से मंत्रिमण्डल लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होता है तथा उसी समय तक पदारुढ़ रह सकता है जब तक कि उसे लोकसभा का विश्वास प्राप्त हो। संसद अनेक तरीकों से मंत्रिमण्डल पर नियंत्रण रखती है; जैसे प्रश्नोत्तर, काम रोको प्रस्ताव, नीति या विधेयक की अस्वीकृति, बजट पर कटौती, प्रशासनिक जाँच, अविश्वास प्रस्ताव व निन्दा प्रस्ताव, द्वारा मंत्रिमण्डल को पदच्युत किया जा सकता है।

प्रो. पायली का अभिमत है कि व्यवहार में मंत्रिमण्डल को पदच्युत करना इतना आसान नहीं है। क्योंकि वैधानिक सत्य सदैव ही राजनीतिक सत्य नहीं हुआ करते। व्यवहार में संसद मंत्रिमण्डल पर नियन्त्रण नहीं रखती अपितु स्वयं मंत्रिमण्डल द्वारा नियन्त्रित होती है। मंत्रिमण्डल संसद की ऐसी कृति है जो अपने सृष्टा का नेतृत्व करती है। मंत्रिमण्डल चाहे तो राष्ट्रपति को परामर्श देकर संसद (लोकसभा) को भंग करवा सकती है। 27 दिसम्बर, 1970 को प्रधानमंत्री के परामर्श से राष्ट्रपति ने लोकसभा को भंग कर दिया

था। मंत्रियों के पीछे संसद के बहुमत दल का समर्थन होता है और दलीय अनुशासन के कारण संसद के सदस्य मंत्रिमण्डल का विरोध करते कतराते हैं। आज तो विधि निर्माण का कार्य भी प्रदत्त व्यवस्थापन की व्यवस्था के कारण मंत्रिमण्डल के हाथ में आ गया है। आज संसद केवल सीमित सतर्कता की साधन रह गई है। नीतियों के निर्माण और संशोधन में संसद सशक्त मार्ग दर्शन प्रदान करने में अपने को असमर्थ पाती है। मंत्रिमण्डल और संसद के सम्बन्धों को ध्यान में रखते हुए यह कहना उपयुक्त है कि संसद पर मंत्रिमण्डल का नियंत्रण स्थापित हो गया है और शासन पर संसद के नियंत्रण की बात व्यर्थ है। डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी के शब्दों में "सिद्धान्ततः मंत्रिमण्डल संसद की एक समिति है, संसद सरकार की जननी है, किन्तु वास्तव में संसद सरकार को नहीं चलाती, न चला सकती है, अधिकांशतः सरकार ही संसद को चलाती है क्योंकि संसद में सदैव ही सरकारी पक्ष का बहुमत होता है।"

8.9 प्रधानमंत्री

संविधान द्वारा भारत में संसदात्मक शासन प्रणाली की स्थापना की गई है तथा भारत की कार्यपालिका-शक्ति भारत के राष्ट्रपति में निहित की गई है; किन्तु राष्ट्रपति की शक्तियां औपचारिक ही हैं और व्यवहार में उसकी समस्त शक्तियों का प्रयोग प्रधानमंत्री ही करता है।

"यद्यपि राष्ट्र का अध्यक्ष राष्ट्रपति कहा गया है तथापि शक्ति संरचना का मूल स्त्रोत ब्रिटेन के समान प्रधानमंत्री ही है। कार्यपालिका के व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होने के सिद्धान्त को छोड़कर ब्रिटेन में संसद की सम्प्रभुता का स्थान आज मंत्रिमण्डल की सम्प्रभुता ने लिया है। यह मंत्रिमण्डल की सम्प्रभुता अन्ततः प्रधानमंत्री की सरकार की सम्प्रभुता है।" प्रधानमन्त्री को राज्यरूपी जहाज का चालक कहा गया। उसे सम्पूर्ण संविधान की आधारशिला कहना अधिक उपयुक्त होगा। यदि मंत्रिमण्डल शासन का आधार, वृद्धि और इच्छा है, तो प्रधानमंत्री मंत्रिमण्डल रूपी मेहराब का मुख्य पत्थर है। वस्तुतः मन्त्रपरिषद के भीतर तथा उससे भी अधिक उसके बाहर सबसे अधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति प्रधानमंत्री ही हैं। यही वह व्यक्ति है जो आरम्भ से ही मंत्रिपरिषद के निर्माण से, उन विषयों से जिन पर मंत्रिपरिषद विचार-विमर्श करती है; मंत्रिपरिषद एवं राष्ट्रपति और संसद के आपसी संबंधों से और मंत्रिमण्डलीय नियन्त्रण के अन्तर्गत प्रशासन यन्त्र में समन्वय से सम्बद्ध है। डॉ. अम्बेडकर के शब्दों में "वास्तव में प्रधानमंत्री सम्पूर्ण तन्त्र की धुरी है।"

8.10 भारत में प्रधानमन्त्रीय शासन-प्रणाली (Prime Ministerial Government in India)

विलिमय हारकोर्ट ने बहुत पहले ब्रिटिश प्रधानमंत्री के सम्बन्ध में कहा था कि "प्रधानमंत्री नक्षत्रों के बीच चन्द्रमा है।" लार्ड मार्ले ने भी यह मतं व्यक्त किया था कि, "वह समान पद वालों में प्रथम है।" परन्तु राजनीतिक संस्थाओं के बदलते हुए परिवेश में ब्रिटिश प्रधानमंत्री के पद की महिमा बदल गई है और उसके सम्बन्ध मे दोनों उक्तियाँ व्यर्थ हो गई हैं। अब तो हम्फी बर्कले के इस अभिमत में ब्रिटिश प्रधानमंत्री के पद की वस्तुस्थिति प्रकट होती है "वेस्टमिनिस्टर में संसदीय प्रजातन्त्र समाप्त हो चुका है। ब्रिटिश व्यवस्था का मूल दुर्गुण प्रधानमंत्री के पास राज्याध्यक्ष से भी अधिक शक्तियों का होना है"; क्रासमैन ने भी लिखा है, "द्वितीय महायुद्ध के बाद के वर्षों में मंत्रिमण्डलीय शासन-प्रणाली प्रधानमन्त्रीय शासन-प्रणाली में परिवर्तित हो गई है।"

भारतीय संविधान-निर्माताओं ने भारत में ब्रिटिश नमूने की संसदात्मक शासन प्रणाली की ही कल्पना की थी। संविधानसभा में कतिपय सदस्यों ने अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली का भी भारत के लिए समर्थन किया था। परन्तु के एम. मुन्शी का यह सुझाव स्वीकार कर लिया गया कि "हमने वर्षों पूर्व ही यह निर्णय ले लिया था कि केन्द्रीय शासन का ढाँचा ब्रिटिश नमूने का ही होना चाहिए।" सरदार पटेल ने भी जोरदार शब्दों में कहा कि, "संसदात्मक शासन प्रणाली वाला संविधान ही इस देश के लिए उपयुक्त होगा क्योंकि हम ऐसी शासन प्रणाली के तौर-तरीकों से भली-भाँति परिचित है।"

पिछले 53 वर्षों में भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में प्रधानमंत्री की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। प्रधानमंत्री मुख्य प्रशासक, मुख्य नीति-निर्माता, मुख्य विधायक तथा मुख्य राजनयिक के रूप में राष्ट्र के सम्मुख उपस्थित हुआ है। प्रधानमंत्री के रूप में पं. नेहरू तथा श्रीमती गाँधी जैसे कुशल और आकर्षक प्रतिभा वाले नेताओं ने क्रियाशील होकर राष्ट्र को स्थायित्व प्रदान किया। विगत कुछ वर्षों की राजनीतिक घटनाओं से यह निष्कर्ष निकलता है कि भारत में प्रधानमंत्री मंत्रिमण्डल का नेता है और देश की राष्ट्र, परराष्ट्र एवं सुरक्षा-नीति के निर्माण में उसकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। राज्यों का राजनीतिक नेतृत्व अपनी स्वायत्तता के बजाय प्रधानमंत्री के नेतृत्व में विश्वास रखता है। राष्ट्रपति के चयन और निर्वाचन में प्रधानमंत्री की पसंद का ही विशिष्ट महत्व है। राज्यों के राज्यपालों की नियुक्ति का अन्तिम निर्णय उन्हीं का होता है। पूर्व प्रधानमंत्री श्रीमती गाँधी के मंत्रिमण्डल सहयोगी श्री जगजीवन राम का यह रहस्योद्घाटन अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि जून 1975 में घोषित संकटकालीन घोषणा में मंत्रिमण्डल को केवल निर्णयों की सूचना

दी जाती थी ओर निर्णय स्वयं प्रधानमंत्री द्वारा ही लिये जाते थे। प्रधानमंत्री की तुलना में मंत्रिमण्डल की स्थिति 'रबर की मोहर' के तुल्य हो गई थी। संसदीय शक्ति का निरन्तर ह्रास हुआ और सरकार ही संसद को चलाती रही।

ब्रिटेन के प्रधानमंत्री के तुल्य, भारत के प्रधानमंत्री का भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में अधिक महत्व है। लास्की का ब्रिटिश प्रधानमंत्री के लिए यह कहना है कि, "मंत्रिपरिषद के निर्माण का वह केन्द्र 3 बिन्दु है, मंत्रिपरिषद के जीवन का वह केन्द्र बिन्दु है और मंत्रिपरिषद की मृत्यु का वह केन्द्र बिन्दु है।" वास्तव में प्रधानमंत्री, मंत्रिपरिषद का केन्द्र बिन्दु ही नहीं है, अपितु वह संपूर्ण राष्ट्र का केन्द्रबिन्दु है, जैसा ग्रीब्ज कहते हैं "सरकार राष्ट्र की स्वामी है और वह सरकार का स्वामी है।" भारत के प्रशासनिक सुधार आयोग ने प्रधानमंत्री के सम्बन्ध में अपने प्रतिवेदन में लिखा है-"संविधान संसदीय सरकार की कार्यपालिका में प्रधानमंत्री को विशिष्ट स्थिति प्रदान करता है। वह न केवल मंत्रिमंडल का अध्यक्ष तथा समकक्षों में प्रथम ही है अपितु वह राष्ट्रपति का मुख्य परामर्शदाता भी है। उसकी उच्च स्थिति उसे इस बात का विशिष्ट उत्तरदायित्व सौंपती है कि वह यह देखे कि कार्यपालिका प्रभावी ढंग से कार्य करती है, संयुक्त उत्तरदायित्व का उचित रूप से क्रियान्वयन होता है, राजनीतिक सोद्देश्यात्मक के रहते हुए नीतियां वास्तविक तत्परता के साथ क्रियान्वति की जाती है, तथा प्रशासन जनता की आकांक्षाओं के अनुकूल कार्य करता है।"

क्या भारत प्रधानमंत्री व्यवस्था की ओर जा रहा है? इससे यह अभिप्राय नहीं है कि भारत में संसद व्यर्थ की महत्वहीन संस्था हो गई है। इसका यही अभिप्राय है कि संसदात्मक संस्थाओं के क्रियाशील होते हुए भी भारत में प्रधानमंत्री के पद और स्थिति में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ है, प्रधानमंत्री

देश की राजनीति का मेहराब बन गया है, प्रधानमंत्री राज्य रूपी जहाज का चालक बन गया है। प्रधानमंत्री का कार्यालय पर पूर्ण नियंत्रण होता है। प्रधानमंत्री का कार्यालय उसी प्रकार कार्य करने लगा है, जिस प्रकार अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली वाले देश अमेरिका में राष्ट्रपति का व्हाइट हाउस। प्रधानमंत्री की प्रधानता का प्रमुख कारण यह है कि वह एक ऐसे दल का नेता है जिसे लोकसभा में बहुमत प्राप्त है। उसकी सारी शक्ति दल के संगठन और दल से मिलने वाले समर्थन पर निर्भर है।

फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भारत में प्रधानमंत्री की शक्तियां चाहे जितनी हो जाएं, संसद वह नींव है, जिस पर प्रजातंत्र की भव्य इमारत खड़ी है। संसद वह स्त्रोतस्विनी है, जो अपनी अविरल, निर्मल, और उन्मुक्त धारा से प्रजातंत्र के हर क्षेत्र को सींचती है, जिससे राष्ट्र को पोषण मिलता है। संसद प्रजातंत्र के हर क्षेत्र की नाभि है, जहां

उसके प्राण बसते हैं और देश का जीवन हर घड़ी साँस लेता है। यद्यपि मंत्रिमण्डल का निर्माण बहुमत दल के नेता द्वारा अपने दल के सदस्यों की सहायता से किया जाता है, तो भी यह कहना ठीक न होगा कि विरोधी दलों की एकदम अवहेलना की जाती है। जब-जब सरकार को ऐसे गम्भीर प्रश्नों से जूझना पड़ा, जिनका संबंध अखिल राष्ट्र के कल्याण एवं सुरक्षा से हो, तब-तब प्रधानमंत्री ने विरोधी दलों के नेताओं से विचार-विनिमय किया है और सरकारी निर्णयों को सर्वदलीय निर्णय के स्तर तक उठाया है। सन् 1962 के चीनी आक्रमण के समय, 1965 और 1971 के पाकिस्तानी आक्रमण के समय जितने प्रमुख निर्णय किये गये उन सबके बारे में विरोधी दल के साथ किसी रूप में बातचीत की गई। 1989 के बाद भारत में अल्पमतीय सरकारों का दौर प्रारंभ हुआ जिसमें कोई प्रधानमंत्री निरंकुश आचरण नहीं कर सकता। वी.पी. सिंह, चन्द्रशेखर और पी.वी. नरसिम्हराव को अनेक अवसरों पर समझौतावादी नीतियां अपनानी पड़ीं, विपक्षी गुटों से सांठ-गांठ कर चलना पड़ा। वी.पी. सिंह, चन्द्रशेखर, एच. डी. देवगौड़ा एवं इन्द्रकुमार गुजराल की सरकारें अधिक दिनों तक नहीं चल पायीं और उन पर सहयोगी दलों का अनवरत दबाव बना रहा। पी.वी. नरसिम्हाराव को भी आम सहमति (Consesus) की नीति पर चलना पड़ा। श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने प्रधानमंत्री बनने के बाद आम सहमति की नीति पर चलने का आश्वासन दिया। अमरीका की अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में राष्ट्रपति कांग्रेस के सहयोग के बिना भी चार वर्ष तक अपने संविधान प्रदत्त कार्यों का निर्वाह कर सकता है जबकि भारत का प्रधानमंत्री अनेक नियंत्रणों में काम करता है। ऐसी स्थिति में यह कहना समीचीन प्रतीत नहीं होता कि भारत में प्रधानमंत्रीय शासन व्यवस्था की स्थापना हो रही है। भारतीय प्रधानमंत्री की शक्तियों पर कतिपय महत्वपूर्ण नियंत्रण इस प्रकार हैं-

1. लिखित संविधान भारत का संविधान लिखित है और प्रधानमंत्री को कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग लिखित संविधान की सीमाओं के भीतर ही करना होता है।

2. संघ व्यवस्था भारत में संविधान द्वारा संघ-व्यवस्था की स्थापना की गई है। संघ व्यवस्था के प्रावधानों के अनुसार राज्य सूची के विषयों पर केन्द्रीय संसद को कानून बनाने की छूट नहीं है। प्रधानमंत्री की शक्ति केवल उन्हीं विषयों तक सीमित है जिन पर कानून बनाने की शक्ति संसद को प्राप्त है।

3. संसदीय नियन्त्रण प्रधानमंत्री संसद के प्रति उत्तरदायी होता है। लोकसभा में समर्थन के बिना वह कुछ नहीं कर सकता है। लोकसभा उससे प्रश्न पूछ सकती है, उसके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव ला सकती है, और उसे त्याग-पत्र देने के लिए बाध्य कर सकतीं हैं। लोकसभा द्वारा अविश्वास का प्रस्ताव पारित करने की शक्ति अब केवल सैद्धान्तिक नहीं

रही है। जुलाई 1979 में मोरारजी मंत्रिमण्डल ने अविश्वास प्रस्ताव के कारण ही पद त्याग किया था। लोकसभा का विश्वास न रहने के कारण विश्वनाथ प्रताप सिंह (1990), चन्द्रशेखर (1991), अटल बिहारी वाजपेयी (1996), एच.डी. देवगौडा (1997), इन्द्र कुमार गुजराल (नवम्बर, 1997) तथा अटल बिहारी वाजपेयी (1999) को हटना पड़ा।

4. दलीय नियन्त्रण उसकी सारी शक्ति दल के संगठन और दल से मिलने वाले समर्थन पर निर्भर है। एक बार उसका दल उसे छोड़ दे, दल से निकाल दे, तो उसका राजनीतिक भविष्य अन्धकारमय हो जाता है और उसकी सत्ता क्षण भर में नष्ट हो जाती है।

5. लोकमत का नियन्त्रण प्रधानमंत्री की शक्ति का प्रयोग सदा आलोचना की कसौटी पर कसा रहता है और लोकमत के अनुसार ढलता रहता है। उसे अगले चुनाव का खतरा सदैव बना रहता है। अतः कोई प्रधानमत्री ऐसा कार्य नहीं कर सकता जिसे लोकमत पसन्द न करे।

8.11 भारत में प्रधानमंत्री की नियुक्ति (Appointment of Prime Minister in India)

संवैधानिक दृष्टि से प्रधानमंत्री की नियुक्ति भारत के राष्ट्रपति करते हैं। सामान्यतः इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति को स्वविवेक प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि उसे बहुमत दल के नेता को ही सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करना पड़ता है। यदि ऐसा नहीं करता है तो वह अत्यन्त हास्यास्पद कार्य करेगा, क्योंकि बिना बहुमत की सरकार के मंत्रिपरिषद नहीं बन पाएगी। संसदीय सरकार की सुव्यवस्थित पद्धति के अनुसार लोकसभा का बहुमत दल अपने नेता का चुनाव अथवा निर्वाचन का निर्णय लेगा और इस निर्णय के आधार पर राष्ट्रपति उसे प्रधानमंत्री नियुक्त करेगा। वस्तुतः वह लोकसभा की इच्छा और आकांक्षा का प्रतिपालक है जो उसके बहुमत द्वारा अभिव्यक्त होती है। राष्ट्रपति को केवल उस समय अपने विवेक एवं बुद्धि का प्रयोग करना पड़ेगा जब लोकसभा में किसी भी दल का स्पष्ट बहुमत न होगा। ऐसी स्थिति में वह जिस दल के नेता को अधिक योग्य समझेगा और मंत्रिमण्डल बनाने में सक्षम समझेगा, प्रधानमंत्री पद ग्रहण करने के लिए आमंत्रित करेगा।

भारत में जुलाई-अगस्त 1979 में राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमंत्री की नियुक्ति में अपने विवेक का प्रयोग किया गया। इसी प्रकार 1989, 1991, 1996 तथा 1998 में राष्ट्रपति ने स्वविवेक का प्रयोग करते हुए सबसे बड़े दल के नेता सर्वश्री राजीव गांधी, श्री पी.वी.

नरसिंह राव एवं श्री अटल बिहारी वाजपेयी को प्रधानमंत्री पद ग्रहण करने के लिए आमंत्रित किया।

दिसम्बर 1989 में नवीं लोकसभा के चुनावों में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हुआ। कांग्रेस (इ) ने सबसे बड़ी पार्टी होने के बावजूद सरकार बनाने का दावा पेश नहीं किया। राष्ट्रीय मोर्चे को भाजपा तथा वाम मोर्चे का समर्थन प्राप्त था। अतः राष्ट्रीय मोर्चे के नेता वी.पी. सिंह को राष्ट्रपति ने प्रधानमंत्री पद की शपथ दिलायी। इसी प्रकार वी.पी. सिंह के त्यागपत्र के बाद चन्द्रशेखर को प्रधानमंत्री नियुक्त किया गया क्योंकि उन्हें कांग्रेस (इ) का समर्थन प्राप्त था। प्रधानमंत्री पद के लिए संविधान में कोई विशिष्ट योग्यता नहीं रखी गई है। वह संसद के किसी भी सदन का सदस्य हो सकता है। यदि वह संसद सदस्य नहीं है तो छः मास के भीतर उसे संसद की सदस्यता ग्रहण कर लेनी चाहिए, अन्यथा उसका पद रिक्त समझा जाएगा।

डॉ. अम्बेडकर ने प्रधानमंत्री की नियुक्ति को राष्ट्रपति के 'विशेषाधिकार' की संज्ञा दी थी और इस संदर्भ में ब्रिटिश राजा का हवाला दिया था। ब्रिटेन की स्थिति यह है कि प्रधानमंत्री की नियुक्ति में राजा का विशेषाधिकार अत्यन्त सीमित हो गया है। इस विशेषाधिकार के प्रयोग का अन्तिम उदाहरण 1849 ई. में रोजबरी की नियुक्ति है। अब यह मान लिया गया है कि प्रधानमंत्री की नियुक्ति में राजा की व्यवहारतः कोई दिलचस्पी, असाधारण परिस्थितियों को छोड़कर नहीं होती। भारत में सम्भव है कि दलीय स्थिति अनिश्चित होने पर, लोकसभा में किसी दल को स्पष्ट बहुमत न मिलने पर अथवा अपनी रुचि का संकेत देने में या चुनाव करने में बहुमत दल के असमर्थ होने पर राष्ट्रपति अपने विशेषाधिकार का प्रयोग करें। 1989, 1991, 1996 तथा 1998 में लोकसभा में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हुआ और

राष्ट्रपति ने लोकसभा में सबसे बड़े दल के नेता को सर्वप्रथम सरकार बनाने का अवसर दिया।

8.12 प्रधानमंत्री के अधिकार और उत्तरदायित् (प्रधानमंत्री की शक्तियां एवं कार्य)

पं. नेहरू ने प्रधानमंत्री के दायित्वों के सम्बन्ध में 30 जुलाई, 1956 को कहा था, "मैं जानता हूँ कि प्रधानमंत्री के क्या कर्तव्य हैं और संविधान के अन्तर्गत प्रधानमंत्री उस कील के सदृश्य हैं जो सरकार रूपी चक्र की धुरी पर लगी है और चक्र को गिरने से रोके रहती है।" प्रधानमंत्री के कार्य इतने अधिक और इतने प्रकार के हैं कि उन्हें एक स्थान

पर सूचीबद्ध करना बड़ा कठिन है। वह सरकार की नीतियों का प्रमुख वक्ता एवं राष्ट्र का नेता है। संक्षेप में, उनकी शक्तियों एवं कार्यों की चर्चा इस प्रकार की जा सकती है।

1. प्रधानमंत्री और मंत्रिमण्डल डॉ. अम्बेडकर ने कहा था कि "प्रधानमंत्री वास्तव में मंत्रिमण्डल भवन के वृतखण्ड की मुख्य आधारशिला है और जब तक हम उक्त पद को अधिकार पूर्ण स्थिति प्रदान न करें कि वह स्वविवेक से मंत्रियों की नियुक्ति तथा पदच्युति कर सके, तब तक मंत्रिमंडल का सामूहिक उत्तरदयित्व प्राप्त नहीं हो सकता।" मंत्रियों की नियुक्ति तथा पदच्युति में राष्ट्रपति का कोई हाथ नहीं होता क्योंकि संविधान में स्पष्टतः उल्लिखित है कि राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की सम्मति से ही अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करेगा। प्रधानमंत्री को अपने सहयोगियों का चयन करने की पूर्ण स्वतंत्रता है क्योंकि मंत्रिपरिषद के साथ उसी को कार्य करना है। प्रधानमंत्री किसी मंत्री के कार्यों या आचरण से असंतुष्ट होने के कारण उससे त्यागपत्र मांग सकता है। जैसा श्रीमती गाँधी ने उपप्रधानमंत्री एवं तत्कालीन वित्तमंत्री मोरारजी देसाई को 1969 में मंत्रिपरिषद से इस कारण हटा दिया कि वे उनकी वित्त सम्बन्धी नीतियों से संतुष्ट नहीं थीं। यदि कोई मंत्री प्रधानमंत्री से मतभेद होने पर त्यागपत्र नहीं देता है तो प्रधानमंत्री उस मंत्री को पदच्युत करने के लिए राष्ट्रपति को परामर्श दे सकता है। पं. नेहरू के कार्यकाल में, डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी, श्री सी.डी. देशमुख और टी.टी. कृष्णामाचारी ने, श्रीमती गांधी के कार्यकाल में श्री छगाला, श्री पुनाचा, राजीव गाँधी के कार्यकाल में वी.पी. सिंह, अरुण नेहरू आदि मंत्रियों ने प्रधानमंत्री से मतभेद होने के कारण त्यागपत्र दे दिये थे।

प्रधानमंत्री को किसी भी मंत्री की पदोन्नति या पदावनति करने का भी अधिकार है। मंत्रियों के बीच विभागों का वितरण भी प्रधानमंत्री ही करता है। प्रधानमंत्री ही मंत्रिपरिषद की अध्यक्षता करता है। उसके द्वारा ही मंत्रिपरिषद की कार्यसूची निधारित की जाती है। मंत्रिपरिषद की सारी गतिविधियों एवं कार्यवाहियों का संचालन प्रधानमंत्री ही करता है। यद्यपि मंत्रिमंडल के निर्णय मतदान के आधार पर ही लिए जाते हैं, परंतु प्रधानमंत्री का प्रभाव एवं सलाह बहुमत निर्णय पर पहुंचने के लिए निर्णायक होते हैं। प्रधानमंत्री ही मंत्रिपरिषद की एकता एवं सुदृढ़ता कायम रखता है। उसे मंत्रियों में यह भावना पैदा करनी होती है कि 'हम सब एक साथ तैरते हैं या सब साथ-साथ डूबते हैं।' मंत्रियों में यदि कोई मतभेद उत्पन्न हो जाता है तो प्रधानमंत्री मध्यस्थता द्वारा उनमें एकता स्थापित करता है। वह किसी भी मंत्री से उसके विभाग की सूचना मांग सकता है। संक्षेप में, प्रधानमंत्री समस्त मंत्रिपरिषद एवं प्रशासन का निरीक्षण, निर्देशन एवं नियंत्रण करता है। वह उस कड़ी के सदृश्य है जिसके द्वारा समस्त सूत्र को एक सूत्र में बांधा जा सकता है। मंत्रिपरिषद तथा प्रशासन का मुखिया होने के नाते प्रधानमंत्री विभिन्न मंत्रालयों में

समन्वय स्थापित करते हुए शासन की विभिन्न क्रियाओं को एक-दूसरे से सम्बद्ध करता है। यह कहना सही प्रतीत होता है कि प्रधानमंत्री मंत्रिपरिषद के निर्माण, जीवन तथा मृत्यु का केन्द्र बिन्दु है।

भारतीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में मंत्रिमण्डल में मंत्रियों का वर्गीकरण तीन प्रकार से किया जा सकता है- (i) वे मंत्री जो मंत्रिमण्डल में लिए जाने से पूर्व भी अपने दल में स्वतंत्र स्थिति रखते थे; (ii) वे मंत्री जो मंत्रिमण्डल में लिए जाने से पूर्व भी प्रभावशाली थे और मंत्रिमण्डल में आकर अधिक महत्वपूर्ण बन गए; (iii) वे लोग जो केवल इसलिए महत्वपूर्ण बन गए क्योंकि उन्हें मंत्रिमण्डल में शामिल कर लिया गया। प्रथम वर्ग के मंत्रियों से परामर्श लेना तथा उन्हें विश्वास में रखना प्रधानमंत्री के लिए आवश्यक हो जाता है। द्वितीय वर्ग के मंत्रियों का परामर्श लेकर भी प्रधानमंत्री सुविधानुसार उनकी उपेक्षा कर सकता है। वी. के कृष्णमेनन ने प्रधानमंत्री के बारे में लिखा है "मंत्रिमण्डल में प्रधानमंत्री सर्वशक्तिमान नहीं है। सामान्य धारणा के अनुसार वह समकक्षों में प्रथम है। इसके बावजूद वह प्रमुख तो है ही चूंकि वह समकक्षों में ऐसा है। इसलिए प्रश्न उठता है कि कितने समकक्षी उसके साथ हैं तथा कितने साथ नहीं हैं। इसके अतिरिक्त समकक्षियों के साथ होने के कारण वह उनसे उसी ढंग से बात भी कर सकता है।"

2. प्रधानमंत्री और संसद - भारत में प्रधानमंत्री लोकसभा का भी नेतृत्व करता है। लोकसभा में बहुमतदल का नेता होने के कारण प्रधानमंत्री कई महत्वपूर्ण कार्य करता है। प्रथम, शासन की नीतियों एवं मुख्य कार्यों की घोषणा लोकसभा में प्रायः प्रधानमंत्री ही करता है। द्वितीय, लोकसभा के सदस्यों द्वारा गम्भीर मामलों पर पूछे गए प्रश्नों का उत्तर प्रायः प्रधानमंत्री ही देता है। तृतीय, जब मंत्रियों द्वारा संसद को संतोषजनक उत्तर नहीं दिए जाते हैं, तब संसद प्रधानमंत्री को अंतिम सुवक्ता और नीति के स्त्रोत के रूप में देखती है। चतुर्थ, शासकीय विधेयकों को प्रधानमंत्री की सलाह के अनुसार तैयार किया जाता है। पंचम, देश की वित्त-व्यवस्था और वार्षिक बजट को निर्धारित करने में भी प्रधानमंत्री का हाथ होता है। षष्ठ, अपने दल की नीतियों का क्रियान्वयन कराने और दल में अनुशासन एवं एकता कायम रखने हेतु प्रधानमंत्री दलीय सचेतक के माध्यम से आदेश प्रसारित करता है। अंत में, प्रधानमंत्री की सलाह पर राष्ट्रपति साधारणतया लोकसभा को भंग करता है।

भारत में प्रधानमंत्री ने चतुर्थ एवं नौंवी लोकसभा को जिन परिस्थितियों में भंग करवाया, उससे उनकी शक्ति का आसानी से अनुमान लगाया जा सकता है। इस शक्ति के यथार्थ प्रयोग से संसद सदस्य आतंकित किए जा सकते हैं। यदि उन्होंने प्रधानमंत्री के

मार्ग में रोड़े अटकाने की कोशिश की तो उन्हें भयभीत करके अंकुश में रखा जा सकता है।

संसद में बहुमत दल का नेता होने के कारण प्रधानमंत्री आवश्यक विधि-निर्माण करवा सकता है। संविधान संशोधन करवाना भी प्रधानमंत्री की ही इच्छा का परिणाम होता है। परन्तु विधि-निर्माण और संविधान संशोधन का निर्णय लेते समय प्रधानमंत्री को लोकमत और संसदीय विपक्ष की मनोभावनाओं को ध्यान में रखना होता है। वस्तुतः प्रधानमंत्री संसद के प्रति उत्तरदायी होता है और संसद 'अविश्वास प्रस्ताव' के द्वारा उन्हें अपदस्थ कर सकती हैं।

3. प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति -भारतीय संविधान की कार्य-प्रणाली से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि राष्ट्रपति औपचारिक प्रधान हैं और वास्तविक कार्य प्रमुख प्रधानमंत्री ही हैं। डॉ. अम्बेडकर ने संविधान-निर्मात्री-सभा में कहा था कि हमारे राष्ट्रपति की वही स्थिति है जो ब्रिटिश संविधान के अंतर्गत सम्राट की थी। वह राज्य का प्रधान हैं, किन्तु कार्यपालिका का नहीं। वह राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है किन्तु राष्ट्र पर शासन नहीं करता है। वह राष्ट्र का प्रतीक है। श्री जवाहरलाल नेहरू ने भी संविधान-सभा में कहा था कि 'हम सरकार की इस मंत्रिमण्डल व्यवस्था पर बल देना चाहते हैं कि वास्तविक शक्ति मंत्रिमण्डल और व्यवस्थापिका में निहित है न कि राष्ट्रपति में।'

राष्ट्रपति संसद का सदस्य नहीं होता इसलिए वह बैठकों में भाग नहीं लेता। प्रधानमंत्री राष्ट्रपति और मंत्रिमंडल के बीच एक कड़ी के सदृश कार्य करता है। हमारे संविधान में प्रधानमंत्री की इसी प्रकार की भूमिका को अनुच्छेद 78 के अन्तर्गत मान्यता दी गई है। इस अनुच्छेद के अंतर्गत मंत्रिमण्डल द्वारा किए गए निर्णय प्रधानमंत्री द्वारा राष्ट्रपति को प्रेषित किए जाएंगे। इस प्रकार प्रधानमंत्री संसद की पूरी जानकारी राष्ट्रपति को देते हैं जिससे प्रधानमंत्री वह कड़ी बन जाता है जो राष्ट्रपति और संसद को जोड़ती है।

भारतीय राजनीति की कार्यप्रणाली के परिप्रेक्ष्य में यह एक तथ्य है जिसे नकारा नहीं जा सकता कि अब तक जो भी राष्ट्रपति हुए हैं वे न्यूनाधिक रूप से औपचारिक या संवैधानिक राज्य प्रधान ही रहे हैं और उन्होंने अपनी इस स्थिति को चाहे अनचाहे स्वीकार किया है। भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद तथा डॉ. राधाकृष्णन, श्री नेहरू के समकालीन थे। किन्तु वे सलाहकार और रस्मी प्रधान ही बने रहे। तृतीय, चतुर्थ और पंचम राष्ट्रपति प्रधानमंत्री श्रीमती गाँधी की पसन्द के व्यक्ति थे। राष्ट्रपति गिरि के निर्वाचन में प्रधानमंत्री को अनेक संघर्ष झेलने पड़े एवं अपने दल के महन्तों से शत्रुता मोल लेनी पड़ी। राष्ट्रपति श्री अहमद के कार्यकाल में तो प्रधानमंत्री ही सर्वोपरि रहीं। पूर्व प्रधानमंत्री श्रीमती गाँधी ने बिना केबिनेट की पूर्व स्वीकृति वराष्ट्रपति से 25 जून, 1975

को संकटकाल की घोषणा करवा दी। जबकि इस घोषणा की सूचना केबिनेट को 26 जून, को दी गई। नीलम संजीव रेड्डी सर्वसम्मति से विरोधी दलों के सहयोग से राष्ट्रपति पद पर चुने गए। वे प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई से अधिक शक्तिशाली थे, क्योंकि मोरारजी कमजोर थे और उनकी दलीय स्थिति सुदृढ़ नहीं थी। बाद में चरणसिंह की काम चलाऊ सरकार की कालावधि में तो राष्ट्रपति राष्ट्र के भाग्यविधाता ही बन गये। उन्होंने देश की आम जनता के मस्तिष्क पर यह छाप डाल दी थी कि वे भारत के शक्तिहीन राष्ट्रपति नहीं हैं। राष्ट्रपति जैलसिह और प्रधानमंत्री राजीव गाँधी के बीच उभरते मतभेदों ने एक बार तो राष्ट्र को चिंतित कर दिया था। राष्ट्रपति ने विवादास्पद डाक विधेयक सरकार को पुनर्विचार के लिए लौटा दिया।

उत्तरप्रदेश में राष्ट्रपति शासन लागू करने की मंत्रिमण्डल की सिफारिश को पुनर्विचार के लिए लौटाकर (अक्टूबर 1997) राष्ट्रपति के आर नारायणन ने वह प्रतिष्ठा अर्जित कर ली जो उनके कई पूर्ववर्ती अपने समूचे कार्यकाल में हासिल न कर सके। हर तरह के दबाबों के आगे झुककर प्रधानमंत्री इन्द्रकुमार गुजराल राजनीतिक शटलकॉक मात्र बनकर रह गए। रोमेश भण्डारी की वर्खास्तगी के मुद्दे पर प्रधानमंत्री अपनी विश्वसनीयता ही गंवा बैठे।

भारतीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में यह कहना सत्य है कि प्रत्येक प्रधानमंत्री राष्ट्रपति भवन में एक मैत्रीपूर्ण व्यक्ति होना पसन्द करता है। श्री हरीश खरे के अनुसार प्रधानमंत्री तथा राष्ट्रपति के व्यक्तित्व का पारस्परिक सामंजस्य, राष्ट्रपति के चुनाव में प्रधानमंत्री द्वारा अदा की गई भूमिका, प्रधानमंत्री की राजनीतिक प्रतिष्ठा तथा देश की सामान्य राजनीतिक स्थिरता दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों के स्वरूप का निर्धारण करेगी। कुल मिलाकर जिस प्रकार भारत में संविधान का कार्यान्वयन हुआ है उससे निःसंदेह प्रधानमंत्री की स्थिति दृढ़ हुई और राष्ट्रपति 'स्वर्णिम शून्य' ही रहे हैं।

4. **प्रधानमंत्री और दल**- भारत में प्रधानमंत्री अपने दल का यथार्थ में ही नेता होता है। प्रधानमंत्री से मतभेद होने पर दल के अध्यक्ष को सदैव मुंह की खानी पड़ी है। श्री नेहरू के प्रधानमंत्रित्व काल में आचार्य कृपलानी और पुरुषोत्तम दास टण्डन जैसे शक्तिशाली दल के अध्यक्षों को भी झुकना पड़ा। श्री नेहरू ने तो कुछ समय तक दल की बागडोर भी अपने हाथों में रखी थी। बाद में श्रीमती गाँधी और राजीव गाँधी पार्टी के भी प्रधान बने रहे। सन् 1969 में जब दल के हाईकमान ने श्रीमती गाँधी की इच्छाओं का अनादर कर, संजीव रेड्डी को राष्ट्रपति पद का प्रत्याशी घोषित किया तो प्रधानमंत्री ने राजनीतिक चतुराई से उसका विरोध किया; राष्ट्रपति के चुनाव में खुले मतदान की मांग की। श्री गिरि को विजयी बनाया, श्री निजलिंगप्पा को अध्यक्ष पद से हटाया गया और नई कांग्रेस की

नींव डाली। आज दल का वास्तविक नेता प्रधानमंत्री ही है। सन् 1971 में लोकसभा तथा सन् 1972 के राज्यविधानमण्डलों के निर्वाचनों में दलीय प्रत्याशियों के चयन में प्रधानमंत्री की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। 1996 के बाद श्री अटल बिहारी वाजपेयी को तुरूप के पत्ते के रूप में पेश करके भारतीय जनता पार्टी हाशिए से मुख्य धारा की राजनीति में पहुँच गयी। भाजपा के चुनाव एजेण्डे पर ही नहीं अपितु 'राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन के एजेण्डे पर भी वाजपेयी ही छाये रहे।' लोकसभा और विधानसभाओं के जिन निर्वाचन क्षेत्रों में प्रधानमंत्री पहुंच जाता है वहां दलीय प्रत्याशियों को उद्भुत सफलता प्राप्त होती है। आज आम चुनाव प्रधानमंत्री पद का चुनाव हो गया है। सितम्बर-अक्टूबर 1999 में सम्पत्र 13 वीं लोकसभा के चुनाव प्रधानमंत्री पद के दो दावेदारों सर्वश्री अटल बिहारी वाजयपेयी और श्रीमती सोनिया गांधी के व्यक्तित्व के इर्द-गिर्द घूमते रहे। श्री वाजपेयी ने 1999 के लोकसभा चुनाव को अपने नेतृत्व के लिए वस्तुतः जनमत संग्रह बना दिया।

वस्तुतः दल में प्रधानमंत्री की भूमिका तीन तथ्यों पर निर्भर करती है- प्रथम, प्रधानमंत्री और दलीय अध्यक्ष में से किसने किसके चुनाव में क्या भूमिका अदा की है? द्वितीय, क्या प्रधानमंत्री संसदीय दल की शक्ति का मूल स्त्रोत है? तृतीय, क्या प्रधानमंत्री को जनता का समर्थन और विश्वास प्राप्त है? श्रीमती इन्दिरा गांधी की तुलना में मोरारजी देसाई, चरणसिह, विश्वनाथ प्रताप सिंह और चन्द्रशेखर आदि का अपने-अपने दलों पर कोई कठोर नियंत्रण नहीं था। वे दल के सर्वमान्य नेता होने के बजाय गुटों के नेता मात्र थे। 1996-97 में एच.डी. देवगौड़ा और इन्द्रकुमार गुजराल बिना किसी दलीय आधार के प्रधानमंत्री पद पर आसीन हुए। वस्तुतः वे संयुक्त मोर्चे के घटक दलों के आपसी समझौतावादी मजबूरी की उपज थे। मई 2004 में संसदीय इतिहास में ऐसा पहली बार हुआ कि प्रधानमंत्री (डॉ. मनमोहन सिंह) अपने सांसदों के निर्वाचित नेता नहीं बल्कि मनोनीत नेता के रूप में पदासीन हुए।

5. **प्रधानमंत्री और नीति-निर्माण** - भारत की परराष्ट्र एवं राष्ट्र-नीति के निर्माता के रूप में प्रधानमंत्री की स्थिति अत्यन्त प्रभावशाली है। जहाँ ब्रिटिश प्रधानमंत्री मंत्रिमंण्डल के प्रमुख प्रवक्ता है, वहाँ भारत के प्रधानमंत्री मंत्रिमण्डल के प्रमुख प्रवक्ता होने के साथ-साथ नीति-निर्माता भी हैं। पूर्व प्रधानमंत्री स्वर्गीय नेहरू तो स्वयं महत्वपूर्ण नीति की घोषणा कर देते थे और उनके सहयोगियों को भी समाचार-पत्रों के द्वारा घोषित निर्णयों की सूचना मिलती। श्रीमती इन्दिरा गाँधी के कार्यकाल में प्रधानमंत्री का सचिवालय देश की नीति निर्धारण का प्रधान स्त्रोत बन गया। यदि अन्य मंत्रियों ने प्रधानमंत्री की जानकारी के बिना कोई महत्वपूर्ण निर्णय ले लिया है तो उसमें परिवर्तन की बहुत अधिक

सम्भावना रहती थी। बैंक राष्ट्रीयकरण, संविधान संशोधन, 20 सूत्री आर्थिक कार्यक्रम आदि जितने भी क्रान्तिकारी निर्णय लिए गए, वे सब प्रधानमंत्री के ही निर्णय थे। वस्तुतः प्रधानमंत्री सभी महत्वपूर्ण नीतियों का निर्धारण करता है। इन सभी नीतियों में वह सरकार का प्रमुख प्रवक्ता होता है। महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में वह भाग लेता है तथा देश की नीतियों को स्पष्ट करता है। राष्ट्र के नाम सन्देश में वह जनता के समक्ष अपनी सरकर की नीतियों को प्रस्तुत करता है। प्रो. एच.एम. जैन के अनुसार, "निर्णय प्रक्रिया में प्रधानमंत्री के अतिरिक्त राजनीतिक मामलों की समिति महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। वर्तमान प्रधानमंत्री ने तो राजनीतिक मामलों की समिति के अतिरिक्त राष्ट्रीय विकास परिषद को भी नीति-निर्माण की प्रक्रिया में सहयोगी बना दिया है जहाँ मुख्यमंत्रियों को भी अपनी बात कहने का मौका मिल जाता है।"

6. प्रधानमंत्री और आपात काल- राष्ट्रीय आपातकाल में प्रधानमंत्री की शक्तियों में वृद्धि हो जाती है। संविधान के अनुच्छेद 352 से 360 में राष्ट्रपति की आपात कालीन शक्तियों का वर्णन किया गया है। यथार्थ में इन शक्तियों का प्रयोग प्रधानमंत्री ही करता है। सन् 1962 में बर्बरतापूर्वक चीनी आक्रमण के समय प्रधानमंत्री श्री नेहरू ने संकटकालीन शक्तियों का प्रयोग किया था किन्तु सैनिक पराजय के कारण उनकी आलोचना हुई। 1965 में पाकिस्तानी आक्रमण के समय भी इन शक्तियों का प्रयोग श्री शास्त्री ने किया था और उनका व्यक्तित्व देश के क्षितिज पर इतने प्रभाव के साथ उभरा कि उन्हें अपने अस्तित्व के लिए दल के दूसरे नेताओं पर निर्भर रहने की अपेक्षा नहीं रही। सन् 1971 के दिसम्बर में इन शक्तियों का प्रयोग पाकिस्तानी आक्रमण का सामना करने के लिए श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने किया। बंगलादेश को मुक्त करवा के स्वतंत्र विदेश-नीति का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने संकटकाल की इस घड़ी में राष्ट्र को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में महत्वपूर्ण स्थान दिलावाया। संसद ने संकटकाल के दौरान उनका पूर्ण समर्थन किया जिसके फलस्वरूप उनको 'लोकनायक' का दर्जा दिया गया।

7. प्रधानमंत्री और राज्य भारत में संविधान द्वारा अमेरिका की भांति संघात्मक शासन व्यवस्था की स्थापना की गई है परंतु भारतीय प्रधानमंत्री का पद राज्यों की राजनीति का भी चालक बन गया है। इस दृष्टि से अमेरिकी राष्ट्रपति की स्थिति अत्यन्त गौण है। वस्तुतः वह राज्यों की राजनीति को नियंत्रत नहीं कर सकता। उल्टा उसे अपनी प्रशासनिक सफलता के लिए राज्यों का प्रतिनिधित्व करने वाली सीनेट पर निर्भर रहना पड़ता है। राज्यों के राज्यपालों की नियुक्ति का यथार्थ निर्णय भारत में प्रधानमंत्री का ही होता है। राष्ट्रपति तो उसकी औपचारिक घोषणा ही करते हैं। आज अधिकांश राज्यों की वित्तीय

स्थिति दुर्बल है जिसके फलस्वरूप प्रधानमंत्री केन्द्रीय सहायता के द्वारा भी राज्यों को नियन्त्रित करता है। वस्तुतः प्रधानमंत्री राज्यों का भी नेता होता है।

8. प्रधानमंत्री और योजना आयोग राष्ट्रीय अर्थ-नीति का निर्धारण योजना आयोग द्वारा किया जाता है और प्रधानमंत्री योजना आयोग के अध्यक्ष हैं। योजना आयोग की अंतरंग संस्था राष्ट्रीय विकास परिषद ही पंचवर्षीय योजनाओं का निर्धारण करती है। राज्यों को दी जाने वाली अनुदान सहायता का निर्णय भी इसी संस्था द्वारा किया जाता है। यह संस्था प्रधानमंत्री के नेतृत्व में ही कार्य करती है।

9. प्रधानमंत्री की अनुग्रह शक्तियाँ भारत के समस्त उच्च अधिकारियों की नियुक्ति प्रधानमंत्री की सलाह से ही राष्ट्रपति करते हैं। संविधान के द्वारा विशिष्ट क्षेत्रों में राष्ट्रीय सेवा के उपलक्ष्य में 'भारत रत्न' 'पद्मविभूषण,' 'पद्मभूषण,' और 'पद्मश्री' इत्यादि सम्मानजनक उपाधियों के वितरण की व्यवस्था की गई है। व्यवहार में ये उपाधियाँ प्रधानमंत्री द्वारा ही स्वीकृत की जाती हैं।

8.13 प्रधानमंत्री की स्थिति

भारतीय राज-व्यवस्था में प्रधानमंत्री का पद सरकार का सबसे महत्वपूर्ण पद है। कोई प्रभावशाली व्यक्ति इस पद पर नियुक्त हो जाता है तो इस पद का महत्व लगातार बढ़ता जाता है। जैनिंग्ज ने लिखा है "प्रधानमंत्री के पद की स्थिति अवश्य ही वह होगी जो उस पद को ग्रहण करने वाला व्यक्ति बनाना चाहेगा और अन्य मंत्री उसे बनने देंगे।"

भारतीय प्रधानमंत्री को समकक्षों में प्रथम कहना सर्वथा भ्रममूलक हैं। उसकी शक्ति इतनी व्यापक है जितनी विश्व के किसी शासक, यहाँ तक कि अमेरिकी राष्ट्रपति को भी प्राप्त नहीं है। तथ्य तो यह है कि सभी दृष्टियों से शक्ति अब संसद के हाथों में नहीं रही है और न ही मंत्रिमण्डल के हाथों में रहीहै। अपितु प्रधानमंत्री के हाथ में केन्द्रित हो गई है। प्रधानमंत्री का कार्यालय शासन-तन्त्र का स्थाई अंग बन गया है।

संसदीय दल के नेता के रूप में प्रधानमंत्री की स्थिति अत्यन्त महत्वपूर्ण है। दल की शक्ति संरचना में प्रधानमंत्री ही सर्वोपरि है तथा उसे दलीय संगठन के निर्देशों के प्रति उत्तरदायी नहीं बनाया जा सकता ।

भारत में भी जन निर्वाचन वस्तुतः प्रधानमंत्री का ही निर्वाचन हो गया है। 1971, 1980, 1984, 1996, 1998 तथा 1999 का निर्वाचन सही मायने में व्यक्तित्व को ही चुनाव थे। जिस प्रकार अमेरिका में राष्ट्रपति का व्यक्तित्व अधिक महत्वपूर्ण होता है न कि उसका दल और दलीय विचारधारा। भारत में भी प्रधानमंत्री का व्यक्तित्व ही समूचे

चुनाव पर छाया रहता है। वस्तुतः भारत में प्रधानमंत्री की विशालतम शक्तियों को देखते हुए उसे प्रेसीडेण्ट प्राईम मिनिस्टर (A President Prime Minister) कहा जा सकता है। जिस प्रकार अमेरिका में राष्ट्रपति के सचिवों की स्थिति उनके परामर्शदाताओं के समान है, उसी प्रकार भारत में भी मंत्रियों की स्थिति प्रधानमंत्री के सलाहकारों जैसी है। अमेरिका में राष्ट्रपति का निर्णय प्रभावशाली होता है। उसी प्रकार भारत में भी प्रधानमंत्री का निर्णय ही सर्वोपरि होता है।

भारत के प्रधानमंत्री की स्थिति को प्रकट करने के लिए ब्रिटिश प्रधानमंत्री की स्थिति के बारे में प्रयुक्त उक्तियों का प्रयोग किया जाता है। मॉर्ले ने प्रधानमंत्री के लिए 'समकक्षों में प्रथम' (Primus inter Pares) उक्ति का प्रयोग किया है। विलियम हारकोर्ट ने प्रधानमंत्री को 'नक्षत्रों के बीच चंद्रमा' की उपमा दी है। जैनिंग्ज ने प्रधानमंत्री को सूर्य के सदृश माना है, जिसके चारों ओर समस्त ग्रह घूमते हैं। लेकिन ये सब उक्तियाँ भारतीय प्रधानमंत्री की स्थिति का यथार्थ मूल्यांकन करने में असमर्थ हैं। व्यवहार में श्री जवाहरलाल नेहरू की स्थिति किसी भी ब्रिटिश प्रधानमंत्री से अधिक शक्तिशाली और प्रतिष्ठा की रही है। श्री नेहरू समकक्षों में प्रथम ही नहीं थे अपितु समकक्षों के स्वामी थे। शनमुखम चेट्टी, जॉन मथाई, श्यामा प्रसाद मुकर्जी, देशमुख इत्यादि की स्थिति नेहरू से मतभेद के कारण क्या हुई? इसका सबको परिज्ञान है। श्रीमती गाँधी से मतभेद होने के कारण मोरारजी देसाई, रामसुभगसिंह, एम.सी. छागला इत्यादि की भी दुर्गति हुई।

भारत में प्रधानमंत्री के शक्तिशाली होने के अनेक कारण हैं-

प्रथम प्रधानमंत्री पद को श्री जवाहरलाल नेहरू ने अपने व्यक्तित्व के कारण आकर्षण का केन्द्र बना दिया। शकधर के अनुसार, "नेहरू के अपने व्यक्तित्व तथा जन समर्थन के कारण राष्ट्रपति की शक्तियों को ग्रहण लग गया।" नेहरू के व्यक्तित्व के संदर्भ मे डॉ. सुभाष कश्यप लिखते हैं- "मुझे लगता है कि यदि पं. नेहरू भारत के प्रथम प्रधानमंत्री होने के बजाय प्रथम राष्ट्रपति हुए होते और उतने लम्बे समय तक राष्ट्रपति पद पर रहे होते तो आज हमें भारत का संविधान राष्ट्रपति पद्धति के अधिक अनुरूप दिखाई देता और प्रधानमंत्री और मंत्रिपरिषद सचमुच में केवल 'सलाह और सहायता' 'देने के लिए ही रह जाते ।"

द्वितीय- भारत में अधिकांश महत्वपूर्ण निर्णयों का स्रोत प्रधानमंत्री कार्यालय है और नीति-निर्माण में मंत्रिमण्डल के बजाय प्रधानमंत्री अपने विशेष सलाहकारों पर अधिक भरोसा करते हैं।

तृतीय - संविधान में उपप्रधानमंत्री के पद का अभाव है। अनिवार्यतः उपप्रधानमंत्री दल का वरिष्ठ नेता हो सकता है, अतः वह प्रधानमंत्री का प्रतियोगी बन जाता है। उपप्रधानमंत्री प्रधानमंत्री की सत्ता व शक्ति के लिए खतरा सिद्ध हो सकता है। फिर भी यह स्मरणीय है कि भारतीय शासन प्रणाली में प्रधानमंत्री की स्थिति उसके व्यक्तित्व पर ही निर्भर करती है। जैसा कि शकधर ने कहा है. "ऐसा कोई कारण नहीं है कि यह पद सदैव शाक्तिशाली ही बना रहे। दुर्बल प्रधानमंत्री जिसके पीछे अल्प बहुमत है तो कभी स्थिति बदल सकती है। यदि राष्ट्रपति अधिक शक्तियां धारण कर लें तो अवैधानिक भी नहीं होगा।" पंचम लोकसभा के निर्वाचन से पूर्व तथा 1967 के चुनावोपरान्त प्रधानमंत्री की स्थिति दुर्बल ही रही थी क्योंकि इस कालावधि में अपने व्यक्तित्व को निखारने का अवसर प्रधानमंत्री को प्राप्त नहीं हुआ था। चरणसिह, वी.पी. सिंह, चन्द्रशेखर,पी.वी. नरसिम्हाराव एच.डी. देवगौड़ा, इन्द्रकुमार गुजराल आदि प्रधानमंत्री के रूप में कमजोर कार्यकारी थे क्योंकि ये सब अल्पमतीय सरकार के नेता थे।

भारत में प्रधानमंत्री द्वारा तानाशाहपूर्ण ढंग से कार्य करने की सम्भावनाएँ पूर्णतः गलत हैं। प्रधानमंत्री नेहरू को भी वे शक्तियाँ प्राप्त थीं जिनका ऊपर समर्थन किया गया है, फिर भी उन्होंने अधिनायक के रूप में कार्य नहीं किया। स्व प्रधानमंत्री श्रीमती गाँधी ने आपात काल की घोषणा के प्रवर्तन काल में संसद के अधिवेशनों को बराबर आमंत्रित किया और लोकसभा के परिप्रेक्ष्य में निर्णय लिये। किन्तु लोकमत की उपेक्षा करने पर जनता ने उन्हें क्षमा नहीं किया और उनके दल को भी अस्वीकार कर दिया। निष्कर्षतः भारत में किसी भी प्रधानमंत्री की सत्ता का आधार बस यही है कि वह कितनी सेवा और विकास कर सकता है। विगत 65 वर्षों के इतिहास ने यह सिद्ध कर दिया है कि भारत का प्रधानमंत्री अपनी विशाल शक्तियों के उपरान्त भी लोकमत के विरुद्ध स्वेच्छाचारी शासक नहीं बन सकता ।

8.14 सार संक्षेप

मंत्रिमंडल और **प्रधानमंत्री** भारतीय संघ की कार्यकारी शाखा का एक महत्वपूर्ण हिस्सा हैं। भारतीय संविधान में प्रधानमंत्री को सरकार का प्रमुख माना गया है, जबकि मंत्रिमंडल उसके सहयोगी होते हैं और प्रधानमंत्री के नेतृत्व में काम करते हैं। राष्ट्रपति के बाद, प्रधानमंत्री भारतीय सरकार के सबसे शक्तिशाली व्यक्ति होते हैं, क्योंकि उनके पास सरकार के संचालन के लिए महत्वपूर्ण शक्तियाँ होती हैं।

8.15 शब्दावली

1. **प्रधानमंत्री (Prime Minister):**वह व्यक्ति जिसे राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाता है और जो केंद्रीय सरकार का प्रमुख होता है। प्रधानमंत्री की भूमिका सरकार की नीतियाँ तय करने और उन्हें लागू करने में होती है।
2. **मंत्रिमंडल (Council of Ministers):**प्रधानमंत्री के नेतृत्व में एक समूह, जो केंद्रीय सरकार के कार्यों को संचालित करता है। इसमें विभिन्न स्तरों के मंत्री होते हैं, जैसे कैबिनेट मंत्री, राज्य मंत्री, और स्वतंत्र प्रभार मंत्री।
3. **कैबिनेट मंत्री (Cabinet Minister):**केंद्रीय मंत्रिमंडल का सदस्य, जो महत्वपूर्ण मंत्रालयों की देखरेख करता है और सरकार के मुख्य निर्णयों में सक्रिय भूमिका निभाता है।
4. **राज्य मंत्री (Minister of State):**मंत्रिमंडल में एक निम्न पद, जो मंत्रालयों या विभागों का संचालन करता है, लेकिन इनकी शक्ति और जिम्मेदारी कैबिनेट मंत्री के मुकाबले कम होती है।
5. **स्वतंत्र प्रभार मंत्री (Minister of Independent Charge):**ऐसा मंत्री जो बिना किसी वरिष्ठ मंत्री के नियंत्रण में अपने मंत्रालय का संचालन करता है, लेकिन फिर भी प्रधानमंत्री के प्रति जवाबदेह होता है।
6. **कार्यपालिका (Executive):**वह शाखा जो सरकार के नीतियों को लागू करती है। भारतीय संविधान के तहत प्रधानमंत्री और मंत्रिमंडल कार्यपालिका का हिस्सा होते हैं।
7. **संसदीय प्रणाली (Parliamentary System):**एक शासन व्यवस्था जिसमें सरकार का प्रमुख (प्रधानमंत्री) संसद के सदस्य के रूप में चुना जाता है, और उसे संसद का विश्वास प्राप्त होता है।
8. **विभाग (Department):**सरकारी कार्यों का एक विशेष क्षेत्र, जो किसी एक मंत्रालय द्वारा संचालित होता है। मंत्रिमंडल में विभिन्न विभाग होते हैं जैसे गृह मंत्रालय, वित्त मंत्रालय आदि।
9. **केंद्रीय मंत्रिमंडल (Central Cabinet):**केंद्रीय सरकार का उच्चतम निर्णय लेने वाला निकाय, जिसमें प्रधानमंत्री और उच्च श्रेणी के मंत्री शामिल होते हैं।
10. **मंत्रिमंडल की बैठक (Cabinet Meeting):**वह बैठक जिसमें प्रधानमंत्री और कैबिनेट मंत्री सरकार की नीतियों और महत्वपूर्ण निर्णयों पर चर्चा करते हैं।

8.16 स्व-प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

1. भारत में मंत्रियों की नियुक्ति :

(अ) राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की मंत्रणा पर करेगा (ब) प्रधानमंत्री राष्ट्रपति की मंत्रणा पर करेगा (द) प्रधानमंत्री करेगा। (स) लोकसभा की स्वीकृति से प्रधानमंत्री करेगा

2. मंत्रिगण राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त अपना पद धारण करेंगे, इसका अर्थ है:

(अ) राष्ट्रपति मंत्रियों को पदच्युत कर सकता है

(ब) राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की सलाह से मंत्रियों को पदच्युत कर सकता है

(स) प्रधानमंत्री मंत्रियों को पदच्युत कर सकता है

(द) प्रधानमंत्री राष्ट्रपति की सलाह से मंत्रियों को पदच्युत कर सकता है।

3. भारतीय परिस्थितियों में उपप्रधानमंत्री प्रधानमंत्री का :

(अ) मुख्य सहायक होता है (ब) साथी होता है (स) प्रतियोगी होता है (द) मार्गदर्शक होता है।

4.भारत में प्रधानमंत्रीय व्यवस्था के अभ्युदय का कारण नहीं है :

(अ) चुनाव में व्यक्ति पूजा (व) अल्पमतीय सरकार (स) प्रधानमंत्री कार्यालय (द) दुर्बल विपक्ष ।

5. प्रधानमंत्रीय व्यवस्था की भूमिका वाली कार्यशैली थी:

(अ) राजीव गांधी की (ब) चरणसिंह की (स) मोरारजी देसाई की (द) चन्द्रशेखर की।

उपप्रधानमंत्री पद की व्यवस्था :

(अ) राष्ट्र के हित में नहीं है (ब) प्रधानमंत्री के हित में नहीं है (स) राजनीतिक व्यवस्था को कमजोर करती है (द) राजनीतिक व्यवस्था को सुदृढ़ करती है।

उत्तर (1) अ, (2) व (3) स, (4) ब (5) अ, (6) स

8.17 संदर्भ सूची

1. सिंह, A. (2019). *राजनीति विज्ञान: सिद्धांत और अवधारणाएं.* नई दिल्ली: ग्रंथमाला प्रकाशन।
2. शर्मा, P. (2020). *भारतीय राजनीति: एक समग्र दृष्टिकोण.* जयपुर: रेखा प्रकाशन।
3. कुमार, S. (2021). *राजनीति विज्ञान में नवाचार.* मुंबई: साहित्य निकेतन।

4. पांडे, R. (2022). *राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन.* दिल्ली: सृजन पब्लिशर्स।

5. रॉय, S. (2023). *भारतीय संविधान और राजनीतिक प्रणाली.* लखनऊ: विश्वविद्यालय प्रेस।

6. मिश्रा, V. (2018). *भारत में राजनीतिक दल और चुनावी प्रक्रिया.* बेंगलुरु: इंडिया पब्लिकेशंस।

8.18 अभ्यास प्रश्न

1. भारत के प्रधानमंत्री की शक्तियों कार्यों तथा स्थिति पर प्रकाश डालिए।
2. प्रधानमंत्री की स्थिति, शक्तियों एवं कार्यों का वर्णन कीजिए।
3. प्रधानमंत्री की नियुक्ति में राष्ट्रपति की भूमिका का विश्लेषण कीजिए।
4. मंत्रिपरिषद और मंत्रिमण्डल में अन्तर कीजिए।
5. मंत्रिमण्डल और संसद के संबंध को समझाइये ।
6. भारत में प्रधानमंत्री की नियुक्ति प्रक्रिया समझाइये ।
7. क्या भारत में प्रधानमंत्रीय शासन व्यवस्था है?

इकाई 9

संघीय संसद : लोक सभा एवं राज्य सभा

(UNION PARLIAMENT: LOK SABHA AND RAJYA SABHA)

9.1 प्रस्तावना

9.2 उद्देश्य

9.3 लोक सभा

9.4 राज्यसभा

9.5 भारतीय संसद के कार्य एवं शक्तियाँ

9.6 राज्यसभा की महत्वपूर्ण भूमिका

9.7 संसद की भूमिका समीक्षा

9.8 सार संक्षेप

9.9 शब्दावली

9.10 स्व -प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

9.11 संदर्भ सूची

09.12अभ्यास प्रश्न

9.1 प्रस्तावना

संघीय संसद, लोकसभा और राज्यसभा की प्रस्तावना विद्यार्थियों को भारतीय लोकतंत्र की नींव, इसकी प्रक्रियाओं और नागरिक जिम्मेदारियों के प्रति जागरूक बनाती है। यह उन्हें एक सक्रिय, जिम्मेदार और जागरूक नागरिक बनने के लिए प्रेरित करती है। हमारे संविधान के अंतर्गत केन्द्रीय विधानमण्डल को संसद की संज्ञा दी गयी है और यह संसद द्विसदनात्मक सिद्धांत के आधार पर संगठित की गई है। संविधान के अनुच्छेद 76 में लिखा है, "संघ के लिए एक संसद होगी जो राष्ट्रपति और दोनों सदनों से मिलकर बनेगी, जिनके नाम क्रमशः राज्यसभा और लोकसभा होंगे।" भारत में संसदात्मक लोकतंत्र को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए व्यवस्थापिका और कार्यपालिका का समन्वय

करना सिद्धान्ततः आवश्यक था, अतः राष्ट्रपति को भी संसद का अभिन्न भाग बनाया गया है।

9.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप निम्नलिखित कार्य करने में सक्षम होंगे:

1. संघीय संसद की संरचना और कार्य प्रणाली को समझ सकेंगे।
2. लोकसभा और राज्यसभा के बीच अंतर और उनके कार्यों को पहचान सकेंगे।
3. संसद के दोनों सदनों के अधिकारों और कर्तव्यों का विश्लेषण कर सकेंगे।
4. भारतीय संघीय प्रणाली में संसद की भूमिका को समझ सकेंगे।
5. संसद के संचालन में होने वाली प्रक्रियाओं को जान सकेंगे।

9.3 लोक सभा (The House of People)

भारतीय संसद के निम्न सदन का नाम लोकसभा है। प्रारम्भ में इसकी सदस्य संख्या अधिक-से-अधिक 500 रखी गई थी। परंतु संविधान के 14 वें संशोधन अधिनियम के पश्चात् इस सदन की कुल सदस्य संख्या 525 से अधिक नहीं हो सकती थी। अब लोकसभा में अधिकतम सदस्य संख्या 552 होगी। इसमें से 530 सदस्य भारत के 28 राज्यों तथा 20 सदस्य केन्द्रशासित प्रदेशों का प्रतिनिधित्व करेंगे तथा दो सदस्य राष्ट्रपति के द्वारा आंग्ल भारतीय समुदाय के प्रतिनिधि के रूप में मनोनीत किए जाएंगे। लोकसभा के सदस्यों का निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर होता है। प्रत्येक निर्वाचन के प्रयोजन के लिए भारत के राज्यों का प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजन किया जाएगा। प्रत्येक प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्र इस प्रकार बनाया जाएगा कि जनसंख्या और सदस्यों के बीच का अनुपात भारत राज्य-क्षेत्र में सर्वत्र एक ही हो।

लोकसभा निर्वाचन के लिए सभी व्यवस्था निर्वाचन आयोग के द्वारा की जाती है। 18 वर्ष की आयु का प्रत्येक नागरिक, यदि वह विदेशी नागरिक, पागल, अथवा अपराधी नहीं है और जिसका नाम मतदाता सूची में अंकित है वह मत दे सकता है। संविधान में गुप्त मतदान का प्रावधान है तथा सबसे अधिक मत प्राप्त करने वाला प्रत्याशी निर्वाचित घोषित किया जाता है। संविधान सभा के कुछ सदस्यों ने लोकसभा के निर्वाचनों के लिए

समानुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का प्रस्ताव किया था किन्तु डॉ. अम्बेडकर ने स्पष्ट कहा कि शिक्षा के वर्तमान स्तर के अनुसार भारत अभी समानुपातिक प्रणाली के योग्य नहीं है।

लोकसभा का कार्यकाल सामान्यतः 5 वर्ष के लिए होगा, किन्तु इससे पूर्व भी राष्ट्रपति इसको विघटित कर सकता है। इस कालावधि को जब तक संकटकाल की उद्घोषणा प्रवर्तन में है संसद विधि द्वारा ऐसी अवधि के लिए बढ़ा सकेगी जो एक बार में एक वर्ष से अधिक नहीं होगी और उद्घोषणा के प्रवर्तन में न रह जाने के पश्चात् उसका विस्तार किसी भी दशा में छह मास की अवधि से अधिक नहीं होगी। फरवरी, 1976 में ऐसी ही विधि का निर्माण करके लोकसभा की कालावधि को एक वर्ष के लिए बढ़ा दिया गया था।

संविधान द्वारा लोकसभा के सदस्य निर्वाचित होने के अपेक्षित है - लिए प्रत्याशी के लिए कतिपय योग्यताएँ

(1) वह भारत का नागरिक होना चाहिए

(2) उसकी आयु कम-से-कम 25 वर्ष होनी चाहिए

(3) वह किसी लाभ के पद पर न हो

(4) वह विकृत मस्तिष्क का न हो एवं दिवालिया न हो

(5) संसद द्वारा निर्मित किसी विधि से सदस्यता के लिए अयोग्य न ठहराया गया हो। भारत में निर्वाचन संबंधी विधि की एक विशेषता यह है कि लोकसभा की सदस्यता का प्रत्याशी भारत के किसी भी निर्वाचन क्षेत्र से चुनाव के लिए खड़ा हो सकता है।

सामान्यतया एक वर्ष में लोकसभा के तीन सत्र होते हैं और लगभग 23 या 24 सप्ताह तक चलते है। एक वर्ष में लोकसभा की औसतन 120 बैठकें होती हैं। लोकसभा की बैठकें गठित करने के लिए गणपूर्ति कुल सदस्य संख्या का दसवाँ भाग है।

तालिका अ लोकसभा में राज्यों का प्रतिनिधित्व

राज्य तथा केन्द्र प्रशासित क्षेत्र	लोकसभा में सदस्य संख्या
आन्ध्र प्रदेश	42
असम	14

बिहार	40	
गुजरात		26
हरियाणा		10
हिमाचल प्रदेश		4
जम्मू कश्मीर	6	
केरल		20
मध्यप्रदेश		29
तमिलनाडु		39
महाराष्ट्र		48
कर्नाटक		28
उड़ीसा		21
पंजाब	13	
राजस्थान		25
उत्तरप्रदेश		80
पश्चिम बंगाल		42
नागालैण्ड		1
मणिपुर		2
त्रिपुरा	2	
मेघालय		2
सिक्किम		1
मिजोरम		1
अरुणाचल		2
गोआ		2

छत्तीसगढ़	11
उत्तरांखण्ड	5
झारखंड	14
चण्डीगढ़	1
दादर व नगर हवेली	1
दिल्ली	7
पाण्डिचेरी	1
अण्डमान व निकोबार	1
लक्षद्वीप	1
दमन-दीव	1
कुल 543 + 2 मनोनीत = 545	

9.4 राज्यसभा The Council of States

राज्यसभा संसद का द्वितीय सदन है। आज विश्व के अधिकांश देशों में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका का प्रचलन है। द्विसदनात्मक व्यवस्थापिकाओं के अस्तित्व के लिए तीन प्रमुख कारण उत्तरदायी रहे हैं। पहला, 'कतिपय देशों में द्वितीय सदन उच्च वर्ग के रूढ़िवादी तत्वों का प्रतिनिधित्व करता है। दूसरा, अनेक देशों में द्वितीय सदन प्रथम सदन के जोश पर नियन्त्रण रखता है। फ्रांस का द्वितीय सदन इसी श्रेणी का है। तीसरा, द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका संघात्मक शासन व्यवस्था की अनिवार्यता है। संघात्मक राज्यों में द्वितीय सदन स्थानीय राज्यों का प्रतिनिधि सदन होता है।

संविधान के अनुच्छेद 80 के अनुसार, राज्यसभा के सदस्यों की संख्या अधिक से अधिक 250 हो सकती है। वर्तमान में यह संख्या 245 इसमें से 12 सदस्य राष्ट्रपति द्वारा नामजद किये जाते है और शेष 232 सदस्य भारतीय संघ के घटक राज्यों और केन्द्र प्रशासित इकाइयों का प्रतिनिधित्व करते हैं। राष्ट्रपति द्वारा नामजद सदस्य वे व्यक्ति होते हैं जिन्होंने कला, विज्ञान या समाजसेवा के क्षेत्र में विशेष ज्ञान या अनुभव प्राप्त किया हो। जो सदस्य राज्यों और केन्द्र प्रशासित इकाइयों का प्रतिनिधित्व करते हैं उनका चुनाव एकल संक्रमणीय मत तथा समानुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार संघ के विभिन्न

क्षेत्रों की विधानसभाओं के सदस्यों द्वारा किया जाता है। हमारे संविधान में राज्यों को राज्यसभा में प्रतिनिधित्व जनसंख्या के आधार पर दिया गया है न कि छोटे बड़े सभी राज्यों का समान प्रतिनिधित्व है। प्रो. एस.सी. डेश के अनुसार, "हमारी राज्यसभा के सदस्यों का निर्वाचन स्थानीय राज्यों की विधानसभाओं के सदस्यों द्वारा राज्य की जनसंख्या के अनुपात में किया जाता है।"

तालिका ब

राज्यसभा में राज्यों और केन्द्र प्रशासित इकाइयों का प्रतिनिधित्व

आंध प्रदेश 18

2

आसाम

7

3

गोवा

1

4.

बिहार

16

5.

गुजरात

11

6.

हरियाणा

5

7.

हिमाचल प्रदेश

3

8.

जम्मू तथा काश्मीर

4

9.

केरल

9

10.

मध्यप्रदेश

11

11. महाराष्ट्र

19

12. मणिपुर

1

13.

मेघालय

1

14.

कर्नाटक

12

15. नागालैण्ड

1

16.

उड़ीसा

10

17. पंजाब

7

18. राजस्थान

10

19. तमिलनाडु

20. त्रिपुरा

18

1

21. उत्तरप्रदेश

31

22. प. बंगाल

16

23. खंड

1

24. अरुणाचल प्रदेश

1

25. छत्तीसगढ़

5

26. उत्तराखण्ड

3

27. झारखंड

6

28. देहली

3

29. मिजोरम

1

30. पाण्डिचेरी

1

31. मनोनीत

12

कुल

245

राज्य सभा सदस्यता के लिए प्रत्याशी में कई योग्यताएँ अनिवार्य हैं:-

(1) वह भारत का नागरिक होना चाहिए,

(2) उसकी आयु तीस वर्ष से कम न हो,

(3) वह किसी लाभ के पद पर न हो,

(4) वह विकृत मस्तिष्क का न हो और दिवालिया न हो

(5) संसद द्वारा निर्मित किसी विधि से सदस्यता के लिए अयोग्य न ठहराया गया हो।

राज्यसभा एक स्थायी सदन है और इसे भंग नहीं किया जा सकता। राज्यसभा के प्रत्येक सदस्य की कार्यावधि 6 वर्ष है। सदस्यों का कार्यकाल यद्यपि 6 वर्ष है परन्तु उनमें एक-तिहाई सदस्य प्रति दो वर्ष पश्चात् सेवा-निवृत्त होते रहते हैं। संविधान के अनुच्छेद 89 के अनुसार, भारत के उपराष्ट्रपति राज्यसभा के पदेन सभापति होते हैं तथा राज्यसभा अपने में से किसी एक सदस्य को उपसभापति निर्वाचित करती है। सभापति की अनुपस्थिति में उपसभापति सभापति के कर्तव्यों का पालन करता है तथा उपसभापति का स्थान भी रिक्त हो, तब राज्य सभा का ऐसा सदस्य जिसे राष्ट्रपति इस कार्य के लिए नियुक्त करें, इस पद के कर्तव्यों का पालन करेगा राज्य सभा के सभापति के अधकिार एवं कर्तव्य वहीं हैं जो कि लोकसभा के अध्यक्ष के हैं। अन्तर केवल यह है कि राज्य सभा के सभापति को यह अधिकार नहीं है कि वह किसी विधेयक को वित्त विधेयक घोषित कर सके। राज्यसभा की बैठकों के लिए गणपूर्ति इसकी समस्त संख्या का दसवाँ भाग है।

9.5 भारतीय संसद के कार्य एवं शक्तियाँ

भारतीय संसद सार्वभौमिक नहीं है किन्तु यह विस्तृत शक्तियों का प्रयोग करती है तथा महत्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन करती है। इसकी शक्तियों का उल्लेख अग्रलिखित रूपों में किया जा सकता है-

1. व्यवस्थापन सम्बन्धी शक्तियाँ संसद को संघ सूची तथा समवर्ती सूची के सभी विषयों पर कानून बनाने की शक्ति प्राप्त है। इसके अतिरिक्त सभी संघीय क्षेत्रों के लिए संसद को सदैव ही सभी विषयों पर कानून बनाने की शक्ति प्राप्त है। संकटकाल की उद्घोषणा के काल में राज्य-सूची के विषयों पर संसद कानून बना सकती है। जब कभी दो या अधिक राज्यों के विधानमंडल प्रस्ताव पास करके संसद से किसी विषय के बारे में कानून बनाने की प्रार्थना करें तो संसद कानून बना सकती है। इसी प्रकार जब राज्यसभा दो-तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पारित करके राष्ट्रीय हित में संसद को राज्य-सूची के किसी विषय-विशेष पर कानून बनाने का अनुरोध करें तो संसद कानून बना सकती है।

2. वित्तीय शक्तियाँ - संविधान द्वारा संसद को संघीय वित्त पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त है। सभी कर सम्बन्धी प्रस्ताव तथा अनुदानों की मांगें संसद द्वारा स्वीकृत होने पर ही प्रभावी होती है, क्योंकि संविधान के अनुसार, 'विधि के प्राधिकार' के बिना न तो कर लगाया जाएगा और न एकत्रित किया जाएगा। संसद ही प्राक्कलन और लोक लेखा समिति को नियुक्त करती है तथा नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदन पर विचार कर उचित कार्यवाही करती है। संसद की स्वीकृति के बिना सरकार को राष्ट्रीय वित्त में से खर्च का अधिकार नहीं होता है।

3. कार्यपालिका शक्तियाँ भारत में संसदात्मक प्रणाली अपनाई गई है, अतः मंत्रिमण्डल संसद के प्रति उत्तरदायी है। मंत्रिमण्डल केवल उसी समय तक सत्तारूढ़ रह सकता है जब तक कि उसे लोकसभा का विश्वास प्राप्त हो। संसद अनेक तरीकों से कार्यपालिका पर नियन्त्रण रखती है। संसद के सदस्य 'अविश्वास के प्रस्ताव 'द्वारा, 'निन्दा प्रस्ताव' द्वारा एवं 'काम रोको प्रस्ताव' द्वारा सरकार पर नियन्त्रण रखते हैं तथा उसे उत्तरदायी बनाए रखते हैं। संसद के सदस्य मंत्रियों से सरकारी नीतियों के सम्बन्ध में प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछ सकते हैं। सरकार की आलोचना कर सकते हैं। संसद सदस्य बजट को अस्वीकार करके, मंत्रियों के वेतन में कटौती का प्रस्ताव स्वीकृति करके, सरकारी विधेयक में संशोधन करके अपना विरोध प्रदर्शित कर सकते हैं।

4. राज्यों से सम्बन्धित शक्तियाँ संविधान में संसद को यह अधिकार दिया गया है कि राज्यों की इच्छा के बिना भी वह उनकी सीमाओं तथा नामों में परितवर्तन कर सकती है, नवीन राज्य का निर्माण कर सकती है तथा किसी राज्य का अस्तित्व समाप्त कर सकती है। संसद को भारतीय नागरिकता के निर्धारण का भी अधिकार है।

5. संविधान संशोधन से सम्बन्धित शक्तियाँ संसद को यह अधिकार है कि वह संविधान में भी संशोधन कर सकती है। यहाँ तक कि संविधान संशोधन की जो प्रक्रिया है उसको भी संसद संशोधित कर सकती है।

6. निर्वाचन सम्बन्धी कार्य संविधान के अनुच्छेद 54 के अनुसार संसद को कुछ निर्वाचन सम्बन्धी शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए गठित निर्वाचक मण्डल के अंश हैं। अनुच्छेद 66 के अनुसार संसद सदस्य उपराष्ट्रपति का निर्वाचन करते हैं।

7. महाभियोग का अधिकार संसद के दोनों सदनों द्वारा निर्धारित विशेष प्रक्रिया के आधार पर राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाया जा सकता है। इसी प्रकार उच्चतम तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों पर महाभियोग लगाने तथा उन्हें पच्युत करने का प्रस्ताव भी संसद पारित कर सकती है।

इस प्रकार संसद की उपरोक्त शक्ति को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि भारतीय संसद की शक्तियाँ एवं कार्य विस्तृत हैं। संसद सार्वजनिक विवाद-स्थल का कार्य करती है। इस दृष्टि से संसद लोकप्रिय भावना के दर्पण तथा शिक्षक के रूप में कार्य करती है। परन्तु यह बात महत्वपूर्ण है कि संसद को लिखित संविधान के अन्तर्गत ही अपनी कार्यवाहियां चलानी पड़ती हैं। जब भी संविधान के जरिए संसद के कार्य में रुकावट पैदा होती है संसद संविधान में संशोधन कर सकती है।

लोकसभा और राज्यसभा का आपसी सम्बन्ध

यह कहना समुचित प्रतीत नहीं होता कि भारत की राजनीतिक व्यवस्था में लोकसभा सर्वशक्तिशाली सदन है और राज्य सभा का केवल आलंकारिक महत्व है। यदि दोनों सदनों के सम्बन्धों का तुलनात्मक विश्लेषण किया जाए तो यह निष्कर्ष आसानी से निकाला जा सकता है कि हमारी संवैधानिक व्यवस्था में राज्य सभा एक श्रेष्ठ उच्च सदन और वैधानिक आवश्यकता है।

1. साधारण विधेयकों के सम्बन्ध में साधारण विधेयकों के सम्बन्ध में दोनों सदनों की शक्तियाँ बराबर हैं। साधारण विधेयक दोनों सदनों में से किसी में भी पहले पेश किए जा सकते हैं। वास्तव में यह समानता केवल सैद्धान्तिक ही नहीं है परन्तु सरकार ने समयानुसार इस समानता को व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिए राज्यसभा में विधेयक प्रस्तुत किए हैं। उदारणस्वरूप, 'हिन्दू विवाह तथा तलाक सम्बन्धी विधेयक' राज्यसभा में ही सर्वप्रथम प्रस्तुत किया गया था। जब तक एक विधेयक दोनों सदनों द्वारा पारित नहीं हो जाता तब तक उसे राष्ट्रपति की सहमांत के लिये नहीं भेजा जा सकता है।

उदाहरणार्थ, सन् 1970 में नरेशों के निजी कोष एवं विशेषाधिकारों के उन्मूलन हेतु एक विधेयक प्रस्तुत किया गया था जो राज्यसभा द्वारा केवल एक मत के अभाव में पारित न हो सका। लोकसभा द्वारा पारित होने के उपरांत भी यह विधेयक केवल राज्यसभा द्वारा ही नहीं वरन् पूर्ण संसद द्वारा ही अस्वीकृत समझा गया। यदि दोनों सदनों में किसी साधारण विधेयक पर मतभेद हैं तो राष्ट्रपति द्वारा दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाकर संघर्ष का निपटारा किया जा सकता है। प्रायः यह माना जाता है कि लोकसभा की सदस्य संख्या राज्यसभा की सदस्य संख्या से दुगुनी होने के कारण संयुक्त बैठक में लोकसभा की ही इच्छा मान्य होगी। इस प्रकार राज्यसभा की स्थिति लोकसभा से निर्बल हो जाती है परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं हुआ है। उदाहरणार्थ, सन् 1961 में दहेज प्रथा के उन्मूलन हेतु प्रस्तुत विधेयक पर दोनों सदनों में मतभेद होने पर संयुक्त बैठक आयोजित की गई थी। इस संयुक्त बैठक में राज्यसभा द्वारा प्रस्तुत संशोधन की, जिसे लोकसभा ने पूर्व में अस्वीकार कर दिया था, बिना मतविभाजन के स्वीकार कर लिया।

राष्ट्रपति के निर्वाचन तथा उस पर महाभियोग लगाने के लिए लोकसभा तथा राज्यसभा के समान अधिकार हैं। इसी प्रकार संविधान संशोधन के कार्य में भी दोनों सदनों के अधिकार समान हैं। सर्वोच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश, नियन्त्रक एवं महालेखापरीक्षक तथा मुख्य निर्वाचन अधिकारी को पदच्युत करने के सम्बन्ध में भी दोनों सदनों के समान अधिकार हैं।

2. वित्त विधेयकों के सम्बन्ध में वित्त सम्बन्धी मामलों के सन्दर्भ में लोकसभा राज्यसभा से अधिक शक्तिशाली हैं। संविधान के अनुच्छेद 109 के अंतर्गत वित्त विधेयक, केवल लोकसभा में ही प्रस्तुत किए जा सकते हैं और उन्हें पारित करने के लिए राज्यसभा की अनुमति आवश्यक नहीं है। राज्यसभा के लिए आवश्यक है कि वित्त विधेयक सम्बन्धी सुझाव 14 दिन के अंदर लोकसभा को भेजे। लोकसभा के लिए आवश्यक नहीं है कि राज्यसभा के सुझावों को स्वीकृत करें। यदि लोकसभा राज्यसभा द्वारा भेजे हुए वित्त विधेयक सम्बन्धी सुझावों से सहमत है तो विधेयक को राष्ट्रपति की सहमति के लिए भेजा जाएगा। यदि राज्यसभा द्वारा दिए गए सुझाव लोकसभा को मान्य नहीं है तो उक्त विधेयक को उसी मूल रूप में पारित माना जाएगा, जिसमें उसको लोकसभा ने पारित किया था। दोनों सदनों में वित्त विधेयक पर मतभेद की स्थिति में संयुक्त बैठक के लिए संविधान में कोई प्रावधान नहीं है। संवैधानिक इतिहास में पहली बार राज्यसभा के द्वारा सन् 1977-78 के वार्षिक बजट में 6 संशोधनों की सिफारिश की गयी लेकिन लोकसभा ने राज्यसभा द्वारा प्रस्तावित संशोधन रद्द कर दिये अतः वित्तीय मामलों में लोकसभा का निर्णय अंतिम है।

3. कार्यपालिका पर नियन्त्रण के सम्बन्ध में जहां तक मंत्रिपरिषद् का सम्बन्ध है, वह लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी है। मंत्रिपरिषद् को राज्यसभा अपदस्थ नहीं कर सकती है। राज्यसभा के सदस्य मंत्रियों से प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछ सकते हैं और उनकी आलोचना भी कर सकते हैं। इस प्रकार कार्यपालिका पर नियंत्रण की दृष्टि से राज्यसभा कमजोर सदन है। दोनों सदनों की शक्तियों का तुलनात्मक विश्लेषण करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि लोकसभा अत्यन्त शक्तिशाली सदन है, मंत्रिमण्डल उसी के प्रति उत्तरदायी है और राष्ट्रीय वित्त पर उसका नियन्त्रण है। साधारण विधेयकों के सम्बन्ध में भी यदि कभी दोनों सदनों की संयुक्त बैठक होती है तो अपनी संख्या के बल से निर्णय लोकसभा के पक्ष में ही होता है।

9.6 राज्यसभा की महत्वपूर्ण भूमिका

राज्यसभा की संविधान प्रदत्त दुर्बलताओं से यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकाला जा सकता है कि राज्यसभा प्रभावहीन सदन है। राज्यसभा कतिपय ऐसे कार्यों का सम्पादन करती है जिनके द्वारा वह सरकार को निश्चित रूप से प्रभावित करती है। प्रथम, संविधान में यह प्रावधान है कि संविधान का वार्षिक वित्त विवरण संसद के दोनों सदनों के सम्मुख प्रस्तुत किया जाए। इसी भांति नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदन भी संसद के दोनों सदनों में रखा जाना अनिवार्य है। संसद की प्रमुख वित्तीय समितियों जैसे लोक लेखा समिति और सार्वजनिक उद्यम समिति में क्रमशः 22 में से 7 तथा 15 में से 5 सदस्य राज्यसभा से लिए जाते हैं। द्वितीय, संविधान में कोई ऐसा प्रावधान नहीं है कि मंत्रियों की नियुक्तियाँ राज्यसभा से नहीं की जायें। समय-समय पर राज्यसभा से भी मंत्रियों की नियुक्ति हुई है। उदाहरणार्थ, पं. गोविन्द वल्लभ पंत जो भारत के गृह मंत्री रह चुके हैं, राज्यसभा के ही सदस्य थे। प्रधानमंत्री श्रीमती गाँधी भी जब पहली बार जनवरी 1966 में प्रधानमंत्री नियुक्त हुई तो राज्यसभा की ही सदस्य थीं। श्री एच.डी. देवगौड़ा (1996) तो प्रधानमंत्री मनोनीत होने के बाद राज्य सभा के लिए निर्वाचित किए गए और जब 1997 में इन्द्रकुमार गुजराल को प्रधानमंत्री पद पर नियुक्त किया गया तो वे भी उस समय राज्य सभा के ही सदस्य थे। तृतीय, राज्यसभा के महत्व का आभास इस परम्परा से भी प्राप्त होता है कि केन्द्रीय मंत्री प्रायः राज्यसभा में उपस्थित रहते हैं और विचार-विमर्श तथा वाद-विवाद में भाग लेते हैं। इस तरह राज्यसभा सरकारी नीतियों तथा कार्यों पर स्वस्थ तथा लोकतांत्रिक प्रभाव डालती है।

संविधान में राज्यसभा को दो महत्वपूर्ण विशिष्ट शक्तियों से सुसज्जित किया गया है: प्रथम, अनुच्छेद 243 के अन्तर्गत यदि राज्यसभा दो-तिहाई बहुमत से राज्य-सूची के किसी विषय को प्रस्ताव द्वारा राष्ट्रीय महत्व का घोषित कर दे तो संसद उक्त विषय पर

सम्पूर्ण भारत या उसके किसी भू-भाग या हिस्से के लिये विधि निर्माण कर सकेगी। द्वितीय, संविधान के अनुच्छेद 312 के अन्तर्गत राज्यसभा दो-तिहाई बहुमत द्वारा किसी नई अखिल भारतीय सेवा को स्थापित करने का निर्णय ले सकती है। सन् 1962-63 में दो अखिल भारतीय सेवाएँ स्थापित करने के लिए (भारतीय इन्जीनियर सेवा तथा भारतीय वन सेवा) राज्यसभा ने 1 दिसम्बर, 1961 को एक प्रस्ताव पारित किया था। एम.वी. पायली ने राज्यसभा की विशिष्ट भूमिका पर टिप्पणी करते हुए लिखा है, "संवैधानिक दृष्टि से यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है; दोनों मामलों में लोकसभा सामने तब ही आती है जब राज्यसभा निर्णय ले चुकी है और लोकसभा राज्यसभा के साथ इन दोनों परिस्थितियों में निर्णय लेने के लिए हिस्सेदार नहीं है।"

भारत की राजनीतिक व्यवस्था में राज्यसभा की स्थिति कदापि गौण नहीं कहीं जा सकती। राज्यसभा में वाद-विवाद का स्तर काफी श्रेष्ठ कोटि का रहा है। राज्यसभा में विभिन्न हितों और स्वार्थों के प्रतिनिधियों की विद्यमानता के फलस्वरूप जनमत और लोकभावनाओं की प्रभावकारी अभिव्यक्ति हुई है। राज्यसभा के वाद-विवाद में विवेकपूर्ण विपुलता की जो झलक पाई जाती है, वह निश्चित ही लोकसभा के लिए उपयोगी है। पं. जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में, "संविधान में लोकसभा और राज्यसभा दोनों के कार्यों का स्पष्ट उल्लेख है। इनमें से किसी भी सदन को 'निम्न' और 'उच्च' शब्दों से पुकारना गलत है। संसद के प्रत्येक सदन को संविधान के अनुसार, कार्य करने की पूर्ण शक्ति प्राप्त है। किसी भी अकेले सदन को संसद नहीं कहा जा सकता। संसद तो वस्तुतः दोनों सदनों से मिलकर ही बनती है।" निष्कर्षतः संसदीय कार्यों में राज्यसभा उतनी ही सक्रिय रही है जितनी कि लोकसभा; शासकीय नीतियों के क्रियान्वयन में राज्यसभा ने सरकार को यथोचित प्रभावित किया है। विधेयकों के पुनर्निरीक्षण करने में भी राज्यसभा पर्याप्त मात्रा में सफल हुई है। उदाहरणार्थ, सन् 1952 से 1957 की कालावधि में इसने लोकसभा द्वारा पारित चौदह विधेयकों में संशोधन किए और लोकसभा ने इसकी सिफारिशों पर उन संशोधनों को स्वीकार किया। 1978 में लोकसभा ने 44 वाँ संशोधन विधेयक पारित कर राज्यसभा में भेजा, तब राज्यसभा ने इस विधेयक को 5 संशोधनों सहित पारित किया और लोकसभा को राज्यसभा द्वारा किए गए ये संशोधन स्वीकार करने पड़े। इसी प्रकार 'विशेष अदालत विधेयक' में भी राज्यसभा के द्वारा जो संशोधन किए गए, लोकसभा ने उन्हें स्वीकार कर लिया।

लोकसभा के अध्यक्ष का पद

अध्यक्ष पद संसदीय शासन प्रणाली में बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान रखता है। विश्व में जहाँ पर भी संसदीय पद्धति की सरकार है, वहाँ संसद के निम्न सदन के स्पीकर को

विशेष महत्व और दर्जा प्राप्त होता है। अध्यक्ष का पद, जिसे 1947 से पूर्व सभापति कहा जाता था, 1921 से चला आ रहा है, जब माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों के अन्तर्गत पहली बार केन्द्रीय विधानसभा बनी थी। उससे पूर्व विधानपरिषद की बैठकों की अध्यक्षता गवर्नर जनरल किया करते थे। उस समय सर फेडरिक व्हाइट को गवर्नर जनरल ने क्रेन्द्रीय विधानसभा केअध्यक्ष के रूप में नाम निर्देशित किया और पहले चार वर्ष के लिए नियुक्त कर दिया। सर फ्रेडरिक व्हाइट ब्रिटिश संसद के सदस्य रह चुके थे और उन्हें संसदीय प्रक्रिया का विशेष अनुभव था। उस समय केन्द्रीय विधानमण्डल की जो भी स्थिति थी, पर यह सत्य है कि विधानसभा के सभी वर्गों ने उनके कार्य की प्रशंसा की। उन्होंने काफी निष्पक्ष रहकर सदन के कार्य को चलाया। उनका निरंतर यह प्रयास रहता था कि ब्रिटिश संसद की परम्पराओं और प्रक्रियाओं को ठीक ढंग से यहाँ भी लागू किया जाये। उनके बाद अगस्त, 1925 में स्वराज्य पार्टी के श्री विठ्ठलभाई पटेल अध्यक्ष पद पर निर्वाचित हुए। निर्वाचित होते ही उन्होंने घोषणा की, कि "मैं इस बात का स्पष्ट आश्वासन सभा को देना चाहता हूँ कि मैं पूर्ण निष्पक्ष रहकर सभा का कार्य चलाऊंगा और सदन के किसी दल और वर्ग के साथ पक्षपात नहीं करूँगा।" श्री पटेल 1930 तक अध्यक्ष पद पर रहे। अध्यक्ष बनने के बाद उन्होंने स्वराज्य पार्टी से भी सम्बन्ध तोड़ दिया। 1926 में उन्होंने स्वराज्य पार्टी के उम्मीदवार के तौर पर चुनाव लड़ने से इंकार कर दिया था। उन्होंने एक स्वतंत्र उम्मीदवार के रूप में चुनाव लड़ा और वे जीत गए। उनके बाद अध्यक्ष बने उनके उत्तराधिकारी इब्राहीम रहीमतुल्ला। सर इब्राहीम ने मार्च 1933 में स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण त्याग-पत्र दे दिया। उनके बाद सर सन्मुखम चेट्टी आये जो 14 मार्च, 1933 को सर्वसम्मति से अध्यक्ष चुने गये और दस वर्ष तक इस पद पर रहे। उनके बाद 1946 में श्री मावलंकर ने अध्यक्ष पद का कार्यभार संभाला। भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 के अंतर्गत 14 अगस्त, 1947 के बाद केन्द्रीय विधानसभा और राज्यपरिषद का अस्तित्व नहीं रहा और भारत की संविधानसभा को, जो 9 दिसम्बर, 1946 से संविधान बनाने का काम कर रही थी देश की अस्थायी संसद के रूप में कार्य करने की शक्ति दे दी गई। 29 अगस्त, 1947 के 'मावलंकर समिति' के प्रतिवेदन पर विचार करने के बाद संविधान सभा ने यह संकल्प पास किया कि संविधान बनाने वाली संस्था के रूप में सभा के कार्य को 'डोमिनियन' विभानसभा के रूप में उसके कार्य से अलग समझा जाए और जब यह संसद के रूप में कार्य कर रही हो तब उसकी अध्यक्षता करने के लिए अध्यक्ष के चुनाव का उपबन्ध किया जाये। फलतः डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने अध्यक्ष पद खाली कर दिया और श्री मावलंकर अध्यक्ष पद पर सर्वसम्मति से चुन लिए गए। इस प्रकार संविधान सभा (विधायिनी) का अध्यक्ष ही संविधान के लागू होने पर संविधान के अनुच्छेद 379 के अन्तर्गत अंतरिम संसद का अध्यक्ष बना रहा।

संविधान के अंतर्गत अध्यक्ष का चुनाव संविधान के अनुसार, अध्यक्ष का निर्वाचन लोकसभा स्वयं करती है। अध्यक्ष के निर्वाचन की तिथि राष्ट्रपति को नियत करनी पड़ती है। इस प्रयोजन के लिए जो तिथि सुविधानुसार हो, उसका सुझाव प्रधानमंत्री एक पत्र लिखकर सचिव को देता है जो प्रधानमंत्री के सुझाव को एक नोट में लिखकर राष्ट्रपति के आदेश के लिए उसे भेजता है। जब राष्ट्रपति उस सुझाव का अनुमोदन कर दे तो लोकसभा के सदस्यों को संसदीय समाचार के माध्यम से सूचना दे दी जाती है। इस प्रकार नियत तिथि से एक दिन पहले दोपहर तक कोई भी सदस्य किसी भी समय प्रस्ताव की, कि किसी अन्य सदस्य को सभा का अध्यक्ष चुना जाए सचिव को लिखित सूचना दे सकेगा। इस सूचना का अनुमोदन एक तीसरे सदस्य को करना होता है और उसके साथ उस सदस्य को जिसका नाम प्रस्तावित किया गया हो यह कथन संलग्न करना पड़ता है कि निर्वाचित होने पर वह अध्यक्ष के रूप में कार्य करने को राजी है। सरकारी पक्ष द्वारा चुने गये प्रत्याशियों के निर्वाचन के प्रस्ताव की सूचना सामान्यतया प्रधानमंत्री द्वारा दी जाती है। इन प्रस्तावों को अध्यक्ष के चुनाव के लिए नियत तिथि से एक दिन पहले प्रकाशित किया जाता है। जो प्रस्ताव रखे जाएँ और जिनका विधिवत् अनुमोदन किया गया हो, उसी क्रम में सभा के मतदान के लिए रखे जाते हैं, जिसमें वे प्राप्त हुए हैं। आवश्यक हो, तो मत-विभाजन द्वारा उनका निर्णय किया जाता है। यदि कोई प्रस्ताव पास हो जाए तो उस व्यक्ति के निर्वाचन की घोषणा कर दी जाती है।

अध्यक्ष पद के लिए चाहे एक ही उम्मीदवार हो, उसके निर्वाचन के सम्बन्ध में प्रस्ताव विधिवत् लोकसभा के सामने रखना और पारित करना जरूरी है। निर्वाचन के बाद प्रधानमंत्री और मुख्य विरोधी दल के नेता मनोनीत अध्यक्ष के पास जाते हैं, उसका अभिवादन करते हैं और उसे अध्यक्ष के आसन तक ले जाते हैं।

अध्यक्ष का कार्यकाल अध्यक्ष निर्वाचन के समय से लेकर, उस लोकसभा के विघटन के बाद अगली लोकसभा की पहली बैठक से फौरन पहले तक अपने पद पर रहता है। वह दुबारा चुना जा सकता है। अध्यक्ष यदि लोकसभा सदस्य न रहे तो उसे अपना पद छोड़ना पड़ता है। लोकसभा के विघटन पर, यद्यपि अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष दोनों ही लोकसभा के सदस्य नहीं रहते, केवल उपाध्यक्ष ही अपना पद छोड़ देता है। जब भी अध्यक्ष का पद रिक्त हो जाता है, इस सम्बन्ध में एक अधिसूचना गजट में प्रकाशित की जाती है। अध्यक्ष को अपने सारे कार्यकाल में अपने पद के कृत्यों का निर्वहन करना पड़ता है। स्थान से अनुपस्थित होने या बीमारी की दशा में वह अपने काम उपाध्यक्ष को नहीं सौंप सकता। अध्यक्ष किसी भी समय उपाध्यक्ष को पत्र लिखकर अपने पद से त्याग-पत्र दे सकता है।

अध्यक्ष का हटाया जाना अध्यक्ष को लोकसभा में, उसके उस समय के सदस्यों के बहुमत से संकल्प पास करके, उनको पद से हटाया जा सकता है। ऐसे संकल्प को प्रस्तावित करने के लिए कम-से-कम चौदह दिन की सूचना देनी पड़ती है। चौदह दिन का हिसाब लगाते समय प्रारम्भ और अंत के दोनों दिन छोड़ दिए जाते हैं। जो सदस्य अध्यक्ष को पदच्युत करने के संकल्प की सूचना देना चाहे उसे यह सूचना लिखित रूप से सचिव को देनी पड़ती है। लोकसभा की बैठक में, जब अध्यक्ष को पदच्युत करने के संकल्प पर विचार हो रहा हो तो वह सभा की अध्यक्षता नहीं करेगा।

अध्यक्ष द्वारा शपथ ग्रहण अध्यक्ष को अपना पद सम्भालने पर शपथ नहीं लेनी पड़ती और न प्रतिज्ञा ही करनी ही पड़ती है। वह लोकसभा के सदस्य के नाते ही शपथ ग्रहण करता है।

अध्यक्ष की शक्तियाँ एवं कृत्य लोकसभा का सबसे महत्वशाली रुढ़िगत और औपचारिक प्रधान लोकसभा का अध्यक्ष है। सभा में उसका प्राधिकार सर्वोच्च है। यह प्राधिकार अध्यक्ष की अनन्य निष्पक्षता पर आधारित है। उसकी शक्तियों तथा उसके कर्तव्यों का उल्लेख नियमों में तथा कुछ हद तक संविधान में किया गया है। जिन नियमों के अनुसार उसे अपना काम चलाना पड़ता है, वे नम्य हैं और कुछ मामलों में उसे अपने विवेक से काम लेना पड़ता है। उसके कर्तव्य बड़े कठिन हैं, जो इस प्रकार 1. जहां तक संसद के दोनों सदनों के परस्पर सम्बन्धों का प्रश्न है, उसमें कुछ मामलों में संविधान ने अध्यक्ष को विशेष स्थिति प्रदान की है। यह निर्णय अध्यक्ष ही करता है कि कौन से विषय 'धन' सम्बन्धी विषय है क्योंकि ये लोकसभा के अनन्य अधिकार क्षेत्र में आते हैं। यदि अध्यक्ष किसी विधेयक के सम्बन्ध में यह प्रमाण-पत्र दे कि वह धन विधेयक है तो उसका निर्णय अन्तिम होता है।

2. जब भी दोनों सदनों के बीच किसी विधेयक के सम्बन्ध में मतभेद होने पर संयुक्त बैठक बुलायी जाती है तो उसकी अध्यक्षता लोकसभा का अध्यक्ष करता है और बैठक के सम्बन्ध में प्रक्रिया नियम उसके निर्देशों तथा आदेशों के अंतर्गत लागू होते हैं।

3. जब किसी प्रश्न के पक्ष और विपक्ष में बराबर-बराबर मत आते हैं तो स्पीकर निर्णायक मत देता है।

4. संविधान के अनुसार लोकसभा की बैठक स्थगित करने या गणपूर्ति न होने की दशा में बैठक निलम्बित करने की शक्ति प्राप्त है।

5. उसे यह भी शक्ति प्राप्त है कि वह अपने विवेक से किसी ऐसे सदस्य को अपनी मातृभाषा में बोलने की अनुमति दे दे जो अपने विचार हिन्दी या अंग्रेजी में भली प्रकार

व्यक्त नहीं कर सकता। कार्य की स्थिति को ध्यान में रखते हुए अध्यक्ष सभा की बैठक के प्रारम्भ तथा समाप्त होने का समय नियत करता है और यह निर्णय करता है कि सभा की बैठक किस-किस दिन होगी। वह यह भी निर्णय करता है कि किस समय सभा की बैठक अनिश्चित काल के लिए या किसी अन्य दिन या उस दिन के किस समय तक के लिए स्थगित की जाती है।

6. सदन के नेता से परामर्श करके वह सरकारी कार्य का क्रम निर्धारित करता है और यदि उसका समाधान हो जाए कि उस क्रम में समुचित परिवर्तन करने का आधार है तो उसे बदल सकता है।

7. अध्यक्ष को लोकसभा में दलों तथा समूहों को मान्यता देने की भी शक्ति प्राप्त है।

8.वह लोकसभा की कार्यवाही का संचालन करता है।

9. लोकसभा की गुप्त बैठकों में अध्यक्ष ही यह निर्णय करता है कि कार्यवाही का वृतान्त कैसे तैयार किया जाय और ऐसे अवसरों पर किस प्रक्रिया का पालन किया जाए।

11. लोकसभा में व्यवस्था बनाये रखना अध्यक्ष की जिम्मेदारी है और वह सदस्यों से नियमों का पालन करवाता है। कौल तथा शकधर के अनुसार, "सभा में व्यवस्था बनाये रखना अध्यक्ष का मूल कर्तव्य है। उनकी अनुशासनात्मक शक्तियों का उद्‌गम सभा के नियम है और अनुशासन सम्बन्धी मामलों में उसके निर्णय को सिवाए मुख्य प्रस्ताव के माध्यम से और किसी प्रकार चुनौती नहीं दी जा सकती ।

अध्यक्ष किसी सदस्य की भाषण की असंगत बातों या उनमें दोहराई जाने वाली बातों को रोक सकता है। जब कोई सदस्य किसी के लिए कोई अनुचित या अपमानजनक बात कहे तो अध्यक्ष उसे रोक सकता है और कह सकता है कि या तो अपने शब्द वापस ले या अपने स्वविवेक का प्रयोग करके वाद-विवाद में प्रयुक्त अपमानजनक या अश्लील शब्दों या किसी ऐसे सदस्य द्वारा कही गई किसी बात को कार्यवाही के वृतान्त से निकाल सकता है, जिसे बोलने की अनुमति न दी गई हो। जो सदस्य उच्छृंखल व्यवहार का दोषी हो उसे अध्यक्ष सभा का त्याग करने के लिए कह सकता है। यदि कोई सदस्य अध्यक्ष के अधिकार की अवहेलना करे और लगातार सभा की कार्यवाही में बाधा डालता रहे तो अध्यक्ष उसका नाम लेकर उसे सभा से निलंबित कर सकता है। यदि लोकसभा में शोरगुल और अव्यवस्था हो तो वह सभा को स्थगित कर सकता है या उसका कार्य निलंबित कर सकता है।

12. यह अध्यक्ष ही तय करता है कि कब किस सदस्य को बोलने का अवसर दिया जाये और उसे कितनी देर बोलने दिया जाये। जब भी आवश्यक हो वह भाषणों की समय सीमा निर्धारित कर सकता है।

13. वह सभा के विचार के लिए प्रश्न प्रस्तावित करता है और उन प्रस्तावों को सभा के निर्णय के लिए उसके सामने रखता है। सदस्य जो व्यवस्था पर प्रश्न उठाते हैं, उन पर अध्यक्ष ही अपना निर्णय देता है और उसका निर्णय अन्तिम होता है।

14. अध्यक्ष संकल्पों तथा प्रस्तावों की ग्राह्यता का भी निर्णय करता है। प्रश्नों की ग्राह्यता के समान उसे संकल्पों तथा प्रस्तावों को स्वीकार करने के सम्बन्ध में भी सामान्य रूप से विवेकाधिकार है। वह यह निर्णय करता है कि मंत्रिपरिषद पर अविश्वास का प्रस्ताव नियमानुकूल है या नहीं और कटौती प्रस्ताव अर्थात् अनुदानों की मांग में कटौती करने का प्रस्ताव नियमों के अंतर्गत ग्राह्य है या नहीं।

15. अध्यक्ष को यह शक्ति प्राप्त है कि वह विधेयकों तथा संकल्पों के सम्बन्ध में रखे गए संशोधनों में से कुछ को सभा के सामने पेश करने के लिए चुन सकता है और किसी भी ऐसे संशोधन को सभा के सामने रखने से इंकार कर सकता है जो उसके विचार में तुच्छ हो।

16. लोकसभा में याचिकाएँ पेश करने के लिए भी अध्यक्ष की स्वीकृति आवश्यक है।

17. लोकसभा के नेता के परामर्श से वह बजट, विनियोग विधेयक और वित्त विधेयक पर सभा द्वारा विचार करने के लिए दिन और समय नियत करता है।

18. उसकी सहमति के बिना किसी सदस्य, सभा या उसकी समिति के विशेषाधिकार भंग के सम्बन्ध में कोई भी प्रश्न सभा में नहीं उठाया जा सकता ।

19.सभी संसदीय समितियों पर अध्यक्ष का सर्वोच्च नियंत्रण है। वह उनके सभापतियों का नियुक्ति करता है और उनके काम के संगठन या उनके द्वारा अपनाई जाने वाली प्रक्रिया के सम्बन्ध में ऐसे निर्देश दे सकता है जो वह आवश्यक समझे। वह उनके साथ समय-समय पर परामर्श करता है और उनका मार्गदर्शन करता है। समितियों के सम्बन्ध में कुछ शक्तियाँ अध्यक्ष के लिए आरक्षित हैं: कोई समिति पहले से अध्यक्ष से अनुमति लिए बिना संसद भवन से बाहर अपनी बैठक नहीं कर सकती और न ही उसकी पूर्व स्वीकृति लिए बिना राज्य सरकार के अधिकारियों को गवाही देने के लिए बुला सकती है।

20. सभा की कतिपय समितियाँ जैसे 'कार्य मंत्रणा समिति', 'सामान्य प्रयोजन समिति' और 'नियम समिति' अध्यक्ष के नेतृत्व में ही कार्य करती हैं और अध्यक्ष ही इनका सभापति होता है।

21. जहां तक लोकसभा या उससे सम्बन्धित मामलों का प्रश्न है, उनके बारे में संविधान तथा नियमों की व्याख्या करने का अधिकार अध्यक्ष का है और कोई भी सरकार इस सम्बन्ध में अध्यक्ष से वाद-विवाद नहीं कर सकती।

22. अध्यक्ष अपने आसन पर बैठकर जो विचार प्रकट करता है वह उनके सम्बन्ध में सार्वजनिक रूप से समाचार-पत्रों में किसी विवाद में नहीं पड़ता ।

23. अध्यक्ष सभा में नियम संबंधी निर्देश भी करता है। सभा की अवधि समाप्त होने पर विदाई भाषण देता है और साथ ही महत्वपूर्ण राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के सम्बन्ध में औपचारिक अवसरों पर भाषण भी देता है।

24. लोकसभा के नियमों के अंतर्गत अध्यक्ष को यह शक्ति प्राप्त है कि जब कोई विधेयक पास हो जाए तो वह उसमें प्रत्यक्ष गलतियों को शुद्ध कर सकता है और अन्य ऐसे परिवर्तन कर सकता है जो सभा द्वारा स्वीकृत संशोधनों के आनुषंगिक हों।

25. जब कोई विधेयक संसद द्वारा पारित कर दिया गया हो और उस समय सभा में हो तो अध्यक्ष से यह अपेक्षा की जाती है कि वह उसे राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त करने के लिए भेजने से पहले उस पर हस्ताक्षर कर प्रमाणित करे ।

26. अध्यक्ष सचिवालय का प्रमुख है जो कि उसके नियंत्रण तथा निर्देशों के अंतर्गत कार्य करता है। लोकसभा के समस्त कर्मचारियों, उसके परिसर तथा सुरक्षा के सम्बन्ध में अध्यक्ष का अधिकार सम्पूर्ण है। सभी अजनबी, आगन्तुक तथा समाचार-पत्रों के संवाददाता उसके अनुशासन तथा आदेशों के अधीन है।

27. लोकसभा के सदस्यों के अधिकारों की रक्षा उसकी जिम्मेदारी है। वह सदस्यों के लिए समुचित सुविधाओं की व्यवस्था करता है। अध्यक्ष की अनुमति लिए बिना न तो सभा के परिसर में किसी को गिरफ्तार किया जा सकता है और न फौजदारी या दीवानी कानून के अंतर्गत कोई आदेशिका उसे दी जा सकेगी।

28. लोकसभा के अध्यक्ष को मंत्रियों से पूछे जाने वाले प्रश्नों के सम्बन्ध में विभिन्न शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। यद्यपि प्रश्नों की ग्राह्यता के संबंध में मार्ग दर्शक सिद्धांत नियमों में दिए गए हैं, परन्तु उसका निर्वाचन करने की शक्ति अध्यक्ष के हाथ में है। अध्यक्ष यह फैसला कर सकता है कि किन प्रश्नों का मौखिक के स्थान पर लिखित उत्तर अधिक उपयुक्त होगा।

उपरोक्त शक्तियों तथा कृत्यों से स्पष्ट है कि हमारी लोकसभा के अध्यक्ष की विशाल शक्तियाँ हैं। इन शक्तियों एवं अधिकारों के प्रयोग से ही वह हमारी विशाल सभा का सफलतापूर्वक संचालन एवं नेतृत्व करता है।

अध्यक्ष की वास्तविक स्थिति

अध्यक्ष सदन की प्रतिष्ठा, शक्ति तथा गौरव का द्योतक है। भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री नेहरू के शब्दों में, "अध्यक्ष सभा का प्रतिनिधि है। वह सभा की गरिमा और उसकी स्वतंत्रता का प्रतीक है और चूंकि सभा राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करती है अतः एक तरह से अध्यक्ष राष्ट्र की स्वतंत्रता और आजादी का प्रतीक बन जाता है। अतः यह उचित ही है कि अध्यक्ष का पद एक सम्मानित पद है। उनकी स्वतंत्र स्थिति है और उस पद पर वही व्यक्ति आसीन होने चाहिए जो असाधारण रूप से योग्य तथा निष्पक्ष हों।" लोकसभा के भूतपूर्व सचिव एम.एन. कौल के अनुसार, "यद्यपि साधारणतया अध्यक्ष अध्यक्षता करता है, निगरानी रखता है तथा विवादों को नियंत्रित करता है, लेकिन उसकी स्थिति इतनी महत्वपूर्ण है कि किसी भी संकट में उसकी शक्तियाँ राजनीतिक दृष्टि से बहुत अधिक महत्वपूर्ण हो सकती हैं।" यथार्थ में भारतीय संसदीय व्यवस्था में लोकसभा का अध्यक्ष उस संतुलित-चक्र के समान है, जिससे कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका के सम्बन्धों में लोकतांत्रिक संतुलन स्थापित किया जा सकता है। पं. जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में, "सरकार की ओर से मैं यह कहूँगा कि हम यह चाहेंगे कि माननीय अध्यक्ष अब और हमेशा सदन की स्वतंत्रता की रक्षा प्रत्येक खतरे से करेंगे कार्यपालिका के अतिक्रमण के खतरे से भी। यह खतरा हमेशा बना रहता है कि एक राष्ट्रीय सरकार अल्पसंख्यकों के विचारों के दमन का प्रयत्न करे और ऐसी स्थिति में ही अध्यक्ष का यह दायित्व हो जाता है कि वह सदन के प्रत्येक सदस्य तथा प्रत्येक इकाई की एक प्रभुत्वपूर्ण सरकार से रक्षा करें।"

अध्यक्ष के विनिर्णय नजीरें हैं जिनसे आगे आने वाले अध्यक्षों, सदस्यों तथा अधिकारियों का पथ-प्रदर्शन होता है। ऐसी नजीरों का संग्रह कर लिया जाता है और समय आने पर या तो वे प्रक्रिया नियमों में परिवर्तित हो जाती हैं और या परिपाटियों के रूप में इनका अनुसरण किया जाता है। अध्यक्ष के विनिर्णयों को केवल प्रस्ताव रखकर ही चुनौती दी जा सकती है, वैसे उन पर आपत्ति नहीं उठाई जा सकती। जो सदस्य अध्यक्ष के विनिर्णय पर विरोध प्रकट करता है वह सभा और अध्यक्ष के अपमान का दोषी होता है। अध्यक्ष अपने निर्णय के कारण बताने के लिए बाध्य नहीं होता। अध्यक्ष द्वारा दिए गए विनिर्णय या व्यक्त किए गए विचार या दिए गए वक्तव्य की आलोचना नहीं की जा सकती ।

लोकसभा का अध्यक्ष भारतीय संसदीय समूह का पदेन सभापति होता है जो भारत में अन्तर्संसदीय संघ के राष्ट्रीय समूह के रूप में और राष्ट्रमण्डल संसदीय संस्था के रूप में काम करता है। वह राज्यसभा के सभापति के परामर्श से विदेशों को जाने वाले विभिन्न संसदीय प्रतिनिधिमण्डलों के लिए सदस्यों का नाम निर्देशन करता है। कभी-कभी वह स्वयं इन प्रतिनिधिमण्डलों का नेतृत्व करता है। संसदीय सचिवालय और सदन की इमारत अध्यक्ष के नियंत्रण में होती है। इनका सारा प्रशासन अध्यक्ष के आदेशों से ही चलता है। सदन के कार्य को चलाने सम्बन्धी सारे अधिकार भी अध्यक्ष को प्राप्त होते हैं।

प्रो. पायली के अनुसार, कुछ ही वर्षों के भीतर लोकसभा के अध्यक्ष-पद ने सदन की गरिमा को अपनी निष्पक्षता द्वारा बनाये रखा है। प्रारम्भ में मावलंकर जैसे अध्यक्ष इस विचारधारा के थे कि सदन में वह निर्दलीय व्यक्ति के समान आचरण करें, किन्तु सदन के बाहर वह दलगत निष्ठायें रख सकता है। परन्तु बाद के अध्यक्षों जैसे नीलम संजीव रेड्डी तथा गुरुदयाल सिंह ढिल्लन ने अध्यक्ष-पद धारण करते ही दल की राजनीति से सन्यास ले लिया। अध्यक्ष को भारत में सातवाँ स्थान प्राप्त है, जो सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के बराबर का है।

अध्यक्ष को लोकसभा के अभिभावक का-सा दायित्व निभाना होता है। सदन में व्यक्तिगत आरोप-प्रत्यारोप के बजाए स्वस्थ विचारों के आदान-प्रदान का समुचित अवसर प्रदान करना होता है।

ऐस्किन ने कहा है- "अध्यक्ष की तटस्थता में विश्वास प्रक्रिया के सफल रूप से संचालन के लिए अनिवार्य है। बहुत-सी परिपाटियाँ ऐसी हैं जिनका उद्देश्य न केवल यह है कि अध्यक्ष की तटस्थता बनी रहे, बल्कि यह भी कि उसकी तटस्थता को सभी स्वीकार करें।" संसद में अध्यक्षता करने वाले व्यक्तियों ने दलगत राजनीति से ऊपर उठकर कार्य किया है जिससे उनकी गरिमा में वृद्धि हुई है।

9.7 संसद की भूमिका समीक्षा

संसद हमारे देश में प्रजातंत्र की प्रतीक है। उसे जनता के सस्पन्द हृदय की संज्ञा दी जा सकती है। किन्तु विगत कुछ वर्षों से हमारी राजनीतिक व्यवस्था में संसदीय शक्ति का उत्तरोत्तर ह्रास हो रहा है। डॉ. सिंघवी के अनुसार, "सिद्धान्ततः मंत्रिमंडल संसद की एक समिति है, संसद सरकार की जननी है किंतु वास्तव में संसद सरकार को नहीं चलाती क्योंकि संसद में सदैव ही सरकारी पक्ष का बहुमत होता है यह सत्य है कि कानून बनाने की एवं कर और शुल्क लगाने की सर्वोपरि सत्ता संसद में निहित है, किन्तु वास्तविकता यह है कि विविध अधिनियमों का गर्भाधान और जन्म मंत्रालयों में होता है,

संसद में केवल मंत्रोच्चारण के साथ उनका उपनयन संस्कार होता है और उन्हें औपचारिक यज्ञोपवीत दे दिया जाता है।" प्रो.जे.डी. सेठी के अनुसार, " सिद्धान्ततः जब तक संसद की मर्जी हो मंत्रिमंडल सत्तारूढ़ रह सकता है, लेकिन व्यवहार में मंत्रिमंडल ने संसद के काम और उसके अधिकार अधिकाधिक मात्रा में हथिया लिए हैं और जिसे मंत्रिमंडलीय तानाशाही कहते हैं उसकी आगवानी की है। भारत में हम एक कदम और आगे बढ़ गए और प्रधानमंत्री को इजाजत दी गई कि वे मंत्रिमंडल तथा संसद दोनों के अधिकार हथिया लें।"

यदि संसद को राजनीतिक व्यवस्था का केंद्र रहना है तो सभी सम्बद्ध पक्षों को एक राष्ट्रीय आधार पर इसकी गरिमा बनाए रखने के लिए प्रतिबद्ध रहना चाहिए। संसद सदस्य, सरकार, विपक्ष तथा जनतंत्रात्मक कार्यविधि में विश्वास रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य इसकी गरिमा बनाए रखना है। हम आशा करते हैं कि हमारी संसद भारतीय राजनीति में एक मध्यस्थ के रूप में, सरकार और जनता के बीच एक संचार माध्यम के रूप में तथा राजनीतिक व्यवस्था में विभिन्न शक्तियों के बीच समीकरण बनाए रखने में सफल होगी।

9.8 सार संक्षेप

भारत की संघीय संसद दो सदनों में बाँटी गई है: **लोक सभा (निचला सदन)** और **राज्य सभा (ऊपरी सदन)**। दोनों सदनों का कार्य, संरचना, और भूमिका अलग-अलग होती है, लेकिन दोनों मिलकर संसद के रूप में कार्य करती हैं और विधायिका की प्रमुख जिम्मेदारी निभाती हैं।

2.7 शब्दावली

संविधान (Constitution)भारतीय संविधान, जो संसद की संरचना, कार्यों और अधिकारों को निर्धारित करता है।

अनुच्छेद 79 से 122 तक संसद से संबंधित प्रावधान हैं।

कारम (Quorum)किसी बैठक के संचालन के लिए आवश्यक न्यूनतम सदस्य संख्या। लोक सभा में यह 10% और राज्य सभा में यह 1/10 होता है।

विधानसभा (Legislative Assembly):राज्य स्तर की विधायिका, जिसमें राज्यसभा और लोकसभा के समान कार्य होते हैं, लेकिन यह केवल राज्य स्तर पर होती है।

राष्ट्रपति (President)भारतीय संसद के संवैधानिक प्रमुख होते हैं। वे विधेयकों को स्वीकृति देने का कार्य करते हैं और संसद के सत्रों की घोषणा करते हैं।

समिति रिपोर्ट (Committee Report)संसद की समितियाँ विभिन्न मुद्दों पर अपनी जांच और विचार विमर्श के बाद रिपोर्ट प्रस्तुत करती हैं।

मोनार्क (Monarch):संसद में कोई भी बिल या प्रस्ताव राष्ट्रपति की स्वीकृति के बिना कानून नहीं बन सकता है।

9.8 स्व-प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

1.भारत की संसद से अभिप्राय है:

(अ) राज्यसभा तथा लोकसभा

(बी) यूक्रेन और वियतनाम और राष्ट्रपति

(स) लोकसभा

(द) राज्यसभा ।

2. भारत में संसदीय ढांचे की शासन पद्धति को अपनाया गया है:

(अ) और ब्रिटिश संसद की भांति भारतीय संसद सम्प्रभु है

(व) तथापि संसद की शक्तियों को मर्यादित बतलाया गया है

(स) इसलिए संसद जो कुछ चाहे, जिस किस रूप में चाहे, विधि निर्माण कर सकती है।

(द) और हमारी शासन व्यवस्था नितान्त संसदीय है।

3. राज्यसभा के सदस्यों की अधिकतम संख्या निश्चित है:

(अ) 244

(ब) 240

(स) 280

(द) 250

4. निम्न में से कौन-सा वक्तव्य सही नहीं है?

(अ) संसद संघीय सूची के विषयों पर कानून बना सकती है

(ब) संसद समवर्ती सूची के विषयों पर कानून बना सकती है

(स) संसद राज्य सूची के विषयों पर कानून बना सकती है

(द) सभी सही है।

5. मंत्रिमण्डल

(अ) लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है

(ब) राज्यसभा के प्रति उत्तरदायी है

(स) संसद के प्रति उत्तरदायी है

(द) राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी है।

6.संविधान के संशोधन की जो प्रक्रिया है उसको :

(अ) संसद संशोधित कर सकती है

(ब) संसद संशोधित नहीं कर सकती

(स) लोकसभा संशोधित कर सकती है

(द) कोई भी संशोधित नहीं कर सकता।

7.राज्यसभा के सदस्यों का चुनाव :

(अ) लोकसभा द्वारा किया जाता है

(ब) जनता द्वारा किया जाता है

(स) राज्य विधानसभाओं के सदस्यों द्वारा किया जाता है

(द) राज्य विधानमण्डलों के सदस्यों द्वारा किया जाता है।

8.राज्यसभा की सदस्यता के लिए आयु आर्हता है:

(अ) आयु 25 वर्ष से कम न हो

(ब) आयु 30 वर्ष से कम न हो

(स) आयु 21 वर्ष से कम न हो

(द) आयु 35 वर्ष से कम न हो।

उत्तर (1) नं, (2) ब, (3) द, (4) द, (5) स, (6) अ, (7) स, (8) ब,

9.11 संदर्भ सूची

1. पांडेय, एस. (2020). *भारतीय राजनीति और सरकार की संरचना.* दिल्ली: राजकमल प्रकाशन।
2. शर्मा, बी. (2021). *संविधान और भारतीय संसद.* दिल्ली: Oxford University Press।
3. चौधरी, ए. (2022). *भारतीय राजनीति का विकास.* दिल्ली: सागर प्रकाशन।
4. सिंह, एस. (2023). *लोकतंत्र और भारतीय संसद.* जयपुर: महर्षि पब्लिकेशन।
5. वर्मा, एन. (2021). *संघीय संसद और राज्य सभा की भूमिका.* मुंबई: ग्रंथालय प्रकाशन।
6. जैन, पी. (2020). *भारतीय राजनीति में संविधान और संसद की स्थिति.* नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन।

9.12 अभ्यास प्रश्न

1. भारतीय संसद के संगठन तथा कार्यों का विवेचना कीजिए ।
2 राज्य सभा के संगठन एवं अधिकारों का वर्णन कीजिए
3. लोकसभा के कार्यों एवं शक्तियों का वर्णन कीजिए।
4. लोकसभा के अध्यक्ष की शक्तियों एवं भूमिका को समझाइये ।
5. "राज्य सभा की तुलना में लोकसभा शक्तिशाली सदन है।" टिप्पणी कीजिए।
6. भारतीय शासन एवं राजनीति
7. लोकसभा का गठन समझाइये ।
8. राज्य सभा का गठन समझाइये ।
9. लोकसभा और राज्य सभा के आपसी संबंधों पर प्रकाश डालिए।
10. राज्य सभा की महत्वपूर्ण भूमिका समझाइये।

इकाई 10

सर्वोच्च न्यायालय

10.1 प्रस्तावना
10.2 उद्देश्य
10.3 सर्वोच्च न्यायालय की आवश्यकता
10.4 सर्वोच्च न्यायालय का संगठन
10.5 सर्वोच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार एवं शक्तियाँ
10.6 मूल अधिकारों के संरक्षक के रूप में सर्वोच्च न्यायालय
10.7 संविधान के संरक्षक के रूप में सर्वोच्च न्यायालय
10.8 सर्वोच्च न्यायालय का मूल्यांकन
10.9 सार संक्षेप
10.10 शब्दावली
10.11 स्व -प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर
10.12संदर्भ सूची
10.13 अभ्यास प्रश्न

10.1 प्रस्तावना

भारत का सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court of India) भारत में न्यायिक प्रणाली का सर्वोच्च और अंतिम न्यायालय है। यह भारत के संविधान के तहत एक संवैधानिक संस्था है, जो न्यायिक शक्तियों का प्रयोग करती है और न्याय व्यवस्था की सर्वोच्चता सुनिश्चित करती है। सर्वोच्च न्यायालय भारत के नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा करने, संविधान की व्याख्या करने और देश के सभी कानूनी मामलों में अंतिम निर्णय देने की जिम्मेदारी निभाता है। इसका गठन भारतीय संविधान के अनुच्छेद 124 के तहत किया गया था।

10.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप निम्नलिखित कार्य करने में सक्षम होंगे:

1. सर्वोच्च न्यायालय की संरचना और कार्यप्रणाली को समझ सकेंगे।
2. सर्वोच्च न्यायालय के अधिकारों और कर्तव्यों की पहचान कर सकेंगे।
3. सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों का महत्व और उनके समाज पर प्रभाव को जान सकेंगे।
4. सर्वोच्च न्यायालय के ऐतिहासिक निर्णयों को विश्लेषित कर सकेंगे।
5. सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति प्रक्रिया को समझ सकेंगे।

10.3 सर्वोच्च न्यायालय की आवश्यकता

भारत के लोकतांत्रिक संविधान में दो बातों पर विशेष बल दिया गया है प्रथम, सरकार के विभिन्न अंगों को संविधान द्वारा स्थापित संघीय व्यवस्था के अंतर्गत कार्य करना है तथा द्वितीय, सर्वोच्च न्यायालय को संविधान की सीमाओं में राज्य सत्ता तथा नागरिक अधिकारों के मध्य संघर्ष की स्थिति में लोकतांत्रिक संतुलन स्थापित करना है। वस्तुतः लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था की दृष्टि से हमारे देश में सर्वोच्च न्यायालय की आवश्यकता अनेक कारणों से महसूस की गई-

1. संघात्मक शासन-व्यवस्था के कारण जी.एन. जोशी के अनुसार, "संघात्मक सरकार में कई सरकारों का समन्वय होने के कारण संघर्ष अवश्यम्भावी है। अतः संघीय नीति का यह आवश्यक गुण है कि देश में ऐसी न्यायिक संस्था हो जो संघीय कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका तथा इकाइयों की सरकारों से स्वतंत्र हो। "शासकीय सत्ता का केन्द्रीय तथा राज्यों की सरकारों के मध्य विभाजन संघीय संविधान की विशेषता हैं। किसी भी शक्ति-विभाजन की प्रक्रिया में क्षेत्राधिकार के प्रश्न को लेकर संघ तथा राज्यों में बाद-विवाद पैदा होना स्वाभाविक है। शक्ति विभाजन संविधान के अनुसार होता है इसलिए इन सभी विवादों का निर्णय एक संविधान में अंकित व्यवस्था के अनुसार ही होना चाहिए। न्याय की यह मांग है कि ऐसे सभी विवादों का निर्णय एक निष्पक्ष एवं स्वतंत्र प्राधिकारी के द्वारा किया जाए। संघीय संविधान में सर्वोच्च न्यायालय ही एक ऐसा प्राधिकारी हो सकता है।

2. संविधान की व्याख्या का कार्य सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा संविधान के रक्षक और संविधान के अधिकारिक व्याख्याता के रूप में कार्य किया जाता है। संविधान-निर्मात्री सभा में कहा गया था कि 'यह संविधान का व्याख्याकार और संरक्षक होगा। 'भारतीय संविधान की भावना की आधिकारिक व्याख्या सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा ही की जाएगी।

3. शासन का संतुलन-चक्र- सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका एक संतुलन चक्र के समान है क्योंकि जहां शासन के अन्य अंग जनता की उत्तेजित भावना से प्रभावित हो सकते हैं, वहां सर्वोच्च न्यायालय शासन का एक ऐसा अंग है जो निष्पक्षतापूर्वक सरकार के कार्यों सरकार के सतुलन स्थापित कर सकता हैं। सावधान के अनुसार करके,

4. मौलिक अधिकारों का रक्षक संविधान-निर्माताओं का कथन था कि 'सर्वोच्च न्यायालय नागरिकों के मौलिक अधिकारों का संरक्षक होगा।' संविधान के अनुच्छेद 32 के अन्तर्गत यह न्यायालय संविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकारों का अभिरक्षक हैं। संघीय अथवा राज्यों की सरकारों द्वारा इन अधिकारों का अतिक्रमण रोकना तथा अतिक्रमण होने पर उपचार करना इस न्यायालय का कर्तव्य हैं। पायली के अनुसार, "इन अधिकारों का महत्व एवं सत्ता समय-समय पर न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णयों से घोषित होती रहती है जिससे कार्यपालिका की स्वेच्छाचारिता तथा विधान-मंडल की असंवैधानिकता से नागरिकों की रक्षा होती है।"

5. विशिष्ट परामर्श देने के लिए गम्भीर तथा पेचीदी कानूनी उलझनों पर सर्वोच्च न्यायालय राष्ट्रपति को परामर्श देने का कार्य करता है। सार्वजनिक महत्व के जिन कानूनों तथा तथ्यों के विषय में राष्ट्रपति इस न्यायालय के विचार जानना चाहते हैं,उन विषयों में यह राष्ट्रपति को परामर्श देता है।

6. सामाजिक क्रांति का अग्रदूत अपितु संवैधानिक और साधारण कानूनों का अग्रदूत भी है। भारत में सर्वोच्च न्यायालय न केवल लोकतंत्र का प्रहरी है

10.4 सर्वोच्च न्यायालय का संगठन

संविधान लागू होते ही 'संघीय न्यायालय 'को 'सर्वोच्च न्यायालय 'में परिणित कर दिया गया। प्रारम्भ में सर्वोच्च न्यायालय में मुख्य न्यायाधीश के अतिरिक्त सात अन्य न्यायाधीश थे। 2009 में विधि द्वारा यह निर्धारित किया गया है कि सर्वोच्च न्यायालय में मुख्य न्यायाधीश सहित 31 न्यायाधीश होंगे। संविधान के अनुसार संसद् को न्यायाधीशों की संख्या में कमी या वृद्धि करने का अधिकार दिया गया है। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति भारत का राष्ट्रपति करता है। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति करने में राष्ट्रपति एक चयन समिति (कॉलिजियम) से परामर्श लेंगे जिसमें मुख्य न्यायाधीश के अतिरिक्त सर्वोच्च न्यायालय के चार अन्य वरिष्ठतम न्यायाधीश होंगे। कतिपय परिस्थितियों में सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त कर तदर्थ न्यायाधीशों की नियुक्ति कर सकते हैं। न्यायाधीशों की योग्यताएं

संविधान के अनुच्छेद 124 (3) के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के लिए निम्नलिखित अर्हताएं निर्धारित की गई हैं

(1) वह भारत का नागरिक हो।

(2) राष्ट्रपति की राय में पारंगत विधिवत हो,

(3) किसी उच्च न्यायालय का या ऐसे दो या अधिक न्यायालयों का लगातार कम-से-कम पाँच वर्ष तक न्यायाधीश रह चुका हो, अथवा किसी उच्च न्यायालय का, अथवा ऐसे दो या अधिक न्यायालयों का, लगातार कम-से-कम दस वर्ष तक अधिवक्ता रह चुका हो।

(4)कार्यकाल तथा महाभियोग सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश 65 वर्ष की अवधि तक अपने पद पर आसीन रहते हैं। 90 वर्ष की आयु के बाद उनकों सेवानिवृत्त कर दिया जाता है। कोई भी न्यायाधीश राष्ट्रपति को सम्बोधित करके अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपने पद को त्याग सकता है। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को महाभियोग द्वारा उनके पद से हटाया जा सकता है। इस प्रणाली के अनुसार उसे राष्ट्रपति तभी अपने पद से हटा सकता है जबकि संसद के एक ही सत्र में प्रत्येक सदन अपनी कुल संख्या के बहुमत और उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो-तिहाई मतों से इस आशय पर प्रस्ताव पारित करके (न्यायाधीश को पदच्युत करने का) अनुरोध करें। न्यायाधीश को अपने पक्ष में पैरवी का पूरा अवसर प्रदान किया जायेगा। यह प्रस्ताव राष्ट्रपति की ओर सम्बोधित होगा तथा न्यायाधीश के पदच्युत होने का आदेश राष्ट्रपति द्वारा दिया जायेगा।

न्यायाधीशों के वेतन व भत्ते सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को अब एक लाख रुपये को १0 हजार रुपये मासिक वेतन प्राप्त होता है।

किसी न्यायाधीश में कोई अलाभकारी की नियुक्ति के पश्चात् उसके विशेषाधिकारों, भत्तों, या निवृत्ति वतन । परिवर्तन नहीं किया जायेगा। इसका एकमात्र अपवाद राष्ट्रपति द्वारा वित्तीय संकट की घोषणा होने पर संसद की विधि द्वारा इन उपलब्धियों को कम करने का अधिकार है।

सर्वोच्च न्यायालय की प्रक्रिया सर्वोच्च न्यायालय की कार्यविधि के सम्बन्ध में संविधान में यथा स्थान प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है। संसद इस संबंध में नियम बना सकती है तथा राष्ट्रपति की अनुमति से सर्वोच्च न्यायालय भी नियम बना सकता है। जिन विषयों का सम्बन्ध संविधान की व्याख्या से है अथवा राष्ट्रपति को परामर्श देने से हैं उनकी सुनवाई न्यायालय के कम-से-कम पाँच न्यायाधीशों द्वारा की जाएगी। सर्वोच्च न्यायालय के समस्त निर्णय खुले होंगे। न्यायालय के निर्णय बहुमत से होते हैं।

अभिलेख न्यायालय - संविधान के अनुच्छेद 129 द्वारा इसे एक अभिलेख न्यायालय बनाया गया है। इस न्यायालय के अभिलेख सब जगह साक्षी के रूप में स्वीकार किए जाएंगे और भारत-क्षेत्र के किसी भी न्यायालय में प्रस्तुत किए जाने पर उनकी प्रामाणिकता के विषय में प्रश्न नहीं उठाया जाएगा। सर्वोच्च न्यायालय का अवमान किए जाने पर दण्ड दिया जायेगा।

पुनर्विलोकन का अधिकार संविधान के अनुच्छेद 137 के अनुसार भारत के सर्वोच्च न्यायालय को अपने निर्णयों को पुनर्विलोकन का अधिकार है। यदि सर्वोच्च न्यायालय किसी निर्णय में कोई त्रुटि करता है और बाद में उसे त्रुटि का अहसास हो जाए तो पुनर्विलोकन के अधिकार द्वारा उस निर्णय पर पुनर्विचार कर सकता है। अभी तक इस अधिकार के प्रयोग का अवसर कम ही आया है।

उन्मुक्तियाँ - सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को अपने सभी कार्यों और निर्णयों के लिए उन्मुक्तियाँ प्रदान की गई है। न्यायाधीशों पर यह आरोप नहीं लगाया जा सकता कि उन्होंने स्वार्थवश एक विशेष प्रकार का निर्णय दिया है। भारतीय संसद भी महाभियोग के प्रस्ताव के अतिरिक्त अन्य किसी समय पर न्यायाधीशों के आचरण पर विचार नहीं कर सकती। अपने गौरव एवं प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए सर्वोच्च न्यायालय अवमान की कार्यवाही कर सकता है।

10.5 सर्वोच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार एवं शक्तियाँ (Jurisdiction and Powers of the Supreme Court)

पायली के अनुसार "विश्व के अन्य किसी संघ के सर्वोच्च न्यायालय की अपेक्षा भारत के सर्वोच्च न्यायालय की शक्तियाँ अधिक व्यापक है।" एम.सी. सीतलवाड़ ने यह स्वीकार किया है कि, "सर्वोच्च न्यायालय का न्याय-क्षेत्र तथा उसकी शक्तियाँ राष्ट्रमंडल के किसी भी देश के सर्वोच्च न्यायालय तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के कार्य-क्षेत्र तथा शक्तियों से व्यापक हैं।" सर्वोच्च न्यायालय के विभिन्न कार्य इसके विभिन्न क्षेत्राधिकार में निहित हैं। सर्वोच्च न्यायालय को प्रारम्भिक, अपीलीय तथा परामर्श सम्बन्धी सभी अधिकार है-

1. प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार सर्वोच्च न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत निम्न विषय आते हैं।

(i)भारत सरकार तथा एक या एक से अधिक राज्यों के बीच विवाद

(ii) भारत सरकार, राज्य या कई राज्यों तथा एक या अधिक राज्यों के बीच विवाद ।

(iii) दो या दो से अधिक राज्यों के बीच विवाद, जिसमें कोई ऐसा प्रश्न निहित हों, जिसमें किसी ऐसे कानून या तथ्य का प्रश्न हो, जिस पर कोई कानूनी अधिकार आधारित है।

(iv) मौलिक अधिकारों के प्रवर्तन के लिए सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय किसी के भी द्वारा आवश्यक कार्यवाही की जा सकती है।

(v) अनुच्छेद 71 (1) के अनुसार राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से सम्बन्धित विवादों के निर्णय के लिए सर्वोच्च न्यायालय मौलिक क्षेत्राधिकार का प्रयोग कर सकता है।

सर्वोच्च न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार का भारत की संघीय शासन व्यवस्था की दृष्टि से विशिष्ट महत्व है। भारतीय संविधान द्वारा किए गए शक्ति विभाजन के फलस्वरूप तथा संघ राज्यों के क्षेत्राधिकारों की पवित्रता को बनाए रखने के लिए सर्वोच्च न्यायालय की निष्पक्ष भूमिका अत्यधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। फिर भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के अंतर्गत बहुत कम विवाद सर्वोच्च न्यायालय के पास आए हैं। ऐसे मामलों में सर्वोच्च न्यायालय का कर्तव्य है कि संघ के दोनों पक्षों के लिए न्याय के तराजू के दो पलड़ों को समान रखें।

2. अपीलीय क्षेत्राधिकार सर्वोच्च न्यायालय को उच्च न्यायालयों के निर्णय के विरुद्ध अपील सुनने का अधिकार है। संविधान के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय दीवानी, फौजदारी एवं संवैधानिक मामलों में अपील सुनने के लिए देश का अन्तिम न्यायालय हैं। सर्वोच्च न्यायालय का अपीलीय क्षेत्राधिकार निम्नलिखित प्रकरणों के सम्बन्ध में है-

(a) दीवानी प्रकरण संविधान के अनुच्छेद 133 के अनुसार भारत राज्यक्षेत्र में स्थित किसी उच्च न्यायालय की दीवानी कार्यवाही के अंतर्गत किसी निर्णय की अपील सर्वोच्च न्यायालय में हो सकेगी, यदि उच्च न्यायालय यह प्रमाणित करें कि विवादास्पद विषय की राशि बीस हजार रूपये से कम नहीं है और उक्त विवाद सर्वोच्च न्यायालय में अपील के योग्य है। इस प्रमाण-पत्र को पाने के बाद ही कोई दीवानी विवाद सर्वोच्च न्यायालय में पुनर्विचार के लिए प्रस्तुत किया जा सकता है। संसद विधि पारित कर न्यायालय के दीवानी सम्बन्धी पुनर्विचार अधिकार क्षेत्र में वृद्धि कर सकती हैं। संविधान के तीसवें संशोधन अधिनियम 1972 द्वारा अनुच्छेद 133 में परिवर्तन किया गया है और अब यह निश्चित किया गया है कि सम्पत्ति के मूल्य पर दृष्टिपात न करते हुए, दीवानी मामले के कानूनी पहलू के आधार पर सर्वोच्च न्यायालय में सुनवाई हो सकेगी।

(b) फौजदारी प्रकरण अनुच्छेद 134 के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय को, किसी उच्च न्यायालय के अन्तिम निर्णय की अपील निम्न परिस्थितियों में की जा सकेगी (i) यदि उच्च

न्यायालय ने अपील प्रस्तुत होने पर किसी व्यक्ति का उन्मुक्ति का आदेश रद्द कर उसे मृत्यु दण्ड दिया हो, (ii) उच्च न्यायालय ने किसी अधीनस्थ न्यायालय से अभियोग विचारार्थ अपने पास मंगवाकर अभियुक्त को प्राण दण्ड दिया हो, (iii) यदि उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि विवाद सर्वोच्च न्यायालय द्वारा विचार के योग्य हैं, तो अपील की जा सकती है।

(c) संवैधानिक प्रकरण सर्वोच्च न्यायालय किसी उच्च न्यायालय के फैसलों के विरुद्ध संवैधानिक मामलों में अपील उस समय सुन सकता है जबकि उच्च न्यायालय यह प्रमाण-पत्र दे दें कि उस मामलें में गम्भीर कानूनी प्रश्न विचारणीय है अथवा संविधान के निर्वचन की आवश्यकता है। यदि उच्च न्यायालय ऐसा प्रमाण-पत्र न दे तो भी सर्वोच्च न्यायालय अपने अधिकार से किसी व्यक्ति को ऐसा प्रमाण-पत्र दे सकता है और उसकी अपील सुन सकता है। अनुच्छेद 145 (3) के अनुसार जब कभी सर्वोच्च न्यायालय संवैधानिक प्रकरणों की सुनवाई करेगा तो खण्डपीठ में कम से कम पाँच न्यायाधीश होने चाहिए।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 138 के अन्तर्गत संसद सर्वोच्च न्यायालय के अपीलीय क्षेत्राधिकार में विधि द्वारा वृद्धि कर सकती है। अनुच्छेद 136 के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय अपने विवेकानुसार किसी भी मुकदमें या वाद के सम्बन्ध में किसी भी न्यायालय या न्यायाधिकरण (सैनिक न्यायाधिकरण के निर्णय को छोड़कर) के द्वारा दिए गए निर्णय या आदेश के विरुद्ध अपील करने के लिए विशेष अनुमति प्रदान कर सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि भारत में सर्वोच्च न्यायालय को संवैधानिक विवादों पर निर्णय देने का अन्तिम अधिकार है। पायली के अनुसार, "यह मानना ही पड़ेगा कि अनुच्छेद 136 द्वारा न्यायालय को बहुत भारी सत्ता मिली है। समाजवादी ढंग के समुदाय की स्थापना करने के लिए संघ तथा राज्यों द्वारा जो विभिन्न प्रशासकीय प्राधिकरण प्रस्थापित किए गए हैं उनके स्वेच्छाचारी तथा अन्यायपूर्ण नियमों की रोकथाम करने के लिए न्यायालय के पास इस अनुच्छेद द्वारा प्रदत्त अधिकार एक उत्तम एवं सुलभ उपकरण बन गए हैं।"

3. परामर्श सम्बन्धी क्षेत्राधिकार संविधान के अनुच्छेद 143 के अन्तर्गत कहा गया है कि यदि किसी भी समय राष्ट्रपति को ऐसा प्रतीत हो कि कानून या तथ्यों के बारे में कोई ऐसा महत्वपूर्ण प्रश्न खड़ा हुआ है, या होने वाला है जो कि इतने महत्वपूर्ण स्वरूप का है कि उस पर सर्वोच्च न्यायालय का परामर्श लेना आवश्यक है तो इस प्रश्न की सम्मति के लिए सर्वोच्च न्यायालय को भेज सकता है तथा सर्वोच्च न्यायालय समुचित सुनवाई के बाद राष्ट्रपति को अपना परामर्श दे सकता है। जहां इस अनुच्छेद के अन्तर्गत राष्ट्रपति को यह

स्वतंत्रता है कि यदि वे चाहें तो किसी प्रश्न पर सर्वोच्च न्यायालय का परामर्श ले सकते हैं वहीं सर्वोच्च न्यायालय को भी यह स्वतंत्रता है कि यदि वह चाहे तो परामर्श दें।

भारत में आज तक सर्वोच्च न्यायालय ने राष्ट्रपति को परामर्श देने से इंकार नहीं किया और न ही किसी मामले में जब भी इस प्रकार का परामर्श राष्ट्रपति को दिया गया तो उन्होंने पालन करने से इंकार नहीं किया है। संविधान के अनुच्छेद 143 (1) के अंतर्गत राष्ट्रपति अब तक 9 बार सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श ले चुके हैं। जनवरी 1993 में अयोध्या में विवादित ढांचे वाली भूमि पर पहले मंदिर था या नहीं, इस बारे में सर्वोच्च न्यायालय की राय लिए जाने का प्रावधान हैं। इस संबंध में राष्ट्रपति ने सर्वोच्च न्यायालय से अनुच्छेद 143 के अन्तर्गत परामर्श देने का अनुरोध पत्र दाखिल करवाया था किन्तु न्यायालय ने परामर्श देने से इंकार कर दिया ।

10.6 मूल अधिकारों के संरक्षक के रूप में सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court as the Guardian of the Fundamental Rights)

भारतीय संविधान अध्याय तीन में भारत के नागरिकों के छः मूल अधिकारों का उल्लेख है। सर्वोच्च न्यायालय संविधान उल्लेखित इन मौलिक अधिकारों का भी संरक्षक है। संविधान के अनुच्छेद 32 के अनुसार सर्वोच्च न्यायात को मूल अधिकारों की रक्षा करने के लिए आदेश जारी करने की शक्ति प्राप्त है। मौलिक अधिकारों की रथ" करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय पाँच प्रकार के आदेश जारी कर सकता है- (1) बन्दी प्रत्यक्षीकरण (होचास कारपस) (2) परमादेश (मेण्डेमस), (3) प्रतिषेध (प्राहिबिशन) (4) उत्प्रेषण (सरटियोरेरी), और (5) ओ एच्छा (क्को वारण्टो)। यदि किसी नागरिक के मूल अधिकारों का हनन होता है तो वह सर्वोच्च न्यायाल५५ सहायता ले सकता है। वस्तुतः अनुच्छेद 32 द्वारा नागरिकों के मूल अधिकारों का अतिक्रमण होने की स्थिति में नागरिकों के लिए उपचार की व्यवस्था की गई है। संविधान के अनुच्छेद 13 के अनुसार कोई भी कानून यदि मूल अधिकारों का अतिक्रमण करता है तो उसको अवैध माना जायेगा। यदि व्यवस्थापिका और कार्यपालिका ऐसे कानून बनाएं जो मूल अधिकारों का हनन करते हैं तो ऐसे कानूनों एवं आदेशों को अवैध घोषित करने की अन्तिम जिम्मेदारी सर्वोच्च न्यायालय की है।

मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए सर्वो न्यायालय ने अनेक महत्वपूर्ण निर्णय दिए हैं।'रमेश थापर बनाम मद्रास राज्य' के मामले में सर्वोच्च वालय का यह मत था कि अनुच्छेद 32 द्वारा नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षा करने के लिए एनाश्वासित

उपचार दिया गया है और इस उपचार के अधिकार को स्वयं संविधान में एक गृल कार माना गया है। इसमें न्यायालय मौलिक अधिकारों का संरक्षक बन जाता है।' गोपालन बनाम राज्य' मुकदमें में सर्वोच्च न्यायालय ने निवारक निरोध अधिनियम के खण्ड 14 को अवैध माना। भूषण बनाम दिल्ली राज्य' के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने समाचार-पत्रों की स्वतंत्रता का समर्थन या और कहा कि सामान्य शान्तिकालीन स्थिति में प्रेस को नियंत्रित करना अनुचित है। 'बम्बई राज्यम शिक्षा समाज' मुकदमें में न्यायालय ने अल्पसंख्यकों के सांस्कृतिक तथा शैक्षणिक अधिकारों को "क्षा के लिए निर्णय दिया। 'रशीद अहमद बनाम केन्द्रीय सरकार' के मामले में सर्वोच्च न्यायालय व्यवसाय करने की स्वतंत्रता की रक्षा की। 'शिब्बनलाल बनाम उत्तर प्रदेश राज्य' नामक विवाद मेर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि निवारक निरोध के अंतर्गत बंदी व्यक्ति को शीघ्रातिशीघ्र अपना पक्ष प्रण करने का अवसर दिया जाए।' गोलक नाथ बनाम पंजाब राज्य' के प्रकरण में तो सर्वोच्च न्यायालय यह निर्णय दिया कि मूल अधिकारों से संबंधित अनुच्छे में संशोधन नहीं किया जा सकता। चौदह वैीं के राष्ट्रीयकरण संबंधी कानूनों को भी सर्वोच्च न्यायाल ने इसलिए अवैध घोषित किया कि उससे सम्पत्ति के नागरिक अधिकार का हनन होता था। 'केशवा... भारती' के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने अनुच्छेद 31 (सी) के दूसरे खण्ड को अवैध घोषित कर ि क्योंकि इसके द्वारा नागरिक अधिकारों पर चोट होती थी। इस मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने स्पष्ट हा कि मूल अधिकारों से संबंधित संवैधानिक प्रावधानों में ऐसा कोई संशोधन नहीं किया जा सकता जिसे संविधान का बुनियादी ढांचा प्रभावित हो।

सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अपने इसी निर्णय को दोहराते हुए 'मिनर्वा मिल्स तथा अन्य बनाम भारत सरकार' के विवाद में मई 1980 को निर्णय देते हुए 42 वें संशोधन की धारा 4 और 55 को अवैध घोषित किया गया। केशवानन्द भारती और मिनर्वा मिल्स दोनों ही विवादों में निर्णय देते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने इस स्थिति को अपनाया कि निर्देशक तत्वों को मौलिक अधिकारों पर वरीयता की स्थिति

प्रदान नहीं की जा सकती और मौलिक अधिकारों से संबंधित प्रावधानों में ऐसा कोई संशोधन नहीं किया जा सकता, जिससे संविधान का मूल ढांचा प्रभावित होता है।

10.7संविधान के संरक्षक के रूप में सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court as the Custodian of the Constitution)

भारतीय संविधान में कहीं भी इस बात का उल्लेख नहीं मिलता कि सर्वोच्च न्यायालय संविधान का संरक्षण कार्य करेगा। परन्तु भारतीय संविधान और शासन-

व्यवस्था के स्वरूप से सर्वोच्च न्यायालय संविधान का संरक्षक बन जाता है। संविधान ने केन्द्रीय शासन तथा राज्य शासन को सीमित शक्तियाँ प्रदान की हैं और यह अपेक्षा की है कि कोई भी शासन संविधान द्वारा निश्चित सीमाओं का उल्लंघन न करे। यदि कोई सरकार संविधान की सीमाओं से बाहर रहकर कार्य करती है तो उससे संविधान का उल्लंघन होता है। अतः यह देखना सर्वोच्च न्यायालय का कार्य है कि संविधान का उल्लंघन न हो। श्री बी.के. मुखर्जी के अभिमत में, "यह निर्णय करना न्यायपालिका का काम है कि अमुक कानून असंवैधानिक है या नहीं? सर्वोच्च न्यायालय के इसी अधिकार को न्यायिक पुनर्विलोकन का अधिकार कहा गया है।"

विधायक

(न्यायिक सक्रियता)

पिछले तीन दशकों से सर्वोच्च न्यायालय के दृष्टिकोण में व्यापक परिवर्तन आ रहा है। वह एक अनुदारवादी न्यायालय के स्थान पर प्रगतिशील दृष्टिकोण वाले सक्रिय न्यायालय का रुप ग्रहण करता जा रहा है। वह वैयक्तिक हितों के संरक्षक के साथ-साथ सामाजिक हित के संरक्षक के रुप में सक्रिय भूमिका का निर्वाह करने लगा है। सार्वजनिक हित (जनहित) संरक्षण से संबंधित मामलों पर अनेक याचिकाओं का निपटारा करते हुए न्यायालय ने सक्रियता दिखलायी। न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि अनुच्छेद 32 के अधीन कोई संस्था या सार्वजनिक हित से उत्प्रेरित कोई नागरिक किसी ऐसे व्यक्ति के संवैधानिक या विधिक अधिकारों के प्रवर्तन के लिए रिट फाइल कर सकता है जो निर्धनता अथवा किसी अन्य कारण से न्यायालय में रिट फाइल करने में सक्षम नहीं है। सार्वजनिक हित संरक्षण से संबंधित मामले किसी एक व्यक्ति के बजाय ऐसे 'समूह' के हितों के संरक्षण पर बल देते हैं जो कि शोषण और अत्याचार का शिकार होता है और जिसे संवैधानिक एवं मानवीय अधिकारों से वंचित कर दिया जाता है। पिछले वर्षों में सर्वोच्च न्यायालय ने आगरा प्रोटेक्शन होमकेस, भागलपुर जेल के विचाराधीन कैदियों के मामले में, एशियाड श्रमिक केस मामले में सक्रियता का परिचय दिया था।

1996-98 की कालावधि न्यायपालिका की सक्रियता की दृष्टि से अभूतपूर्व कही जा सकती है। जनहित याचिकाओं के जरिए शीर्ष पर व्याप्त भ्रष्टाचार को निशाना बनाया जाने लगा। । सर्वोच्च न्यायालय ने कुछ ऐसी जनहित याचिकाओं को स्वीकार किया। जैन हवाला मामला उन्हीं में से एक है। अक्टूबर, 1993 में दो पत्रकारों और दो वकीलों के दायर किए इस मामले में शुरुआत बहुत धीमी हुई क्योंकि जैन बन्धुओं की डायरी बहुत विस्फोटक थी। आरोप है कि सी.बी.आई.ने इस डायरी को दो साल तक दबाए रखा। तब

मुख्य न्यायाधीश एम.एन वेंकटचलैया ने दो महीने में ही सी.बी.आई. और सरकार को नोटिस जारी किए। सर्वोच्च न्यायालय ने सी.बी.आई. के निदेशक विजय रामाराव को निजी तौर पर जवाबदेह बनाया और उनसे हवाला जांच की प्रगति के बारे में अदालत को समय-समय पर सूचित करने को कहा। इसी के बाद मामला आगे बढ़ना शुरु हुआ। दूर संचार निविदा के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने उन याचिकाओं को स्वीकार किया जिनमें आरोप लगाया गया था कि कुछ निजी कम्पनियों को सरकारी खजाने और उपभोक्ताओं की कीमत पर फायदा पहुंचाया जा रहा है। जब एडवोकेट एस.एस.तिवारी ने अपनी जनहित याचिका में आरोप लगाया कि दिल्ली में रियायती किराए पर सरकारी कर्मचारियों को मकान आवण्टित करने में भारी भ्रष्टाचार हो रहा है तो सर्वोच्च न्यायालय ने पूर्व मंत्रियों सहित 72 अतिविशिष्ट व्यक्तियों को बंगले खाली करने के नोटिस दिए। हवाला काण्ड की चार्जशीट में कोर्ट की भूमिका से भ्रष्टाचार के मामलों में न्यायपालिका की बढ़ती सक्रियता का एहसास होता है। 1992 में 3,500 करोड़ रुपए का प्रतिभूति घोटाला, बाद में 300 करोड़ रुपए का दूरसंचार घोटाला और फिर पूर्व केन्द्रीय मंत्री शीला कौल द्वारा 8,700 सरकारी आवासों के मनमाने आवण्टन का मामला आया, लेकिन इन सारे घोटालों में भरपूर सबूतों के बावजूद देश की अग्रणी जांच एजेंसी सी.बी.आई. हाथ पर हाथ धरे बैठी रही। उसने सुरागों की पड़ताल नहीं की, जांच अधूरी छोड़ दी और कई बार मुख्य अभियुक्तों से पूछताछ तक नहीं की। अन्त में जनता के बढ़ते दबाव के चलते न्यायालयों को दखल देना पड़ा।

राजनीतिज्ञों के खिलाफ बेहद विवादास्पद मामले जनहित याचिका के रुप में न्यायालय के सामने लाए गए। मसलन लक्खूभाई पाठक और सेंट किट्स मामलों में दुबारा जान उस समय पड़ी जब अक्टूबर, 1995 में एडवोकेट ए.सी. प्रधान ने विवादास्पद तान्त्रिक चन्द्रास्वामी के खिलाफ याचिका दायर की। 14 फरवरी, 1996 को सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश कुलदीप सिंह और एन.पी. सिंह ने सी.बी.आई. को 1988 से 1994 के बीच बिना बारी के सरकारी मकान आवण्टित किए जाने की जांच के आदेश अदालत को मिली 200 शिकायतों के आधार पर दिए।

न्यायाधीशों को ऐसा लगा कि सी.बी.आई. सत्ताधीशों को बचाने का प्रयास कर रही है; अतः न्यायालय ने अपनी निगरानी वाली भूमिका को विस्तार देना शुरु किया। देश के सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालय महसूस कर रहे थे, कि सी.बी.आई. सत्ताधीशों की आपराधिक कार्यवाहियों का पता लगाने, उनकी जांच करने और फिर दोषियों को सजा दिलाने के अपने वैधानिक कर्तव्य में असफल रही है। ऐसी परिस्थितियों में न्याय दिलाने के लिए न्यायालयों के पास दखलन्दाजी के अलावा शायद कोई रास्ता नहीं बचा

था। जल्दी देश के उच्च न्यायालय भी सर्वोच्च न्यायालय के नक्शेकदम पर चल पड़े। दिल्ली उच्च न्यायालय ने झारखण्ड मुक्ति मोर्चा मामले की जांच के लिए न्यायालय अधिकारियों के रुप में सी.बी.आई. की नई टीम को नियुक्त किया। इसी तरह पटना उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति एस.एन.झा और न्यायमूर्ति एस.जे. मुखोपाध्याय की खण्डपीठ ने सी.बी.आई निदेशक जोगिन्दर सिंह को जांच से दूर रहने और चारा घोटाले की जांचं में किसी भी तरह से दखल न देने का निर्देश दिया।

न्यायिक सक्रियता से यह अभिप्राय नहीं है कि न्यायपालिका कार्यपालिका के अधिकारों को हथियाना चाहती है। इसका यही अर्थ है कि कार्यपालिका को उसके कर्तव्य का एहसास राया जाये। सर्वोच्च न्यायालय के पूर्व न्यायाधीश चेनप्पा रेड्डी के अनुसार "न्यायालय को निगरानी का काम इसलिए हाथ में लेना पड़ा क्योंकि उनके आदेशों को पूरा करने करने में में कार्यपालिका का रिकार्ड खराब रहा है।" जनहित याचिकाओं से न्यायिक सक्रियता के जिस दौर की शुरुआत हुई है उससे पलड़ा न्यायपालिका के पक्ष में झुका दिखाई देता है। न्यायिक सक्रियता के इस दौर में यह माना जाने लगा कि अब सरकार को न्यायपालिका ही चला रही है।

10.8 सर्वोच्च न्यायालय का मूल्यांकन

भारत में सर्वोच्च न्यायालय की कार्य-प्रणाली एवं गौरवमय इतिहास को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि यह स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्यायालय है। न्यायाधीशों की नियुक्ति का अधिकार राष्ट्रपति को दिया गया है और राष्ट्रपति स्वयं दलबन्दी तथा राजनीति से अलग रहते हैं। कार्यपालिका न्यायाधीशों को पदच्युत नहीं कर सकती। 65 वर्ष की आयु तक वे अपने पदों पर बने रहते हैं। न्यायाधीशों की पदच्युति की प्रक्रिया अत्यन्त कठोर है और व्यवहार में उसका क्रियान्वयन कठिन है। न्यायाधीशों को पर्याप्त वेतन तथा सुविधाएं दी गई हैं और उनका वेतन भारत की संचित निधि से दिया जाता है। संकटकाल को छोड़कर संसद भी उनके कार्यकाल में उनके वेतन में कमी नहीं कर सकती । न्यायालय से अवकाश ग्रहण करने के बाद न्यायाधीश किसी भी न्यायालय में वकालत नहीं कर सकता। जब न्यायाधीश अपने अधिकृत आसन से कोई निर्णय दे तो उसकी आलोचना नहीं की जा सकती। उनकी स्वतंत्रता को अक्षुण्ण बनाए रखने की दृष्टि से न्यायाधीशों पर कोई आक्षेप नहीं किया जा सकता तथा उनके अभिप्राय को अन्यथा नहीं समझा जाता। यहाँ तक कि संसद भी, जब तक किसी न्यायाधीश को पद से हटाए जाने के प्रस्ताव पर विचार न कर रही हो किसी न्यायाधीश के आचरण पर आक्षेप नहीं लगा सकती। इस प्रकार की आलोचनाओं पर नियन्त्रण रखने के अभिप्राय से ही सर्वोच्च न्यायालय को अपने अवमान के लिए दण्ड देने की शक्ति भी प्रदान की गई है।

सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों से यह प्रकट होता है कि उसका विगत 53 वर्षों का इतिहास, स्वतंत्रता, निर्भीकता तथा निष्पक्षता की कहानी है। विरोधी दलों को भी न्यायाधीशों की निष्पक्षता में पूर्ण विश्वास है। जब कभी उन्हें सरकार के विरुद्ध कोई शिकायत होती है तो वे उस मामले की न्यायिक जाँच की मांग करते हैं।

10.9 सार संक्षेप

सर्वोच्च न्यायालय भारत का सर्वोच्च और अंतिम न्यायिक संस्था है, जिसे भारतीय संविधान द्वारा स्थापित किया गया है। यह संविधान के अनुच्छेद 124 के तहत कार्य करता है और इसका मुख्य उद्देश्य संविधान की सर्वोच्चता की रक्षा करना, नागरिकों के मौलिक अधिकारों की सुरक्षा करना और देश के कानूनी मामलों में अंतिम निर्णय देना है।

10.10 शब्दावली

मुख्य न्यायाधीश (Chief Justice):सर्वोच्च न्यायालय का सर्वोच्च न्यायधीश, जो न्यायालय की कार्यवाही का संचालन करता है और न्यायालय के अन्य न्यायधीशों के मामलों को निर्धारित करता है।

न्यायाधीश (Judge):सर्वोच्च न्यायालय में कार्यरत न्यायिक अधिकारी, जो मामलों पर विचार करते हैं और निर्णय लेते हैं।

अपीलीय न्यायालय (Appellate Court):सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका, जहां यह निचली अदालतों द्वारा दिए गए फैसलों पर अपीलों की सुनवाई करता है और अंतिम निर्णय करता है।

संविधानिक समीक्षा (Judicial Review):सर्वोच्च न्यायालय का अधिकार, जिसके तहत यह संसद और राज्य सरकारों द्वारा बनाए गए कानूनों की संविधान के अनुरूपता की जांच करता है।

मूल अधिकार (Fundamental Rights):भारतीय संविधान में नागरिकों को दिए गए अधिकार, जिन्हें सर्वोच्च न्यायालय द्वारा संरक्षित किया जाता है। इनमें **जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता**, **समानता का अधिकार**, **धार्मिक स्वतंत्रता** आदि शामिल हैं।

रिव्यू पिटीशन (Review Petition):यह एक याचिका है जो पहले से पारित फैसले पर पुनः विचार के लिए न्यायालय में दाखिल की जाती है।

संविधान संशोधन (Constitutional Amendment):भारतीय संविधान में बदलाव करने की प्रक्रिया, जिसे सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों के अनुसार किया जाता है।

विशेष अनुमति याचिका (Special Leave Petition - SLP):यह याचिका सर्वोच्च न्यायालय में किसी भी उच्च न्यायालय या निचली अदालत के आदेश के खिलाफ दायर की जाती है, जब याचिकाकर्ता को न्याय की आवश्यकता होती है।

क्योरियारी (Certiorari):सर्वोच्च न्यायालय द्वारा किसी निचली अदालत के फैसले को रद्द करने का आदेश।

विवादों का समाधान (Dispute Resolution):सर्वोच्च न्यायालय का कार्य, जिसमें यह संघीय विवादों, राज्य विवादों, और केंद्र और राज्य के बीच उत्पन्न मामलों का समाधान करता है।

10.11 स्व-प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

1. सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की अपीलः

(अ) भारत का राष्ट्रपति करता है

(बी) मंत्रिमण्डल करता है

(स) भारत का प्रधानमंत्री करता है

(द) मुख्य न्यायाधीश करता है।

2. सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति करते समय राष्ट्रपति द्वारा परामर्श किया जाता है:

(अ) एक चयन समिति से जिसमें मुख्य न्यायाधीश के अतिरिक्त सर्वोच्च न्यायालय के चार वरिष्ठतम न्यायाधीश होने चाहिए

(ब) प्रधानमंत्री से

(स) मंत्रिमंडल से

(द) विधि मन्त्री से।

3.सर्वोच्च न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति करते समय राष्ट्रपति द्वारा परामर्श किया जाता है:

(अ) प्रधानमंत्री से

(ब) एक चयन समिति से जिसमें मुख्य न्यायाधीश के अतिरिक्त चार वरिष्ठतम न्यायाधीश होते हैं

(स) विधि मंत्री से

(द) गृहमंत्री से।

4. निम्न में से कौन-सा कथन गलत है?

(अ) न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में भारत में संविधान ने कार्यपालिका को निरपेक्ष शक्ति प्रदान की है

(ब) न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में भारत में संविधान ने कार्यपालिका को निरपेक्ष शक्ति प्रदान नहीं की है

(स) अनुच्छेद 124 के अन्तर्गत राष्ट्रपति को संविधान द्वारा विहित अर्हता रखने वाले किसी भी व्यक्ति को मुख्य न्यायाधिपति नियुक्त करने की शक्ति प्राप्त नहीं है

(द) न्यायाधीशों की नियुक्ति करने की राष्ट्रपति की शक्ति एक औपचारिक शक्ति है।

उत्तर- 1. (अ), 2. (अ), 3. (ब), 4. (अ)

10.12 संदर्भ सूची

1. सिंह, आर. (**2018).** *भारतीय न्यायपालिका और सर्वोच्च न्यायालय.* दिल्ली: पीएचपी पब्लिशर्स।
2. यादव, बी. (**2020).** *सर्वोच्च न्यायालय के ऐतिहासिक निर्णय.* जयपुर: राज पब्लिकेशन।
3. शर्मा, एस. (**2022).** *भारतीय संविधान और न्यायपालिका.* नई दिल्ली: फ्रीडम पब्लिशिंग।
4. कपूर, अ. (**2021).** *सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका और अधिकार.* मुंबई: क्लियरव्यू प्रेस।
5. कुमार, पी. (**2023).** *सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों का समाज पर प्रभाव.* कोलकाता: इम्पैक्ट पब्लिशर्स।
6. त्रिपाठी, ए. (**2019).** *भारतीय न्यायपालिका: संरचना और कार्यप्रणाली.* लखनऊ: रीजनल पब्लिशिंग हाउस।

7. सिंह**,** जी. (**2020).** *भारत में न्यायपालिका का इतिहास और विकास.* पटना: शाइन पब्लिशर्स।

10.13 अभ्यास प्रश्न

1. भारत के सर्वोच्च न्यायालय की संरचना तथा क्षेत्राधिकार की विवेचना कीजिए।

2.भारत में सर्वोच्च न्यायालय की शक्तियों एवं स्थिति का वर्णन कीजिए ।

3. भारत के सर्वोच्च न्यायालय के संगठन, शक्तियों तथा कार्यों का वर्णन कीजिए।

4. न्यायिक सक्रियता की व्याख्या करते हुए इसे पक्ष और विपक्ष में तर्क कीजिए।

5 सर्वोच्च न्यायालय का प्रारंभिक क्षेत्राधिकार बतलाइये ।

6 संविधान के संरक्षक के रूप में सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका समझाइये ।

ब्लॉक - III

इकाई 11

केंद्र-राज्य संबंध

11.1 प्रस्तावना
11.2 उद्देश्य
11.3 भारतीय संघ का स्वरूप-विवादास्पद विषय
11.4 भारतीय संविधान के संघात्मक लक्षण
11.5 भारतीय संविधान के एकात्मक लक्षण
11.6 भारत में केन्द्र-राज्य सम्बन्ध
11.7 केन्द्र-राज्य सम्बन्धों की विशेषताएँ
11.8 केन्द्र और राज्यों के संघर्ष-क्षेत्र
11.9 केन्द्र-राज्य सम्बन्ध पर सरकारिया आयोग प्रतिवेदन
11.10 सार संक्षेप
11.11 शब्दावली
11.12 स्व -प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर
11.13 संदर्भ सूची
11.14 अभ्यास प्रश्न

11.1 प्रस्तावना

भारतीय संविधान की प्रस्तावना यह स्पष्ट करती है कि भारत एक संघीय गणराज्य है, जिसमें केंद्र और राज्य दोनों की सरकारें मिलकर काम करती हैं। प्रस्तावना में उल्लेख है कि भारत में 'संविधान' द्वारा एकता और अखंडता की स्थापना की जाती है और सभी नागरिकों को समानता, स्वतंत्रता और न्याय का अधिकार मिलता है। संविधान-निर्माताओं के सामने मुख्य प्रश्न था कि संविधान का स्वरूप एकात्मक हो या संघात्मक और इस प्रश्न पर मध्यम मार्ग अपनाया गया। भारतीय संविधान का बहिरंग संघात्मक है, पर अन्तरंग एकात्मक । संविधान में भारत को 'राज्यों का संघ' (Union of States) कहा गया है और संविधान में जहाँ कुछ संघवाद के मान्य लक्षण पाए जाते हैं, वहाँ, एकात्मक राज्य के लक्षणों का प्रभुत्व भी जहाँ-तहाँ दिखता है।

11.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्नलिखित कार्य करने में सक्षम होंगे:

1. राजनीति विज्ञान की परिभाषा को समझ सकेंगे।
2. राजनीति विज्ञान के प्रमुख क्षेत्रों जैसे शासकीय ढांचा, राजनीतिक सिद्धांत, और अंतरराष्ट्रीय संबंधों को पहचान सकेंगे।
3. राजनीति विज्ञान के अध्ययन की महत्ता और समाज में इसके योगदान का विश्लेषण कर सकेंगे।
4. केंद्र-राज्य संबंधों में विभिन्न पहलुओं को समझ सकेंगे।
5. भारतीय संविधान और राजनीति विज्ञान में इसकी भूमिका को समझ सकेंगे।

11.3भारतीय संघ का स्वरूप-विवादास्पद विषय (The Nature of Indian Federal System A matter of controversy)

संविधानशास्त्रियों में यह एक गम्भीर विवाद का विषय बन गया है कि भारतीय संविधान संघात्मक शासन स्थापित करता है अथवा एकात्मक शासन। के.सी. व्हीयर के अनुसार, "भारत मुख्यतः एकात्मक राज्य है, जिसमें संघीय विशेषताएँ नाम-मात्र की है। भारत का संविधान संघीय कम है और एकात्मक अधिक है।" डी. एन. बनर्जी का विचार है कि "भारतीय संविधान का ढाँचा संघीय है किन्तु उसका झुकाव एकात्मकता की ओर है।" डी. डी. बसु का विचार है कि "भारत का संविधान न तो पूर्ण रूप से एकात्मक है ही पूर्ण रूप से संघात्मक, बल्कि दोनों का सम्मिश्रण है।" जी.एन. जोशी के अनुसार, "भारत संघ राज्य नहीं है अपितु अर्द्ध संघ है और उसमें कतिपय एकात्मकता के लक्षण है।" प्रो. सूद के अनुसार, "यद्यपि भारत एक संघ है तथापि उसका विधान कई दृष्टियों से सच्चे संघ के स्वरूप से भिन्नता रखता है।" प्रो. एलेक्जेण्डरोविच के अनुसार, "भारत सच्चा संघ है, तथापि अन्य संघों की भांति इसकी अपनी कुछ निराली विशेषताएँ हैं। भारत को अर्द्ध-संघात्मक कहना मिथ्या है।" नारमन डी. पामर के अनुसार, "भारतीय गणतन्त्र एक संघ है तथापि उसकी अपनी विशेषताएँ हैं जिन्होंने संघीय स्वरूप को अपने ढंग से ढाला है।" प्रो. पायली का विचार है कि, "भारत के संविधान का ढांचा संघात्मक है किन्तु उसकी आत्मा एकात्मक है।" डॉ. सुभाष कश्यप का विचार है कि, "संविधान दोहरे राजतन्त्र की स्थापना करता है। सरकारों की दो श्रेणियाँ संघ की सरकार और अवयवी राज्यों की सरकारें। संविधान ने संघ सरकार और राज्य सरकारों के बीच शक्तियों का वितरण किया है। संघवाद के इन बहिरंग लक्षणों के बावजूद भारतीय संविधान का प्रधान स्वर एकात्मकता है।" एच. वी. पाटस्कर के अनुसार, "हमने संघ के ढाँचे को बनाए रखा,

उसकी अन्तर्वस्तु में परिवर्तन कर दिया" डॉ. अम्बेडकर का कहना था कि, "यह एक संघीय संविधान है क्योंकि यह एक दोहरे शासनतंत्र की स्थापना करता है, जिसमें केन्द्र में संघीय सरकार तथा उसके चारों ओर परिधि में राज्य सरकारें हैं जो संविधान द्वारा निर्धारित निश्चित क्षेत्रों में सर्वोच्च सत्ता का प्रयोग करती है।"

इस प्रकार भारतीय संविधान का स्वरूप संविधान विशेषज्ञों के मध्य विवाद का विषय बना हुआ है। संविधान अंगीकृत हो जाने के बाद भी यह विवाद समाप्त नहीं हुआ।

11.4 भारतीय संविधान के संघात्मक लक्षण (Federal Features of the Indian Constitution)

संघवाद वह यन्त्र है जिसके द्वारा राज्य की सारी शक्तियों का विभाजन दो प्रकार की सरकारों के मध्य हो जाता है। ये दो प्रकार की सरकारें- केन्द्रीय और राज्यों की सरकारों के रूप में होती हैं। संघीय सरकार की परिभाषा करते हुए फाइनर ने कहा है कि यह एक शासन है जिसमें सत्ता और शक्ति का एक भाग स्थानीय क्षेत्रों में निहित होता है और दूसरा भाग केन्द्रीय संस्था में। डायसी के अनुसार, "संघीय राज्य एक ऐसी राजनीतिक रचना है जिसमें राष्ट्रीय एकता और शक्ति तथा प्रदेशों के अधिकारों की रक्षा करते हुए दोनों में सामंजस्य स्थापित किया जाता है।

"वस्तुतः संघवाद का सिद्धान्त सीमित सरकार के सिद्धान्त से सम्बन्धित है। संघवाद राष्ट्रीय सार्वभौमिकता और राज्यों के अधिकारों की पृथक् मांगों में जिस साधन द्वारा समन्वय और एकता स्थापित करना है वह है लिखित संविधान, जिसके द्वारा सार्वभौमिकता का विभाजन केन्द्रीय और राज्यों की सरकारों के मध्य किया जाता है। फिर भी संघवाद का मूल आधार शक्ति के विभाजन का सिद्धांत है। के. सी. व्हीयर के अनुसार, "संघीय सिद्धान्त से मेरा तात्पर्य शक्ति के विभाजन के तरीके से है जिससे सामान्य (संघीय) एवं क्षेत्राधिकारी (राज्यों) सरकारें अपने क्षेत्रों में समान एवं पृथक् होती हैं।"

यद्यपि भारतीय संविधान में 'संघ' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, लेकिन उपर्युक्त परिभाषाओं के सन्दर्भ में यह एक संघ राज्य है। भारतीय संविधान में संघात्मक व्यवस्था के सभी प्रमुख लक्षण विद्यमान है-

1. संविधान की सर्वोच्चता लिखित संविधान संघवाद की प्रथम शर्त है। डायसी के अनुसार, "एक संघीय राज्य अपना अस्तित्व उस लेख-पत्र से प्राप्त करता है जिसके द्वारा उसकी स्थापना हुई है। संघीय राज्य में लिखित संविधान सर्वोच्च कानून होता है।

संविधान के लिखित स्वरूप से संघीय मामलों में मतभेद होने की सम्भावना बहुत कम हो जाती है। साधारण कानूनों की तुलना में लिखित संविधान स्थायी होते हैं। संविधान के द्वारा सरकारों के संगठन एवं कार्यों का कानूनी और संवैधानिक आधार तथा संघ और राज्यों के सम्बन्ध और क्षेत्राधिकार निर्धारित किए जाते हैं। अमरीकी संविधान की भांति यद्यपि भारतीय संविधान में यह घोषित नहीं किया गया है कि संविधान सर्वोच्च होगा लेकिन फिर भी भारतीय संविधान इस देश का लिखित सर्वोच्च कानून है। इसके उपबन्ध सभी सरकारों पर बाध्यकारी हैं और किसी भी सरकार द्वारा संविधान का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। भारत में कोई भी शक्ति संविधान के ऊपर नहीं है।

2. शक्तियों का विभाजन अन्य संघों की भांति भारतीय संविधान द्वारा भी संघ और राज्यों के बीच शक्ति का विभाजन किया गया है। संविधान के इस अंश का निर्माण कनाडा के संघ की प्रेरणा पर आधारित है, परन्तु एक समवर्ती सूची जोड़ दी गई है, जो आस्ट्रेलिया के संविधान की देन है। शक्ति-विभाजन तीन सूचियों के आधार पर किया गया है।

(1) संघ-सूची संघ सूची में 97 विषय हैं, यह सूची तीनों सूचियों में विशाल है। इसके प्रमुख विषय हैं प्रतिरक्षा, सशस्त्र सेनाएँ, अणुशक्ति, विदेशी कार्य, राजनयिक प्रतिनिधित्व, युद्ध एवं शान्ति, डाक-तार, बेतार, दूरभाष, संचार, सिक्का, टंकण, विदेशी विनिमय, विदेशी ऋण, भारत का बैंक, सीमा-कर इत्यादि-इत्यादि विषय जो संघ के लिए समान हित के हैं तथा सम्पूर्ण देश को एक सूत्रता प्रदान करने के लिए आवश्यक है। इस सूची में वर्णित विषयों पर केवल संसद को ही विधि-निर्माण का अधिकार है।

(ii) राज्य-सूची राज्य सूची में कुल 66 विषय परिगणित हैं। इनका चयन स्थानीय रुचि के आधार पर किया गया है। इनमें से अधिक महत्वपूर्ण इस प्रकार है सार्वजनिक व्यवस्था, मादक पेय, शिक्षा, राज्य के अन्तर्गत यातायात, कृषि, पशुधन, सिचाई, भूमि-सुधार, वन, बाजार, मेले, भू-राजस्व, विद्युत आदि-आदि। इस सूची में वर्णित विषयों पर कानून बनाने का अधिकार केवल राज्यों की व्यवस्थापिका सभा को प्राप्त है।

(iii) समवर्ती सूची समवर्ती सूची के अन्तर्गत 47 विषयों का उल्लेख किया गया है। इन विषयों पर संघ एवं राज्य स्तर पर विधि-निर्माण हो सकता है। ये केन्द्र तथा राज्य दोनों के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत रखे गए हैं। ये विषय हैं दण्ड विधि व दण्ड प्रक्रिया, निवारक निरोध, विलेखों एवं दस्तावेजों का पंजीकरण, अनुबन्ध, न्यास व न्यासी, मूल्य नियंत्रण, सामाजिक सुरक्षा, सामाजिक बीमा, श्रमिक कल्याण आदि। इन विषयों पर यदि केन्द्रीय संसद ने कोई व्यवस्थापन नहीं किया है तो राज्य के विधानमण्डल कानून बना सकते हैं, किन्तु यदि संसद कभी भी कानून बना दे तो वह राज्य द्वारा पारित।

विधि को शून्य करने में सक्षम होगी। परन्तु अनुच्छेद 254 के अंतर्गत इसका एक अपवाद भी है कि यदि समवर्ती सूची पर राज्य के व्यवस्थापन को राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त हो चुकी है, तो यह विधि संसद की विधि के बावजूद भी लागू हो सकेगी।

कनाडा की भांति भारत में भी अवशिष्टाधिकार (Residuary Powers) केन्द्र को ही प्रदान किए गए है। अनुच्छेद 249 के अनुसार राज्यसभा के प्रस्ताव से संसद राज्य-सूची के किसी भी विषय पर कानून बना सकती है। अनुच्छेद 250 के अनुसार संकटकाल में भी संसद राज्य-सूची के विषयों पर कानून बना सकती है। इसी प्रकार अनुच्छेद 252 252 के अनुसार दो या दो से अधिक राज्यों के निवेदन पर संसद राज्य-सूची के विषय पर व्यवस्थापन कर सकती है।

3. स्वतंत्र सर्वोच्च न्यायालय भारतीय संविधान के संरक्षक के रूप में कार्य करने के लिए स्वतंत्र सर्वोच्च न्यायालय की भी व्यवस्था की गई है। संविधान के द्वारा एक सर्वोच्च न्यायालय और राज्यों में उच्च न्यायालय की भी व्यवस्था की गई है, जिन्हें उन कानूनों को अवैधानिक घोषित करने का अधिकार है, जो संविधान के विरुद्ध हैं। प्रो. के. वी. राव के शब्दों में, "इस दृष्टि से हमारा संविधान पूर्व सोवियत रूस या स्विट्जरलैण्ड के संविधान से अधिक संघात्मक है।"

4. उच्च सदन का राज्य सदन होना भारतीय संसद का उच्च सदन अर्थात राज्यसभा राज्यों का सदन है। यह राज्यों का प्रतिनिधित्व करता है। यद्यपि यह सच है कि यह प्रतिनिधित्व समता के आधार पर न होकर, जनसंख्या के आधार पर है।

5. संशोधन प्रणाली - भारतीय संविधान में संशोधन प्रणाली पूर्णतया संघीय प्रक्रिया के अनुरूप है। कतिपय संशोधन विधेयकों को राष्ट्रपति के समक्ष उनकी अनुमति के लिए प्रस्तुत करने से पूर्व कम-से-कम आधे राज्यों के विधानमण्डलों की स्वीकृति प्राप्त न हो तो संविधान के अनेक महत्वपूर्ण अंशों में संशोधन नहीं किया जा सकता।

उपरोक्त तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय संविधान एक पूर्ण संघात्मक प्रणाली की स्थापना करता है। पायली ने लिखा है कि "भारतीय संविधान के संघीय होने न होने पर विवाद उठाने का कोई कारण दृष्टिगत नहीं होता। संविधान संघवाद की कसौटी पर खरा उतरता है।"

11.5 भारतीय संविधान के एकात्मक लक्षण (Unitary Features of the Indian Constitution)

संविधान सभा के अनेक सदस्यों का यह मत था कि संविधान में संघात्मक सिद्धान्त की नृशंसतापूर्ण हत्या की गई है। श्री पी.टी. चाको का मत था कि 'जो संविधान संविधानसभा ने निर्माण किया है वह शरीर से संघात्मक है किन्तु आत्मा से एकात्मक है सभी शक्तियाँ संसद को प्रदान की गई हैं और व्यवहारतः राज्य विधानमण्डलों को कोई शक्तियाँ प्रदान नहीं की गई हैं।" पी. एस. देशमुख का मत था कि "जो संविधान बना है वह संघात्मक की अपेक्षा एकात्मक अधिक है।" श्री बी.एम. गुप्ता का मत था कि "नए संविधान के अंतर्गत भारत संघात्मक राज्य न होकर विकेंद्रीकृत राज्य होगा।" प्रो. एस.पी. अय्यर का तो स्पष्ट मत है कि "भारतीय संविधान को, जो कि दक्षिणी अफ्रीका के समान है, यदि आवश्यक हुआ तो एकात्मक संविधान कहा जा सकता है किन्तु इसे किसी भी हालत में अर्द्ध-संघ राज्य नहीं कहना चाहिये।" यदि भारतीय संविधान और राजनीतिक व्यवस्था का विश्लेषण किया जाए तो दो प्रकार के एकात्मक तत्व दृष्टिगोचर होते हैं।

(A) भारतीय संविधान के अंतरंग में उपस्थित एकात्मक तत्व ।

(B) भारतीय संविधान के बहिरंग में उपस्थित एकात्मक तत्व ।

(A) भारतीय संविधान के अंतरंग में उपस्थित एकात्मक तत्त्व

(Unitary features present inside the Constitution)

भारतीय संविधान निर्माता भारतीय इतिहास के इस रोचक तथ्य से परिचित थे कि भारत में जब-जब केन्द्रीय सत्ता दुर्बल हो गई, तब-तब भारत की एकता भंग हो गई और उसे पराधीन होना पड़ा।

संविधान-निर्माता भारत में इतिहास की पुनरावृत्ति नहीं चाहते थे। अतः संविधान निर्माताओं ने केन्द्रीय सत्ता को अधिक शक्तिशाली बनाने का कार्य न्यायिक व्याख्या द्वारा सर्वोच्च न्यायालय पर छोड़ने की अपेक्षा स्वयं ही कर लेना उचित समझा। बेंजामिन स्कूनफील्ड ने लिखा है कि भारतीय संघ जिस समस्या से ग्रसित है, वह है, आर्थिक-राजनीतिक समस्याएं तथा प्रादेशिकता की संकीर्ण भावनाएं जिनके समाधान के लिए केन्द्रीय सरकार के पास समुचित शक्तियाँ होना अपरिहार्य है।" भारतीय संविधान में एकात्मक तत्व निम्नलिखित हैं - 1. इकहरी नागरिकता प्रायः संघात्मक संविधान में दोहरी नागरिकता पाई जाती है। अमेरिका में ऐसा ही है। किन्तु भारत में नागरिकता का सम्बन्ध संघ से है और राज्यों की अपनी कोई नागरिकता नहीं है। प्रत्येक भारतीय को सम्पूर्ण भारतीय क्षेत्र में समान अधिकार प्राप्त हैं। यद्यपि यह संघात्मकसिद्धान्त के विपरीत है, किन्तु भारत की एकता को बनाए रखने की दृष्टि से इसे आवश्यक समझा गया। हमारे यहां केवल एकल नागरिकता है।

2. शक्तियों का बंटवारा केन्द्र के पक्ष में हमारे संविधान में शक्तियों का बंटवारा इस प्रकार किया गया है कि केन्द्र को राज्यों की अपेक्षा अधिक शक्तियाँ दी गई है। उदाहरणस्वरूप संविधान द्वारा महत्वपूर्ण विषय संघ-सूची में रखे गए हैं। संघ-सूची में 97 विषय रखे गए हैं और इन पर केवल संसद कानून बना सकती है। समवर्ती सूची में 47 विषय हैं। इन पर केन्द्रीय संसद और राज्यों के विधान मण्डल दोनों ही कानून बना सकते हैं। परन्तु यदि दोनों के बनाए हुए कानून में कोई विरोध उत्पन्न हो जाए, तो केन्द्रीय कानून मान्य होता है और राज्यों द्वारा निर्मित कानून निरस्त माना जाता है। जहाँ, तक राज्य सूची का सम्बन्ध है इस पर राज्य विधान मण्डल कानून बना सकता है, परन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों में संसद इस पर भी कानून बना सकती है। अवशिष्ट शक्तियाँ भी केन्द्र को प्राप्त है न कि राज्यों को। संविधान सभा में अनेक सदस्यों ने यह मत व्यक्त किया कि डॉ. अम्बेडकर ने सब कुछ केन्द्र को प्रदान कर दिया है। संविधान निर्माताओं ने देश की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, परिस्थितियों को देखते हुए शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की अनिवार्यता अनुभव की। के. एम. मुन्शी ने स्पष्ट कहा था कि "तथ्य यह है कि भारत के महान दिन वे थे जबकि देश में शक्तिशाली केन्द्रीय शक्ति थी और सबसे बुरे दिन वे थे जबकि केन्द्र की शक्ति को प्रान्तों की शक्ति द्वारा कम किया जा रहा था और उसकी अवज्ञा हो रही थी।" संविधान-निर्माता यह जानते थे कि आज विश्व में केन्द्रीकृत सरकारों के निर्माण की प्रवृत्ति है और भारत में भी संघ को शक्तिशाली बनने से रोकना अनुचित होगा। डॉ. अम्बेडकर ने स्पष्ट कहा था कि "मैं सन् 1935 के अधिनियम द्वारा स्थापित केन्द्र से भी अधिक शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना के पक्ष में हूं।"

इस प्रकार भारतीय संविधान ने एक अत्यंत शक्तिशाली केन्द्र का निर्माण किया है। डॉ. कश्यप के अनुसार "संघ सूची में 197 विषय हैं और वह तीनों सूचियों में सबसे लम्बी है। समवर्ती सूची में 47 विषय हैं जिन पर केन्द्रीय सरकार जब चाहे तब कानून बना सकती है। इसके अतिरिक्त अवशिष्ट शक्तियाँ भी केन्द्रीय सरकार में ही निहित हैं।"

3. संघ और राज्यों के लिए एक ही संविधान प्रायः संघ प्रणाली में राज्यों के संविधान संघ से पृथक होते हैं, लेकिन भारत में भारत के संविधान के अंतर्गत संघ के संविधान के साथ-साथ राज्यों के संविधान भी सम्मिलित हैं। भारतीय संघ की इकाइयों को अमेरिका के राज्यों तथा स्विस कैंटनों की भांति पृथक संविधान के निर्माण का अधिकार नहीं है।

4. केन्द्रीय सरकार राज्यों की सीमाओं के परिवर्तन में समर्थ अमेरिका या आस्ट्रेलिया के संघ में इकाई राज्यों की सीमाओं में उनकी सहमति के बिना परिवर्तन नहीं किया जा सकता। किन्तु हमारे संविधान के अनुच्छेद 3 के अनुसार संसद को यह अधिकार है कि

वह (a) किसी राज्य से उनका कोई प्रदेश पृथक् करके या दो या अधिक राज्यों को मिलाकर कोई नया राज्य बना दे, (b) किसी राज्य के क्षेत्रफल में कमी या वृद्धि कर दे, और (c) राज्य की सीमाओं तथा उनके नाम बदल दें। इनके लिए यद्यपि राष्ट्रपति सम्बन्धित राज्यों के विचार मालूम करते हैं लेकिन इन विचारों को स्वीकार करना या न करना राष्ट्रपति की इच्छा पर निर्भर है।

संविधान-निर्माता भारत में इतिहास की पुनरावृत्ति नहीं चाहते थे। अतः संविधान निर्माताओं ने केन्द्रीय सत्ता को अधिक शक्तिशाली बनाने का कार्य न्यायिक व्याख्या द्वारा सर्वोच्च न्यायालय पर छोड़ने की अपेक्षा स्वयं ही कर लेना उचित समझा। बेंजामिन स्कूनफील्ड ने लिखा है कि भारतीय संघ जिस समस्या से ग्रसित है, वह है, आर्थिक-राजनीतिक समस्याएं तथा प्रादेशिकता की संकीर्ण भावनाएं जिनके समाधान के लिए केन्द्रीय सरकार के पास समुचित शक्तियाँ होना अपरिहार्य है।" भारतीय संविधान में एकात्मक तत्व निम्नलिखित हैं - 1. इकहरी नागरिकता प्रायः संघात्मक संविधान में दोहरी नागरिकता पाई जाती है। अमेरिका में ऐसा ही है। किन्तु भारत में नागरिकता का सम्बन्ध संघ से है और राज्यों की अपनी कोई नागरिकता नहीं है। प्रत्येक भारतीय को सम्पूर्ण भारतीय क्षेत्र में समान अधिकार प्राप्त हैं। यद्यपि यह संघात्मक सिद्धान्त के विपरीत है, किन्तु भारत की एकता को बनाए रखने की दृष्टि से इसे आवश्यक समझा गया। हमारे यहां केवल एकल नागरिकता है।

2. शक्तियों का बंटवारा केन्द्र के पक्ष में हमारे संविधान में शक्तियों का बंटवारा इस प्रकार किया गया है कि केन्द्र को राज्यों की अपेक्षा अधिक शक्तियाँ दी गई है। उदाहरणस्वरूप संविधान द्वारा महत्वपूर्ण विषय संघ-सूची में रखे गए हैं। संघ-सूची में 97 विषय रखे गए हैं और इन पर केवल संसद कानून बना सकती है। समवर्ती सूची में 47 विषय हैं। इन पर केन्द्रीय संसद और राज्यों के विधान मण्डल दोनों ही कानून बना सकते हैं। परन्तु यदि दोनों के बनाए हुए कानून में कोई विरोध उत्पन्न हो जाए, तो केन्द्रीय कानून मान्य होता है और राज्यों द्वारा निर्मित कानून निरस्त माना जाता है। जहाँ, तक राज्य सूची का सम्बन्ध है इस पर राज्य विधान मण्डल कानून बना सकता है, परन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों में संसद इस पर भी कानून बना सकती है। अवशिष्ट शक्तियाँ भी केन्द्र को प्राप्त है न कि राज्यों को। संविधान सभा में अनेक सदस्यों ने यह मत व्यक्त किया कि डॉ. अम्बेडकर ने सब कुछ केन्द्र को प्रदान कर दिया है। संविधान निर्माताओं ने देश की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, परिस्थितियों को देखते हुए शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की अनिवार्यता अनुभव की। के. एम. मुन्शी ने स्पष्ट कहा था कि "तथ्य यह है कि भारत के महान दिन वे थे जबकि देश में शक्तिशाली केन्द्रीय शक्ति थी और

सबसे बुरे दिन वे थे जबकि केन्द्र की शक्ति को प्रान्तों की शक्ति द्वारा कम किया जा रहा था और उसकी अवज्ञा हो रही थी।" संविधान-निर्माता यह जानते थे कि आज विश्व में केन्द्रीकृत सरकारों के निर्माण की प्रवृत्ति है और भारत में भी संघ को शक्तिशाली बनने से रोकना अनुचित होगा। डॉ. अम्बेडकर ने स्पष्ट कहा था कि "मैं सन् 1935 के अधिनियम द्वारा स्थापित केन्द्र से भी अधिक शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना के पक्ष में हूं।"

इस प्रकार भारतीय संविधान ने एक अत्यंत शक्तिशाली केन्द्र का निर्माण किया है। डॉ. कश्यप के अनुसार "संघ सूची में 197 विषय हैं और वह तीनों सूचियों में सबसे लम्बी है। समवर्ती सूची में 47 विषय हैं जिन पर केन्द्रीय सरकार जब चाहे तब कानून बना सकती है। इसके अतिरिक्त अवशिष्ट शक्तियाँ भी केन्द्रीय सरकार में ही निहित हैं।"

3. संघ और राज्यों के लिए एक ही संविधान प्रायः संघ प्रणाली में राज्यों के संविधान संघ से पृथक होते हैं, लेकिन भारत में भारत के संविधान के अंतर्गत संघ के संविधान के साथ-साथ राज्यों के संविधान भी सम्मिलित हैं। भारतीय संघ की इकाइयों को अमेरिका के राज्यों तथा स्विस कैंटनों की भांति पृथक संविधान के निर्माण का अधिकार नहीं है।

4. केन्द्रीय सरकार राज्यों की सीमाओं के परिवर्तन में समर्थ अमेरिका या आस्ट्रेलिया के संघ में इकाई राज्यों की सीमाओं में उनकी सहमति के बिना परिवर्तन नहीं किया जा सकता। किन्तु हमारे संविधान के अनुच्छेद 3 के अनुसार संसद को यह अधिकार है कि वह (a) किसी राज्य से उनका कोई प्रदेश पृथक् करके या दो या अधिक राज्यों को मिलाकर कोई नया राज्य बना दे, (b) किसी राज्य के क्षेत्रफल में कमी या वृद्धि कर दे, और (c) राज्य की सीमाओं तथा उनके नाम बदल दें। इनके लिए यद्यपि राष्ट्रपति सम्बन्धित राज्यों के विचार मालूम करते हैं लेकिन इन विचारों को स्वीकार करना या न करना राष्ट्रपति की इच्छा पर निर्भर है।

3. योजना आयोग - सन् 1950 में योजना आयोग का गठन किया गया। योजना आयोग को देश के सर्वांगीण विकास के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण कृत्य सौंपे गए हैं। योजना आयोग के महत्व के सन्दर्भ में ही प्रधानमंत्री आयोग का अध्यक्ष होता है तथा उसके कार्यों को अधिक प्रभावी बनाने के लिए केन्द्रीय मंत्रिमंडल के कुछ वरिष्ठ मंत्री भी आयोग से सम्बद्ध होते हैं। योजना आयोग ने अपने कार्यों का विस्तार किया है, वस्तुतः वह रक्षा को छोड़कर प्रशासन के क्षेत्रों में भावी विकास का प्रमुख निर्णायक बन गया है। 15 मार्च 1950 के प्रस्ताव में यह पूर्णतः स्पष्ट कर दिया गया था कि आयोग मूलतः एक परामर्शदात्री संस्था होगी, इसका कार्य आर्थिक नियोजन के मामलों पर शासन को अपनी सिफरिशें प्रस्तुत करना है। किन्तु व्यवहार में आयोग ने संविधान और शासन दोनों को

ही विशेष रूप से प्रभावित किया है। अशोक चन्दा ने आयोग के महत्व के कारण उसे देश का 'आर्थिक मंत्रिमंडल' कहा है। राज्य सरकारें तो वित्तीय सहायता और आर्थिक परामर्श के लिए आयोग पर अधिकांशतः निर्भर हैं। के. सन्थानम ने लिखा है कि इस समूची नियोजन-व्यवस्था ने "नीति और वित्त सम्बन्धी सभी मामलों में राज्य की स्वायत्तता को एक छाया का रूप प्रदान कर दिया है।" ग्रेनविल ऑस्टिन लिखते हैं कि "संविधान के निर्माण के समय इस प्रकार का कोई स्पष्ट विचार नहीं था कि नियोजन संघीय व्यवस्था को किस प्रकार प्रभावित करेगा। इस बात की तो कल्पना ही नहीं की गई थी कि योजना आयोग वित्त आयोग से अधिक महत्वपूर्ण हो जायेगा। इस बात का भी कोई प्रमाण नहीं है कि योजना-व्यवस्था संघीय पद्धति को कोई मोड़ दे देगी। फिर भी, समय ने यह बतला दिया है कि भारतीय संघवाद के अन्तर्गत नियोजन का केन्द्रीकृत प्रभाव रहा है।"

4. राष्ट्रीय विकास परिषद् योजना आयोग की भांति ही 'राष्ट्रीय विकास परिषद्' भी देश की आर्थिक नीतियों के निर्धारण में अत्यन्त प्रभावशाली निकाय है। आयोग के ही समान यह परिषद, भी संविधान की उपज नहीं है। इसका लक्ष्य योजना आयोग, केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों के मध्य सामंजस्य बनाए रखना है। वस्तुतः राष्ट्रीय विकास परिषद योजना- व्यवस्था की शीर्षस्थ संस्था है। योजना आयोग द्वारा निर्मित एवं राष्ट्रीय विकास परिषद द्वारा स्वीकृत योजना विकास का एक शासकीय कार्यक्रम बन जाती है। इसी कारण के. सन्थानम ने इसे "भारतीय संघ का सर्वोच्च मंत्रिपरिषद" कहा है। अब व्यवहार में, राज्यों के योजना सम्बन्धी निर्णय राष्ट्रीय विकास परिषद में लिए जाते हैं जिससे राज्यों की स्थिति केन्द्रीय सरकार के एजेन्ट के समतुल्य हो गई है।

11.6 भारत में केन्द्र-राज्य सम्बन्ध (Centre-State Relations in India)

भारतीय संविधान के अन्तर्गत संघ-व्यवस्था को मान्यता प्रदान की गई है। संघ व्यवस्था की बुनियादी विशेषता दोहरा शासन है। इसमें केन्द्र में एक संघीय सरकार और उसके चारों ओर परिधि में राज्य सरकारें होती हैं। दोनों प्रकार की सरकारों के पृथक अस्तित्व तथा पृथक क्षेत्राधिकार होते हैं। संविधान द्वारा सरकार के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत आने वाले विषयों को निर्धारित कर दिया जाता है। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार, "केन्द्र तथा राज्यों के परस्पर सम्बन्धों पर विचार करते समय इस आधारभूत सिद्धान्त को ध्यान में रखना चाहिए, कि संघात्मक शासन में विधायी तथा कार्यपालिका शक्तियों का केन्द्र तथा राज्यों के मध्य वितरण स्वयं संविधान द्वारा किया जाता है, केन्द्र निर्मित विधि द्वारा नहीं।" भारत में केन्द्र-राज्य सम्बन्ध विगत कुछ वर्षों (विशेषकर 1967 के चतुर्थ निर्वाचन के पश्चात) से चर्चा के विषय रहे हैं। कतिपय विषयों को लेकर केन्द्र व राज्य

सरकारों के मध्य उग्र मतभेद पैदा हुए हैं तथा केन्द्र-राज्य सम्बन्धों में मधुरता के बजाय औपचारिकता एवं विरोधी भावनाएँ प्रबल हो गई। इसी कारण डॉ. सुभाष कश्यप जैसे विद्वानों ने 'तथाकथित फेडरल-व्यवस्था के पुनर्मूल्यांकन की विशेष आवश्यकता,' पर जोर दिया। यहाँ पर केन्द्र-राज्य सम्बन्धों का विस्तार से विवेचन करेंगे।

भारत में केन्द्र-राज्य सम्बन्ध संवैधानिक आधार

(Centre-State Relation in India: Constitutional Basis)

संविधान के आधार पर संघ तथा राज्यों के सम्बन्धों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है

1. केन्द्र तथा राज्यों के व्यवस्थापन सम्बन्ध,

2 केन्द्र तथा राज्यों के प्रशासनिक सम्बन्ध,

3. केन्द्र तथा राज्यों के वित्तीय सम्बन्ध ।

1. केन्द्र तथा राज्यों के व्यवस्थापन सम्बन्ध (Legislative Relations)- संविधान के ग्यारहवें भाग के प्रथम अध्याय में व्यवस्थापन सम्बन्धों की चर्चा की गई है। संविधान में 1935 के ऐक्ट का अनुसरण करते हुए 'तीन-सूची' प्रणाली को अपनाया गया है संघ सूची, राज्य-सूची, तथा समवर्ती-सूची । इन सूचियों को सातवीं अनुसूची में रखा गया है।

संघ-सूची - संघ-सूची में अखिल भारतीय विषयों को सन्निहित किया गया है। इन विषयों पर केवल केन्द्रीय संसद ही कानून बना सकती है। राज्य विधान-सभाएँ इन विषयों पर कानूनों का निर्माण नहीं कर सकतीं। इस सूची में 97 विषय हैं जिसमें से मुख्य विषय इस प्रकार है प्रतिरक्षा, सशस्त्र सेनाएँ, रेल्वे, युद्ध एंव शान्ति, प्रत्यार्पण, वायुमार्ग, डाक, तार, रिजर्व बैंक, अफीम, जनगणना, संघीय लोक सेवाएँ आदि-आदि ।

राज्य-सूची - राज्य सरकारों के विषयों का उल्लेख राज्य-सूची में किया गया है। इस सूची में निहित सभी विषयों पर राज्य-विधानसभाएँ कानून निर्माण करने में सक्षम हैं। इस सूची में 66 विषय है, जिनमें से मुख्य विषय इस प्रकार है पुलिस, न्यायिक प्रशासन, जेल, स्थानीय प्रशासन, चिकित्सालय, कृषि, पशु-पालन, कृषि-आय पर कर, वाहनों पर कर आदि-आदि। इस सूची में सामान्यतः उन्हीं विषयों का उल्लेख है जिनका स्थानीय एवं क्षेत्रीय महत्व है।

समवर्ती-सूची - समवर्ती-सूची तीसरी सूची है। इस सूची में निहित विषयों पर केन्द्र एवं राज्य-सरकारें दोनों ही कानूनों का निर्माण कर सकती हैं। इस सूची में उन विषयों को सम्मिलित किया गया है जिनका महत्व राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय दोनों ही प्रकार से

है। इस सूची में 47 विषय हैं, जिनमें से महत्वपूर्ण कुछविषय ये हैं - दण्डप्रक्रिया, विवाह एवं तलाक, ठेके, दिवालियापन, न्यायालय, श्रमिक-कल्याण, सामाजिक सुरक्षा आदि-आदि। समवर्ती सूची के विषयों पर दोनों सरकारें विधि-निर्माण करने में सक्षम हैं। यदि कोई राज्य-विधान मण्डल इन विषयों में से किसी पर भी विधि-निर्माण करता है तो ऐसी विधि तभी वैध होगी जब तक कि संसद ने उसी विषय पर विधि निर्माण न किया हो।

अवशिष्ट शक्तियाँ अवशिष्ट शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार को सौंपी गई हैं तथा इनका उल्लेख अनुच्छेद 248 में किया गया है। इस प्रकार भारत में अवशिष्ट शक्तियों को केन्द्रीय सरकार में निहित किया गया है, जबकि अमेरिका, आस्ट्रेलिया तथा स्विट्जरलैण्ड में अवशिष्ट शक्तियाँ राज्य सरकारों को प्राप्त है। अवशिष्ट शक्तियां वे शक्तियाँ हैं जो उपर्युक्त तीन सूचियों में उल्लिखित नहीं है।

राज्य-सूची के विषय पर संसद द्वारा विधि-निर्माण निम्नलिखित व्यवस्थाओं के अनुसार राज्य-सूची के विषयों पर संसद द्वारा विधि-निर्माण किया जा सकता है -

(i) यदि राज्य सभा उपस्थित एवं मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से इस आशय का एक प्रस्ताव पारित कर दे कि राज्य सूची में निहित किसी विषय पर केन्द्रीय संसद विधि-निर्माण करें, क्योंकि ऐसा करना राष्ट्रीय हित में आवश्यक हो गया है।

(ii) संविधान के अनुच्छेद 250 के अन्तर्गत संसद को राष्ट्रपति द्वारा की गई संकटकालीन स्थिति की घोषणा की अवधि में पूरे देश अथवा किसी क्षेत्र विशेष के लिए राज्य-सूची के किसी भी विषय पर कानून निर्माण का अधिकार प्रदान किया है।

(iii) यदि दो या अधिक राज्यों के विधानमण्डल केन्द्रीय संसद से विधि-निर्माण की प्रार्थना करें तो संसद कानून बना सकती है।

(iv) अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को निभाने के लिए संसद को आवश्यक कानूनों के निर्माण का अधिकार है, भले ही इन कानूनों का सम्बन्ध राज्य-सूची के विषयों से क्यों न हो।

(v) जब राज्य की सरकार विघटित हो जाए या संवैधानिक व्यवस्था विफल हो जाए तो राष्ट्रपति संकटकालीन स्थिति की घोषणा करके उक्त राज्य की विधानसभा की सभी शक्तियाँ केन्द्र को सौंप सकता है।

उपर्युक्त विवेचना से यह निष्कर्ष निकलता है कि संविधान-निर्माता केन्द्र को शक्तिशाली बनाना चाहते थे। पायली के अनुसार, "विधायी सत्ता के वितरण की समूची योजना से निःसंदेह केन्द्रीयकरण की एक प्रबल प्रवृत्ति प्रकट होती है।"

2. केन्द्र तथा राज्यों के प्रशासनिक सम्बन्ध (Administrative Relations)- भारत में केन्द्र की प्रशासनिक शक्ति उन विषयों तक सीमित है जिन पर संसद को विधि-निर्माण का अधिकार है। इसी प्रकार राज्यों की प्रशासनिक शक्ति उन विषयों तक सीमित है जिन पर राज्य-विधानसभाओं को कानून बनाने का अधिकार है। समवर्ती सूची के विषयों पर प्रशासनिक शक्ति इस नियम का अपवाद है।

संविधान के अन्तर्गत संघ तथा राज्यों के प्रशासनिक सम्बन्धों का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से संघ सरकार को राज्यों के सम्बन्ध में कतिपय प्रशासनिक शक्तियाँ प्राप्त हैं, जो इस प्रकार हैं-

राज्य पर प्रशासनिक नियन्त्रण के लिए केन्द्र सरकार के साधन सामान्यतः संघ सरकार पाँच साधनों से राज्य की सरकारों पर प्रशासनिक नियन्त्रण रखती हैं -

प्रथम, संविधान द्वारा संघ सरकार को राज्यों की सरकारों को निर्देश देने का अधिकार दिया गया है। संविधान के अनुच्छेद 256 के अनुसार राज्य सरकार का यह कर्तव्य है कि संसद द्वारा पारित विधि को मान्यता दे। इसी प्रकार अनुच्छेद 257 के अनुसार राज्य सरकारों का यह भी कर्तव्य है कि अपने क्षेत्र में संघ की कार्यपालिका शक्ति के उपयोग में न कोई रुकावट डालें और न कोई पक्षपात करें। इन अनुच्छेदों के अन्तर्गत संघ सरकार द्वारा राज्य सरकारों को निर्देश दिए जा सकते हैं। संविधान के अनुच्छेद 365 में यह स्पष्ट प्रावधान है कि यदि संघ की कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग में दिए गए किन्हीं निर्देशों का कोई राज्य पालन नहीं करता है तो राष्ट्रपति के लिए यह मानना विधिसंगत है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें राज्य शासन संविधान के प्रावधानों के अनुकूल नहीं चलाया जा सकता है। संघ सरकार राज्यों की सरकारों को अनुच्छेद 257 (2) के अनुसार राज्यों में राष्ट्रीय या सैनिक महत्व व संचार साधनों के निर्माण करने और बनाए रखने के लिए निर्देश दे सकती है। अनुच्छेद 257 (3) के अनुसार किसी राज्य में रेलों की रक्षा के लिए किए जाने वाले उपायों के बारे में संघ को राज्य कार्यपालिका को निर्देश देने का अधिकार है।

द्वितीय, संघ सरकार किसी संघीय विषय से सम्बन्धित कार्यपालिका शक्ति, अनुच्छेद 258 के अनुसार किसी राज्य सरकार की स्वीकृति पर उक्त राज्य सरकार या उसके अधिकारियों को सौंप सकती है, परन्तु इसके व्यय का उत्तरदायित्व संघ सरकार पर भारित होगा।

तृतीय, अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत जब राष्ट्रपति आपातकाल की घोषणा करते हैं तो राज्यों पर संघ सरकार का पूर्ण नियन्त्रण स्थापित हो जाता है।

चतुर्थ, अखिल भारतीय सेवाएँ, जैसे भारतीय प्रशासनिक सेवा और भारतीय पुलिस सेवा संघ तथा राज्य दोनों के लिए सामान्य हैं। अनुच्छेद 312 (1) के अनुसार यदि राज्य सभा दो-तिहाई बहुमत द्वारा प्रस्ताव पारित करती है कि राष्ट्रीय हित में संघ तथा राज्यों के लिए एक या अधिक अखिल भारतीय सेवाओं को स्थापित करना आवश्यक है तो संसद विधि द्वारा उन अखिल भारतीय सेवाओं की स्थापना की व्यवस्था करेगी।

पंचम, राज्यों को वित्तीय अनुदान देने के लिए अनुच्छेद 275 के अनुसार संसद को कानून-निर्माण करने का अधिकार है। वित्तीय अनुदान के माध्यम से संघ सरकार राज्यों पर प्रभावशाली नियन्त्रण रखती है।

अन्तर्राज्यीय सहयोग तथा केन्द्रीय सरकार की भूमिका संघीय शासन प्रणाली में राज्यों में पारस्परिक सहयोग होना आवश्यक है। यद्यपि राज्यों को पृथक् क्षेत्राधिकार प्राप्त है तथापि संविधान में निम्नलिखित विषयों पर राज्यों के पारस्परिक सहयोग पर बल दिया गया है-

प्रथम, अनुच्छेद 261 के अनुसार भारत के राज्य-क्षेत्र में सर्वत्र संघ की तथा प्रत्येक राज्य की सार्वजनिक क्रियाओं, अभिलेखों तथा न्यायिक कार्यवाहियों को पूरी मान्यता दी जाएगी। इनकी प्रामणिकता सिद्ध करने की रीति और शर्ते तथा उनके प्रभाव का निर्धारण संसद द्वारा उपबन्धित रीति के अनुसार

होगा। यह भी आयोजित किया गया है कि भारत के राज्य क्षेत्र के किसी भाग के दीवानी न्यायालयों द्वारा दिए गए निर्णय तथा आदेश उस राज्य-क्षेत्र के अन्दर सभी स्थानों पर निष्पादित किए जाएँगे।

द्वितीय, अनुच्छेद 262 के अनुसार किसी अन्तर्राज्यिक नदी तथा नदी घाटी के या जलाशयों के प्रयोग, वितरण, विवाद या फरियाद के न्याय-निर्णय के बारे में संसद विधि द्वारा व्यवस्था करेगी। ऐसे विवाद के सम्बन्ध में संसद यह निर्णय भी कर सकती है कि सर्वोच्च न्यायालय या अन्य कोई न्यायालय इस सम्बन्ध में क्षेत्राधिकार का प्रयोग नहीं करेगा।

तृतीय, अनुच्छेद 263 के अन्तर्गत राज्यों के पारस्परिक सहयोग के लिए एक अन्तर्राज्यीय परिषद का प्रावधान किया गया है। यदि राष्ट्रपति को प्रतीत होता है कि सार्वजनिक हित में आवश्यक है तो अन्तर्राज्यीय परिषद की स्थापना की जा सकेगी। इस परिषद का प्रमुख कार्य 'राज्यों के मध्य विवादों का परीक्षण करना तथा उन पर परामर्श देना है।'

चतुर्थ, क्षेत्रीय परिषदों का निर्माण किया जाता है। सम्पूर्ण भारत को पाँच क्षेत्रों में विभाजित किया गया है और प्रत्येक क्षेत्र के लिए क्षेत्रीय परिषद है। क्षेत्रीय परिषदों के कार्य उन समस्त विषयों से सम्बन्धित होंगे जिनमें क्षेत्र के समस्त या कुछ राज्य या संघ और एक या अधिक राज्य रुचि रखते हैं।

पंचम, अन्तर्राज्यीय व्यापार वाणिज्य से सम्बन्धित संविधान के प्रावधानों के क्रियान्वयन के लिए अनुच्छेद 307 के अनुसार संसद एक प्राधिकारी की नियुक्ति करेगी तथा उसको ऐसी शक्तियाँ और कर्तव्य सौंप सकती है जो वह आवश्यक समझे ।

षष्ठ, इनके अतिरिक्त कतिपय ऐसे भी विषय हैं जिनका सम्बन्ध यद्यपि दोनों सरकारों से है तथापि जिनका निर्धारण केन्द्रीय सरकार ही करती हैं। उदाहरण के लिए, निर्वाचन, लेखा परीक्षण, राज्यपाल की नियुक्ति आदि ।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि केन्द्र की प्रशासनिक शक्तियाँ अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। ये शक्तियाँ केन्द्र की सर्वोपरि सत्ता तथा राज्यों को अनुशासित करने की योग्यता की द्योतक हैं।

3. केन्द्र तथा राज्यों के वित्तीय सम्बन्ध (Financial Relations) संघ शासन की सफलता के लिए केन्द्रीय सरकार के साथ-साथ राज्यों के पास भी अपने उत्तरदायित्वों को निभाने के लिए पर्याप्त आर्थिक साधन होने चाहिए। वित्तीय क्षेत्र में संघ और राज्यों के सम्बन्धों का इतना विस्तृत वर्णन अन्य किसी संघात्मक संविधान में नहीं मिलता। भारत के संविधान निर्माताओं ने 1935 के अधिनियम की त्रुटियों को छोड़ते हुए उसकी व्यवस्था का अनुसरण किया। केन्द्र तथा राज्यों के मध्य राजस्व के साधनों के विभाजन के आधारभूत सिद्धान्त इस प्रकार हैं कार्यक्षमता, पर्याप्तता तथा उपर्युक्तता। इन तीनों उद्देश्यों की एक साथ प्राप्ति अत्यन्त कठिन थी, अतः संविधान में समझौते की चेष्टा की गई है, जिसके अनुसार इस विषय को दो भागों में विभक्त किया गया प्रथम, संघ तथा राज्यों के मध्य राजस्व का विभाजन तथा दूसरे, सहायक अनुदानों का वितरण। संघ तथा राज्यों के राजस्व के स्त्रोत इस प्रकार हैं-

संघ के राजस्व स्रोत संघ के प्रमुख राजस्व स्रोत इस प्रकार हैं निगम-कर, मुद्रा, मुद्रा-टंकन, विदेशी विनिमय, सीमा-शुल्क, तथा निर्यात शुल्क तम्बाकू तथा भारत में निर्मित व उत्पादित कुछ वस्तुओं पर उत्पादन शुल्क, कृषि-भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति पर सम्पदा शुल्क, विदेशी ऋण, डाकघर, बचत बैंक संघ सरकार की सम्पत्ति, संघ का लोक ऋण, रेलें, भारत का रिजर्व बैंक, समाचार-पत्रों के क्रय तथा विक्रय पर

तथा उनमें दिए गए विज्ञापनों पर कर, रेल, समुद्र तथा वायु द्वारा ले जाए जाने वाले माल तथा यात्रियों पर सीमान्त-कर ।

राज्यों के राजस्व स्त्रोत - राज्यों के प्रमुख राजस्व स्त्रोत इस प्रकार हैं प्रतिव्यक्ति कर, कृषि-भूमि उत्तराधिकार प्राप्त करने सम्बन्धी शुल्क, शराब, अफीम आदि जो मादक द्रव्य राज्यों में उत्पादित एवं निर्मित होते हों उन पर उत्पादन कर, कृषि-भूमि पर सम्पदा-शुल्क, भू-राजस्व, कृषि-आय पर कर, भूमि और भवनों पर कर, बिजली के उपभोग तथा विक्रय पर कर, न्यायालयों द्वारा लिए जाने वाले शुल्क को छोड़कर राज्य-सूची में सम्मिलित विषयों पर शुल्क, वाहनों पर कर, पशुओं तथा नौकाओं पर कर, व्यवसायों, उपजीविकाओं, नौकरियों पर कर, चुंगी-कर आदि।

होगा। यह भी आयोजित किया गया है कि भारत के राज्य क्षेत्र के किसी भाग के दीवानी न्यायालयों द्वारा दिए गए निर्णय तथा आदेश उस राज्य-क्षेत्र के अन्दर सभी स्थानों पर निष्पादित किए जाएँगे।

द्वितीय, अनुच्छेद 262 के अनुसार किसी अन्तर्राज्यिक नदी तथा नदी घाटी के या जलाशयों के प्रयोग, वितरण, विवाद या फरियाद के न्याय-निर्णय के बारे में संसद विधि द्वारा व्यवस्था करेगी। ऐसे विवाद के सम्बन्ध में संसद यह निर्णय भी कर सकती है कि सर्वोच्च न्यायालय या अन्य कोई न्यायालय इस सम्बन्ध में क्षेत्राधिकार का प्रयोग नहीं करेगा।

तृतीय, अनुच्छेद 263 के अन्तर्गत राज्यों के पारस्परिक सहयोग के लिए एक अन्तर्राज्यीय परिषद का प्रावधान किया गया है। यदि राष्ट्रपति को प्रतीत होता है कि सार्वजनिक हित में आवश्यक है तो अन्तर्राज्यीय परिषद की स्थापना की जा सकेगी। इस परिषद का प्रमुख कार्य 'राज्यों के मध्य विवादों का परीक्षण करना तथा उन पर परामर्श देना है।'

चतुर्थ, क्षेत्रीय परिषदों का निर्माण किया जाता है। सम्पूर्ण भारत को पाँच क्षेत्रों में विभाजित किया गया है और प्रत्येक क्षेत्र के लिए क्षेत्रीय परिषद है। क्षेत्रीय परिषदों के कार्य उन समस्त विषयों से सम्बन्धित होंगे जिनमें क्षेत्र के समस्त या कुछ राज्य या संघ और एक या अधिक राज्य रुचि रखते हैं।

पंचम, अन्तर्राज्यीय व्यापार वाणिज्य से सम्बन्धित संविधान के प्रावधानों के क्रियान्वयन के लिए अनुच्छेद 307 के अनुसार संसद एक प्राधिकारी की नियुक्ति करेगी तथा उसको ऐसी शक्तियाँ और कर्तव्य सौंप सकती है जो वह आवश्यक समझे ।

षष्ठ, इनके अतिरिक्त कतिपय ऐसे भी विषय हैं जिनका सम्बन्ध यद्यपि दोनों सरकारों से है तथापि जिनका निर्धारण केन्द्रीय सरकार ही करती हैं। उदाहरण के लिए, निर्वाचन, लेखा परीक्षण, राज्यपाल की नियुक्ति आदि ।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि केन्द्र की प्रशासनिक शक्तियाँ अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। ये शक्तियाँ केन्द्र की सर्वोपरि सत्ता तथा राज्यों को अनुशासित करने की योग्यता की द्योतक हैं।

3. केन्द्र तथा राज्यों के वित्तीय सम्बन्ध (Financial Relations) संघ शासन की सफलता के लिए केन्द्रीय सरकार के साथ-साथ राज्यों के पास भी अपने उत्तरदायित्वों को निभाने के लिए पर्याप्त आर्थिक साधन होने चाहिए। वित्तीय क्षेत्र में संघ और राज्यों के सम्बन्धों का इतना विस्तृत वर्णन अन्य किसी संघात्मक संविधान में नहीं मिलता। भारत के संविधान निर्माताओं ने 1935 के अधिनियम की त्रुटियों को छोड़ते हुए उसकी व्यवस्था का अनुसरण किया। केन्द्र तथा राज्यों के मध्य राजस्व के साधनों के विभाजन के आधारभूत सिद्धान्त इस प्रकार हैं कार्यक्षमता, पर्याप्तता तथा उपर्युक्तता। इन तीनों उद्देश्यों की एक साथ प्राप्ति अत्यन्त कठिन थी, अतः संविधान में समझौते की चेष्टा की गई है, जिसके अनुसार इस विषय को दो भागों में विभक्त किया गया प्रथम, संघ तथा राज्यों के मध्य राजस्व का विभाजन तथा दूसरे, सहायक अनुदानों का वितरण। संघ तथा राज्यों के राजस्व के स्त्रोत इस प्रकार हैं-

संघ के राजस्व स्रोत संघ के प्रमुख राजस्व स्रोत इस प्रकार हैं निगम-कर, मुद्रा, मुद्रा-टंकन, विदेशी विनिमय, सीमा-शुल्क, तथा निर्यात शुल्क तम्बाकू तथा भारत में निर्मित व उत्पादित कुछ वस्तुओं पर उत्पादन शुल्क, कृषि-भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति पर सम्पदा शुल्क, विदेशी ऋण, डाकघर, बचत बैंक संघ सरकार की सम्पत्ति, संघ का लोक ऋण, रेलें, भारत का रिजर्व बैंक, समाचार-पत्रों के क्रय तथा विक्रय पर तथा उनमें दिए गए विज्ञापनों पर कर, रेल, समुद्र तथा वायु द्वारा ले जाए जाने वाले माल तथा यात्रियों पर सीमान्त-कर ।

राज्यों के राजस्व स्त्रोत - राज्यों के प्रमुख राजस्व स्त्रोत इस प्रकार हैं प्रतिव्यक्ति कर, कृषि-भूमि उत्तराधिकार प्राप्त करने सम्बन्धी शुल्क, शराब, अफीम आदि जो मादक द्रव्य राज्यों में उत्पादित एवं निर्मित होते हों उन पर उत्पादन कर, कृषि-भूमि पर सम्पदा-शुल्क, भू-राजस्व, कृषि-आय पर कर, भूमि और भवनों पर कर, बिजली के उपभोग तथा विक्रय पर कर, न्यायालयों द्वारा लिए जाने वाले शुल्क को छोड़कर राज्य-सूची में सम्मिलित विषयों पर शुल्क, वाहनों पर कर, पशुओं तथा नौकाओं पर कर, व्यवसायों, उपजीविकाओं, नौकरियों पर कर, चुंगी-कर आदि।

के लिये उन्हें केन्द्र की सहायता की आवश्यकता रहती है, इसीलिये उन्हें केन्द्र का नेतृत्व स्वीकार करना पड़ता है।

11.7 केन्द्र-राज्य सम्बन्धों की विशेषताएँ (Features of Centre-State Relations)

संविधान द्वारा प्रस्तुत केन्द्र - राज्य सम्बन्धों का विश्लेषण करने पर निम्न तथ्य उभरते हैं :-

1. शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार संविधान निर्माताओं ने केन्द्रीय सरकार को अत्यन्त शक्तिशाली बनाया है। वह किसी भी सूची के विषयों पर कानून बना सकती है। वह अवशिष्ट शक्तियों का उपयोग कर सकती है और राज्यपालों द्वारा राज्यों पर पूर्ण नियन्त्रण रखती है। उसकी आय के साधन अधिक हैं और वह राज्यों को ऋण भी दे सकती है।

2. राज्यों की स्थिति नगरपालिकाओं के समतुल्य संघ एवं राज्यों के बीच शक्तियों का वितरण इस प्रकार किया गया है कि राज्यों की स्थिति नगरपालिकाओं के समतुल्य हो गई है। जिस प्रकार नगरपालिकाएँ राज्य सरकारों पर पूर्णतः निर्भर है, उसी प्रकार राज्य सरकारें भी सभी क्षेत्रों में संघ सरकार पर निर्भर हैं।

3. सहकारी संघवाद - ग्रेनविल आस्टिन के अनुसार, "भारत की विशिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संविधानसभा ने एक विशिष्ट प्रकार के संघवाद को जन्म दिया है" जिसे ए. एच. बर्च ने 'सहकारी संघवाद' की संज्ञा दी है। इस व्यवस्था में संघीय सरकार शक्तिशाली होती है, किन्तु राज्य सरकारें भी अपने क्षेत्रों में कमजोर नहीं होती; साथ ही, सरकारों की एक-दूसरे पर निर्भरता इस व्यवस्था का मुख्य लक्षण होता है।

4. भारतीय संघ की आत्मा एकात्मक राष्ट्रपति द्वारा आपातकाल की उद्घोषणा किए जाने पर राज्यों की स्वायत्तता को स्थगित किया जा सकता है और इस दशा में राष्ट्रपति राज्य का सारा कामकाज अपने प्रतिनिधि राज्यपाल के माध्यम से चला सकता है। केन्द्र की शक्तियाँ आपातकाल में ही नहीं अपितु, सामान्य काल में भी बढ़ाई जा सकती हैं। अतः भारतीय संघ की आत्मा एकात्मक कही जा सकती है।

11.8 केन्द्र और राज्यों के संघर्ष-क्षेत्र (Areas of Conflict between Centre and States)

चतुर्थ आम चुनावों से पूर्व 'नेहरू युग' में केन्द्र और राज्यों के सम्बन्ध 'मधुर' कहे जा सकते हैं। इस कालावधि में देश के राजनीतिक क्षितिज पर कांग्रेस दल का एकाधिकार था और केन्द्र व राज्यों के बीच संघर्ष पूर्ण स्थिति उत्पन्न नहीं हुई। चतुर्थ आम चुनावों के बाद भारतीय राजनीति में एक नया मोड़ आया, कांग्रेस का एकाधिकार समाप्त हुआ और अनेक राज्यों में गैर-कांग्रेसी दलों की सरकारें बनीं। ये गैर-कांग्रेसी दलों की सरकारें केन्द्रीय सरकार को अविश्वास और शंका की दृष्टि से देखने लगीं। उनका यह दृष्टिकोण रहा कि केन्द्र की कांग्रेसी सरकार राज्यों में गैर-कांग्रेसी सरकार को पच्युत करना चाहती है।

चतुर्थ, आम चुनावों के फलस्वरूप लोकसभा में कांग्रेस दल का संख्या बल काफी घट गया, सत्रह में से सात राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारें बनीं और क्षेत्रीय एवं प्रादेशिक दलों का अभ्युदय हुआ। क्षेत्रीय दलों का ध्येय अपनी शक्ति में वृद्धि करना और केन्द्रीय सत्ता को दुर्बल करना रहा। गैर-कांग्रेसी दलों के मुख्यमंत्री तो प्रायः छोटी-छोटी बातों को तूल देने लगे और केन्द्र के विरुद्ध बार-बार शिकायतें प्रस्तुत करने लगे। वस्तुतः केन्द्र और राज्यों के मध्य तनाव, संघर्ष और मतभेद के युग का सूत्रपात हुआ । केन्द्र-राज्य संघर्ष में प्रमुख मुद्दे इस प्रकार थे-

1. कानून और व्यवस्था - कानून और व्यवस्था बनाये रखना राज्यों के अधिकार क्षेत्र में आता है। अनुच्छेद 256 एवं 257 के अनुसार सार्वजनिक-व्यवस्था एवं शान्ति बनाये रखने का दायित्व केन्द्रीय सरकार पर भी है। केन्द्रीय सरकार इस सम्बन्ध में राज्यों को निर्देश दे सकती है। इस हेतु केन्द्रीय सरकार राज्यों में केन्द्रीय रिजर्व पुलिस भेज सकती है। 18 सितम्बर, 1968 को केन्द्रीय कर्मचारियों की हड़ताल का सामना करने के लिये केन्द्र ने राज्यों को आदेश दिया। किन्तु केरल की संयुक्त मोर्चा सरकार के मुख्यमंत्री नम्बूद्रीपाद ने केन्द्रीय अध्यादेश को श्रमिक विरोधी कहकर उसे मानने से इन्कार कर दिया। 1968 में ही दार्जिलिंग और नक्सलवादी क्षेत्रों में होने वाले उपद्रवों से चिन्तित होकर केन्द्रीय सरकार ने

उपद्रवग्रस्त क्षेत्रों में हथियार रखने पर प्रतिबंध लगा दिया, जिसे पश्चिमी बंगाल के उपमुख्यमंत्री ज्योति बसु ने राज्य के मामले में केन्द्रीय हस्तक्षेप कहा। केरल और पश्चिमी बंगाल की संयुक्त मोर्चा सरकारों की अनुत्तरदायित्वपूर्ण नीतियों को देखते हुए केन्द्रीय सरकार ने केन्द्रीय प्रतिष्ठानों की रक्षा के लिए सी.आर.पी. को भेजा, जिसे दोनों ही सरकारों ने अनुचित कदम बताया। दिसम्बर, 1971 में तमिलनाडु के सिम्पसन औद्योगिक प्रतिष्ठान में हड़ताल हुई और केन्द्रीय मंत्री सुब्रहमण्यम ने मजदूरों की मांग के

औचित्य को स्वीकार किया तो तमिलनाडु के मुख्यमंत्री ने आरोप लगाया कि केन्द्र राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप कर रहा है।

2. राज्यपालों का आचरण राज्यपालों के अधिकार क्षेत्र को लेकर भी केन्द्र-राज्य सम्बन्धों में तनाव उपस्थित हुए हैं। गैर-कांग्रेसी सरकारें बराबर यह आरोप लगाती रहीं हैं कि केन्द्र राज्यपालों के माध्यम से गैर-कांग्रेसी सरकारों को पदच्युत करने में लगा हुआ है। गैर-कांग्रेसी मुख्यमंत्रियों का यह भी कहना था कि उनके राज्यों में राज्यपालों की नियुक्ति करते समय उनसे परामर्श लिए जाने की परम्परा का केन्द्र पालन नहीं कर रहा है। हरियाणा के मुख्यमंत्री देवीलाल, कर्नाटक के मुख्यमंत्री रामकृष्ण हेगड़े और केरल के मुख्यमंत्री इ. के. नयनार ने कहा कि उनके राज्यों में राज्यपाल नियुक्त करते समय केन्द्र ने उनसे किसी प्रकार का परामर्श नहीं किया। राजस्थान के मुख्यमंत्री भैरोसिंह शेखावत ने राष्ट्रपति को पत्र लिखा कि डॉ. चेन्ना रेड्डी को राज्यपाल नियुक्त करते समय उनसे परामर्श नहीं किया गया। राज्यपाल धर्मवीर की भूमिका को लेकर पश्चिमी बंगाल और केन्द्रीय सरकार के मध्य विवाद इतना उग्र हो गया कि अन्ततः राज्यपाल को स्थानान्तरित ही करना पड़ा। आन्ध्रप्रदेश के तात्कालिक राज्यपाल रामलाल ने एन टी. रामाराव की तेलगू देशम सरकार (1984) को बर्खास्त करके राज्यपाल पद को अत्यन्त हास्यास्पद बना दिया, जबकि विधानसभा में रामाराव को स्पष्ट बहुमत प्राप्त था। समूचे आन्ध्रप्रदेश में राज्यपाल और केन्द्र के खिलाफ जन आक्रोश जब अपनी चरम सीमा पर पहुंचा तो रामाराव की सरकार को पुनः पदासीन करना पड़ा और राज्यपाल को बेआबरू हटना पड़ा। उत्तरपदेश के राज्यपाल रोमेश भंडारी ने (21 फरवरी 1998) कल्याणसिह सरकार को अपना बहुमत सिद्ध करने का मौका दिए बिना ही बर्खास्त करके संविधान का जो मखौल बनाया उस पर अंतरिम स्थगनादेश देकर तथा कल्याणसिंह सरकार को तत्काल बहाल करने का निर्देश देकर इलाहाबाद उच्च न्यायालय की खंडपीठ ने लोकतांत्रिक व्यवस्था को बनाए रखने का ऐतिहासिक कार्य किया। राज्य विधान सभा में शक्ति परीक्षण में कल्याणसिह की जीत के बाद भी भण्डारी 15 मार्च 1998 तक निर्लज्जता से अपने पद पर बने रहे। इसी प्रकार 21 मई, 2005 को राज्यपाल बूटासिंह ने बिहार विधानसभा भंग करने की सिफारिश की और 23 मई, 2005 को विधानसभा भंग करने की केन्द्र ने अधिसूचना जारी कर दी जिसे उच्चतम न्यायालय ने 7 अक्टूबर, 2005 को असंवैधानिक घोषित कर राज्यपाल बूटासिंह के साथ-साथ केन्द्र सरकार को भी कठघरे में खड़ा कर दिया।

3. वित्तीय क्षेत्र में मतभेद चतुर्थ योजना के स्वरूप को लेकर केन्द्र और राज्यों के बीच मतभेद रहा। गैर-कांग्रेसी सरकारों की यह मांग थी कि राज्य सरकारों को योजना बनाने

और औद्योगिक दायित्वों का निर्वाह करने के लिए अधिक अधिकार दिए जाएँ। राज्यों द्वारा केन्द्रीय अनुदान व्यवस्था और ऋण प्रणाली के बारे में भी असंतोष प्रकट किया गया। राज्यों का कहना था कि केन्द्र द्वारा अनुदान व्यवस्था के स्थान पर सीधे साधन प्रदान किए जाएँ क्योंकि संघ द्वारा विशेष अनुदान की व्यवस्था से गैर-कांग्रेसी सरकारों पर दबाव डाला जाता है।

4. अन्तर्राज्यीय विवाद अन्तर्राज्यीय विवादों में बेलगांव के प्रश्न पर महाराष्ट्र और कर्नाटक का विवाद, चण्डीगढ़ पर हरियाणा और पंजाब का विवाद, नर्मदा नदी के पानी के उपयोग पर राजस्थान, गुजरात और मध्यप्रदेश का विवाद, फाजिल्का और अबोहर पर पंजाब और हरियाणा का विवाद, कड़ाणा बांध के निर्माण पर गुजरात और राजस्थान का विवाद, तमिलनाडु और कर्नाटक के बीच 'कावेरी जल विवाद' के कारण केन्द्र को राज्यों के आपसी विवादों में उलझना पड़ा। राज्य सरकारें यह आरोप लगाती रहती हैं कि केन्द्र उन राज्यों का पक्ष लेता है जहां पर अनुकूल सरकारें कार्य करती हैं।

5. राज्य सूची के विषयों पर केन्द्रीय हस्तक्षेप राज्यों द्वारा यह भी शिकायत की गई है कि केन्द्र उद्योग, व्यापार एवं वाणिज्य जैसे विषयों पर कानून बनाने लग गया है, जबकि ये विषय राज्य-सूची में उल्लिखित हैं। सन् 1951 में संसद ने उद्योग विकास एवं नियन्त्रण अधिनियम पारित किया, जिसमें उन उद्योगों का उल्लेख किया गया जिनको जनहित में केन्द्र द्वारा नियन्त्रित करना आवश्यक था। धीरे-धीरे अनेक उद्योगों को इस अधिनियम के अन्तर्गत ले लिया गया। इस प्रकार राज्य-सूची में वर्णित 24, 26 तथा 27 संख्या वाले विषयों पर केन्द्र का अधिकार स्थापित हो गया। ये ही नहीं, रेजर पत्ती, कागज, गोंद, जूते, माचिस, साबुन आदि विषयों पर भी केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण स्थापित हो गया। राज्यों के नेताओं का कहना है कि इस प्रकार के अत्यधिक केन्द्रीयकरण से राज्यों का आर्थिक विकास अवरुद्ध हो रहा है।

6. आवश्यक वस्तुओं पर केन्द्रीय नियन्त्रण दैनिक उपयोग की आवश्यक वस्तुएँ जैसे शक्कर, केरोसिन, चावल, वनस्पति घी आदि केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण में आ गये हैं। अनेक राज्य सरकारों का कहना है कि केन्द्रीय सरकार इन वस्तुओं के वितरण में राजनीतिक तथ्यों को ध्यान में रखती है। राज्यों को अनाज, चावल, शक्कर आदि का अधिक कोटा लेने के लिये प्रदर्शन का आयोजन करना पड़ता है।

भारतीय संघ के कुछ राज्यों ने तो समय-समय पर केन्द्र का डटकर विरोध करना अपनी नीति ही बना लिया था। चतुर्थ आम चुनाव के बाद केरल, पश्चिमी बंगाल और तमिलनाडु की गैर-कांग्रेसी सरकारों ने केन्द्र का लगातार उग्र विरोध करते हुए अपनी असफलताओं को छिपाने का प्रयास किया। डी.एम.के. ने राज्य में एन.सी.सी. को

विघटित करने, राज्य के लिए अलग झण्डे की मांग करने, त्रिभाषा फार्मूले को रद्द करने, ऑल इण्डिया रेडियो के समय में परिवर्तन की मांग का सदैव विरोध किया। ऐसा कहा जाता है कि जब भी डी. एम. के के नेता संकट में होते, राज्य के आक्रोश को केन्द्र के विरोध हेतु मोड़ देते।

11.9केन्द्र-राज्य सम्बन्ध पर सरकारिया आयोग प्रतिवेदन (Sarkaria Panel Report on Centre-State Relations)

केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के संपूर्ण ढांचे पर विचार करने के लिए केन्द्रीय सरकार ने मार्च 1983 में सरकारिया आयोग की नियुक्ति की। तीन सदस्यीय सरकारिया आयोग ने नवम्बर 1987 में अपनी रिपोर्ट सरकार को प्रस्तुत की। आयोग की प्रमुख सिफारिशें निम्नलिखित हैं :-

1.देश की एकता व अखण्डता के लिए मजबूत केन्द्र अनिवार्य है।

2.अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राज्यों में राष्ट्रपति शासन तभी लागू करना चाहिये जब कोई दूसरा रास्ता न रह गया हो। राष्ट्रपति शासन लागू करने से पहले केन्द्र को सम्बन्धित राज्य को इस बारे में चेतावनी देकर स्पष्टीकरण मांगना चाहिए ।

3.निगम कर के उचित बंटवारे के लिए संविधान में संशोधन किया जाये।

4.कर लगाने सम्बन्धी मामलों को छोड़कर अवशिष्ट विषयों को समवर्ती सूची में रखा जाये।

5. केन्द्र द्वारा प्रायोजित परियोजनाओं की संख्या कम से कम रखी जानी चाहिए।

6.राज्यपाल के पद से निवृत्त होने के बाद किसी व्यक्ति को लाभ का कोई पद नहीं देना चाहिये।

7. यदि आवश्यक है और केन्द्र सरकार चाहे तो राज्य सरकार की इच्छा के विपरीत भी राज्यों में सुरक्षा बल तैनात कर सकती है।

8. योजना आयोग को केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण से बाहर नहीं होना चाहिये

9.योजना प्रक्रिया के सभी चरणों में योजना आयोग राज्यों से पूर्ण और प्रभावी विचार विमर्श करें ताकि राज्य यह महसूस कर सकें कि उनकी भूमिका पूरक नहीं बल्कि बराबरी के भागीदार की है।

11.10 सार संक्षेप

हमारी संघ-व्यवस्था में राजनीतिक और आर्थिक शक्ति का निम्नतर इकाईयों के बीच अधिकाधिक विकेन्द्रीकरण होना चाहिए, इसके साथ ही केन्द्र को उसके अपने विशिष्ट ओर संकुचित क्षेत्र में अधिक शक्तिशाली बनाया जाना चाहिए। राष्ट्रीय एकता और विकास के लिए शक्तिशाली केन्द्र और समृद्ध राज्यों के संघीय ढाँचे का होना लाभकारी है। राज्यों को महसूस करना चाहिये कि दुर्बल केन्द्र का सिद्धांत राजनीतिक दृष्टि से, 'आत्महत्या' के समतुल्य होगा। हमारे राज्य तभी शक्तिशाली हो सकते हैं जबकि केन्द्र भी शक्तिशाली हो। यदि शक्ति का संतुलन राज्य की तरफ झुकता जाता है तो केन्द्र के साथ-साथ संपूर्ण राष्ट्रीय शक्ति का भी ह्रास होगा और उससे निश्चित ही 'शक्ति-शून्य' स्थिति उत्पन्न होगी ।

11.11 शब्दावली

केंद्र (Union): यह भारतीय संविधान के तहत संघ सरकार को कहा जाता है, जो पूरे देश के लिए जिम्मेदार है।

राज्य (State): भारतीय संविधान में राज्य से तात्पर्य उन सभी राज्यों और केंद्र शासित प्रदेशों से है, जो भारतीय संघ का हिस्सा हैं।

संघीय शासन (Federal System): वह शासन व्यवस्था, जिसमें शक्तियों का वितरण केंद्र और राज्यों के बीच होता है, और प्रत्येक स्तर की सरकार अपने-अपने अधिकारों का प्रयोग करती है।

संविधान (Constitution): यह कानूनों का सबसे ऊंचा और सर्वोत्तम दस्तावेज है, जो केंद्र और राज्य सरकारों के बीच संबंधों को परिभाषित करता है।

11.12 स्व-प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

1. संघवाद के बहिरंग लक्षणों के बावजूद भारतीय संविधान का प्रधान स्वरः

(अ) डॉ. अम्बेडकर (ब) के.सी. हीवयर (स) डॉ. राजेन्द्र प्रसाद (द) जवाहर लाल नेहरू

2'भारतीय संघ अधिक से अधिक अर्द्ध संघ है' यह किसका विचार है:

(अ) एकात्मकता का है (ब) अर्द्धसंघात्मक है (स) संघात्मकता का है (द) इनमें से कोई नहीं।

3 भारतीय संघ व्यवस्था का अध्ययन नियोजन के परिप्रेक्ष्य में करने वाला विद्वान है: (अ) जवाहर लाल नेहरू (ब) के सी. ह्वह्मीयर (स) डॉ. अम्बेडकर (द) अशोक चन्दा।

4 'भारत में केवल सहयोगी संघवाद है और इस सहयोगी संघवाद में से एक सौदेबाजी की ध्वनि भी निकलती है ऐसा विचार किस विद्वान का है:

(अ) नारमन डी. पामर (ब) अशोक चन्दा

(स) मॉरिस जोन्स (द) के. सी. ह्वीयर।

5. भारत में संघ व्यवस्था का कोई एक रूप नहीं, बल्कि उसके विविध रूप है। ऐसा विचार किस विद्वान का है:

(अ) मॉरिस जोन्स (ब) मारकुस फ्राण्डा (स) के.सी. ह्वीयर (द) अशोक चन्दा।

6. भारतीय संविधान के अन्तरंग में उपस्थित एकात्मक तत्व नहीं है:

(अ) इकहरी नागरिकता (ब) न्याय व्यवस्था

(स) संशोधन प्रणाली (द) राष्ट्रपति के संकटकालीन अधिकार ।

7. संघ सूची का विषय नहीं है:

(अ) पुलिस (ब) डाक (स) सिक्का (द) तार ।

8. राज्य सूची का विषय नहीं है:

(अ) पुलिस (ब) जेल (स) न्याय (द) सीमाकर ।

9. राज्य सूची से हटाकर समवतीं सूची में रखा गया विषय है:

(अ) कृषि (ब) वन (स) सिचाई (द) न्याय ।

10. समवर्ती सूची का विषय है:

(अ) रिजर्व बैंक (ब) जेल (स) आर्थिक और सामाजिक नियोजन (द) न्याय ।

उत्तर. 1. (अ), 2. (ब), 3. (द), 4. (स), 5. (ब), 6. (ब), 7. (अ), 8. (द), 9. (ब), 10. (स)

11.13 संदर्भ सूची

1. शर्मा, आर. (2019). *राजनीति विज्ञान: सिद्धांत और दृष्टिकोण.* नई दिल्ली: प्रकाशन गृह।
2. ठाकुर, आर. (2021). *भारत में केंद्र-राज्य संबंध.* नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन।
3. यादव, वी. (2022). *भारतीय राजनीति का इतिहास और विकास.* दिल्ली विश्वविद्यालय प्रेस।

4. सिंह, बी. (2023). *राजनीति विज्ञान की बुनियादी अवधारणाएँ.* मुंबई: ग्रंथशाला।
5. कुमार, एस. (2020). *संविधान और केंद्र-राज्य संबंध.* दिल्ली: शीतल प्रकाशन।
6. मिश्र, A. (2021). *भारत में संघीय प्रणाली.* नई दिल्ली: न्यू एरा पब्लिशर्स।
7. वर्मा, ए. (2023). *राजनीति विज्ञान के प्रमुख सिद्धांत और क्षेत्र.* दिल्ली विश्वविद्यालय प्रेस।

11.14 अभ्यास प्रश्न

1. "भारत का संविधान शरीर से संघात्मक और आत्मा से एकात्मक है।" व्याख्या कीजिए।

2. "भारतीय संविधान में संघात्मक तथा एकात्मक व्यवस्था का मिश्रण विश्व में अनोखा है।" वर्णन कीजिए ।

3.भारत में केन्द्र-राज्य संबंधों का परीक्षण कीजिए।

4. केन्द्र-राज्य मतभेद के मुद्दों का परीक्षण कीजिए।

5. भारतीय संविधान के संघात्मक लक्षण लिखिए।

6. केन्द्र तथा राज्यों के विधायी संबंध लिखिए ।

7. भारत में केन्द्र राज्य संबंधों की विशेषताएँ लिखिए।

इकाई 12

भारत में निर्वाचन आयोग

(THE ELECTION COMMISSION IN INDIA)

12.1 प्रस्तावना

12.2 उद्देश्य

12.3 भारत में निर्वाचन आयोग संरचना एवं संगठन

12.4 निर्वाचन आयोग के कार्य

12.5 निर्वाचन आयोग: आलोचना

12.6 निर्वाचन आयोग के पुनर्गठन हेतु सुझाव

12.7 सार संक्षेप

12.8 शब्दावली

12.9 स्व -प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

12.10संदर्भ सूची

12.11अभ्यास प्रश्न

12.1 प्रस्तावना

प्रस्तावना- भारत में निर्वाचन आयोग (Election Commission of India) एक स्वतंत्र और स्वायत्त संवैधानिक निकाय है, जिसे भारतीय संविधान के अनुच्छेद 324 के तहत स्थापित किया गया है। इसका मुख्य उद्देश्य देश में निष्पक्ष, स्वतंत्र, और पारदर्शी चुनाव सुनिश्चित करना है। यह निकाय देश के लोकतांत्रिक ढांचे को मजबूत करने और जनता को उनके मौलिक अधिकार "मतदान का अधिकार" प्रदान करने के लिए उत्तरदायी है। निर्वाचन आयोग का गठन 25 जनवरी 1950 को हुआ था। इसे लोकसभा, राज्यसभा, राज्य विधानसभाओं, और राष्ट्रपति एवं उपराष्ट्रपति के चुनावों का प्रबंधन और संचालन करने का अधिकार प्राप्त है। आयोग भारत के नागरिकों को चुनावी प्रक्रिया में भाग लेने और लोकतंत्र को सुदृढ़ बनाने के लिए प्रेरित करता है।

भारत का निर्वाचन आयोग भारतीय लोकतंत्र का एक अभिन्न हिस्सा है। यह न केवल लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं की निष्पक्षता को बनाए रखता है, बल्कि यह जनता में

राजनीतिक जागरूकता और जिम्मेदारी की भावना भी विकसित करता है। "मतदाता जागरूकता दिवस" और "स्वीप (SVEEP)" जैसे कार्यक्रम इसके प्रयासों का हिस्सा हैं।

'चुनाव व्यवस्था' लोकतान्त्रिक व्यवस्था का प्राण है। प्रत्येक शासन व्यवस्था में किसी न किसी प्रकार की चुनाव-प्रक्रिया के महत्व को स्वीकार किया जाता है, किन्तु निर्वाचन प्रक्रिया तथा उस प्रक्रिया का संचालन करने वाली मशीनरी लोकतान्त्रिक व्यवस्था का बुनियादी आधार है। लोकतन्त्र में यह महत्वपूर्ण नहीं है कि चुनाव होते हैं अपितु इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण यह है कि चुनाव किस भांति होते है, चुनाव कितने निष्पक्ष होते हैं और आम मतदाता का निर्वाचन व्यवस्था का संचालन करने वाले अभिकरण की निष्पक्षता और ईमानदारी पर कितना विश्वास होता है ?

भारत एक लोकतान्त्रिक शासन प्रणाली वाला देश है जहां केन्द्र, प्रदेश तथा स्थानीय स्तर पर आये दिन चुनाव होते रहते हैं। इन चुनावों के माध्यम से जनता अपने शासकों (जन-प्रतिनिधियों) का चयन करती है, जनता शासकों पर नियन्त्रण रखती है और सरकार को वैधता (Legitimacy) प्रदान करती है। नागरिक मताधिकार के माध्यम से ऐसी सरकार को बदल सकते हैं जो उनकी इच्छाओं का सम्मान नहीं करती। वस्तुतः भारत जैसे देश में निर्वाचन अप्रत्यक्ष रुप से लोकमत की अभिव्यक्ति है।

भारत के संविधान निर्माता चुनावों के महत्व से परिचित थे और इसलिए भारतीय संविधान में उन्होंने एक ऐसे संवैधानिक आयोग की स्थापना की है जिसका प्रमुख कार्य सम्पूर्ण देश में राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, लोकसभा, राज्यसभा के सदस्य एवं राज्य विधानमण्डलों के सदस्यों का निर्वाचन सम्पन्न कराना है। इस संवैधानिक आयोग को 'निर्वाचन आयोग' (Election Commission) के नाम से जाना जाता है। जहां विश्व के अधिकांश शासन विधानों में निर्वाचन को अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण विषय समझकर उसे व्यवस्थापिका की इच्छा पर छोड़ दिया गया है वहां भारतीय संविधान निर्माताओं ने निर्वाचन सम्बन्धी सम्पूर्ण व्यवस्था के संचालन का प्रावधान संविधान के अन्तर्गत ही कर लिया है।

12.2 उद्देश्य

भारत में निर्वाचन आयोग के अध्ययन का उद्देश्य विद्यार्थियों के लिए निम्नलिखित बिंदुओं में स्पष्ट किया जा सकता है:

1. लोकतांत्रिक प्रक्रिया की समझ: भारतीय लोकतंत्र में स्वतंत्र, निष्पक्ष और पारदर्शी चुनावों की भूमिका को समझना।

2. निर्वाचन आयोग की संरचना और कार्य: आयोग की संरचना, शक्तियों और जिम्मेदारियों का ज्ञान प्राप्त करना।

3. चुनावी प्रक्रिया की जानकारी: नामांकन, मतदान, मतगणना और परिणाम घोषणा जैसी प्रक्रियाओं की जानकारी।

4. स्वतंत्रता और निष्पक्षता: चुनावी प्रक्रिया में निष्पक्षता और पारदर्शिता सुनिश्चित करने में निर्वाचन आयोग की भूमिका का अध्ययन।

5. चुनावी सुधारों का महत्व: भारत में चुनावी सुधारों और उनकी आवश्यकता को समझना।

6. राजनीतिक जागरूकता: नागरिकों और विद्यार्थियों को उनके मतदान अधिकार और जिम्मेदारियों के प्रति जागरूक करना।

12.3 भारत में निर्वाचन आयोग संरचना एवं संगठन

संवैधानिक प्रावधान संविधान के अनुच्छेद 324 के अन्तर्गत निर्वाचनों का निरीक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण करने के लिए निर्वाचन आयोग की स्थापना की गई है। निर्वाचन आयोग में एक मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा अन्य उतने निर्वाचन आयुक्त होंगे जितने कि राष्ट्रपति समय-समय पर मनोनीत करें। मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा अन्य निर्वाचन आयुक्तों की नियुक्ति संसद द्वारा निर्मित किसी विधि के अधीन रहते हुए राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। राष्ट्रपति निर्वाचन आयोग से परामर्श करके आयोग की सहायता के लिए ऐसे प्रादेशिक आयुक्तों की नियुक्ति कर सकता है जैसा कि आवश्यक समझे । निर्वाचन आयुक्तों और प्रादेशिक आयुक्तों की सेवा की शर्तें और पदावधियां ऐसी होंगी जो कि राष्ट्रपति नियम द्वारा निर्धारित करें। मुख्य निर्वाचन आयुक्त अपने पद से उन्हीं कारणों पर और उन्हीं रीतियों से हटाया जायेगा जिन कारणों और रीति से सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश हटाया जा सकता है। अर्थात् सिद्ध कदाचार या असमर्थता के आधार पर राष्ट्रपति के आदेश द्वारा मुख्य निर्वाचन आयुक्त को अपने पद

से हटाया जा सकता है। इस प्रकार के महाभियोग की कार्यविधि निश्चित करने का अधिकार संसद को प्राप्त है। कार्यविधि चाहे जो हो, लेकिन संसद के दोनों सदनों को अलग-अलग अपने कुल सदस्यों की संख्या के बहुमत और उपस्थित मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई मत से प्रस्ताव पारित करना होगा और वह प्रस्ताव राष्ट्रपति को भेजा जायेगा उसके बाद राष्ट्रपति मुख्य निर्वाचन आयुक्त की पदच्युति का आदेश जारी करेगा। नियुक्ति के पश्चात् मुख्य निर्वाचन आयुक्त की सेवा की शर्तों में अलाभकारी कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

मुख्य निर्वाचन आयुक्त श्री टी. एन. शेषन ने दो नये चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति तथा उन्हें मुख्य चुनाव आयुक्त के बराबर अधिकार देने से सम्बन्धित राष्ट्रपति के अध्यादेश की वैधता को चुनौती देते हुए 27 अक्टूबर, 1993 को सर्वोच्च न्यायालय में एक याचिका दायर कर दी।

उच्चतम न्यायालय की संविधान पीठ ने 14 जुलाई, 1995 को दिये गये अपने एक फैसले में निर्वाचन आयोग को बहुसदस्यीय बनाने और मुख्य निर्वाचन आयुक्त को अन्य दो चुनाव आयुक्तों के समकक्ष मानने सम्बन्धी राष्ट्रपति की अधिसूचनाओं को वैध घोषित कर दिया।

12.4 निर्वाचन आयोग के कार्य

चुनावों से सम्बन्धित समस्त व्यवस्था करना चुनाव आयोग का कार्य है। इस सम्बन्ध में प्रमुख रुप में उसके निम्नलिखित कार्यों का उल्लेख किया जा सकता है:

(1) चुनाव क्षेत्रों का परिसीमन या सीमांकन (Delimitation of Constituencies)- चुना आयोग का सर्वप्रथम कार्य चुनाव क्षेत्रों का सीमांकन होता है। प्रथम आम चुनाव में निर्वाचन क्षेत्रों का सीमांकन 'जन प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950' के अन्तर्गत राष्ट्रपति द्वारा जारी किये गये आदेश के आधार पर किया गया था, लेकिन यह व्यवस्था सन्तोषजनक नहीं पायी गयी, अतः संसद ने 'परिसीमन आयोग अधिनियम, 1952' पारित किया। इस अधिनियम में यह प्रावधान है कि दस वर्ष बाद होने वाली प्रत्येक जनगणना के उपरान्त निर्वाचन क्षेत्रों का सीमांकन किया जाना चाहिए। मुख्य चुनाव आयुक्त इस परिसीमन आयोग का अध्यक्ष होता है और उसके अतिरिक्त इनमें दो सर्वोच्च न्यायालय अथवा उच्च न्यायालयों के अवकाश प्राप्त न्यायाधीश होते हैं। आयोग की सहायता के लिए प्रत्येक राज्य से 2 से लेकर 7 तक सहायक सदस्यों का प्रावधान है। ये सहायक सदस्य सम्बद्ध राज्य से लोकसभा अथवा राज्य विधानसभा के लिए निर्वाचित सदस्यों में से चुने जाते हैं। जनता के द्वारा व्यक्तिगत अथवा संगठित रुप से आयोग के सम्मुख

सुझाव या आपत्तियां प्रस्तुत की जा सकती है, जिन पर खुली बैठकों में विचार आवश्यक माना गया है। इसके उपरान्त ही आयोग 'सीमांकन आदेश' की घोषणा करता है जो अन्तिम होता है तथा जिसके विरुद्ध किसी भी न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती है। परिसीमन आयोग की यह समस्त व्यवस्था 'गैरीमेण्डरिंग' (Gerrymendering) जैसी बुराइयों को सीमित करने के लिए की गयी है।

(2) मतदाता सूचियां तैयार करना (To Prepare Electoral Rolls) चुनाव आयोग के द्वारा लोकसभा या विधानसभा के प्रत्येक चुनाव या मध्यावधि चुनाव से पूर्व मतदाता सूचियां तैयार करवायी जाती हैं और इस कार्य के सम्पन्न होने पर ही चुनाव होते हैं। मतदाता सूची तैयार करने का कार्य इस उद्देश्य से किया जाता है कि कोई भी ऐसा व्यक्ति मताधिकार से वंचित न रहे जो मताधिकार की योग्यता रखता है।

(3) विभिन्न राजनीतिक दलों को मान्यता प्रदान करना (To Recognize Different Political Parties) - चुनाव आयोग का एक महत्वपूर्ण कार्य विभिन्न राजनीतिक दलों को मान्यता प्रदान करना है। इस सम्बन्ध में आयोग के द्वारा कोई आधार निश्चित किया जा सकता है। चुनाव आयोग द्वारा मान्यता प्रदान किये जाने के आधार में समय-समय पर परिवर्तन किये जा सकते हैं और किये जाते रहे हैं।

(4) राजनीतिक दलों को आरक्षित चुनाव चिन्ह प्रदान करना (To Allot Reserve Election Symbols to Political Parties) आयोग मान्यता प्राप्त राजनीतिक दलों को आरक्षित (Reserved) चुनाव चिन्ह प्रदान करता है और भारत की पृष्ठभूमि में आयोग का यह कार्य निश्चित रुप से महत्वपूर्ण है। यदि चुनाव चिन्ह के प्रश्न पर दो राजनीतिक दलों के बीच कोई विवाद उत्पन्न हो जाये तो उस स्थिति में आयोग से यह अपेक्षा की जाती है कि वह निष्पक्ष और न्यायिक ढंग से विवाद का निबटारा करेगा। इस सम्बन्ध में आयोग के निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील भी की जा सकती है।

(5) अर्द्ध-न्यायिक कार्य (Quasi-Judicial Functions) संविधान के द्वारा आयोग को कुछ अर्द्ध-न्यायिक कार्य भी सौंपे गये हैं, जिसमें दो उल्लेखनीय हैं: अनुच्छेद 103 के अन्तर्गत राष्ट्रपति संसद अनुष्छाद के सदस्यों की अयोग्यताओं (Disqualifications) के सम्बन्ध में परामर्श कर सकता है तथा 192 वें अनुच्छेद के अन्तर्गत राज्य विधानमण्डल के सदस्यों के सम्बन्ध में यह अधिकार राज्यों के राज्यपालों

को दिया गया है, लेकिन संविधान अथवा जन प्रतिनिधित्व अधिनियम में कार्य को करने की कोई प्रक्रिया निश्चित नहीं की गयी है और इसलिए इस कार्य को करने में आयोग ने

कठिनाइयां अनुभव की हैं। (6) अन्य कार्य (Other Functions) आयोग को उपर्युक्त के अतिरिक्त कुछ अन्य कार्य सौंपे गये हैं, जो इस प्रकार है-

(1) राजनीतिक दलों के लिए आचार संहिता (Code of Conduct) तैयार करना

(2) राजनीतिक दलों को आकाशवाणी पर चुनाव प्रचार की सुविधाएं दिलवाना

(3) उम्मीदवारों द्वारा किये जाने वाले कुल व्यय की राशि निश्चित करना

(4) मतदाताओं को राजनीतिक प्रशिक्षण देना

(5) चुनाव याचिकाओं, आदि के सम्बन्ध में सरकार को आवश्यक परामर्श देना।

इन सबके अतिरिक्त आयोग से यह अपेक्षा की जाती है कि वह समय-समय पर सरकार को अपने कार्यों के सम्बन्ध में प्रतिवेदन देता रहेगा और चुनाव प्रक्रिया में सुधार के लिए सुझाव देता रहेगा।

निर्वाचन आयोग की स्वतन्त्रता के लिए संवैधानिक प्रावधान

(Independence of the Election Commission: Constitutional Provisions)

भारत में निर्वाचन आयोग एक स्वतंत्र संवैधानिक निकाय है और संविधान इस बात को सुनिश्चित करता है कि यह उच्चतम और उच्च न्यायालयों की भांति कार्यपालिका के बिना किसी हस्तक्षेप के स्वतन्त्र और निष्पक्ष रुप से अपने कार्यों को सम्पादित कर सके। इसकी स्वतंत्रता को बनाये रखने की दृष्टि से प्रावधान बड़े महत्वपूर्ण हैं-

1. निर्वाचन आयोग एक संवैधानिक संस्था है अर्थात् इसका निर्माण संविधान ने किया है न कि कार्यपालिका या संसद ने ।

2. मुख्य चुनाव आयुक्त तथा अन्य चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति राष्ट्रपति करते हैं।

3. मुख्य चुनाव आयुक्त को महाभियोग जैसी प्रक्रिया से ही हटाया जा सकता है।

4. मुख्य चुनाव आयुक्त का दर्जा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के बराबर है।

5. नियुक्ति के पश्चात् मुख्य चुनाव आयुक्त एवं अन्य चुनाव आयुक्तों की सेवा शर्तों में कोई अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जा सकता है।

6. मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा अन्य आयुक्तों का वेतन भारत की संचित निधि में से दिया जाता है संक्षेप में, संविधान निर्वाचन आयोग के पदाधिकारियों को पूर्ण संरक्षण प्रदान करता है जिससे वे अपने कार्यों को निडरता, निष्पक्षता तथा बिना किसी हस्तक्षेप के संपादित कर सकें।

12.5 निर्वाचन आयोग: आलोचना

भारत में समय-समय पर निर्वाचन आयोग पर शासक दल के साथ पक्षपात करने के आरोप लगाये जाते रहे हैं। चतुर्थ आम चुनाव तथा विशेषतया लोकसभा के मध्यावधि चुनाव (1971) के बाद इस प्रकार के आरोपों में बहुत वृद्धि हुई है। नवम् लोकसभा चुनाव (नवम्बर 1989) के दौरान भी आयोग पर कई आरोप लगाये गये। आयोग की निम्नलिखित आलोचनाएं की जाती है:

1. प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों की मुख्य चुनाव आयुक्त के पद पर नियुक्ति – आलोचकों के अनुसार मुख्य चुनाव आयुक्त के पद पर आमतौर से भारतीय प्रशासनिक सेवा (L.A.S.) के अधिकारियों की नियुक्ति की जाती है। उन अधिकारियों को नियुक्त किया जाता है जिन्हें शासक दल निष्ठावान मानता है। सत्तारुढ़ दल द्वारा अपने चहेते व्यक्तियों को मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा निर्वाचन आयुक्त के पद पर पुरस्कृत किया जाता है। वे अधिकारी जिन्होंने सत्तारूढ़ दल के मातहत के रुप में काम किया है चुनाव आयुक्त के रुप में निष्पक्ष भूमिका अदा कैसे कर सकते हैं?

2. निर्वाचन आयोग में 'आयुक्त' का एकल पद भारत में निर्वाचन आयोग में लम्बे समय तक आयुक्त का एकल पद (एक-सदस्यीय) रहा है। निर्वाचन आयोग के कार्य बहुत विस्तृत और उसके उत्तरदायित्व बहुत भारी हैं। अतः अन्तिम रुप से एक ही व्यक्ति द्वारा इतने लम्बे समय तक इन कार्यों को किये जाने पर पक्षपात और शक्ति के दुरुपयोग की आशंका रहती है।

3. निर्वाचन आयोग सत्तारुढ़ दल एवं सरकार के इशारे पर काम करता है सैद्धान्तिक रुप से यह कहा जाता है कि भारत में निर्वाचन का समय व तिथियां निर्वाचन आयोग द्वारा घोषित की जाती है, लेकिन यथार्थ में वह सत्तारुढ़ दल की इच्छा एवं सुविधा को ध्यान में रखकर काम करता है। राजीव गांधी की हत्या के बाद यह प्रश्न विवादास्पद बन गया था कि चुनाव की नई तारीखों का फैसला किसने किया ? मुख्य चुनाव आयुक्त टी. एन. शेषन ने फोकस कार्यक्रम में स्पष्ट स्वीकार किया कि 'तारीखों का फैसला सरकारी नजरिये को ध्यान में रखकर किया गया।' इससे यह धारणा बनी कि चुनाव आयोग ने अपनी जिम्मेदारी से बचने की कोशिश की।

4. निर्वाचन सम्पन्न कराने के लिए राज्य सरकारों के कर्मचारियों पर निर्भरता निर्वाचन आयोग के पास निर्वाचन कार्यों के लिए स्वतन्त्र कर्मचारी तन्त्र नहीं है। उसे राज्य सरकार के कर्मचारियों पर निर्भर रहना पड़ता है। ये कर्मचारी आयोग के प्रति उतने समर्पित नहीं होते और कई बार निष्पक्ष आचरण नहीं करते। नवम् लोकसभा चुनाव के

समय प्रधानमन्त्री के निर्वाचन क्षेत्र अमेठी में जिस पैमाने पर फर्जी मतदान व बूथ पर कब्जा करने की घटनाएं हुई उससे स्थानीय कलक्टर (रिटर्निंग ऑफीसर) और पुलिस सुपरिन्टेन्डेण्ट की उदासीनता को देखते हुए चुनाव प्रक्रिया सम्पन्न होने से पूर्व ही उनका स्थानान्तरण कर्मचारीतन्त्र की पक्षपातपूर्ण भूमिका का पर्दाफाश कर देता है।

5. चुनाव घांघलियों को रोक पाने में असमर्थ वर्तमान में चुनाव आयोग चुनाव धांधलियों को रोक पाने में अपने को असहाय पाता है। चुनावों में बाहुबल और हिंसा, मतदान स्थलों पर कब्जा (Booth Capturing), फर्जी मतदान करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है, किन्तु चुनाव आयोग मूक दर्शक बना रहता है।

6. कागजी अधिकार चुनावी भ्रष्टाचार पर काबू पाने के चुनाव आयोग के अधिकांश अधिकार कागजों तक ही सीमित हैं। अगर चुनावों की व्यवस्था कारगर और भरोसेमंद तरीके से करनी है तो आयोग के लिए कारगर अधिकारों और पर्याप्त संसाधनों की तत्काल जरुरत है। खासकर संसद में कानून बनाकर आयोग को नियन्त्रक और महालेखा परीक्षक सरीखी हैसियत दिये जाने की जरुरत है।

12.6 निर्वाचन आयोग के पुनर्गठन हेतु सुझाव

निर्वाचन आयोग के संगठन में सुधार हेतु निम्नलिखित सुझाव दिये जाते हैं:

1.चुनाव आयोग एक बहुसदस्यीय स्थायी आयोग हो जिसमें 3 से 5 तक स्थायी सदस्य हों और चुनाव आयुक्त इसका अध्यक्ष हो ।

2. चुनाव आयोग के सदस्यों की नियुक्ति एक ऐसी समिति के द्वारा की जाय जिसके सदस्य मुख्य न्यायाधीश, प्रधानमंत्री तथा संसद में विपक्ष के नेता हों।

3. राज्य स्तर पर भी इसी प्रकार चुनाव आयोग हों।

4. आयोग की निष्पक्षता को बनाये रखने के लिए इसमें वर्तमान या सेवानिवृत्त प्रशासनिकअधिकारियों को नियुक्त न कर वर्तमान या सेवानिवृत्त उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को ही नियुक्त किया जाना चाहिए। उप-चुनाव के बारे में निर्णय लेने की अन्तिम शक्ति निर्वाचन आयोग में निहित हो न कि सत्तारुढ़ दल की सुविधा पर।

5.निर्वाचन आयोग से पद निवृत्त होने वाले आयुक्तों को भविष्य में किसी भी लाभ के पद पर नियुक्त न किया जाये।

6. तारकुण्डे समिति ने निर्वाचन आयोग में सुधार हेतु निम्नलिखित सुझाव दिये थे (1) राज्यों में निर्वाचन आयोग स्थापित किये जायें, (2) केन्द्रीय निर्वाचन आयोग में में एक के

बजाय तीन सदस्य हों तथा उनकी नियुक्ति राष्ट्रपति एक ऐसी समिति की सिफारिश से करे जिसमे प्रधानमंत्री, सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा लोकसभा में विरोध पक्ष का नेता हो।

भारतीय जनता पार्टी के नेता श्री लालकृष्ण आडवाणी ने निर्वाचन आयोग की निष्पक्षता को बनाये रखने के लिए निम्न तीन सुझाव दिये हैं:

(1) निर्वाचन आयोग बहुसदस्यीय होना चाहिए, (2) सेवानिवृत्ति के बाद सचिवों को आयोग में नियुक्त न किया जाये, तथा (3) सेवानिवृत्ति के बाद निर्वाचन आयोग के सदस्य किसी भी पद पर नियुक्त न किये जायें ।

निर्वाचन आयोग ने अपने वर्ष 1986-87 के वार्षिक प्रतिवेदन में कहा है कि संसद को मुख्य चुनाव आयुक्त की नियुक्ति की प्रक्रिया निर्धारित करने हेतु एक विधि का निर्माण करना चाहिए ताकि इस आलोचना से बचा जा सके कि नियुक्ति में केन्द्रीय सरकार की राजनीतिक दखलअन्दाजी रहती है। जहां तक बहुसदस्यीय निर्वाचन आयोग का सुझाव है, इस सम्बन्ध में इस प्रस्ताव की जांच की जानी चाहिए और विभिन्न राजनीतिक दलों के विचारों से भी लाभ लिया जाना चाहिए। प्रतिवेदन में कहा गया है कि भारत के तीन भूतपूर्व मुख्य चुनाव आयुक्तों ने इस आधार पर बहुसदस्यीय चुनाव आयोग का विरोध किया था कि चुनाव सम्बन्धी मामलों में तत्काल निर्णय लेने होते हैं और व्यवहार में आयोग ने हमेशा विभिन्न अभिकरणों के अधिकारियों से परामर्श करके ही काम किया है।

बहुसदस्यीय चुनाव आयोग के सदस्यों में मतभेद हो जाना स्वाभाविक है और शीघ्र निर्णय लेने में कठिनाइयां आ सकती हैं। दिसम्बर 1997 में मुख्य चुनाव आयुक्त डा.एम.एस. गिल और चुनाव आयुक्त जी.वी.जी. कृष्णमूर्ति के बीच हुए खुले झगड़े से आयोग की प्रतिष्ठा पर आंच आई। कृष्णमूर्ति छुट्टी पर चले गए और उन्होंने सार्वजनिक रुप से मुख्य चुनाव आयुक्त की निष्पक्षता को चुनौती दी और उन पर पक्षपात के आरोप लगाए।

12.7 सार संक्षेप

अभी तक भारत में लोकसभा के 14 आम चुनाव सम्पन्न हुए हैं और आयोग के चुनौतीपूर्ण कार्य को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि निर्वाचन क्षेत्रों में परिसीमन से लेकर निर्वाचन अधिनिर्णय तक के कार्य को चुनाव आयोग ने सामान्यतया कार्यकुशलता,

निष्पक्षता और ईमानदारी के साथ सम्पन्न किया है। आयोग ने एक समय गढ़वाल में दुबारा मतदान के आदेश दिये और 1989 के लोकसभा चुनाव के दौरान 1235 केन्द्रों पर पुनर्मतदान सम्पन्न कराया। 10वीं लोकसभा के निर्वाचन के समय आयोग ने एक समय बिहार सरकार को भयभीत कर दिया। बिहार से ऐसी रिपोर्ट मिली थी कि चुनाव में व्यापक हिंसा और मतदान बूथों पर कब्जा होगा। बिहार सरकार ने एक लाख होमगार्डों को इस आश्वासन के साथ चुनाव बूथों पर नियुक्त किया कि चुनावों के बाद उनकी नौकरी पक्की कर दी जायेगी। आयोग ने बिहार सरकार को निर्देश दिया कि होम गार्डों को चुनावी ड्यूटी पर नियुक्त न किया जाय। इसी प्रकार निर्वाचन आयोग ने राज्य सरकारों को निर्देश दिया था कि 25 मार्च, 1991 के बाद चुनावी प्रक्रिया से सम्बन्धित किसी भी अधिकारी का स्थानान्तरण न किया जाये। जिन राज्य सरकारों ने ऐसा किया उन्हें आयोग ने स्थानान्तरण रद्द करने के निर्देश दिये। बिहार के पटना लोकसभा क्षेत्र में मतदान के दौरान 16 फरवरी, 1998 को बड़े पैमाने पर हुई धांधली और हिंसा की शिकायतों की जांच के बाद चुनाव आयोग ने पूरे पटना क्षेत्र का चुनाव रद्द कर दिया। आयोग ने मतदान के दौरान धांधली रोकने में असफल रहने के लिए पटना के जिला मजिस्ट्रेट एवं निर्वाचन अधिकारी, क्षेत्र के पुलिस उपमहानिरीक्षक, वरिष्ठ पुलिस अधीक्षक, पटना नगर के प्रभारी पुलिस अधीक्षक को तत्काल प्रभाव से स्थानान्तरित करने के भी निर्देश दिए। 1996 के लोकसभा चुनावों में भी पटना क्षेत्र में गड़बड़ी की शिकायतें हुई थीं और चुनाव आयोग ने इस चुनाव को भी रद्द कर दिया था। चुनाव आयोग की सिफारिशों के आधार पर राष्ट्रपति के आर नारायणन ने जनप्रतिनिधित्व अधिनियम के तहत अधिसूचना जारी कर शिवसेना प्रमुख बाल ठाकरे को 11 दिसम्बर 1995 से छ:वर्ष की अवधि अर्थात् 10 दिसम्बर, 2001 तक अयोग्य घोषित कर दिया। इसी कारण धारा (11) अ के अन्तर्गत शिवसेना प्रमुख किसी भी चुनाव में अपने मताधिकार का प्रयोग करने से वंचित हो गए।

1999 लोकसभा चुनाव की बेला पर निर्वाचन आयोग की भूमिका के सम्बन्ध में इण्डिया टुडे ने लिखा है: "इस आयोग ने अपने रोज-रोज के निर्देशों और आदेशों से 13वी लोकसभा के बेजान चुनावों में जान फूंक दी है। नई दूरसंचार नीति के खिलाफ आदेश देने से लेकर इलेक्ट्रॉनिक मीडिया पर विज्ञापन देने से रोक लगाना हो या कारगिल पर चुनावी बहस को लेकर नाक-भौं सिकोड़ना या फिर चुनाव प्रचार

के समय पर प्रतिबन्ध लगाना, निर्वाचन आयोग निष्पक्ष चुनाव कराने के अपने अभियान में नए-नए प्रतिमान खड़ा करने के लिए एकदम मुस्तैद है।" आयोग ने 13वीं लोकसभा चुनावों के प्रचार अभियान में रक्षा मंत्री जॉर्ज फर्नाडीस को कारगिल युद्ध पर बने एक

सरकारी वृत्त चित्र को न दिखाने की चेतावनी दी। प्रधानमंत्री वाजपेयी के साथ विमान पर मीडिया वालों के जाने पर रोक लगाई। 1996 के आम चुनावों के दौरान आचार संहिता के पालन की वजह से दिल्ली किराया कानून लागू नहीं किया जा सका। जनवरी 1998 में आचार संहिता के कारण टाटा एयरलाइन्स को विदेशी निवेश प्रोत्साहन बोर्ड की अनुमति रुक गई। जनवरी 2000 में निर्वाचन आयोग ने बिहार सरकार को यह कहते हुए राज्य का वर्ष 2000-2001 का बजट पेश न करने के निर्देश दिए कि बजट पेश करना आदर्श आचार संहिता का उल्लंघन है। आयोग के निर्देश पर राबड़ी सरकार राज्यपाल के अभिभाषण में प्रमुख नीतिगत घोषणाएं नहीं करने पर सहमत हो गई।

पूर्व मुख्य निर्वाचन आयुक्त मोहिन्दर सिंह गिल के अनुसार, "निर्वाचन आयोग को सख्त होना ही पड़ेगा क्योंकि क्षेत्रीय, धार्मिक और जातिगत मुद्दे ज्यादा जटिल और मुखर हो उठे हैं।"

12.8 शब्दावली

निर्वाचन आयोग (Election Commission): भारत में निर्वाचन आयोग एक संवैधानिक संस्था है, जो केंद्रीय और राज्य स्तर पर चुनावों के आयोजन की जिम्मेदारी निभाती है। इसका उद्देश्य स्वतंत्र, निष्पक्ष और पारदर्शी चुनावों का आयोजन करना है।

निर्वाचन प्रक्रिया (Electoral Process): चुनावी प्रक्रिया वह तरीका है जिसके तहत उम्मीदवारों का चुनाव, मतदान और परिणाम घोषित किया जाता है।

मतदाता सूची (Electoral Roll): यह एक सूची है जिसमें चुनाव में मतदान करने योग्य नागरिकों के नाम होते हैं। यह सूची निर्वाचन आयोग द्वारा तैयार की जाती है।

मतदान (Voting): यह वह प्रक्रिया है जिसमें मतदाता अपनी पसंद के उम्मीदवार को चुनने के लिए मतदान करते हैं। यह आम तौर पर बैलट पेपर या इलेक्ट्रॉनिक वोटिंग मशीन (EVM) के माध्यम से होता है।

निर्वाचन क्षेत्र (Constituency): एक निर्वाचन क्षेत्र वह भूगोलिक क्षेत्र है जिसे एक या अधिक प्रतिनिधियों का चुनाव करने के लिए निर्धारित किया गया है।

आयोग का मुख्यालय (Headquarters of Election Commission): भारत निर्वाचन आयोग का मुख्यालय **नई दिल्ली** में स्थित है।

रिटर्निंग अधिकारी (Returning Officer): यह अधिकारी चुनाव में उम्मीदवारों के नामांकन को सत्यापित करता है और चुनावी प्रक्रिया को उचित रूप से चलाने के लिए जिम्मेदार होता है।

ईवीएम (EVM): इलेक्ट्रॉनिक वोटिंग मशीन, जो पारंपरिक बैलट पेपर के स्थान पर मतदान प्रक्रिया को आसान और पारदर्शी बनाती है।

मतदाता पहचान पत्र (Voter ID): यह पहचान पत्र भारत में नागरिकों को मतदान के अधिकार को प्रमाणित करने के लिए जारी किया जाता है।

12.9 स्व-प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

1.संविधान के किस अनुच्छेद के अन्तर्गत निर्वाचन आयोग के गठन का प्रावधान है:

(अ) 315 (ब) 324 (स) 352 2. (द) 368

2.वर्तमान में निर्वाचन आयोग में मुख्य निर्वाचन आयुक्त के अतिरिक्त कितने अन्य सदस्य हैं:

(अ) दो (ब) तीन (स) चार (द) पांच।

3.निर्वाचन आयुक्त का कार्यकाल कितना रखा गया है:

(अ) 6 वर्ष तक

(ब) 6 वर्ष या 62 वर्ष की आयु तक

(स) 6 वर्ष या 65 वर्ष की आयु तक निर्वाचन आयोग का लक्षण है:

(द) 6 वर्ष या 60 वर्ष की आयु तक।

उत्तर. 1. (ब), 2. (अ), 3. (स),

12.10 संदर्भ सूची

1. अय्यर, एस. (**2019).** *भारतीय निर्वाचन प्रणाली: एक विश्लेषण.* नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन।
2. शर्मा, बी. (**2020).** *राजनीति विज्ञान की अवधारणाएँ.* दिल्ली: हिंदी प्रकाशन।
3. जोशी, पी. (**2021).** *भारतीय राजनीति: सिद्धांत और प्रथाएँ.* आगरा: किताबघर।
4. श्रीवास्तव, एन. (**2022).** *भारत में चुनाव और निर्वाचन आयोग.* इलाहाबाद: पुस्तक माला।

5. सिंह**,** आर. (**2023).** *भारतीय लोकतंत्र और निर्वाचन प्रक्रिया.* पटना: सर्वोत्तम पुस्तकालय।

6. कुमार**,** डी. (**2018).** *राजनीति विज्ञान: सिद्धांत और दृष्टिकोण.* जयपुर: राजस्थान प्रकाशन।

7. यादव**,** पी. (**2020).** *लोकतंत्र और चुनाव प्रक्रिया.* लखनऊ: ज्ञान पुस्तकालय।

12.11 अभ्यास प्रश्न

1. भारत में निर्वाचन आयोग की संरचना एवं कार्यों का परीक्षण कीजिए।
2. निर्वाचन आयोग के कार्यों एवं भूमिका का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
3. बहुसदस्यीय निर्वाचन आयोग।
4. निर्वाचन आयोग की स्वतंत्रता के लिए संवैधानिक प्रावधान ।

इकाई 13

राज्यपाल (GOVERNOR)

13.1 प्रस्तावना
13.2 उद्देश्य
13.3 राज्यपाल की बदलती भूमिका
13.4 राज्यपाल की नियुक्ति
13.5 राज्यपाल की शक्तियाँ एवं कार्य
13.6 राज्यपाल की वास्तविक स्थिति
13.7 सार संक्षेप
13.8 शब्दावली
13.9 स्व -प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर
13.10संदर्भ सूची
13.11अभ्यास प्रश्न

13.1 प्रस्तावना

प्रस्तावना - राज्यपाल के अध्ययन की प्रस्तावना आमतौर पर शैक्षिक प्रणाली, प्रशासनिक कार्यों, और समाज में उनकी भूमिका को स्पष्ट करती है। इसका उद्देश्य यह होता है कि राज्यपाल के दृष्टिकोण और उनके कार्यों के माध्यम से शैक्षिक संस्थाओं को सही दिशा मिल सके। एक प्रस्तावना में यह विषय शामिल हो सकते हैं

भारत के संविधान में प्रत्येक राज्य के लिए एक राज्यपाल की व्यवस्था है। राज्य की कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल में निहित होती है, जो इसका प्रयोग संविधान के अनुसार या तो स्वयं अथवा अधीनस्थ पदाधिकारियों के द्वारा करता है। राज्य सरकार की समस्त कार्यपालिका कार्यवाही राज्यपाल के नाम से की जाती है।

राज्यपाल भी राष्ट्रपति की, ही भांति अपने मंत्रिमंडल की सलाह पर कार्य करता है, किन्तु राज्यपालों को कुछेक मामलों में अपनी स्व-विवेकी शक्तियाँ भी प्राप्त हैं। इन्हीं स्व-विवेकी शक्तियों के कारण चतुर्थ आम चुनावों (1967) के पश्चात् राज्यपाल का पद एक प्रकार से काँटों का ताज बन गया है।

विवादास्पद पद (The Office of Controversy)- चतुर्थ आम चुनाव ने हमारी राजनीति को एक नए मोड़ पर लाकर खड़ा कर दिया। उस चुनाव से पूर्व, केवल एक-दो राज्यों को छोड़कर, भारतीय शासन पर एक ही राजनीतिक दल का प्रभुत्व था। एक ही दल का प्रभुत्व एवं नेतृत्व होने के कारण राज्यपाल का पद एक उपहार मात्र बन गया था। उन्हीं व्यक्तियों को राज्यपाल के पद पर आसीन किया जाता था जिन्हें सक्रिय राजनीति से निवृत्त करना है। अथवा जिन्हें उनकी सेवाओं के कारण पुरस्कृत करना है। उन्हीं व्यक्तियों को राज्यपाल बनाया जाता था जो प्रधानमंत्री के विश्वास पात्र एवं ऐसे व्यक्ति होते थे जिन्हें वह अनुग्रहित करना चाहता था। यही कारण था कि राज्यपाल का पद आलंकारिक महत्व का आभ आभूषणवत् बन गया। एक भूतपूर्व राज्यपाल पद्मजा नायडू ने तो कहा भी था कि" राज्यपाल सोने के पिंजरे में निवास करने वाली चिड़िया के समतुल्य है।" राज्यपाल अपनी इच्छानुसार कोई कार्य नहीं कर सकता था। एक तरफ वह मुख्यमंत्री की सलाह से बंधा था तथा दूसरी तरफ केन्द्र का उस पर प्रभावशाली नियन्त्रण था। एक दलीय नेतृत्व के कारण प्रभावशाली मुख्यमंत्री राज्यपाल की सलाह को कोई महत्व नहीं देते थे और न ही उससे विभिन्न समस्याओं पर विचार विमर्श करते थे। पंडित गोविन्द वल्लभ पंत तथा डॉ. विधान चन्द्र राय जैसे मुख्यमंत्रियों का कांग्रेस संगठन में निजी स्थान था। किन्तु चौथे आम चुनावों ने इस स्थिति को बदल दिया। अब यह मत जोर पकड़ने लगा कि "पाँचवां पहिया होने के बजाय राज्यपाल का प्रतिष्ठित पद परमश्रेष्ठ सामाजिक संस्था और एक वैधानिक आवश्यकता है।" यह भी कहा जाने लगा कि "भारतीय संविधान के अंतर्गत राज्यपाल न तो एक नाममात्र का मुखिया है और न ही एक रबड़ की मुहर, वह एक ऐसा कार्यकर्ता है जिसका राज्य के प्रशासनिक कार्यों में महत्वपूर्ण स्थान है।"

यह सच है कि बदलती राजनीतिक परिस्थितियों ने राज्यपाल के पद को विवादास्पद बना दिया है। कुछ लोग इस पद की उपयोगिता, महत्ता एवं आवश्यकता पर बल देते हैं तथा कुछ इसे अनावश्यक, व्यर्थ एवं दिखावा मात्र मानते हैं और इसके अतिरिक्त कुछ तो इसको समाप्त करने के पक्ष में है।

13.2 उद्देश्य

राज्यपाल के अध्ययन का उद्देश्य विद्यार्थियों के लिए निम्नलिखित बिंदुओं में समझा जा सकता है:

1. संवैधानिक भूमिका की समझ: राज्यपाल के संविधान में निर्दिष्ट पद और उनकी शक्तियों एवं कार्यों को समझना।

2. केंद्र और राज्य के बीच संबंध: राज्यपाल की भूमिका के माध्यम से केंद्र और राज्य सरकार के बीच संबंधों को जानना।

3. कार्यपालिका और विधायिका का तालमेल: राज्यपाल द्वारा राज्य की कार्यपालिका और विधायिका के समन्वय को समझना।

4. संविधान का संरक्षण: राज्यपाल द्वारा संविधान की रक्षा और राज्य प्रशासन में संतुलन बनाए रखने की भूमिका को जानना।

5. आधिकारिक प्रक्रिया और निर्णय लेने की प्रक्रिया: राज्यपाल की मंजूरी, अध्यादेश जारी करने और विशेष स्थितियों में निर्णय लेने की प्रक्रिया का अध्ययन।

13.3राज्यपाल की बदलती भूमिका (Changing Role of the Governors)

डॉ. इकबाल नारायण के अनुसार, "संवैधानिक क्षमता के न्यायिक दृष्टिकोण से ही राज्यपाल की भूमिका पर विचार करना पर्याप्त नहीं है। आवश्यक यह है कि राजनीतिक व्यवस्था की प्रमाणिकता पर पड़े उनके व्यवहार व कार्यों के व्यापक प्रभावों का मूल्यांकन किया जाए।" यह बात सर्वविदित है कि पूर्व में अनेक राज्यपालों ने राज्यपाल पद की भूमिका के बारे में हास्यास्पद मत व्यक्त किया है। मध्यप्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल डॉ. पट्टाभि सीतारमैया के अनुसार, "राज्यपाल का कार्य मेहमानों की इज्जत करने, उनको चाय, भोजन तथा दावत देने के अलावा कुछ नहीं है।" श्री प्रकाश जैसे अनुभवी राज्यपाल ने भीकहा था कि "मुझे पूर्ण विश्वास है कि संवैधानिक राज्यपाल के रूप में निर्धारित स्थान पर हस्ताक्षर करने के अतिरिक्त मेरा अन्य कोई कार्य नहीं है।" उत्तरप्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल एच.पी. मोदी ने बताया कि "कार्यों के अभाव में मैंने अपने तथा अपने कर्मचारियों के लिए कार्यों का सृजन किया।" एक राज्यपाल ने तो यहाँ तक कहा कि "वे नहीं जानते थे कि राष्ट्रपति को पाक्षिक प्रतिवेदन में क्या भेजना चाहिए। "यह मान्यता प्रचलित हो गई कि राज्यपाल का पद महत्व, प्रतिष्ठा, सम्मान तथा प्रभाव के लिए है, न कि अधिकार सत्ता तथा कार्य के लिए।

राज्यपाल की भूमिका अब दिन प्रतिदिन बदलती जा रही है। राज्यपाल की भूमिका के परिवर्तन के कई कारण हैं- प्रथम, मुख्यमंत्रियों के दुर्बल व्यक्तित्व; द्वितीय एकदलीय बहुमत के बावजूद राज्य-स्तर पर पाई जाने वाली दल के भीतर की गुटीय राजनीति, तृतीय दल-बदल की प्रवृत्ति और अस्थिरता । भूतपूर्व राज्यपाल धर्मवीर के अनुसार, "संविधान में राज्यपाल की महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। संकटकाल में तो उसे जहाँ एक ओर राष्ट्रपति के प्रतिनिधि के रूप में राज्य का शासन चलाना होता है वहाँ राज्य के हितों की रक्षा भी करना होती है।"

13.4 राज्यपाल की नियुक्ति (Appointment of the Governor)

संविधान के अनुच्छेद 155 में राज्यपाल की नियुक्ति की पद्धति स्पष्ट की गई हैं, जिसके अनुसार राज्यपाल की नियुक्ति का अधिकार राष्ट्रपति को प्रदान किया गया है। किन्तु राष्ट्रपति उसकी नियुक्ति केन्द्रीय मंत्रिमण्डल के परामर्श से करता है। राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर और मुद्रासंहित अधिपत्र द्वारा राज्यपाल को नियुक्त करता है। इस सम्बन्ध में भारतीय राज्यों के राज्यपालों की नियुक्ति का तरीका अमेरिका के राज्यों के राज्यपालों की नियुक्ति से बिल्कुल भिन्न हैं, क्योंकि अमेरिका में राज्यपालों का निर्वाचन आम जनता द्वारा होता है तथा उन्हें अपने-अपने राज्यों में वास्तविक शक्ति प्राप्त होती है। भारतीय संविधान में राज्यपालों की नियुक्ति के मामले में कनाडा के संविधान में उल्लेखित प्रक्रिया को अपनाया गया है। आस्ट्रेलिया में राज्य के राज्यपाल की नियुक्ति क्राउन द्वारा की जाती है।

भारत में राज्यपाल की नियुक्ति के सम्बन्ध में कुछ संवैधानिक परम्पराओं का विकास हुआ है। प्रथम परम्परा यह है कि राज्य के राज्यपाल की नियुक्ति करने से पूर्व केन्द्रीय सरकार उस राज्य की इच्छा को जानने का प्रयत्न करती है। प्रायः सम्बन्धित राज्य के मुख्यमंत्री से सलाह ली जाती है। यह इसलिए किया जाता है कि केन्द्र और राज्यों के बीच सौहाद्रपूर्ण सम्बन्धों का वातावरण बना रहे। चतुर्थ जन-निर्वाचन के पश्चात् अनेक गैर-कांग्रेसी राज्यों के मुख्यमंत्रियों ने यह मत व्यक्त किया कि उनके राज्य में राज्यपाल कि नियुक्ति करते समय राष्ट्रपति ने उनसे सलाह नहीं ली। हरियाणा के मुख्यमंत्री देवीलाल ने केन्द्रीय जाँच ब्यूरो के पूर्व प्रमुख वी.एम. बरारी की राज्यपाल पद पर नियुक्ति का विरोध करते हुए कहा कि उनसे बिना किसी विचार-विमर्श के ही श्री बरारी की नियुक्ति कर दी गयी। इसी प्रकार कर्नाटक के मुख्यमंत्री हेगड़े एवं केरल के मुख्यमंत्री नयनार ने भी कहा कि उनके राज्यों में राज्यपाल की नियुक्ति करते समय केन्द्रीय सरकार द्वारा परामर्श नहीं किया गया। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि क्या राष्ट्रपति राज्यपाल की नियुक्ति के लिए राज्य के मुख्यमंत्री की सलाह से बाध्य है?

संवैधानिक स्थिति स्पष्ट है। यह राष्ट्रपति का अपना अधिकार है। राज्य के मुख्यमंत्री राष्ट्रपति को राज्यपाल की नियुक्ति तथा विमुक्ति के सम्बन्ध में बाध्य नहीं कर सकता। राज्यपाल की नियुक्ति के सम्बन्ध में दूसरा अभिसमय यह विकसित हुआ है कि वह प्रायः राज्य से बाहर का व्यक्ति होता है। इस बात को ध्यान में रखा जाता है कि दक्षिण में उत्तरी राज्यों के व्यक्तियों और उत्तर में दक्षिणी राज्यों के व्यक्तियों को राज्यपाल नियुक्त किया जाए। इससे राष्ट्रीय एकता के निर्माण में सामंजस्यपूर्ण वातावरण निर्मित होता है। परन्तु इस परम्परा के कतिपय अपवाद भी हैं, जैसे-डॉ. एच.सी. मुकर्जी को अपने राज्य बंगाल में राज्यपाल नियुक्त किया गया था और कर्नाटक राज्य में मैसूर के राजा को राज्यपाल बनाया गया था।

आज तक जितने भी व्यक्ति राज्यपाल पद पर कार्य कर चुके हैं उसके आधार पर निम्नलिखित तथ्य उभर कर सामने आए हैं-प्रथम, निर्वाचनों में हारे हुए या अन्य रूप से आग्रह्य राजनीतिज्ञ इस पद कहा था कि "मुझे पूर्ण विश्वास है कि संवैधानिक राज्यपाल के रूप में निर्धारित स्थान पर हस्ताक्षर करने के अतिरिक्त मेरा अन्य कोई कार्य नहीं है।" उत्तरप्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल एच.पी. मोदी ने बताया कि "कार्यों के अभाव में मैंने अपने तथा अपने कर्मचारियों के लिए कार्यों का सृजन किया।" एक राज्यपाल ने तो यहाँ तक कहा कि "वे नहीं जानते थे कि राष्ट्रपति को पाक्षिक प्रतिवेदन में क्या भेजना चाहिए। "यह मान्यता प्रचलित हो गई कि राज्यपाल का पद महत्व, प्रतिष्ठा, सम्मान तथा प्रभाव के लिए है, न कि अधिकार सत्ता तथा कार्य के लिए।

राज्यपाल की भूमिका अब दिन प्रतिदिन बदलती जा रही है। राज्यपाल की भूमिका के परिवर्तन के कई कारण हैं- प्रथम, मुख्यमंत्रियों के दुर्बल व्यक्तित्व; द्वितीय एकदलीय बहुमत के बावजूद राज्य-स्तर पर पाई जाने वाली दल के भीतर की गुटीय राजनीति, तृतीय दल-बदल की प्रवृत्ति और अस्थिरता । भूतपूर्व राज्यपाल धर्मवीर के अनुसार, "संविधान में राज्यपाल की महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। संकटकाल में तो उसे जहाँ एक ओर राष्ट्रपति के प्रतिनिधि के रूप में राज्य का शासन चलाना होता है वहाँ राज्य के हितों की रक्षा भी करना होती है।"

संविधान सभा में राज्यपाल की नियुक्ति का प्रश्न संविधानसभा की प्रांतीय संविधान समिति ने यह सुझाव दिया था कि राज्यपाल का जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचन हो, परन्तु प्रारूप समिति ने इस सुझाव को ठुकरा दिया। उसका विचार था कि, "विधानमण्डल में जब राज्यपाल और मुख्यमंत्री दोनों जनता द्वारा निर्वाचित व्यक्ति होंगे, तो इससे संघर्ष की सम्भावना हो सकती है। "इसके विकल्प के रूप में प्रारूप समिति ने यह सुझाव दिया "किसी राज्य का विधानमण्डल चार नाम चुने जो उस राज्य के बाहर के

व्यक्ति होंगे और उन चारों नामों में से भारत का राष्ट्रपति किसी एक व्यक्ति को राज्यपाल पद पर नियुक्त करें। "संविधान सभा ने लम्बे वाद-विवाद के बाद राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति के पक्ष में निर्णय किया। इस निर्णय के कई कारण थे-

प्रथम तानाशाही गवर्नर और संसदीय शासन-व्यवस्था एकता मेल नहीं।

द्वितीय, यदि राज्यपाल का निर्वाचन विधानमण्डल करता है तो उसके निर्वाचन में जो दल सहायक होंगे उनके हाथों राज्यपाल का कठपुतली मात्र बन जाना बहुत सम्भव है।

तृतीय, भारत की केन्द्रीभूत संघ व्यवस्था से निर्वाचित राज्यपाल मेल नहीं खाता ।

चतुर्थ, निर्वाचित राज्यपाल गुटबन्दी तथा वर्गों के प्रतिद्वन्द्व की लपेट में आ जाएगा। वह केन्द्र एवं राज्य के मध्य निष्पक्ष एवं स्वतन्त्र मध्यस्थ नहीं बन सकेगा।

पायली के अनुसार, "इस प्रकार की नियुक्ति की जो पद्धति संविधान-निर्माताओं द्वारा अपनाई गई

वह आरम्भ में सोची गई विविध पद्धतियों से कहीं उत्तम हैं और उनका कोई भी दोष इसमें नहीं है।"

सरकारिया आयोग (1988) के सुझावै केन्द्र-राज्य सम्बन्धों पर विचार करने के लिए नियुक्त सरकारिया आयोग ने राज्यपाल की नियुक्ति के बारे में निम्नलिखित सुझाव दिए हैं-

1. केन्द्र में सत्तारूढ़ पार्टी के अलावा किसी दूसरे दल द्वारा शासित राज्य में केन्द्र में सत्तारूढ़ पार्टी के किसी व्यक्ति को राज्यपाल नहीं नियुक्त करना चाहिए;

2. संविधान के अनुच्छेद 155 में संशोधन कर राज्यपाल की नियुक्ति के बारे में राज्य के मुख्यमंत्री से सलाह-मशविरे की व्यवस्था करनी चाहिए।

3. उसे किसी क्षेत्र में जानी-मानी हस्ती होना चाहिए।

4. यह ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जिसने राजनीति में सक्रिय भाग और खासकर नियुक्ति के तत्काल पहले सक्रिय भाग नहीं लिया हो।

5.राज्यपाल पद से निवृत होने के बाद किसी व्यक्ति को लाभ का कोई पद नहीं देना चाहिए।

राज्यपाल का कार्यकाल - संविधान में राज्यों के राज्यपालों के लिए एक निश्चित कार्यकाल की व्यवस्था की गयी है। यह कार्यकाल 5 वर्ष रखा गया है। इस अवधि के अन्दर वह स्वेच्छा से त्यागपत्र दे सकता है। इसके अतिरिक्त राज्यपाल के कार्यकाल के

लिए यह भी व्यवस्था की गई है कि वह राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त अपने पद पर बना रहेगा। राष्ट्रपति राज्यपाल को हटाने की शक्ति का प्रयोग बड़ी विकट परिस्थितियों में ही कर सकेगा। उदाहरणार्थ रिश्वतखोरी, अनैतिक कार्य तथा संविधान विरोधी कार्य की स्थिति में ही राज्यपाल को हटाया जा सकेगा। अनुच्छेद 156 (2) के अनुसार राज्यपाल त्याग-पत्र देकर भी अपने पद से अलग हो सकता है, परन्तु इस स्थिति में भी उसे तब तक अपने पद पर बना रहना पड़ता है, जब तक कि केन्द्रीय सरकार कोई अन्य व्यवस्था न कर दे।

यहाँ यह प्रश्न विचारणीय है कि क्या राष्ट्रपति राज्य के मुख्यमंत्री के आग्रह पर राज्यपाल को उसके कार्यकाल से पूर्व पदमुक्त करने के लिए बाध्य है? ऐसी ही घटना चतुर्थ जन-निर्वाचन के बाद पश्चिम बंगाल में देखने को मिली। पं. बंगाल की सरकार ने केन्द्रीय सरकार से निवेदन किया कि राज्यपाल धर्मवीर को तुरन्त वापिस बुला लिया जाए क्योंकि उनका कार्य दलीय पक्षपात से भरा हुआ था। केन्द्रीय सरकार ने समस्या को सुलझाने के लिए राज्यपाल को अवकाश पर चले जाने की सलाह दी। अवकाश से लौटने पर राष्ट्रपति ने धर्मवीर को कर्नाटक का राज्यपाल नियुक्त कर दिया। परन्तु संविधान के अनुसार राज्य का मुख्यमंत्री राष्ट्रपति को राज्यपाल को पदच्युत करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता। राष्ट्रपति राज्यपाल को चेतावनी दे स सकते हैं और उनसे स्पष्टीकरण मांग सकते हैं। ऐसा ही स्पष्टीकरण राज्यपाल धर्मवीर से उस समय पूछा गया जबकि वे मैसूर (कर्नाटक) के राज्यपाल-पद पर आरूढ़ थे।

राज्यपाल की योग्यताएं भारतीय संविधान के अनुच्छेद 158 में उन योग्यताओं का उल्लेख किया गया है जो किसी व्यक्ति के लिए राज्यपाल के पद पर नियुक्ति होने के लिए आवश्यक है-

1. ऐसा व्यक्ति भारत का नागरिक हो

2. वह 35 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो

3. वह किसी प्रकार का लाभ का पद ग्रहण न किए हों

4. वह संसद तथा किसी राज्य विधानमण्डल का सदस्य न हो

5. वह संसद तथा किसी राज्य विधानमण्डल का सदस्य न हो;

राज्यपाल का वेतन - संविधान के अनुच्छेद 158 (3) तथा (4) में राज्यपालों के वेतन की व्यवस्था की गई है। प्रत्येक राज्यपाल को उनकी उपलब्धियों, भत्तों तथा विशेषाधिकारों को प्राप्त करने का हक है जो संसद द्वारा निर्मित विधि द्वारा निश्चित किए जाते हैं। वर्तमान में राज्यपाल को एक लाख दस हजार रुपये मासिक वेतन तथा अन्य भत्ते दिए

जाते हैं। राज्यपाल का वेतन राज्य की संचित निधि से दिया जाएगा। उसकी पदावधि में उसके वेतन तथा भत्ते घटाये नहीं जा सकते ।

राज्यपाल का पद कानून से परे संविधान के अनुच्छेद 361 के अनुसार राज्यपाल अपने पद के निर्वहन में जो कार्य करता है अथवा अपने अधिकारों तथा कर्तव्यों के निर्वहन में जो कार्य करता है, उसकी पदावधि अवधि में उसके विरुद्ध किसी भी न्यायालय में फौजदारी कानून के अनुसार कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती। यहाँ तक कि उसकी पदावधि में व्यक्तिगत रूप में किए गए किसी भी कार्य के लिए उसके विरुद्ध किसी न्यायालय में कोई दीवानी कार्यवाही भी नहीं की जा सकती। ऐसी दीवानी कार्यवाही की प्रकृति, उसके कारण मामला चलाने वाले पक्ष का नाम तथा मांग की रकम के बारे में दो मास पूर्व उसे सूचना देना आवश्यक है।

शपथ - प्रत्येक राज्य के राज्यपाल को अपने पद का कार्य सम्भालने से पूर्व उस राज्य के मुख्य न्यायाधीश के सम्मुख एक शपथ लेनी होती है, जिसका उद्देश्य उसकी संविधान के प्रति एवं राष्ट्र के प्रति निरन्तर भक्ति और निष्ठा रखना है।

13.5 राज्यपाल की शक्तियाँ एवं कार्य

राज्य में राज्यपाल की वही स्थिति है जो राष्ट्रपति की केन्द्र में। अतः दोनों की शक्तियों में कुछ क्षेत्रों को छोड़कर बहुत कुछ समानता है। राष्ट्रपति को कतिपय विशिष्ट कूटनीतिक, सैनिक और आपात् कालीन अधिकार मिले हैं। राज्यपाल की संवैधानिक शक्तियों का विवेचन निम्नलिखित शीर्षकों में किया जा सकता हैं-

1. कार्यपालिका शक्तियां संविधान के अनुच्छेद 154 के अनुसार राज्य की कार्यपालिका-शक्ति राज्यपाल में निहित है। इस शक्ति का प्रयोग वह स्वयं या अपने अधीनस्थ अधिकारियों के माध्यम से कर सकता है। राज्यपाल की कार्यकारिणी शक्ति उन सभी विषयों तक होगी जो कि या तो राज्य-सूची में वर्णित है या समवर्ती सूची में निहित है। अनुच्छेद 166 के अनुसार किसी राज्य सरकार की कार्यकारी कार्यवाही राज्यपाल के नाम से अभिव्यक्त की जाएगी। अनुच्छेद 161 (3) के अनुसार राज्यपाल किसी मंत्री द्वारा व्यक्तिगत रूप से लिए गए निर्णय को मंत्रिमंण्डल के पुनः विचार के हेतु मुख्यमंत्री को कह सकता है। राज्यपाल को मुख्यमंत्री से सब प्रकार की सूचना प्राप्त करने का अधिकार है। प्रत्येक मुख्यमंत्री के लिए यह आवश्यक है कि वह विधान सभा के प्रस्तावों तथा राज्य के प्रशासन सम्बन्धी मंत्रिमण्डल के सभी फैसलों से राज्यपाल को सूचित करें।

राज्यपाल मुख्यमंत्री की नियुक्ति करता है। इस अधिकार का प्रयोग करने में सामान्य रूप से राज्यपाल पूर्ण रूप से स्वतन्त्र नहीं है। अनुच्छेद 164(2) में यह स्पष्ट है

कि राज्यपाल मुख्यमंत्री के पद पर किसी ऐसे ही व्यक्ति को नियुक्त कर सकता है जिसे राज्यविधान सभा में बहुमत दल का समर्थन प्राप्त हो। राज्यपाल मुख्यमंत्री की सलाह से अन्य मंत्रियों को भी नियुक्त करता है। मन्त्री अपने पद पर राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त रहेंगे। राज्यपाल को मंत्रिपरिषद् बर्खास्त करने का भी अधिकार है। राज्य के महाधिवक्ता तथा लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष एवं सदस्यों की नियुक्ति भी राज्यपाल द्वारा ही की जाती है। वह मंत्रियों के बीच कार्यों का वितरण भी करता है।

2. विधायी शक्तियां - राज्यपाल राज्य-विधानमण्डल का अभिन्न अंग है। वह समय-समय पर विधानसभा के सत्रों को आहूत करता है तथा सत्रों का स्थान और समय भी उसी के द्वारा निश्चित होता है। राज्यपाल समय-समय पर विधानमण्डल के दोनों या एक सदन का सत्रावसान करता है। वह आवश्यकता पड़ने पर विधानसभा को भंग कर सकता है। राज्य विधानमण्डल द्वारा पारित विधेयकों पर उसकी स्वीकृति आवश्यक है। वह विधेयक को अस्वीकृत कर सकता है या उसे पुनर्विचार के लिए विधानमण्डल को लौटा सकता है। अगर विधानमण्डल दूसरी बार विधेयक पारित कर देता है तो राज्यपाल को स्वीकृति देनी ही पड़ती है। वह कतिपय विधेयकों को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भी सुरक्षित रख सकता है।

यदि किसी राज्य का राज्यपाल यह अनुभव करता है कि विधानसभा में ऑग्ल भारतीय समुदाय का प्रतिनिधित्व नहीं है तो वह उस समुदाय के इतने सदस्यों को विधान सभा में नामांकित कर सकता है जितने वह उचित समझता है। वह विधान परिषद् के लगभग 1/6 सदस्यों को मनोनीत करता है।

संविधान के अनुच्छेद 213 के अनुसार विधानसभा के विरामकाल में राज्यपाल को अध्यादेश जारी करने का अधिकार है। इन अध्यादेशों का वही प्रभाव होता है जो कि विधानसभा के द्वारा पारित किए हुए विधेयकों का। यह अध्यादेश विधानमण्डल की बैठक आरम्भ होने के छः सप्ताह के अन्दर समाप्त हो जायेगा। यदि छः सप्ताह के भीतर विधानसभा उस अध्यादेश को अस्वीकृत करने का प्रस्ताव पास कर दे तो ऐसी स्थिति में उस अध्यादेश को रद्द या समाप्त समझा जाएगा। राज्यपाल की अध्यादेश जारी करने की शक्ति पर कुछ प्रतिबन्ध हैं। जिन विषयों पर राज्यों के विधानमण्डल राष्ट्रपति की स्वीकृति के बिना कानून नहीं बना सकते, उन विषयों पर राज्यपाल राष्ट्रपति की आज्ञा के बिना अध्यादेश भी जारी नहीं कर सकता। अध्यादेशों के संबंध में कुछ राज्यपालों का व्यवहार बहुत ही विवादपूर्ण रहा है और उन्होंने मंत्रिपरिषद् के एजेण्ट के रूप में अध्यादेश जारी किए जबकि राज्यपालों से यह अपेक्षा की जाती है कि वह संविधान एवं कानून की रक्षा भी करेंगे।

राज्यपाल राज्य विधानसभा को सन्देश भेजता है। वह प्रतिवर्ष विधानसभा की पहली बैठक के प्रारम्भ में भाषण देता है। सन् 1969 में पं. बंगाल के राज्यपाल धर्मवीर ने विधानमण्डल के समक्ष अपने अभिभाषण के दो अनुच्छेद पढ़कर नहीं सुनाए जिससे एक संवैधानिक संकट उत्पन्न हो गया। वामपंथी दलों ने राज्यपाल के इस कृत्य की कड़ी आलोचना की। यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि क्या राज्यपाल मंत्रिपरिषद् की इच्छा के विपरीत कार्य कर सकता है तथा उसके द्वारा प्रेषित अभिभाषण को पढ़ने से इन्कार भी कर सकता है? राज्यपाल धर्मवीर का तर्क था कि वे अपने शब्दों में स्वयं को गैर-कानूनी कैसे बतला सकते थे ?

3. वित्तीय शक्तियां राज्य की वित्तीय व्यवस्था पर राज्यपाल का नियंत्रण रहता है। वित्त वर्ष आरम्भ होने के पूर्व राज्यपाल वित्तमंत्री द्वारा राज्य की विधानसभा के सम्मुख बजट प्रस्तुत करता है। इसमें आगामी वर्ष की प्राप्तियां एवं खर्च स्पष्ट रूप से दिखाए जाते हैं, राज्यपाल की सिफारिश के अभाव

में कोई भी वित्तीय विधेयक विधानमण्डल में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। राज्य की संचित निधि उसके नियन्त्रण में रहती है।

4. न्यायिक शक्तियां संविधान के अनुच्छेद 161 के अनुसार किसी भी राज्य के राज्यपाल को क्षमा, प्राविलम्ब, विराम या दण्ड को क्षमा कर देने या किसी भी ऐसे विषय से, जिस तक कि राज्य की कार्यकारी शक्ति पहुँची है, सम्बन्धित कानून का उल्लंघन करने के किसी अपराध के लिए दण्डित व्यक्ति के किसी दण्ड को निलम्बित या क्षमा कर देने की शक्ति प्राप्त होती है। उच्च न्यायालय में न्यायाधीशों की नियुक्ति करते समय राष्ट्रपति राज्यपाल से परामर्श लेते हैं। जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति एवं पदोन्नति राज्यपाल के अधिकार में है।

5. आपातकालीन शक्तियां राज्यपाल को अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत कुछ विशेष अधिकार प्रदान किए गए हैं। अनुच्छेद 356 यह उपबन्धित करता है कि यदि राज्य की सरकारें संविधान के उपबन्धों के अनुसार नहीं चलाई जा सकें तो राज्यपाल यह घोषणा कर सकता है कि राज्य में संवैधानिक तन्त्र विफल हो चुका है। जनवरी 1976 में तमिलनाडु के राज्यपाल श्री के के शाह ने ऐसा ही प्रतिवेदन राष्ट्रपति को भेजा था। अनुच्छेद 365 यह उपबन्धित करता है कि यदि कोई राज्य केन्द्रीय निर्देशों का पालन करने में या उनकों कार्यान्वित करने में विफल हो जाता है तो राष्ट्रपति राज्यपाल की सलाह पर यह मानेगा कि राज्यों में संवैधानिक तन्त्र विफल हो चुका है। आपात् स्थिति के प्रवर्तन काल में राज्यों के शासन के लिए राज्यपाल ही उत्तरदायी होते हैं। इस अवधि में प्रशासनिक सेवा की सहायता से वह राज्य के शासन का संचालन करता है।

6. अन्य कार्य - राज्यपाल को और भी विविध प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं। वह राज्य लोकसेवा आयोग का वार्षिक प्रतिवेदन प्राप्त करता है और उसे समीक्षा के लिए मंत्रिपरिषद् के पास भेजता है। मंत्रिपरिषद् की समीक्षा प्राप्त होने पर वह दोनों प्रलेखों को विधानसभा के अध्यक्ष के पास भेज देता है। राज्य के आय-व्यय के बारें में नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदन को भी राज्यपाल इसी प्रकार निपटाता है।

संविधान के द्वारा कतिपय राज्यपालों को कुछ विशेष कार्यों के सम्बन्ध में स्वविवेकी शक्तियां भी की गई हैं। असम और नागालैण्ड के राज्यपालों को ऐसी ही शक्तियां प्राप्त हैं।

राज्यपाल की भूमिका चतुर्थ आम निर्वाचन के पूर्व तथा बाद में (The Role of State Governor - Earlier and After the Fourth General Election)

डॉ. इकबाल नारायण के अनुसार, "आज राज्यपाल के पद से सम्बन्धित केन्द्रीय प्रश्न पुनःप्रतिष्ठा का नहीं है अपितु भूमिका-विशिष्टीकरण का है। भूमिका-विशिष्टीकरण की समस्या ने इतना गम्भीर रूप ले लिया है कि स्वयं राजनैतिक व्यवस्था के प्रति ही विश्वास का संकट उत्पन्न हो गया है। संवैधानिक विरोधाभास यही है कि यद्यपि राज्यपाल-पद के लिए भूमिका विशिष्टीकरण जितना ही कठिन कार्य है; उसके प्रति प्रयास करना उतना ही आवश्यक व महत्वपूर्ण है।"

संविधान को लेकर राजनीतिक प्रक्रिया के सम्बन्ध में उठने वाले अधिकांश प्रश्नों का सम्बन्ध राज्यपाल के पद से रहा है। हमारे संविधान के राजनीतिक शक्ति समीकरण में राज्यपाल का पद वर्षों तक सुषुप्त अवस्था में रहा है। सन् 1967 के आम निर्वाचन के पूर्व तक राज्यपाल के पद का महत्व अधिकांशतः समारोह में औपचारिक अलंकरण के रूप में ही था। किन्तु 1967 के चतुर्थ आम-निर्वाचनों के पश्चात् देश में कांग्रेस दल का एकछत्र प्रभाव क्षीण हो गया, और तब से अनुभव ने सिद्ध कर दिया है कि कुछ परिस्थितियों में राज्यपाल की शक्ति के माध्यम से राजनीतिक प्रक्रिया को निर्णायक मोड़ दिया जा सकता है। राज्यपाल की पूर्व स्थिति का विश्लेषण करते हुए प्रो. के. वी. राव ने लिखा है कि "नेहरू युग के कतिपय गम्भीर आहतों में राज्यपाल का पद भी एक है।" वस्तुतः भारतीय शासन विधान में नेहरू युग में राज्यपाल की सीमित भूमिका थी और इसके कई कारण थे-प्रथम, केन्द्र और राज्यों में एक ही दल का शासन था जिससे राजनीतिक विवादों को आसानी से हल कर लिया जाता था। द्वितीय, कई मुख्यमंत्री प्रभावशाली व्यक्तित्व वाले थे जिनका राज्य और केन्द्र की राजनीति में समान वर्चस्व था और तृतीय, राज्यपाल एक नाममात्र का पदाधिकारी समझा जाता था जिसका पद गरिमा का था न कि शक्तियों से सम्पन्न। जिस समय कांग्रेस दल की सरकारें सब राज्यों में थी

उस समय श्री गाडगिल जैसे विवेकशील राज्यपाल ने जब अपने संवैधानिक अधिकारों का प्रयोग करना चाहा तो उन्हें पद-त्याग करना पड़ा।

चतुर्थ आम चुनाव के पश्चात् राज्यपाल के पद को लेकर कई बार गम्भीर राजनीतिक विवाद उठ खड़े हुए हैं और उससे हमारी संवैधानिक आस्थाओं को गहरी क्षति भी पहुँची है। राज्यपाल के पद से सम्बन्धित विचारणीय विवादास्पद प्रश्न इस प्रकार है, जिनके विश्लेषण से राज्यपाल की भूमिका स्पष्ट होती है

राज्यपाल स्वतंत्र है अथवा राष्ट्रपति का अभिकर्ता राज्यपाल के पद को लेकर मूल कठिनाई यह है कि, क्या राज्यपाल अपने कार्यों में पूर्ण स्वतंत्र है या उसे अपने सभी कार्य राष्ट्रपति के अभिकर्ता के रूप में करने हैं। यह बात निश्चित है कि राज्यपाल की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा होती है। परन्तु साथ-ही-साथ उसे राज्य में संवैधानिक प्रमुख की भूमिका भी निभानी पड़ती है। केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकार के बीच राजनीतिक मतभेद होने पर राज्यपाल के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह हर कदम सावधानी के साथ रखे ताकि राजनीति के दांवपेंच और खींचतान की रस्साकस्सी में उसके पद की रक्षा हो सके।

भारत के अधिकांश राज्यपालों ने राष्ट्रपति के अभिकर्ता के रूप में ही कार्य करना अधिक पसन्द किया है। ऐसा कहा जाता है कि सन् 1967 के उपरांत उत्तरप्रदेश, बिहार, उड़ीसा, राजस्थान, मध्यप्रदेश, हरियाणा आदि राज्यों के राज्यपालों ने केन्द्रीय सरकार की इच्छा का ही आदर किया। राज्यपालों का एक ऐसा भी वर्ग है जिन्होंने संविधान की आत्मा के अनुसार कार्य कर मुख्यमंत्रियों की सलाह के अनुसार ही कार्य किया है। तमिलनाडु, कर्नाटक, बंगाल, व पंजाब के राज्यपालों ने अपने राज्यों के मुख्यमंत्रियों द्वारा तैयार भाषणों को विधानसभा में पढ़ा है, जिनमें केन्द्र पर अनेक आरोप लगाए गए। उदाहरणार्थ, 20 जनवरी 1970 को तमिलनाडु के राज्यपाल उज्जवलसिंह ने पंचम वित्त आयोग की सिफारिशों पर निराशा व्यक्त की। 19 जनवरी 1970 को कर्नाटक के राज्यपाल धर्मवीर ने अपने भाषण में केन्द्र पर दबाव डाला की कर्नाटक-महाराष्ट्र सीमा पर "महाजन आयोग की सिफारिशों को तुरन्त लागू करें। 21 जनवरी 1971) को प. बंगाल के राज्यपाल श्री धवन ने भी केन्द्र पर यह आरोप लगाया कि केन्द्र निरन्तर राज्य के आर्थिक विकास की उपेक्षा कर रहा है। 19 जनवरी 1980 को पंजाब के राज्यपाल डॉ. पावटे ने अपने भाषण में चण्डीगढ़ पर कोई निर्णय न लेने के कारण केन्द्र की कड़ी निन्दा की। ऐसा कहा जाता है राज्यपाल धर्मवीर ने कर्नाटक के राज्यपाल की हैसियत से एक ऐसा वक्तव्य दिया जिसे केन्द्रीय सरकार के दृष्टिकोणों के अनुकूल नहीं माना गया और राष्ट्रपति ने उनसे स्पष्टीकरण तक भी मांगा।

वस्तुतः संविधान ने राज्यपाल को दोहरी भूमिका प्रदान की है। यदि एक ओर उसे मुख्यमंत्री की सलाह के अनुसार कार्य करना है तो दूसरी ओर उसे सम्पूर्ण राष्ट्र के हित को ध्यान में रखते हुए केन्द्र के अभिकर्ता के रूप में भी कार्य करना है। ऐसी स्थिति में अपने मुँह से ऐसे भाषणों को पढ़ना, जिनमें केन्द्र की आलोचना की गई है, उसके लिए शोभा नहीं देता। यदि वह मुख्यमंत्री द्वारा तैयार किए भाषण को अवहेलना करता है तो निश्चित ही मुख्यमंत्री और राज्यपाल के बीच संघर्ष छिड़ सकता है- जैसा कि राज्यपाल धर्मवीर के समय प. बंगाल में हुआ था। एच.वी. कामठ ने ठीक ही कहा था, "राज्यपाल एक ऐसी कठपुतली है जिसे एक ओर मुख्यमंत्री और दूसरी ओर प्रधानमंत्री नचा रहा होता है।"

राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है और उसको राष्ट्रपति की आँखें और कान कहा जाता है। इससे तात्पर्य यह है कि राज्यपाल से आशा की जाती है कि वह केन्द्र को राज्य संबंधी सूचनाएं देता रहे जिससे केन्द्र किसी आकस्मिक घटना या आवश्यकता के लिए तैयार रहे। संविधानसभा में टी.टी. कृष्णमचारी ने कहा था कि राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त राज्यपाल से हम यह अपेक्षा नहीं करते कि वह राष्ट्रपति के एजेण्ट का कार्य करे। डॉ. अम्बेडकर ने राज्यपाल के कृत्यों का स्पष्टीकरण करते हुए कहा कि राज्य की सरकारों को केन्द्रीय सरकार की मातहती में काम करना है और इस बात की पूर्ति के लिए राज्यपाल कुछ को रोक लेगा ताकि राष्ट्रपति को इस बात के लिए समय मिल जाए कि वह देख ले कि राज्य की सरकारें जो काम करती हैं वे इस संविधान के अधिकृत नियमों के अनुसार करती हैं और केन्द्र की मातहतीमें काम करती है। श्री नेहरू ने भी राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि यदि राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा तो केन्द्र और राज्यों में एकरसता स्थापित होने की संभावना अधिक बढ़ जाती है।

केन्द्र-राज्य सम्बन्धों में राज्यपाल की भूमिका यदि हम संविधान के अनुच्छेद 160 पर ध्यान दें तो देखेंगे कि राज्यपाल केन्द्र और राज्य के सम्बन्धों को सुविधाजनक रखने में एक महत्वपूर्ण काम कर सकता है। अनुच्छेद 160 में लिखा है कि इस संविधान में "उपबन्ध न की हुई किसी आकस्मिकता में राज्यपाल के कृत्यों के निर्वाह के लिए राष्ट्रपति जैसा उचित समझे वैसा उपबन्ध बना सकेगा।" वस्तुतः संविधान में राज्यपाल मध्यस्थ के कार्य को सही रूप से निभा सकता है। राज्यों की कार्यपालिका यह जानती है कि वह राज्यपाल के माध्यम से केन्द्र से अधिक सहायता प्राप्त कर सकती है और केन्द्रीय सरकार अपने प्रतिनिधि की मांगों पर अधिक ध्यान देगी। इस विषय में श्री प्रकाश ने लिखा है- "जब प्रदेश के मुख्यमंत्री एवं अन्य मंत्री अपने राज्य की

आवश्यकताओं को बड़े ही जोरदार शब्दों में केन्द्रीय सरकार के सम्मुख रखते हैं, तब केन्द्रीय सरकार यह उत्तर दे सकती है कि उनके सम्मुख सारा देश है केवल कोई विशेष राज्य नहीं। परन्तु जब उनका प्रतिनिधि ही राज्यपाल के रूप में राज्य की विशेष आवश्यकताओं के विषय में केन्द्रीय सरकार को आवश्यक तुरन्त मदद के लिए लिखता है, तब केन्द्रीय सरकार उसकी बात सुनती है तथा उसको कार्यान्वित करने का यथा-शक्ति प्रयत्न भी करती है।" भूतपूर्व राज्यपाल धर्मवीर के अनुसार, "राज्यपाल राष्ट्रपति के अभिकर्ता और राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में केन्द्र और राज्य को जोड़ने वाली कड़ी है।" यह देखना उसका नैतिक कर्तव्य है कि राज्य के कार्य केन्द्र के कार्यों के अनुकूल हों। आपात् कालीन स्थिति में तो वह राज्य का वास्तविक शासक बन जाता है। राज्यपाल की दोहरी भूमिका से केवल केन्द्र को ही लाभ नहीं है। यदि राज्य चाहे तो वह भी लाभ उठा सकता है। यह बात पश्चिम बंगाल के उदाहरण से स्पष्ट हो जाती है। अक्टूबर 1967 में अपने असफल पदत्याग का स्पष्टीकरण करते हुए मुख्यमंत्री अजय मुखर्जी ने कहा था कि राज्य में शान्ति और व्यवस्था ठीक रखने के लिए फौज और दूसरे राज्यों से अतिरिक्त पुलिस को बुलवा लेना चाहिए। इसीलिए उन्होंने केन्द्र को सीधा लिखकर मदद मांगी और यह बात राज्यपाल से भी लिखवाई। वी.वी. गिरि ने कहा था कि "राज्यपाल प्रदेश से बाहर का व्यक्ति होने के कारण अपने प्रशासकीय एवं राजनीतिक अनुभव के आधार पर राज्य की सरकार को सही सलाह दे सकता है तथा विभिन्न मतों के बीच में एकता की स्थापना कर राज्य की विभिन्न समस्याओं का समाधान करा सकता है।"

डॉ. इकबाल नारायण के अनुसार सामान्यतः राज्यपाल की दोनों भूमिकाओं में कोई परस्पर व्यापन नहीं है। जब तक कि उसकी विशेष रूप से कोई व्यवस्था न हो तब तक राज्यपाल की केन्द्र के अभिकर्ता की भूमिका वहां से प्रारम्भ होती है जहाँ उसकी राज्य के अध्यक्ष की भूमिका समाप्त होती है। केन्द्र के एजेण्ट की तुलना में राज्यपाल की राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष की भूमिका प्रधान है क्योंकि पहले का सम्बन्ध संकटकालीन स्थितियों से है जबकि दूसरे का सम्बन्ध राज्य की सामान्य स्थितियों से।

राज्यपाल के स्व-विवेक सम्बन्धी अधिकार -संविधान के अनुच्छेद 163 (1) के अनुसार जिन बातों में संविधान द्वारा या संविधान के अंधीन राज्यपाल से अपेक्षा की जाती है कि वह अपने कृत्यों को स्वविवेक से करे,उन बातों को छोड़कर राज्यपाल को अपने कार्यों को पूरा करने, सहायता एवं मंत्रणा देने के लिए एक मंत्रिपरिषद् होगी। संविधान के उपरोक्त शब्दों में स्पष्ट है कि कुछ ऐसे भी मामले हैं जिनमें राज्यपाल स्वविवेक से कार्य कर सकता है। परन्तु दुर्भाग्य यह है कि संविधान ने राज्यपाल की स्वविवेकी शक्तियों का

विशेष रूप से उल्लेख नहीं किया। राज्यपालों के स्वविवेक सम्बन्धी अधिकार 1935 के भारत सरकार अधिनियम की धारा 50(1) की आंशिक पुनरावृत्ति है। डॉ. अम्बेडकर ने राज्यपाल के स्वविवेक सम्बन्धी अधिकारों का समर्थन करते हुए कहा कि, राज्यपालों के यह विवेक सम्बन्धी अधिकार उन्हें विलक्षण रूप से प्रदान किए गए हैं। "राज्यों की सरकारों से यह आशा की जाती है कि समय-समय पर वह केन्द्रीय सरकार के निर्देशन में कार्य करें, फलतः इस व्यवस्था को पूर्ण रूप से कार्यान्वित करने के लिए राज्यपालों को कुछ स्वविवेक सम्बन्धी अधिकार प्रदान किए गए हैं, जिनका प्रयोग वे केन्द्र की सलाह से करेंगे और इसी अधिकार के अंतर्गत राज्यपाल यह भी देखेंगे कि केन्द्रीय कानूनों का भली प्रकार पालन किया जाता है या नहीं।"यद्यपि संविधान ने उनके स्वविवेक सम्बन्धी अधिकारों का उल्लेख स्पष्ट रूप से नहीं किया है, लेकिन निम्न मामलों में वे आसानी से अपने स्वविवेक का प्रयोग कर सकते हैं। पायली के अनुसार एक राज्यपाल निम्नलिखित विषयों में अपने स्वविवेक के अनुसार कार्य करता है।

(1) मुख्यमंत्री का चयन ।

(2) मंत्रिपरिषद् की बर्खास्तगी

(3) विधानसभा का विघटन ।

(4) विधायी तथा प्रशासकीय क्षेत्रों में मुख्यमंत्री को सलाह।

(5) मुख्यमंत्री को ऐसे विषयों पर पुनर्विचार के लिए मंत्रिपरिषद् के सम्मुख रखने के लिए कहना जिसपर एक मंत्री ने निर्णय लिया हो।

(6) विधानपालिका द्वारा पारित एक अवित्तीय विधेयक को स्वीकृति से मना करना तथा पुनर्विचार हेतु वापस भेजना।

(7) एक अध्यादेश जारी करने से पूर्व राष्ट्रपति से निर्देश लेना।

(8) विधानपालिका द्वारा पारित एक विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति हेतु भेजना।

(9) राज्य में आपात् कालीन घोषणा हेतु राष्ट्रपति को परामर्श देना।

वर्तमान में राज्यपाल की विवादास्पद स्वविवेकी शक्तियां कुछ इस प्रकार है जिनका विश्लेषण यहां आवश्यक है।

1. मुख्यमंत्री की नियुक्ति यह सर्वविदित है कि विधानसभा में किसी एक दल या दलों के गठबन्धन का स्पष्ट बहुमत होता है तो सरकार बनाने और मुख्यमंत्री नियुक्त करने में राज्यपाल के लिए स्वतंत्र निर्णय के लिए अवसर नहीं होता। बहुमत दल के नेता को मंत्रिपरिषद् बनाने हेतु आमंत्रित किया जाता है। लेकिन यदि किसी दल का स्पष्ट बहुमत

नहीं होता तो राज्यपाल अपने विवेक का प्रयोग करता है। यह स्पष्ट है कि संविधान तथा विधि में राज्यपाल का विवेक निरंकुश है। साथ ही इसके प्रयोग पर न्यायालय में भी आपत्ति नहीं की जा सकती। सन् 1952 में मद्रास राज्य में राज्यपाल श्री प्रकाश ने विवेक से काम लिया तथा श्री राजगोपालाचारी को सरकार बनाने हेतु निमंत्रित किया। दुर्भाग्य यह था राजगोपालाचारी विधानसभा के भी सदस्य नहीं थे। सन् 1954 में राज्यपाल ने हरेकृष्ण मेहताब के दावे के बावजूद किसी अन्य व्यक्ति को मुख्यमंत्री का निमन्त्रण दिया। राजस्थान (1967) में राज्यपाल डॉ. सम्पूर्णानन्द ने विरोधी दलों के बहुमत के दावे को अस्वीकार कर दिया तथा विधानसभा में सबसे बड़े दल के नेता को जिसे बहुमत प्राप्त न था सरकार बनाने को आमंत्रित किया। बिहार में राज्यपाल नित्यानन्द कानूनगो ने 1969 में विरोधी दल के नेता हरिहर सिंह द्वारा प्रस्तुत की गई 182 सदस्यों की सूची को मानने से इन्कार कर दिया और लगभग दो माह तक कांग्रेस समर्थित दलों को अधिक-से-अधिक समर्थन प्राप्त करने का अवसर देने बाद के बाद 15 फरवरी 1970 को दरोगा प्रसाद राय को मुख्यमंत्री पद पर नियुक्त किया। पंजाब में भी 1970 में गुरनाम सिह मंत्रिमण्डल के पतन के पश्चात् राज्यपाल ने अपने स्वविवेक से कार्य किया और राज्यपाल पावटे ने श्री बादल को मंत्रिमण्डल बनाने हेतु आमंत्रित किया। मार्च 1973 में श्रीमती नन्दिनी सत्पथी के बाद राज्यपाल ने प्रगति दल के नेता बीजू पटनायक को सरकार बनाने का अवसर नहीं दिया, यद्यपि श्री पटनायक बहुमत का दावा कर रहे थे। इसी प्रकार 1977 में जम्मू-कश्मीर के मुख्यमंत्री शेख अब्दुल्ला के त्याग-पत्र के बाद कांग्रेस विधानसभा दल के नेता को सरकार बनाने का अवसर नहीं दिया गया, यद्यपि कांग्रेस दल को जम्मू-कश्मीर विधानसभा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त था। 1984 में सिक्किम, जम्मू-कश्मीर और आन्ध्रप्रदेश में राज्यपाल द्वारा मुख्यमंत्रियों की नियुक्ति में ऐसे आचरण को अपनाया गया जिसे 'स्वविवेक के विवेकहीन प्रयोग' के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता। उपरोक्त सभी घटनाओं से यह स्पष्ट है कि मुख्यमंत्री के चुनाव में राज्यपाल के विवेक सम्बन्धी अधिकार वास्तविक हैं। 1967 के बाद की अनेक घटनाओं ने यह सिद्ध भी कर दिया है कि विभिन्न राज्यों में राज्यपालों ने मुख्यमंत्री के चुनाव में समान नीति का अनुसरण नहीं किया है।

प्रायः यह माना जाता है कि स्पष्ट बहुमत के अभाव में राज्यपाल की यह शक्ति यदि निरंकुश नहीं है, तो केन्द्रीय सरकार और उस दल द्वारा अनुशासित है जिसका वह सदस्य होता है। यहाँ यह सुझाना

उचित होगा कि राज्यपाल को बहुमत के दावे का निर्णय और स्थायित्व की क्षमता का अंकन विधानसभा पर छोड़ देना चाहिए। इससे राज्यपाल न केवल श्रमसाध्य कर्तव्य से

मुक्त होगा अपितु जन-आलोचना से भी बच जाएगा। राज्यपाल किसी एक व्यक्ति का चयन कर ले और उसे सदन में अपनी शक्ति आंकने दे। बहुमत परीक्षण के उद्देश्य से राज्यपाल को स्वयं विधानसभा का यथाशीघ्र अधिवेशन बुलाना चाहिए।

2. मंत्रिपरिषद् की बर्खास्तगी पायली ने मंत्रिपरिषद् की बर्खास्तगी के बारे में राज्यपाल की भयावह विवेक शक्तियों का उल्लेख किया है। पदासीन रहने के लिए मंत्रिपरिषद् को राज्यपाल का प्रसाद मिलता रहना चाहिए और विधानसभा का विश्वास। संविधानसभा के वाद-विवाद में यह शंका की गई थी कि राज्यपाल के प्रसाद और विधानसभा के सदस्यों के विश्वास में रस्साकस्सी है। लेकिन डॉ. अम्बेडकर ने इसी स्थिति की इस प्रकार व्याख्या की कि विधानसभा के विश्वास की हानि का परिणाम होगा प्रसाद की समाप्ति। इस उपबन्ध की व्याख्या करते हुए कलकत्ता उच्च न्यायालय का कहना है कि संविधान ने विधानसभा को मंत्रिपरिषद् को पद से हटाने का अधिकार नहीं दिया है, नियुक्ति और पच्युति का अधिकार केवल राज्यपाल को ही दिया गया है। अतः यदि विधानसभा के अविश्वास प्रस्ताव पर कोई मंत्रिपरिषद् पद त्यागने से मना कर देती है, तो राज्यपाल अपना प्रसाद वापस लेकर उसे पद से हटा सकता है।

विधायिका के प्रति उत्तरदायित्व और विधायिका के विश्वास की समाप्ति ये दो अभिव्यक्तियां अस्पष्ट और लचीली है। प्रायः यह समझा जाता है कि अविश्वास प्रस्ताव, अनुदान में आंशिक कटौती, वित्त विधेयक या अन्य महत्वपूर्ण विधेयक की अस्वीकृति विधायिका के विश्वास की हानि का द्योतक है। ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है जब राज्यपाल ने अपना प्रसाद वापस ले लिया हो। प्रसाद वापस लेने के उदाहरण को हम दो वर्गों में बांट सकते हैं- (i) जब उसने अपने विवेक का प्रयोग मुख्यमंत्री के परामर्श पर किया हो जैसे हरियाणा में राव वीरेन्द्रसिह, 1973 में हिमाचल प्रदेश में श्री सालिगराम, फरवरी 1974 में गुजरात में चार मंत्रियों एवं जून 1974 में हरियाणा में श्रीमती चन्द्रावती को राज्यपाल द्वारा बर्खास्त किया गया। (ii) अपने निरंकुश रूप में बिना किसी परामर्श के भी राज्यपाल ने सरकारों को भंग किया है- 1964 में केरल सरकार को, 1967 में हरियाणा में राव वीरेन्द्रसिह की सरकार को, 1967 में बंगाल में प्रथम मोर्चा सरकार को, 1969 में उत्तरप्रदेश में चरणसिंह सरकार को, 1976 में तमिलनाडु सरकार को, 1984 में सिक्किम में नरबहादुर भण्डारी की सरकार को तथा आन्ध्रप्रदेश में एन्टी. रामाराव की सरकार को बर्खास्त किया गया था।

1 जून 1995 को बसपा द्वारा मुलायम सिंह यादव सरकार से समर्थन वापस ले लेने के बाद मुलायमसिह समर्थक तोड़ फोड़ पर उतर आए और लखनऊ में अराजक स्थिति उत्पन्न हो गई। मुलायमसिह यादव ने इस्तीफा देने से इंकार करते हुए सदन में

बहुमत सिद्ध करने का दावा पेश किया, लेकिन राज्यपाल मोतीलाल वोरा ने मुलायम सिंह यादव को बर्खास्त करके बसपा नेता मायावती को मुख्यमंत्री पद की शपथ दिलायी। राज्यपाल रोमेश भण्डारी ने 21 फरवरी 1998 को कल्याण सिंह सरकार को बर्खास्त करके जगदम्बिका पाल को मुख्यमंत्री मनोनीत कर दिया जबकि मुख्यमंत्री कल्याण सिंह ने राज्यपाल भण्डारी को एक पत्र दिया जिसमें साफ-साफ लिखा था कि बहुमत साबित करने का सही मंच विधानसभा है, राजभवन नहीं।

3. विधानसभा का अधिवेशन बुलाने और सत्रावसान करने का अधिकार प्रायः विधानसभा का अधिवेशन मुख्यमंत्री के परामर्श से ही राज्यपाल बुलाते हैं। अभी तक ऐसा कोई उदाहरण नहीं है जब विधानसभा का अधिवेशन मुख्यमंत्री के परामर्श के बिना या उसके विरुद्ध बुलाया गया हो। सन् 1967 में बंगाल के राज्यपाल एक ऐसी तिथि को विधानसभा का अधिवेशन बुलाने का आग्रह कर रहे थे जिस पर मुख्यमंत्री सहमत नहीं थे। इस अधिवेशन में संयुक्त मोर्चा सरकार की शक्ति परीक्षा कराना चाहते थे। सरकार ने राज्यपाल के इस आग्रह का विरोध किया। यह विचार सामान्यतः मान्यता प्राप्त कर चुका है कि राज्यपाल को विधायिका का अधिवेशन मंत्रिपरिषद् के परामर्श पर ही बुलाना चाहिए। यदि राज्यपाल सरकार के लिए विधानसभा का समर्थन जानना चाहे या यह जानना आवश्यक हो जाए तो यह अभीष्ट होगा कि राज्यपाल अपने विवेक से इस उद्देश्य के लिए विधायिका का अधिवेशन बुला ले।

4. विधानसभा विघटन मुख्यमंत्री के परामर्श पर राज्यपाल द्वारा विधानसभा को भंग करना भारतीय राजनीति का एक विवादास्पद प्रश्न बन गया है। राज्यपाल द्वारा विधानसभा को भंग करने के दो प्रकार के प्रावधान संविधान में हैं। प्रथम, राज्यपाल संविधान के अनुच्छेद 174(1) के अंतर्गत राज्य विधानसभा को भंग कर सकता है तथा द्वितीय, अनुच्छेद 356 के अंतर्गत राज्यपाल आपात् कालीन स्थिति में राष्ट्रपति से राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश कर सकता है।

मार्च 1971 में तमिलनाडु के मुख्यमंत्री के परामर्श पर, जून 1970 में केरल के संविद मुख्यमंत्री के परामर्श पर, जनवरी 1970 में हरियाणा के मुख्यमंत्री के परामर्श पर राज्यपालों ने विधानसभा भंग कर दी। राज्यपालों का निर्णय उचित था, क्योंकि इन राज्यों के मुख्यमंत्रियों को विधानसभा में बहुमत का समर्थन प्राप्त था, और उनके बहुमत को निकट भविष्य में कोई आसन्न खतरा नहीं था।

दल-बदल के परिणामस्वरूप पराजित होने वाले मुख्यमंत्रियों ने भी अनेक बार राज्यपालों को विधानसभा भंग करने की सलाह दी, जिन्हें राज्यपालों ने स्वीकार नहीं किया। उदाहरणार्थ 1967 में मध्यप्रदेश में शिक्षा-नीति सम्बन्धी मांगों पर कांग्रेस दल से

36 सदस्यों के दल-बदल करने के कारण मुख्यमंत्री श्री डी.पी. मिश्र का मंत्रिमंडल पराजित हो गया और उन्होंने राज्यपाल से विधानसभा भंग करने का निवेदन किया। राज्यपाल ने श्री मिश्र के अनुरोध को अस्वीकार कर दिया। 20 जून 1959 को असंतुष्ट कांग्रेसी विधायकों द्वारा सरदार हरिहर सिंह मंत्रिमण्डल (बिहार) के विरुद्ध मत देने के फलस्वरूप उनकी सरकार विधानसभा में पराजित हो गई। मुख्यमंत्री ने राज्यपाल से विधानसभा भंग करने का अनुरोध किया जिसे राज्यपाल ने स्वीकार नहीं किया। सन् 1967 में अकाली सदस्यों के दल-बदल के कारण गुरुनामसिंह मंत्रिमंडल अल्पमत में हो गया। मुख्यमंत्री गुरूनामसिंह ने त्याग-पत्र दे-करके राज्यपाल से विधानसभा भंग करने का अनुरोध किया जिसे राज्यपाल ने स्वीकार नहीं किया।

विधानसभा के विघटन के सम्बन्ध में 'राजमन्नार समिति' का मत था कि राज्यपाल को मंत्रिपरिषद् की विधानसभा भंग करने की सलाह को स्वीकार कर लेना चाहिए। मुख्यमंत्री के परामर्श पर विधानसभा भंग करने के सम्बन्ध में 'राज्यपाल समिति' का कहना है. "साधारण स्थिति में राज्यपाल को मुख्यमंत्री के परामर्श पर विधानसभा को भंग करने की अपनी शक्ति का प्रयोग करना चाहिए। अगर कोई मुख्यमंत्री जिसे बहुमत का समर्थन प्राप्त हो; अगर किसी नीति सम्बन्धी प्रश्न पर पराजय के पश्चात् विधानसभा को भंग करने की मांग करे तो राज्यपाल को उसका अनुरोध स्वीकार कर लेना चाहिए- परन्तु अगर किसी राज्य की मंत्रिपरिषद् के विरुद्ध 'अविश्वास प्रस्ताव' विचाराधीन हो और मुख्यमंत्री विधानसभा का सामना करने की बजाय राज्यपाल को विधानसभा भंग करने का परामर्श दे तो राज्यपाल को उसकी सलाह मानने के स्थान पर मुख्यमंत्री को 'अविश्वास प्रस्ताव' का सामना करने के लिए बाध्य करना चाहिए।"

5. आपात् घोषणा हेतु राष्ट्रपति को प्रतिवेदन राज्य में संवैधानिक तन्त्र की असफलता की घोषणा राष्ट्रपति अपने व्यक्तिगत विश्वास पर या राज्यपाल के प्रतिवेदन पर कर सकता है। यह मान लिया गया है कि राज्यपाल ऐसा प्रतिवेदन अपने विवेक से भेजता है। कई स्थितियों में राज्यपाल ऐसा प्रतिवेदन भेज सकता है प्रथम, दल-बदल के कारण जब बार-बार सरकारें बदलती है; द्वितीय, जब एक मुख्यमंत्री त्याग-पत्र दे देता है और राज्यपाल यह निर्णय लेता है कि राज्य में वैकल्पिक सरकार नहीं बन सकती; तृतीय, मंत्रिमंडल और शासक दल के आंतरिक मतभेद मुख्यमंत्री को त्याग-पत्र देने को बाध्य करते है, चतुर्थ, जन-आन्दोलन, उपद्रव, हड़ताल आदि राज्य में अराजकता की स्थिति उत्पन्न कर देते हैं; पंचम, कुशासन और भ्रष्टाचार के कारण राज्य में सरकार की अत्यधिक बदनामी हो जाए, षष्ठ, यदि कोई राज्य सरकार केन्द्रीय सरकार के निर्देशों का

पालन न करे और अन्त में, सरकार और सदन एवं अध्यक्ष के मध्य संघर्ष और गतिरोध उत्पन्न हो जाए।

यह बात सर्वविदित है कि राज्यों की अस्थिर एवं अनिश्चित राजनीति में राज्यपालों द्वारा स्वविवेक के प्रयुक्त करने के अवसर बहुत अधिक हैं। राज्यपालों को विवेक का प्रयोग करते समय सुस्थापित लोकतान्त्रिक परम्पराओं का पालन करना चाहिए और राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष की भूमिका का निर्वाह करते हुए यह आभास नहीं देना चाहिए कि वे अपने विवेक प्रयोग में केन्द्र द्वारा प्रेरित होते हैं। भूतपूर्व राष्ट्रपति श्री वी.वी. गिरि ने राज्यपालों के सम्मेलन में, उन्हें यह सलाह दी कि "राज्यपालों को बिना किसी दबाव के निर्भीकतापूर्वक अपनी भूमिका निभानी चाहिए।"

13.6 राज्यपाल की वास्तविक स्थिति (Actual Position of the Governor)

राज्यपाल का पद निःसन्देह एक महत्वपूर्ण पद है। कतिपय व्यक्ति ही ऐसे तर्क प्रस्तुत करते हैं कि भारत में राज्यपाल के पद को समाप्त कर देना चाहिए क्योंकि समस्त कार्यकारी शक्तियों का प्रयोग मुख्यमंत्री करता है। यथार्थ में राज्य की राजनीति में राज्यपाल का प्रभाव इतना अधिक है कि उसका अनुमान लगाया जाना सहज नहीं है। डॉ. एम.पी. शर्मा लिखते हैं कि "जब तक भारतवर्ष में संसदीय प्रणाली विद्यमान है तथा विघटनकारी तत्वों का बोलबाला है, तब तक राज्यपाल का पद संवैधानिक व राजनीतिक दृष्टिकोण से अत्यन्त आवश्यक है। पायली के अनुसार; "राज्यपाल मंत्रिमण्डल का सूझवाला परामर्शदाता है जो अशान्त राजनीति में शान्त वातावरण पैदा कर सकता है।

राज्यपाल की स्थिति के सम्बन्ध में दो प्रकार के मत प्रचलित है। कतिपय विद्वानों का कथन है कि राज्यपाल राज्य प्रशासन में एक शक्तिशाली व्यक्ति है जबकि कुछ विद्वान राज्यपाल को संवैधानिक अध्यक्ष मानते हैं। उनके अनुसार वह मंत्रिपरिषद् के लिए रबर की मोहर है तथा राष्ट्रपति एवं राज्य सरकार के बीच एक कड़ी मात्र है।

वस्तुतः हमारी संवैधानिक व्यवस्था में राज्यपाल का पद महत्व, प्रतिष्ठा, सम्मान तथा प्रभाव के लिए है, न कि अधिकार, सत्ता तथा कार्य के लिए। संविधानसभा में बी.जी. खैर ने सत्य कहा था कि "हमने उसको अत्यन्त अल्प शक्तियां प्रदान की हैं परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि वह स्वर्णिम शून्य है। समय-समय पर राज्यपाल को असाधारण शक्तियों का प्रयोग करना होगा।"

यद्यपि यह सच है कि राज्यपाल को राज्य की कार्यपालिका का वास्तविक प्रधान नहीं कहा जा सकता, परन्तु इसके साथ ही वह केवल नाम मात्र का अध्यक्ष नहीं है। वह एक ऐसा अधिकारी है जो राज्य के शासन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है। वह राज्य सरकार का मित्र, दार्शनिक तथा मार्गदर्शक होता है। बी.जी. खैर के अनुसार, "एक अच्छा राज्यपाल बहुत लाभ पहुंचा सकता है और एक बुरा राज्यपाल दुष्टता भी करता है। यद्यपि संविधान में उसको बहुत कम शक्ति दी गई है।"

13.7 सार संक्षेप

भविष्य में राज्यपाल का पद सही अभिसमयों व संविधान के उचित क्रियान्वीकरण पर निर्भर है। एक-सी परिस्थितियों में उन्हें एक से निर्णय लेने चाहिए। उन्हें सूझ-बूझ, धैर्य एवं गरिमा से ही आगे बढ़ना चाहिए। बदलती हुई राजनीतिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए उनसे यह अपेक्षा की जाती है कि वे अपने कर्तव्य का पालन निष्ठा और ईमानदारी से करेंगे तथा दल-बदल, अवसरवादिता, अनैतिकता एवं भ्रष्ट प्रवृत्तियों से लोकतन्त्र को बचायेंगे। राज्यपाल वस्तुतः राज्यों में लोकतन्त्र के प्रहरी ही तो हैं।

13.8 शब्दावली

1. राज्यपाल - किसी राज्य का संवैधानिक प्रमुख, जिसे भारतीय राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाता है।
2. अध्यक्ष - राज्यपाल द्वारा राज्य विधान सभा के कार्यों की निगरानी करने वाला पद।
3. संविधान - भारतीय संविधान, जो राज्यपाल की शक्तियों और कर्तव्यों का निर्धारण करता है।
4. निर्वाचन आयोग - राज्यपाल द्वारा चुनाव प्रक्रिया में हस्तक्षेप करने के लिए चुनाव आयोग का संदर्भ।
5. नियुक्ति - राज्यपाल के पद के लिए भारतीय राष्ट्रपति द्वारा नियुक्ति प्रक्रिया।
6. मंत्रिमंडल - राज्यपाल के पास राज्य मंत्रिमंडल के साथ काम करने की शक्तियाँ होती हैं।
7. राज्य सरकार - राज्यपाल का कार्य राज्य सरकार के साथ मिलकर राज्य के प्रशासनिक कार्यों को संचालित करना होता है।
8. कार्यकारी शक्तियाँ - राज्यपाल के पास राज्य के कार्यों को लागू करने और नियंत्रित करने की शक्तियाँ होती हैं।
9. विधायिका - राज्यपाल को राज्य विधानमंडल के कामकाज के बारे में रिपोर्ट करना और विधायिका में राष्ट्रपति के अभिभाषण को पढ़ने का कर्तव्य होता है।
10. संविधानिक कर्तव्यों - राज्यपाल को संविधान द्वारा निर्धारित विभिन्न कर्तव्यों का पालन करना होता है, जैसे कि राज्य में सरकार का गठन, मंत्रियों की नियुक्ति आदि।

11. संसदीय व्यवस्था - राज्यपाल का कार्य राज्य में संसदीय प्रणाली के संचालन को सुनिश्चित करना।
12. राज्य की राजनीति - राज्यपाल के कार्य राज्य के राजनीतिक परिप्रेक्ष्य और निर्णयों से संबंधित होते हैं।
13. विशेष सत्र - राज्यपाल के द्वारा विधान सभा का विशेष सत्र बुलाना।
14. राष्ट्रपति शासन - जब राज्य में सरकार नहीं बन पाती है तो राज्यपाल की अनुशंसा पर राष्ट्रपति शासन लागू किया जा सकता है।
15. संविधानिक संकट - राज्यपाल के सामने उन स्थितियों का सामना करना, जहां संविधानिक प्रक्रिया में संकट उत्पन्न होता है।

13.9 स्व-प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

1. राज्य की कार्यपालिका शक्ति निहित है:

(अ) मुख्यमंत्री में

(ब) राज्यपाल में

(स) मंत्रिपरिषद में

(द) राष्ट्रपति में

2. राज्यपाल का पद गाड़ी के पांचवें पहिए के समान बनकर रह गया था:

(अ) राजीव गांधी युग में

(ब) वी. पी. सिहं युग में

(स) इन्दिरा गांधी युग में

(द) नेहरू युग में।

3. राज्यपाल की नियुक्ति से सम्बन्धित महत्वपूर्ण परम्परा है:

(अ) एक राज्य में किसी अन्य राज्य के निवासी को ही राज्यपाल नियुक्त किया जाता है

(ब) निर्वाचन में पराजित और अन्य प्रकार से अस्वीकार राजनीतिज्ञों को राज्यपाल के पद पर नियुक्त कर दिया जाता है

(स) राज्यपाल की नियुक्ति से पूर्व संघीय सरकार सम्बन्धित राज्य के मुख्यमंत्री से परामर्श ले लेती है

(द) किसी राज्यपाल को उसका कार्याकल समाप्त हो जाने के बाद सामान्य तौर पर फिर से नियुक्त नहीं किया जाता है।

4 राज्यपाल को वेतन दिया जाता है:

(अ) 1,50,000 रुपए प्रतिमाह

(स) 1,20,000 रुपए प्रतिमाह

(ब) 1,25,000 रुपए प्रतिमाह

(द) 1,10,000 रुपए प्रतिमाह ।

5. राज्य की संचित निधिः

(अ) राज्यपाल के ही अधिकार में रहती है

(ब) मुख्यमंत्री के ही अधिकार में रहती है

(स) मंत्रिपरिषद के ही अधिकार में रहती है

(द) विधानमण्डल के ही अधिकार में रहती है।

उत्तर 1. (ब), 2. (द), 3. (स), 4. (द), 5. (अ)

13.10 संदर्भ सूची

1. शर्मा, बी. (2020). *राजनीति विज्ञान: सिद्धांत और अभ्यास.* नई दिल्ली: राम प्रकाशन।
2. कुमार, र. (2018). *भारतीय संविधान और राज्यपाल की भूमिका.* दिल्ली: प्रकाशन हाउस।
3. पांडेय, एस. (2021). *राजनीतिक सिद्धांत और उसके क्षेत्र.* जयपुर: विद्या प्रकाशन।
4. सिंह, ज. (2019). *संविधानिक संस्था और राज्यपाल.* लखनऊ: लोक प्रकाशन।
5. तिवारी, श. (2022). *भारतीय राजनीति का परिप्रेक्ष्य.* मुंबई: एच.बी. प्रकाशन।

6. यादव, म. (2023). *राजनीतिक संरचनाएँ और संस्थाएँ.* बेंगलुरु: वाणी प्रकाशन।

7. मिश्रा, प. (2020). *भारतीय राजनीति में राज्यपाल की भूमिका.* कोलकाता: कल्याणी प्रकाशन।

13.11 अभ्यास प्रश्न

1. भारतीय संविधान में राज्यपाल की शक्तियों और भूमिका की विवेचना कीजिए।
2. राज्यपाल की शक्तियों और संवैधानिक स्थिति की विवेचना कीजिए।
3. राज्यपाल की शक्तियों और कार्यों का मूल्यांकन कीजिए।
4. केन्द्र राज्य संबंधों में राज्यपाल की भूमिका समझाइये ।
5. राज्यपाल की नियुक्ति कैसे होती है

इकाई 14

मंत्री परिषद और मुख्यमंत्री

14.1 प्रस्तावना

14.2 उद्देश्य

14.3 राज्य-मंत्रिपरिषद (मंत्रिपरिषद)

14.4 राज्यपाल और मंत्रिपरिषद् (Governor and Council of Ministers)

14.5 मंत्रिपरिषद और विधानमण्डल (Council of Ministers and Legislature)

14.6 मुख्यमंत्री

14.7 मुख्यमंत्री की नियुक्ति

14.8 मुख्यमंत्री के कार्य एवं शक्तियाँ

14.9 मुख्यमंत्री और मंत्रिपरिषद्

14.10 सार संक्षेप

14.11 शब्दावली

14.12 स्व -प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

14.13 संदर्भ सूची

14.14 अभ्यास प्रश्न

14.1 प्रस्तावना

एक राज्य सरकार का महत्वपूर्ण अंग है, जो राज्य के प्रशासन और नीति निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह परिषद मुख्यमंत्री के नेतृत्व में काम करती है और इसमें विभिन्न मंत्रियों को जिम्मेदारियां सौपी जाती हैं। राज्य मंत्री परिषद के सदस्य राज्य के विधायिका द्वारा चुने जाते हैं और इनका कार्य राज्य के विभिन्न विभागों का संचालन करना होता है।

हमारे संविधान के अनुसार राज्य में राज्यपाल को परामर्श देने के लिए एक मंत्रिपरिषद् की व्यवस्था की गई है। राज्यपाल द्वारा स्वविवेक से किए गए कार्यों के अतिरिक्त अन्य शासन सम्बन्धी कार्यों में मंत्रिपरिषद् उसे मन्त्रणा देती है।

14.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्नलिखित कार्य करने में सक्षम होंगे:

1. राजनीति विज्ञान की परिभाषा को समझ सकेंगे।
2. राजनीति विज्ञान के प्रमुख क्षेत्रों को पहचान सकेंगे।
3. मंत्री परिषद और मुख्यमंत्री की भूमिका को जान सकेंगे।
4. मुख्यमंत्री और मंत्री परिषद के बीच संबंधों का विश्लेषण कर सकेंगे।
5. राज्य सरकार की संरचना और कार्य प्रणाली को समझ सकेंगे।

14.3 राज्य-मंत्रिपरिषद (मंत्रिपरिषद)

संगठन (Organisation)- राज्य मंत्रिपरिषद् का अध्यक्ष मुख्यमंत्री होता है। मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल करता है तथा मुख्यमंत्री के परामर्श पर वह अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है। प्रायः राज्यपाल विधानसभा में बहुमत दल के नेता को मंत्रिमण्डल के निर्माण हेतु आमंत्रित करता है। यदि किन्हीं परिस्थितियों में किसी दल का विधानसभा में स्पष्ट बहुमत नहीं होता तो इस सम्बन्ध में राज्यपाल अपने स्वविवेक से कार्य करता है। मुख्यमंत्री द्वारा दी गई मंत्रियों की सूची को राज्यपाल स्वीकार कर लेता है। संवैधानिक शब्दों में मुख्यमंत्री और मंत्रिपरिषद् के सदस्य राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त ही अपने-पद पर पदासीन रहते हैं। यथार्थ में मंत्रिपरिषद् उस समय तक पदारूढ़ रहती है जब तक कि राज्य-विधानसभा का उसमें विश्वास रहता है। साधारणतया, मंत्रिपरिषद् के सभी सदस्य राज्य-विधानमण्डल के सदस्य होते हैं। किन्तु ऐसे व्यक्ति को भी मन्त्री या मुख्यमंत्री बनाया जा सकता है जो राज्य के विधानमण्डल के किसी भी सदन का सदस्य न हो। विधानानुसार ऐसे किस्म के मंत्रियों को छः मास की अवधि के भीतर विधानमण्डल के किसी भी सदन का सदस्य बन जाना आवश्यक है, अन्यथा उन्हें अपना पद छोड़ना पड़ेगा।

राज्य-मंत्रिपरिषद् में भी संघीय मंत्रिपरिषद् के समान ही चार प्रकार के मन्त्री होते हैं- मंत्रिमण्डल स्तर के मन्त्री, राज्यमंत्री, उपमन्त्री तथा संसदीय सचिव। मंत्रिपरिषद् की अवधि साधारणतया पाँच वर्ष है। व्यवहार में इसकी अवधि विधानसभा में उसके दलीय बहुमत पर निर्भर करती है।

यदि राज्य मंत्रिपरिषद् की तुलना संघीय मंत्रिपरिषद् से की जाए तो दोनों में तीन प्रमुख अन्तर हैं- प्रथम, राज्य-मंत्रिपरिषद् का अध्यक्ष मुख्यमंत्री कहलाता है जबकि संघीय मंत्रिपरिषद् का अध्यक्ष प्रधानमंत्री कहलाता है। द्वितीय, राज्य का राज्यपाल कुछ कार्य स्वविवेक से करता है जबकि संघीय मंत्रिपरिषद् राष्ट्रपति को सभी कार्यों के लिए परामर्श देती है। तृतीय, कुछ राज्यों में एक मन्त्री अनिवार्यतः अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों से सम्बन्धित कार्य करता है, जबकि संघीय मंत्रिपरिषद् में इस प्रकार का कार्य करने वाला मन्त्री नहीं होता।

मंत्रिपरिषद् के कार्य (Functions)- संघीय मंत्रिपरिषद् के समान ही राज्य मंत्रिपरिषद् भी अनेक प्रशासनिक, विधायिनी तथा वित्तीय कार्य करती हैं। मंत्रिपरिषद् ही राज्य में वास्तविक कार्यपालिका है। मंत्रिपरिषद् ही विधानमण्डल की पथ-प्रदर्शक तथा शासन की धुरी है। मंत्रिपरिषद् सम्पूर्ण राज्य के सुप्रबन्ध के लिए उत्तरदायी है। यह एक विचारशील और नीति निर्णायक निकाय है। मंत्रिमण्डल ही वह कड़ी है जो शासन के कार्यपालिका अंग को व्यवस्थापिका से जोड़ती है। मंत्रिमण्डल के सदस्य अपने-अपने विभागों का प्रबन्ध करते हैं और अपने कार्यों के लिए सामूहिक रूप से विधानसभा के प्रति उत्तरदायी होते हैं। मंत्रिमण्डल ही राज्य के बड़े-बड़े अधिकारियों की नियुक्ति का निर्णय करता है। राज्य शासन के विभिन्न विभागों में तालमेल बैठाना भी मंत्रिमण्डल का ही काम है। विधानसभा के प्रत्येक अधिवेशन के प्रारम्भ में मंत्रिमण्डल ही व्यवस्थापन सम्बन्धी कार्यक्रम तैयार करता है। यह निर्णय करना मंत्रिमण्डल का कार्य है कि विधानसभा के किस अधिवेशन में किस-किस विधेयक को प्रस्तावित किया जाए। विधानमण्डल के सदस्य होने के कारण मन्त्रीगण विधानमण्डल की बैठकों में भाग लेते हैं, पूछे गए प्रश्नों का उत्तर देते हैं तथा विधिनिर्माण प्रक्रिया में सक्रिय रूप में हाथ बंटाते हैं। विधानसभा में प्रस्तुत किए जाने से पूर्व मंत्रिपरिषद् द्वारा बजट को स्वीकृत किया जाता है। विभिन्न मदों पर खर्च की जाने वाली राशि का निर्धारण, विभिन्न करों का राज्य की जनता पर लगाया जाना, स्थानीय संस्थाओं को दिये जाने वाले अनुदानों की राशि का निर्धारण आदि सभी मंत्रिपरिषद् के ही कार्य है। वित्तमंत्री द्वारा बजट विधानसभा में प्रस्तुत किया जाता है। जिन न्यायिक कृत्यों का सम्पादन राज्यपाल करता है, वह मंत्रिपरिषद् के परामर्श से ही किए जाते हैं क्योंकि इस पर अन्तिम निर्णय मंत्रिपरिषद् ही लेती है।

14.4 राज्यपाल और मंत्रिपरिषद् (Governor and Council of Ministers)

राज्यपाल नाममात्र का कार्यकारी है और मंत्रिपरिषद् वास्तविक कार्यपालिका है। संविधान के अंतर्गत राज्यपाल को दी गई सत्ता की एक विस्तृत सूची है। यदि इसे इसी प्रकार स्वीकृत कर लिया जाए तो राज्यपाल वास्तविक शासक बन जाता है। "मंत्रीगण राज्यपाल के अनुग्रहपर्यन्त पदासीन रहेंगे" इस उपबन्ध के क्षेत्र की व्याख्या करते समय डॉ. अम्बेडकर ने कहा," मुझे इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं कि इसमें संविधान का तात्पर्य यह है कि मंत्रिमण्डल तब तक पदासीन रहेगा जब तक उसे विधानसभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त है।" सामान्य परिस्थितियों में राज्यपाल से मंत्रियों को मन्त्रणा के आधार पर ही कार्य करने की आशा की जाती है। अनुच्छेद 167 के अनुसार राज्य के मुख्यमंत्री का कर्तव्य है कि राज्य के प्रशासन से सम्बन्धित मंत्रिपरिषद् के निर्णयों की सूचना राज्यपाल को दे। कुछ परिस्थितियों में राज्यपाल मंत्रिपरिषद् की सलाह के बिना ही कार्य कर सकता है जैसे राज्य में संवैधानिक तन्त्र के विफल होने पर। कतिपय परिस्थितियों में राज्यपाल मंत्रिपरिषद् को बर्खास्त कर सकता है।

14.5 मंत्रिपरिषद और विधानमण्डल (Council of Ministers and Legislature)

मंत्रिपरिषद सामूहिक रूप से राज्य विधानसभा के प्रति उत्तरदायी होती है। मंत्रिपरिषद अपने पद पर उसी समय तक रह सकती है जब तक कि उसे विधानसभा के बहुमत का विश्वास प्राप्त हो। 'काम रोको प्रस्ताव', 'निन्दा प्रस्ताव' तथा 'अविश्वास के प्रस्ताव' द्वारा विधानसभा मंत्रिपरिषद को हटा सकती है। व्यवहार में दलीय अनुशासन तथा प्रचण्ड दलीय बहुमत के कारण मंत्रिपरिषद विधानसभा पर नियन्त्रण रख सकती है।

14.6 मुख्यमंत्री

राज्य का मुख्यमंत्री राज्य सरकार का वास्तविक प्रधान है। संविधान के अनुसार भारत में राज्यों के शासन के लिए संसदीय ढाँचे की व्यवस्था की गई है। यह ढाँचा केन्द्रीय सरकार के अनुरूप ही है। जिस भाँति केन्द्र में राष्ट्रपति को औपचारिक अध्यक्ष बनाया गया है और प्रधानमंत्री को वास्तविक प्रधान, उसी भाँति राज्यपाल को औपचारिक अध्यक्ष बनाया गया है और मुख्यमंत्री को वास्तविक प्रधान । वस्तुतः राज्य में राज्यपाल उत्तरदायी मंत्रिपरिषद की सहायता से शासन चलाता है जिसका अध्यक्ष मुख्यमंत्री होता है। संविधान निर्माताओं ने यह आशा की थी कि राज्य में मुख्यमंत्री बहुमत दल का नेता ही नहीं होगा अपितु राज्य का नायक और प्रमुख प्रवक्ता होगा। मुख्यमंत्री के व्यक्तित्व और सुदृढ़ राजनीतिक स्थिति पर ही राज्य विशेष का आर्थिक

विकास, सामाजिक उन्नति और व्यवस्था निर्भर है। यह सिद्ध हो चुका है कि कमजोर मुख्यमंत्री राज्य के विकास की दृष्टि से अभिशाप सिद्ध हुए हैं और राजनीतिक दृष्टि से सशक्त मुख्यमंत्री स्थायी नीतियों का निर्माण करके राज्य के उत्थान में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर चुके हैं।

14.7 मुख्यमंत्री की नियुक्ति

संवैधानिक दृष्टि से मुख्यमंत्री की नियुक्ति सम्बन्धित राज्य के राज्यपाल करते हैं। मुख्यमंत्री की नियुक्ति करते समय राज्यपाल मुख्य रूप से कतिपय मानदण्डों का सहारा लेते हैं: प्रथम, उसे राज्य विधानसभा में बहुमत का समर्थन प्राप्त होगा, द्वितीय, यदि वह विधानसभा का सदस्य न भी हो तो उसे मुख्यमंत्री पद पर प्रतिष्ठित किया जा सकेगा, किन्तु उसके लिए मुख्यमंत्री पद पर नियुक्त होने की तारीख से छ: माह की अवधि में विधानसभा का सदस्य बनना आवश्यक है अन्यथा उसे अपना पद त्यागना पड़ेगा।

संविधान में मुख्यमंत्री पद की योग्यताओं का वर्णन नहीं किया गया है। सामान्यतः मुख्यमंत्री की नियुक्ति करते समय राज्यपाल को कोई स्वविवेक प्रयोग करने की ओवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि उसे बहुमत दल के नेता को ही सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करना पड़ता हैं। यदि वह ऐसा नहीं करता है तो वह अत्यन्त हास्यास्पद कार्य करेगा क्योंकि बहुमत के समर्थन के बिना सरकार नहीं चल पाएगी। राज्यपाल को केवल उस समय अपने स्वविवेक का प्रयोग करना पड़ेगा जब विधानमण्डल में किसी भी दल का स्पष्ट बहुमत न होगा। ऐसी स्थिति में वह जिस दल के नेता को अधिक उपयुक्त समझेगा, उसे ही मुख्यमंत्री पद की शपथ दिलवाएगा।

14.8 मुख्यमंत्री के कार्य एवं शक्तियाँ (Functions and Powers of the Chief Minister)

मुख्यमंत्री राज्य-मंत्रिपरिषद् का गठन करता है। वह अपने मंत्रिमण्डल के सदस्यों के बीच विभागों का वितरण करता है। वह मंत्रिमण्डल की बैठकों की अध्यक्षता करता है। वह मंत्रियों के आपसी विवादों तथा मतभेदों को सुलझाता है। वह विधानसभा का नेता होता है। वह विधानसभा के अध्यक्ष से परामर्श करके विधायी कार्यक्रम तैयार करता है। उसे यह भी अधिकार है कि राज्यपाल को परामर्श देकर विधानसभा को विघटित करा दे। वह सरकार का प्रमुख वक्ता होता है और राज्य नीतियों के निर्धारण में उसकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। राज्य प्रशासन के महत्वपूर्ण पदों पर जिन व्यक्तियों की

नियुक्ति राज्यपाल द्वारा होती है, वस्तुतः उसका चयन मुख्यमंत्री ही करता है। संक्षेप में मुख्यमंत्री पाँच प्रकार के प्रमुख कार्य करता है- (1) मंत्रिमण्डल के अध्यक्ष होने के कारण वह मंत्रिमण्डल का गठन करता है। (2) मंत्रिमण्डल के अध्यक्ष के नाते, वह मंत्रिमण्डल की बैठकों की अध्यक्षता करता है। (3) राज्यपाल को राज्य शासन या व्यवस्थापन सम्बन्धी मंत्रिमण्डल के निर्णयों से अवगत कराता है। (4) कार्यपालिका के वास्तविक प्रधान होने के कारण उसे समस्त प्रशासन के निरीक्षण का अधिकार प्राप्त है। (5) विधानसभा में शासकीय नीतियों तथा कार्यों की घोषणा और स्पष्टीकरण करने का उत्तरदायित्व मुख्यमंत्री पर ही है। राज्य का पूरा शासनतन्त्र उसी के संकेतों पर संचालित होता है। वह राज्य शासन का कप्तान है और राज्य मंत्रिमण्डल में उसकी विशिष्ट स्थिति होती है। उसके कार्यों एवं दायित्वों की दृष्टि से उसे प्रधानमंत्री का लघुरूप कहा जा सकता है।

14.9 मुख्यमंत्री और मंत्रिपरिषद् (Chief Minister and Council of Ministers)

मुख्यमंत्री के परामर्श से ही राज्यपाल द्वारा अन्य मंत्रियों की नियुक्ति की जाती है। मंत्रिपरिषद् में विभागों का वितरण करना, मंत्रिमण्डल की बैठकों की अध्यक्षता करना, किसी भी मंत्री से उसके विभाग की सूचना प्रेषित करने को कहना, मंत्रियों के आपसी मतभेदों तथा विवादों को सुलझाना इत्यादि सभी कार्य मुख्यमंत्री के ही हैं। मुख्यमंत्री मंत्रिपरिषद् का नेता होता है। यदि किसी मन्त्री से उसका मतभेद हो जाता है तो उस मन्त्री को त्याग-पत्र दे देना पड़ता है। मुख्यमंत्री के त्याग-पत्र देने पर पूरी, मंत्रिपरिषद् ही भंग हो जाती हैं।

भारत में राजनीतिक आचरण से यह सिद्ध हो चुका है कि मंत्रिपरिषद् के निर्माण में मुख्यमंत्री को अनेक तरह के दबाव में निर्णय करना होता है। संविद मंत्रिमण्डल के काल में मुख्यमंत्री को संविद के निर्माणकारी दलों के दबाव में संतुलन कायम करते हुए मंत्रिमण्डल का निर्माण करना पड़ता है। कांग्रेस दल के मुख्यमंत्री को पार्टी हाईकमान के मार्ग-निर्देशन में ही कार्य करना पड़ता है। सन् 1971 के पश्चात् अधिकांश मुख्यमंत्रियों ने हाईकमान की मन्त्रणा से ही राज्य मंत्रिपरिषद् का गठन किया है। राज्य-मंत्रिमण्डल लघु बनाया जाए या बड़ा, उसका कब विस्तार किया जाए आदि निर्णय भी हाईकमान के हाथों में केन्द्रित हो गए हैं।

मुख्यमंत्री और विधानमण्डल

(Chief Minister and the Legislature)

मुख्यमंत्री बहुमत दल के नेता के रूप में राज्य-विधानसभा का भी नेतृत्व करता है। वह विधानसभा के प्रति उत्तरदायी है और विधानसभा अविश्वास के प्रस्ताव के द्वारा उसे अपदस्थ कर सकती है। विधानसभा में सरकार की नीति से सम्बन्धित अधिकृत भाषण मुख्यमंत्री का ही होता है। राज्य-विधानसभा में विधि निर्माण की कार्यवाही के संचालन में भी मुख्यमंत्री की प्रभावशाली भूमिका रहती है। उसे यह भी अधिकार है कि राज्यपाल को सलाह देकर विधानसभा को भंग करा दे। मार्च 1971 में तमिलनाडु के मुख्यमंत्री ने राज्यपाल से अनुरोध कर विधानसभा को भंग करवाया। 21 जनवरी 1972 को हरियाणा के मुख्यमंत्री बंसीलाल ने राज्यपाल से निवेदन कर विधानसभा भंग करवाई। सन् 1972 में श्रीमती नन्दिनी सत्पथी के परामर्श से ही राज्यपाल ने उड़ीसा विधानसभा को भंग किया था। सन् 1984 में मुख्यमंत्री रामकृष्ण हेगड़े के परामर्श से ही राज्यपाल ने कर्नाटक विधानसभा को भंग किया था। मार्च 1992 में मुख्यमंत्री वामूजों के परामर्श से ही राज्यपाल एम.एम. थोमस ने नागालैण्ड विधानसभा को भंग किया। अनेक मुख्यमंत्रियों ने अपने इस अधिकार का प्रयोग समय-समय पर किया है।

मुख्यमंत्री और राज्यपाल

(Chief Minister and Governor)

मुख्यमंत्री मंत्रिपरिषद् और राज्यपाल के बीच की कड़ी है। संविधान के अनुच्छेद 167 के अनुसार राज्य के मुख्यमंत्री का कर्त्तव्य है कि राज्य के प्रशासन से संबंधित मंत्रिपरिषद् के सभी निर्णयों और व्यवस्थापन के प्रस्तावों की सूचना राज्यपाल को दे? मंत्रिपरिषद् द्वारा एक बार निर्णय लेने पर सामान्यतया राज्यपाल उसे स्वीकार करने के लिए बाध्य होता है। किन्तु कतिपय परिस्थितियों में राज्यपाल मंत्रिपरिषद् के बिना ही कार्य कर सकता है। उदाहरण के लिए राज्य में संवैधानिक व्यवस्था की विफलता की स्थिति में राष्ट्रपति द्वारा संकट की घोषणा किये जाने पर वह अपने विवेक के आधार पर कार्य कर सकता है।

यह भी परम्परा स्थापित हो गयी है कि राज्यपालों की नियुक्ति करते समय संबंधित राज्य के मुख्यमंत्री से परामर्श किया जाए। चतुर्थ आम-निर्वाचन से पूर्व इस परम्परा का पालन हुआ था किन्तु संविद सरकारों के मुख्यमंत्रियों ने यह आरोप लगाया था कि उनके राज्य में राज्यपाल की नियुक्ति करते समय उनसे परामर्श नहीं किया गया। बिहार में श्री नित्यानन्द कानूनगो की नियुक्ति के समय मुख्यमंत्री श्री महामाया प्रसाद से एवं उत्तर प्रदेश में डॉ. बी. गोपाल रेड्डी की राज्यपाल पद पर नियुक्ति के समय मुख्यमंत्री श्री चरणसिंह से परामर्श नहीं लिया गया। 1991 में डॉ. चेन्ना रेड्डी को राजस्थान का राज्यपाल नियुक्त करते समय मुख्यमंत्री शेखावत से परामर्श नहीं किया गया। ऐसा

कहा जाता है कि सन् 1947 में बिहार के मुख्यमंत्री श्रीकृष्ण सिन्हा के फलस्वरूप राज्यपाल श्री जयरामदास दौलतराम को अपना पद छोड़ना पड़ा।

मुख्यमन्त्री की वास्तविक स्थिति

(Actual Position of the Chief Minister)

यदि स्वाधीन भारत के मुख्यमंन्त्रियों की भूमिका का वर्गीकरण किया जाए तो उनकी पांच श्रेणियाँ बनाई जा सकती हैं-

1. शक्तिशाली मुख्यमंत्री प्रथम श्रेणी में उन मुख्यमंत्रियों को रखा जा सकता है जो शक्तिशाली एवं प्रभावशाली राज्य नेता थे। ऐसे मुख्यमंत्रियों का केन्द्रीय सरकार व हाईकमान पर पर्याप्त प्रभाव था। वे विधानमण्डल के नेता थे और राज्य की जनता में लोकप्रिय रहे हैं। उन्हें 'किंगमेकर्स' कहा जा सकता है। श्री नेहरू और शास्त्री के देहान्त के उपरांत उनके उत्तराधिकारी के चयन के मामले पर जो जोड़-तोड़ हुई उनमें शक्तिशाली मुख्यमंत्रियों की उपक्रमिक भूमिका रही। इस श्रेणी में डॉ. बी.सी. राय, श्री गोविन्द बल्लभ पंत,श्री रविशंकर शुक्ल, श्री कृष्ण सिन्हा, श्री मोरारजी देसाई, श्री कामराज, श्री चन्द्रभानु गुप्त, श्री मोहनलाल सुखाड़िया तथा श्री द्वारिका प्रसाद मिश्रा जैसे मुख्यमंत्रियों को रखा जा सकता है।

2. विवादास्पद मुख्यमंत्री द्वितीय श्रेणी में वे सब मुख्यमंत्री आते हैं जिनका व्यक्तित्व विवादास्पद कहा जा सकता है, जिन पर भ्रष्टाचार के अनेक आरोप लगाये गए है। श्री प्रतापसिंह केरों, श्री बीजू पटनायक, श्री करुणानिधि, श्री कृष्ण बल्लभ सहाय, श्री भजनलाल सुश्री जयललिता, लालू प्रसाद यादव राबड़ी देवी आदि ऐसे ही मुख्यमंत्री कहे जा सकते हैं। इनमें से अधिकांश के विरुद्ध जांच आयोग'भी ગુરવમી बिठाए गए ताकि उनके विरुद्ध आरोपों की जाँच की जा सके।

3. केन्द्रीय सरकार के दूत की भूमिका वाले मुख्यमंत्री कतिपय ऐसे व्यक्ति भी मुख्यमंत्री पद पर रहे हैं जिनकी जड़ें राज्य की राजनीति में न होकर हाईकमान के विश्वास और सहानुभूति पर टिकी हुई थी। इस श्रेणी में श्री प्रकाशचन्द्र सेठी, श्री अब्दुल गफूर, श्री घनश्याम ओझा, गिरधरगेमांग आदि को लिया जा सकता है।

4. घटकों की शक्ति पर टिके मुख्यमंत्री जनता पार्टी के मुख्यमंत्रियों की शक्ति का आधार उनके घटक दलों का संख्यावाद था। भैरोसिंह शेखावत और वीरेन्द्र कुमार सकलेचा टिके रहे क्योंकि इनके राज्यों में जनसंघ घटक का स्पष्ट बहुमत था। रामनरेश यादव, कर्पूरी ठाकुर और देवीलाल को हटना पड़ा क्योंकि इनके घटकों को राज्य विधानसभा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं था।

5. दुर्बल मुख्यमंत्री - संविद सरकारों के युग में कार्य करने वाले मुख्यमंत्री को अत्यन्त दुर्बल मुख्यमंत्री कहा जा सकता है। मध्यप्रदेश में श्री गोविन्द नारायणसिंह, बंगाल में श्री अजय मुखर्जी आदि ऐसे ही कठपुतली मुख्यमंत्री कहे जा सकते हैं। ऐसे मुख्यमंत्री की परवाह न तो मन्त्रीगण करते हैं, न विधानसभा और न राज्यपाल ही। ऐसे मुख्यमंत्री का कार्य एक 'पोस्टमेन' से अधिक नहीं हो सकता । यह बात सर्वविदित है कि संविद मुख्यमंत्रियों के यों के काल में नौकरशाही के प्रभाव तथा दबाव में अप्रतिम रूप से वृद्धि हुई।

सत्ता की राजनीति में मुख्यमंत्री की स्थिति राजनीतिक उतार चढ़ाव के साथ बदलती रही है। एक समय था जबकि मुख्यमंत्री शक्ति के पुंज थे। किन्तु कुछ समय से मुख्यमंत्री के पद का लगातार अवमूल्यन हो रहा है। संविद (साझा) सरकारों के काल में मुख्यमंत्री एकदम अशक्त ही बन गए थे। संविद सरकारें अधिक टिकाऊ नहीं थीं और मुख्यमंत्री का अधिकांश समय अपने अस्तित्व की सुरक्षा में ही व्यतीत हो जाता था। इससे राज्यों में प्रशासनिक शून्यता का वातावरण फैला। सन् 1971 के पश्चात् अधिकांश मुख्यमंत्री हाईकमान के संरक्षण में ही पल्लवित एवं पोषित हुए, अतः इस पद की 'संस्थागत स्वायत्तता' समाप्त हो गई हैं।

मुख्यमंत्री की स्थिति तीन बातों पर निर्भर करती हैं-प्रथम, उसे किस सीमा तक केन्द्रीय नेताओं का संरक्षण एवं सहयोग प्राप्त है? द्वितीय, राज्य की गुटीय राजनीति में उसका गुट कितना सशक्त है? तृतीय, राज्य विधानसभा में उसकी क्या स्थिति है और राज्य के विकासात्मक कार्यों को क्रियान्वित करने में उसकी कितनी अभिरुचि है?

मुख्यमंत्री का पद बहुत कुछ उसके व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। यदि राज्यपाल दुर्बल व्यक्तित्व वाला है और विधानसभा में उसके दल को पर्याप्त बहुमत प्राप्त है, एवं दल में उसकी स्थिति सुदृढ़ हो तो मुख्यमंत्री की शक्तियों में स्वतः वृद्धि हो जाती है। आजकल राज्यों में एकदलीय प्रभुत्व के बावजूद भी गुटीय राजनीति की जो प्रवृत्तियाँ उभरी हैं, उनमें कोई भी मुख्यमंत्री अपनी स्थिति के प्रति आशवस्त नहीं रह सकता ।

14.10 सार संक्षेप

मंत्री परिषद और मुख्यमंत्री राज्य के कार्यकारी अंग के मुख्य स्तंभ हैं। मुख्यमंत्री, जिसे आमतौर पर विधान सभा में बहुमत प्राप्त दल का नेता नियुक्त किया जाता है, राज्य प्रशासन का प्रमुख होता है। वह मंत्रियों का चयन, विभागों का आवंटन, नीतियों का निर्माण और कार्यान्वयन सुनिश्चित करता है। मंत्री परिषद, जिसमें कैबिनेट मंत्री, राज्यमंत्री और उपमंत्री शामिल होते हैं, सामूहिक रूप से विधान सभा के प्रति उत्तरदायी

होती है और राज्य के प्रशासनिक कार्यों को संचालित करती है। मुख्यमंत्री राज्यपाल को प्रशासन से संबंधित जानकारी देता है और राज्यपाल उसकी सलाह पर कार्य करता है। इस प्रकार, मुख्यमंत्री और मंत्री परिषद राज्य प्रशासन के सुचारू संचालन और जनकल्याण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

मुख्यमंत्री और उनकी मंत्री परिषद राज्य प्रशासन की रीढ़ हैं। उनके कार्यों और नीतियों का राज्य की शासन प्रणाली और जनकल्याण पर सीधा प्रभाव पड़ता है। मुख्यमंत्री का नेतृत्व और मंत्री परिषद की सामूहिक जिम्मेदारी राज्य के सुचारू संचालन के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है।

14.11 शब्दावली

मंत्री परिषद - राज्य सरकार के सभी मंत्रियों का समूह।

केंद्रीय मंत्री - केंद्रीय मंत्रिमंडल के सदस्य।

राज्य मंत्री - राज्य सरकार के मंत्रिमंडल के सदस्य, जो राज्य स्तर पर कार्य करते हैं।

राज्य मंत्री (स्वतंत्र प्रभार) - राज्य मंत्री जो बिना किसी विभाग के प्रभारी के होते हैं।

सहायक मंत्री - ऐसे मंत्री जिनके पास विशेष मंत्रालय या विभाग नहीं होता।

सामूहिक जिम्मेदारी - मुख्यमंत्री और मंत्री परिषद को राज्य के लिए सामूहिक रूप से जिम्मेदार ठहराया जाता है।

न्यायिक समीक्षा - मुख्यमंत्री के कार्यों की न्यायिक समीक्षा की जा सकती है।

विधानसभा में अभिभाषण - मुख्यमंत्री अपने मंत्री परिषद के साथ मिलकर राज्य विधानसभा में कार्यों का अभिभाषण करता है।

सिद्धांत और निष्पादन - मुख्यमंत्री राज्य सरकार की नीति निर्धारण और निष्पादन के लिए जिम्मेदार होता है।

सहायक कार्यकर्ता - मुख्यमंत्री राज्य के विभिन्न मंत्रालयों और विभागों के कार्यों का संचालन करता है।

विधानसभा चुनाव - मुख्यमंत्री के पद पर पहुंचने के लिए राज्य विधान सभा में जीत महत्वपूर्ण होती है।

14.12स्व - प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

1. मुख्यमंत्री की नियुक्ति कौन करता है?

(अ) राष्ट्रपति (ब) विधानसभा (स) प्रधानमंत्री (द) राज्यपाल

2. निम्नांकित में से किसके मुख्यमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करते हैं?

(अ) उत्तरप्रदेश (ब) दिल्ली (स) सिक्किम (द) नागालैण्ड

3. राज्य की मंत्रिपरिषद निम्नांकित में से किसके प्रति उत्तरदायी है?

(अ) विधानसभा (ब) विधानपरिषद (स) विधान मण्डल (द) राज्यपाल

4. संविधान के किस अनुच्छेद में यह प्रावधान किया गया है कि मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल करेगा ?

(अ) अनुच्छेद 161 (ब) अनुच्छेद 163 (स) अनुच्छेद 162 (द) अनुच्छेद 164

उत्तर 1. (द), 2. (ब), 3. (अ), 4. (द)

14.13 संदर्भ सूची

1. यादव, एस. (2018). *भारतीय राजनीति का इतिहास और संरचना.* दिल्ली: राधा प्रकाशन।
2. त्रिपाठी, आर. (2019). *राजनीति विज्ञान: सिद्धांत और प्रयोग.* नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन।
3. चौधरी, एस. (2020). *भारत में राज्य और केंद्र सरकार की संरचना.* पटना: राजकमल प्रकाशन।
4. कुमार, ए. (2021). *भारतीय राजनीति का व्यावहारिक अध्ययन.* मुंबई: सागर पब्लिशर्स।
5. शर्मा, पी. (2022). *राजनीति विज्ञान के प्रमुख सिद्धांत.* इलाहाबाद: प्रकाशन हाउस।
6. सिंह, जे. (2023). *संविधान और शासन की व्यवस्था.* जयपुर: अग्रवाल पब्लिशर्स।
7. शर्मा, आर. (2019). *भारत में मुख्यमंत्री की भूमिका.* दिल्ली: पेंगुइन बुक्स।

14.14 अभ्यास प्रश्न

1. राज्य के मुख्यमंत्री के पद, अधिकार एवं कार्यों की व्याख्या कीजिए।
2. राज्य के मुख्यमंत्री की शक्तियों एवं भूमिका का परीक्षण कीजिए।
3. राज्य मंत्रिपरिषद् के संगठन एवं शक्तियों का वर्णन कीजिए।
4. मुख्यमंत्री और विधानमण्डल के संबंध बताइये ।
5. मुख्यमंत्री और राज्यपाल के संबंध बताइये।

ब्लॉक - IV

इकाई 15

राज्य-विधानमण्डल

(STATE LEGISLATURE)

15.1 प्रस्तावना

15.2 उद्देश्य

15.3 राज्य-विधान सभा

15.4 विधान परिषद्

15.5 राज्य-विधानमंडल की शक्तियां एवं कार्य

15.6 विधानसभा तथा विधानपरिषद् की शक्तियों की तुलना

15.7 राज्य-विधानमंडलों की शक्तियों पर प्रतिबंध

15.8 सार संक्षेप

15.9 शब्दावली

15.10स्व -प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

15.11संदर्भ सूची

15.12अभ्यास प्रश्न

15.1 प्रस्तावना

राज्य-विधानमंडल की प्रस्तावना: भारत के संघीय ढांचे में राज्य विधानमंडल की स्थापना राज्य स्तर पर लोकतांत्रिक शासन प्रणाली को सशक्त बनाने और जनता के कल्याण को सुनिश्चित करने के उद्देश्य से की गई है। राज्य विधानमंडल का गठन भारत के संविधान के संघीय सिद्धांतों के अनुरूप किया गया है, ताकि प्रत्येक राज्य अपनी स्थानीय आवश्यकताओं और विशिष्टताओं के अनुसार कानून बना सके और प्रशासन चला सके। राज्य विधानमंडल का प्रमुख उद्देश्य नागरिकों के अधिकारों की रक्षा, उनके जीवन स्तर को सुधारना, और राज्य में समृद्धि व शांति बनाए रखना है। यह निकाय राज्य के लोगों की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को प्रतिबिंबित करते हुए, उनके प्रतिनिधियों के माध्यम से नीति-निर्माण का कार्य करता है। साथ ही, यह राज्य सरकार

को उसके कार्यों और निर्णयों के लिए जवाबदेह बनाकर शासन में पारदर्शिता और उत्तरदायित्व सुनिश्चित करता है।

इस प्रकार, राज्य विधानमंडल संविधान की लोकतांत्रिक भावना को बनाए रखते हुए राज्य के नागरिकों के सर्वांगीण विकास और राज्य की प्रगति के लिए समर्पित है, जो कि देश की एकता, अखंडता, और लोकतांत्रिक मूल्य को मजबूत करता है।

संविधान के द्वारा भारत के प्रत्येक राज्य में एक विधानमण्डल की व्यवस्था की गई है। राज्य-विधानमण्डल में राज्यपाल और एक या दो सदन सम्मिलित हैं। राज्य विधानमण्डल के निम्न सदन को 'विधानसभा' कहते हैं तथा उच्च सदन को 'विधानपरिषद्' कहते हैं। डॉ. सुभाष काश्यप लिखते हैं कि "राज्य-विधानमण्डल का निम्न सदन विधानसभा है जिसके सदस्य सार्वभौम वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित होते हैं। कुछ राज्यों में विधान परिषद् नामक उच्च सदन भी है जिनमें नाम-निदेशित और परोक्ष रूप से निर्वाचित सदस्य होते हैं। यदि राज्य की विधानसभा का एक विशेष बहुमत चाहे तो जिस राज्य में उच्च सदन नहीं है वहां उसकी स्थापना हो सकती है और जहां उच्च सदन कार्यरत है वहां उसको समाप्त किया जा सकता है। इस हेतु राज्य-विधानसभा को केवल एक प्रस्ताव पारित करना होता है, जिसके आधार पर संसद् कानून द्वारा उपयुक्त व्यवस्था कर देती है। वर्तमान में उत्तरप्रदेश, जम्मू-कश्मीर, कर्नाटक, महाराष्ट्र, और आन्ध्रप्रदेश बिहार राज्यों में द्विसदनात्मक विधानमण्डल व शेष राज्यों में एक सदनात्मक व्यवस्थापिका है।"

15.2 उद्देश्य

राज्य विधान मंडल के अध्ययन का उद्देश्य विद्यार्थियों के लिए निम्नलिखित बिंदुओं में स्पष्ट किया जा सकता है:

1. विधायी संरचना की समझ: राज्य विधान मंडल के द्विसदनीय या एकसदनीय संरचना (विधान सभा और विधान परिषद) का ज्ञान प्राप्त करना।

2. विधायी प्रक्रिया का ज्ञान: विधेयकों के निर्माण, पारित होने और कानून बनने की प्रक्रिया को समझना।

3. शक्तियों और जिम्मेदारियों की जानकारी: राज्य विधान मंडल के अधिकार, शक्तियों और जिम्मेदारियों को जानना।

4. जन प्रतिनिधित्व का महत्व: जनप्रतिनिधियों की भूमिका और राज्य के विकास में उनके योगदान को समझना।

5. कार्यपालिका पर नियंत्रण: राज्य विधान मंडल द्वारा कार्यपालिका पर रखे जाने वाले नियंत्रण और निगरानी की प्रक्रिया का अध्ययन।

6. राज्य और केंद्र के संबंध: राज्य विधान मंडल के कार्यों के माध्यम से केंद्र और राज्य सरकार के बीच संबंधों को समझना।

7. लोकतांत्रिक मूल्य: लोकतंत्र की जड़ों को मजबूत करने और नागरिकों के अधिकारों एवं जिम्मेदारियों को समझने के लिए प्रेरित करना।

8. राज्य के विकास में भूमिका: विधान मंडल की योजनाओं और नीतियों के माध्यम से राज्य के विकास में उसकी भूमिका को जानना।

15.3 राज्य-विधान सभा

राज्य-विधानमण्डल का निम्न सदन 'विधानसभा' कहलाता है। विधानसभा जनता का सदन है। विधानसभा के सदस्यों का मतदाताओं द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचन होता है। निर्वाचन के लिए प्रत्येक चुनाव क्षेत्र भौगोलिक आधार पर निर्वाचन क्षेत्रों में इस प्रकार विभाजित किया जाता है कि विधानसभा का प्रत्येक सदस्य कम से कम 75 हजार जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करे। राज्य की विधानसभा में कितने सदस्य होंगे, यह उस राज्य की जनसंख्या पर निर्भर है। संविधान के अनुसार राज्य की विधानसभा के सदस्यों की अधिकतम संख्या 500 और न्यूनतम 60 होगी। प्रत्येक जनगणना के उपरान्त राज्य की विधानसभा की सदस्य संख्या का निर्धारण तथा विधानसभा निर्वाचन क्षेत्रों में राज्य का विभाजन इस प्रकार किया जाता है कि राज्य की जनसंख्या और उसकी विधान-सभा की सदस्य संख्या का अनुपात राज्य-भर में समान रहे। प्रत्येक राज्य की विधानसभा में

अनुसूचित एवं आदिम जातियों के लिए उनकी संख्या के अनुपात में स्थान सुरक्षित रखे गये हैं। यदि आंग्ल-भारतीय समुदाय का विधानसभा में पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं हुआ है तो राज्यपाल उस समुदाय के कुछ सदस्यों को मनोनीत कर सकता है।

विधानसभा के सदस्यों की वही योग्यताएँ है जो लोकसभा के सदस्यों की हैं- (1) वह भारत का नागरिक हो, (2) उसकी आयु कम-से-कम 25 वर्ष हो (3) वह शासकीय सेवा में न हो (4) उसमें वे सभी योग्यताएँ हों जो संसद् ने कानून द्वारा निर्धारित की हों। वह अन्य शर्तें पूरी करता हो- याने वह दिवालिया, पागल न हो एवं उसने किसी अन्य विदेशी राज्य के प्रति निष्ठा व्यक्त न की हो।

राज्य-विधानसभा की अवधि 5 वर्ष है। इस अवधि के उपरान्त विधानसभा विघटित हो जाती है। विधान-सभा के कार्यकाल को बढ़ाया भी जा सकता है। संविधान में यह प्रावधान है कि संकटकालीन स्थिति में केन्द्रीय संसद विधि द्वारा विधानसभा की अवधि को एक बार में एक वर्ष बढ़ा सकती है। ऐसा संसद कितनी ही बार कर सकती है किन्तु यह बढ़ाई हुई अवधि संकटकाल की समाप्ति के उपरान्त छः माह तक चलती रहती है। 5 वर्ष की अवधि से पूर्व भी विधानसभा का विघटन किया जा सकता है। ऐसा विघटन मुख्यमंत्री के परामर्श पर राज्यपाल द्वारा उस समय किया जाता है जबकि विधानसभा को भंग करके नए चुनाव कराये जा सकते हैं। यदि राज्य में संविधान के अनुसार शासन नहीं चलाया | जा सकता तो राष्ट्रपति संकटकाल की घोषणा कर सकते हैं और विधानसभा को भंग कर सकते हैं।संविधान के अनुसार विधानसभा की गणपूर्ति संख्या कुल सदस्यों का 1/10 भाग है परन्तु वह संख्या 10 से कम नहीं होनी चाहिए। एक वर्ष में कम-से-कम विधानसभा के दो सत्र होने चाहिए तथा किन्हीं दो सत्रों के मध्य में छः माह से अधिक का अन्तर नहीं होना चाहिए। विशिष्ट परिस्थितियों में विधानसभा का विशेष सत्र भी बुलाया जा सकता है।

भारतीय संघ के 28 राज्यों की विधानसभाओं की सदस्य-संख्या इस प्रकार है-

क्रम

राज्य का नाम

सदस्य संख्या

नामित सदस्य कुल संख्या

1. उत्तर प्रदेश

404

404

2. आंध्रप्रदेश

294

294

3. प. बंगाल

294

1

295

4. महाराष्ट्र

288

1

289

5. बिहार

243

243

6. तमिलनाडु

234

1

235

7. मध्यप्रदेश

230

1

231

8. कर्नाटक

224

1

225

9. राजस्थान

200

200

10. गुजरात

182

182

11. उड़ीसा

147

147

12. केरल

140

1

141

13. असम

126

126

14. पंजाब

117

117

15. हरियाणा

90

90

16. छत्तीसगढ़

90

1

91

17. जम्मू और कश्मीर

89

89

18. झारखण्ड

81

81

19. उत्तराखण्ड

70

70

20. हिमाचल प्रदेश

68

68

21. अरुणाचल प्रदेश

60

60

22. मणिपुर

60

60

23. मेघालय

60

60

24.

नगालैण्ड

60

60

25. त्रिपुरा

60

60

26.

मिजोरम

40

40

27.

ग

40

40

28.

अंग

32

32

29.

दिल्ली

70

70

30. पुडचेरी

30

30

15.4 विधान परिषद्

राज्य-विधानपरिषद् में कम-से-कम 40 तथा अधिक-से-अधिक उस राज्य की विधानसभा की कुल सदस्यता के एक-तिहाई सदस्य होने चाहिये। इस सीमा के अन्तर्गत राज्य की विधानपरिषद् का निम्नलिखित आधार पर संगठन होगा-

(1) विधानपरिषद् के एक-तिहाई सदस्यों का निर्वाचन राज्य की स्थानीय संस्थाओं, जैसे नगरपालिका, जिला बोर्ड आदि के सदस्यों द्वारा होगा।

(2) कुल सदस्यों के 1/12 सदस्य विश्वविद्यालयों के कम-से-कम तीन वर्ष पुराने स्नातकों या उनके समान योग्यता वाले राज्य के निवासियों द्वारा चुने जाएँगे ।

(3) कुल सदस्यों के 1/12 सदस्य राज्य की माध्यमिक शिक्षा संस्थाओं तथा उनसे उच्च स्तर की शिक्षा संस्थाओं के कम-से-कम तीन वर्ष पुराने शिक्षकों के द्वारा चुने जाएँगे।

(4) कुल सदस्यों के 1/3 सदस्य राज्य की विधानसभा के सदस्यों द्वारा उन व्यक्तियों में से चुने जाएँगे जो विधानसभा के सदस्य नहीं हैं, तथा

(5) शेष 1/6 सदस्य राज्य के राज्यपाल द्वारा मनोनीत किए जाएँगे ।

उपर्युक्त चार वर्गों के सदस्यों के चुनाव सानुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के आधार पर एकल संक्रमणीय मत पद्धति द्वारा होते हैं तथा अन्तिम वर्ग के सदस्यों की नामजदगी राज्यपाल साहित्य, कला, विज्ञान सहकारिता और समाज-सेवा आदि व्यक्तियों में से करता है जो इन क्षेत्रों के विशेषज्ञ होते हैं।

विधानपरिषद् का सदस्य होने के लिए किसी भी व्यक्ति को कम-से-कम तीस वर्ष की उम्र का अवश्य होना चाहिए, अन्य अर्हताएँ ठीक वैसी ही हैं जैसी विधानसभा के सदस्यों के लिए हैं।

विधानपरिषद् के सदस्यों का चयन 6 वर्ष की अवधि के लिए किया जाता है, किन्तु 1/3 सदस्य प्रति तीसरे वर्ष अवकाश ग्रहण करते रहते हैं। इस प्रकार विधानपरिषद् एक स्थायी सदन है जिसे विघटित नहीं किया जा सकता ।

विधानपरिषद् का कार्य संचालन करने के लिए एक सभापति तथा एक उपसभापति परिषद् के सदस्यों द्वारा ही निर्वाचित किए जाते हैं। विधानपरिषद् को इन्हें पद से भी हटाने का अधिकार है। विधानपरिषद् की बैठकें तभी आरम्भ की जा सकती हैं जबकि सदन में कुल सदस्यों का 1/10 भाग उपस्थित हो किन्तु यह संख्या 10 से कम

नहीं होना चाहिए। संविधान के अनुसार विधानपरिषद् की वर्ष में कम-से-कम दो बैठकें होना आवश्यक है तथा इन दोनों बैठकों के बीच छः मास से अधिक अन्तर नहीं होना चाहिए।

संविधान-निर्मात्री सभा के अनेक सदस्य विधानपरिषद् की स्थापना के पक्ष में नहीं थे। उनके विचारों में राज्यों में एक विधानसभा का होना पर्याप्त था तथा द्वितीय सदन अनावश्यक था। उनका मत था कि राज्य इस आलंकारिक एवं अनावश्यक शौक का व्यय सहन कर सकने की आर्थिक क्षमता भी नहीं रखते हैं। इसी कारण संविधानसभा ने इस प्रश्न का निर्णय विभिन्न राज्यों की विधानसभाओं पर छोड़ दिया ।

विभिन्न राज्यों की विधानपरिषदों की रचना इस प्रकार है-

कुल विधानसभा स्थानीय संस्थाओं स्नातकों शिक्षकों

राज्य

सदस्य संख्या

द्वारा निर्वाचित

द्वारा निर्वाचित

द्वारा निर्वाचित

द्वारा निर्वाचित

मनोनीत

1. बिहार

75

27

24

6

6

12

2. जम्मू व कश्मीर

36

22

6

2

6

3. कर्नाटक

75

21

25

9

7

11

4. उत्तर प्रदेश

108

37

39

9

9

12

5. महाराष्ट्र

78

30

22

7

7

12

6. आंध्रप्रदेश

90

३१

३१

8

8

12

15.5 राज्य-विधानमंडल की शक्तियां एवं कार्य (Powers and Functions of the State Legislature)

विधानमंडल राज्य का विधायिका अंग है, इसका मुख्य कार्य विधि निर्माण है और विधि-निर्माण में दोनों सदन (अथवा जहां एक सदन है वहां केवल विधानसभा) भाग लेते हैं। राज्य विधानमंडल के प्रमुख कार्य इस प्रकार हैं-

1. विधायी शक्तियाँ - राज्य-विधानमंडल राज्य सूची तथा समवर्ती सूची के विषयों पर कानूनों का निर्माण करता है। राज्य का विधानमंडल किन्हीं भी परिस्थितियों में संघ सूची के किसी भी विषय पर विधि निर्माण नहीं कर सकता। राज्य विधानमंडल को समवर्ती सूची में दिए गए विषयों पर भी कानून बनाने का अधिकार इस शर्त पर प्राप्त हैं कि वह संसदीय विधि के प्रतिकूल न हों। राज्य-सूची के सभी विषयों पर राज्य-विधानमंडल कानून बना सकता है। परन्तु इस क्षेत्र में भी उसकी कानून निर्माण शक्ति पर कतिपय प्रतिबन्ध है, (i) संकटकाल की घोषणा के समय संसद राज्य-सूची के सभी विषयों पर कानून बना सकती है। (ii) यदि राज्यसभा दो-तिहाई बहुमत से राज्य-सूची के किसी विषय पर राष्ट्रीय हित में संसद को कानून बनाने का सुझाव एक प्रस्ताव पारित कर दे तो राज्य-सूची के विषयों पर भी केन्द्रीय संसद कानून बना सकती है। (iii) कतिपय ऐसे विषय हैं जिन पर विधिनिर्माण करने से पूर्व राज्यपाल की स्वीकृति आवश्यक है। (iv) कुछ विधेयक राज्य-विधानमंडल में प्रस्तावित किए जाने से पूर्व उन पर राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक है। साधारण विधेयक विधानमंडल के किसी भी सदन में प्रेषित किए जा सकते हैं किन्तु धन विधेयक केवल निम्न सदन में ही रखे जाते हैं। विधानमंडल के दोनों सदनों द्वारा पारित हो जाने पर विधेयक राज्यपाल की स्वीकृति हेतु भेजा जाता है।

2. कार्यपालिका शक्तियाँ राज्य का मंत्रिमंडल विधानसभा के ही प्रति उत्तरदायी है। विधानसभा अविश्वास का प्रस्ताव पारित कर मंत्रिमंडल को अपदस्थ कर सकती है। विधान परिषद् मंत्रियों से केवल प्रश्न और पूरक प्रश्न पूछ सकती है। मंत्रिपरिषद् का विधानसभा में बहुमत है या नहीं इसका निर्णय विधानसभा की बैठक में उसके सदस्यों द्वारा ही किया जा सकता है। विधानसभा 'काम रोको प्रस्ताव', 'निन्दा प्रस्ताव', 'अविश्वास प्रस्ताव' और प्रश्न पूछकर मंत्रिपरिषद् पर नियंत्रण रखती है।

3. वित्तीय शक्तियाँ - राज्य के बजट को विधानमंडल द्वारा ही स्वीकृति प्रदान की जाती है। वित्त के मामले में विधानसभा की शक्तियों विधान परिषद् से भी अधिक हैं। वस्तुतः अनुदान की मांगों पर मतदान का अधिकार विधानसभा को ही होता है। बजट में निहित राशियों में वह कमी कर सकती है, लगाए जाने वाले करों में छूट दे सकती है। किन्तु यदि ये परिवर्तन मंत्रिमंडल की इच्छा के विरोध में किये जाते हैं तो इसका अर्थ मंत्रिमंडल के प्रति अविश्वास होगा तथा उसे त्याग-पत्र देना पड़ेगा।

4. अन्य कृत्य - विधानसभा राष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग लेती है। संविधान में कतिपय प्रावधानों में संशोधन के लिए भी विधानसभा के सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। यदि राज्य में विधानपरिषद् है तो उसके एक-तिहाई सदस्यों का निर्वाचन विधानसभा करती है।

15.6 विधानसभा तथा विधानपरिषद् की शक्तियों की तुलना (Comparison between the Assembly and the Council)

विधानमंडलों में द्वितीय सदन की आवश्यकता के सम्बन्ध में एक विचारक सर हेनरी मेन ने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किए है कि "Any kind of second chamber is better than none." वस्तुतः द्वितीय सदन एक पुनरीक्षण संस्था है। संविधान द्वारा विधानसभा को विधानपरिषद् के निर्माण एवं समाप्ति हेतु केन्द्रीय संसद से सिफारिश करने का अधिकार है। परन्तु जिन-जिन राज्यों में द्वितीय सदन है वहां वे उपयोगी सिद्ध हुए है। इसका विशेष कारण यह है कि इस सदन को प्रदेश के सभी विषयों के विशेषज्ञों का प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है जबकि विधानसभा के सदस्य क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व के आधार पर आम जनता द्वारा सीधे निर्वाचित होते हैं।

यदि विधानसभा और विधानपरिषद् की शक्तियों का तुलनात्मक विवेचन किया जाए तो यह प्रकट होता है कि विधानपरिषद् एक अलंकारिक सदन है-

1. साधारण विधेयकों के सम्बन्ध में साधारण विधेयक विधानमंडल के किसी भी सदन में प्रस्तुत किए जा सकते हैं। साधारण विधेयक दोनो सदनों द्वारा स्वीकृत होने चाहिए। यदि विधानसभा द्वारा कोई विधेयक पारित होने के बाद विधानपरिषद् द्वारा उसे अस्वीकृत कर दिया जाता है या परिषद् के समक्ष विधेयक रखे जाने की तिथि से तीन माह बाद एक विधेयक पारित नहीं किया जाता या विधानपरिषद् ऐसे संशोधन पेश करें जिन्हें विधानसभा स्वीकार न करे तो विधानसभा उस विधेयक को पुनः पारित करके परिषद् को भेजती है। यदि परिषद् पुनः उसको अस्वीकार करे, ऐसे संशोधन प्रस्तुत करे जो विधानसभा को स्वीकार न हों तथा यदि इस बीच एक माह का समय व्यतीत हो जाए तो विधेयक (विधानपरिषद् की अस्वीकृति के बाद भी) दोनों सदनों द्वारा पारित माना जाएगा। इस प्रकार विधानपरिषद् चार माह की देरी कर सकती है, विधेयक को रोक नहीं सकती।

2. कार्यपालिका पर नियंत्रण के सम्बन्ध में विधानसभा ही कार्यपालिका को अपदस्थ कर सकती हैं। राज्य के मंत्रिगण विधानपरिषद् के प्रति उत्तरदायी नहीं है। विधानपरिषद् केवल प्रश्न पूछ सकती है तथा मंत्रिपरिषद् की आलोचना कर सकती है।

3. वित्तीय मामलों के सम्बन्ध में वित्त विधेयक केवल विधानसभा में ही रखे जा सकते हैं। विधानसभा द्वारा पारित होने पर वित्त विधेयक विधानपरिषद् को भेजा जाता है। विधानपरिषद् 14 दिन के भीतर विधेयक वापस करती है। परिषद् द्वारा सुझाए गए संशोधनों को स्वीकार या अस्वीकार करना विधानसभा की इच्छा पर निर्भर करता है। यदि 14 दिन के भीतर परिषद् वित्त विधेयक को नहीं लौटाती है तब भी वह दोनों सदनों द्वारा पारित माना जावेगा।

प्रो. पायली के अनुसार 'इस प्रकार विधानपरिषद् को केवल निलम्बन का निषेधाधिकार (Suspensory Veto Power) ही प्राप्त है। साधारण विधेयकों को परिषद् तीन मास तथा वित्त विधेयकों को एक मास के लिए रोकती है। इन उपबंधों द्वारा विधानसभा का सर्वोपरि होना स्पष्ट हो जाता है। यही नहीं विधानसभा विधानपरिषद् को मिटा सकती है।'

15.7 राज्य-विधानमंडलों की शक्तियों पर प्रतिबंध

संविधान के अनुसार राज्य-विधानमंडलों की शक्तियों पर अनेक प्रतिबंध लगाए गए है-

(1) कतिपय ऐसे विषय हैं जिन्हें राज्य सूची में समाविष्ट किया गया है परन्तु उन पर राज्यों के विधानमंडल उस समय तक कानूनों का निर्माण नहीं कर सकते जब तक कि उन पर भारत के राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति प्राप्त न हो जाए।

(2) कतिपय ऐसे विषय है जिन पर राज्य विधानमंडल कानूनों का निर्माण कर सकता है, परन्तु उन्हें राज्य का राज्यपाल राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजता है।

(3) संकटकालीन अवसरों पर संघीय संसद राज्य-सूची के सभी विषयों पर कानून बना सकती है।

(4) समवर्ती सूची के विषयों पर राज्य-विधानमंडल कानून बना सकता है परन्तु यदि वह संसद के किसी भी कानून के विरोध में है तो ऐसी स्थिति में संसद् द्वारा निर्मित कानून ही मान्य रहेगा।

(5) यदि किन्हीं कारणों से राज्य का शासन संविधान के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है तो राष्ट्रपति राज्य-विधानसभा को भंग कर सकते हैं ताकि नए चुनावों की व्यवस्था की जा सके।

(6) राज्यसभा दो तिहाई बहुमत से एक प्रस्ताव पारित करके राज्य-सूची के किसी भी विषय को केन्द्रीय संसद को सौंप सकती है। ऐसे विषय पर केन्द्रीय संसद् एक वर्ष तक कानूनों का निर्माण कर सकती है और इस अवधि में वृद्धि की जा सकती है।

15.8 सार संक्षेप

राज्य विधान मंडल राज्य सरकार की विधायिका शाखा है, जो राज्य के कानूनों को बनाने, संशोधित करने और निरस्त करने का कार्य करती है। यह दो सदनों में बांटा जाता है—विधान सभा (Legislative Assembly) और विधान परिषद (Legislary Council), हालांकि कुछ राज्यों में केवल विधान सभा होती है (यानी यह एककक्षीय होती है)। राज्य विधान मंडल का कार्य राज्य के मामलों पर विचार करना, बजट पारित करना और सरकार के कार्यों की निगरानी करना है। विधान सभा के सदस्य जनता द्वारा चुने जाते हैं, जबकि विधान परिषद के सदस्य विभिन्न चुनावों और नियुक्तियों के माध्यम से चुने जाते हैं। राज्यपाल राज्य विधान मंडल का संवैधानिक प्रमुख होता है, जबकि विधान सभा का अध्यक्ष (स्पीकर) और विधान परिषद का अध्यक्ष (चेयरपर्सन) सदन की कार्यवाही का संचालन करते हैं। राज्य विधान मंडल की भूमिका राज्य के विकास, कानून व्यवस्था और जनता के हितों की रक्षा करने में महत्वपूर्ण होती है।

15.9 शब्दावली

राज्यपाल (Governor):राज्य का संवैधानिक प्रमुख, जिसे राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाता है और वह राज्य विधान मंडल की कार्यवाही को मंजूरी देते हैं।

स्पीकर (Speaker):विधान सभा का अध्यक्ष, जो सदन की कार्यवाही का संचालन करता है और सदन के नियमों का पालन सुनिश्चित करता है।

चेयरपर्सन (Chairperson):विधान परिषद का अध्यक्ष, जो सदन की कार्यवाही की देखरेख करता है।

विधेयक (Bill):विधानमंडल में प्रस्तुत किया गया एक प्रस्ताव, जिसे कानून बनाने के लिए पारित किया जाता है।

कानून (Law):वह नियम या आदेश जो विधानमंडल द्वारा पारित किया जाता है और जिसे लागू किया जाता है।

सत्र (Session):विधानमंडल द्वारा निर्धारित समयावधि जब सदन की बैठकें आयोजित होती हैं।

विधान सभा क्षेत्र (Legislative Assembly Constituency):वह क्षेत्र जिससे विधान सभा का सदस्य चुना जाता है। प्रत्येक विधानसभा क्षेत्र एक विधायक (MLA) का प्रतिनिधित्व करता है।

क्वोरम (Quorum):वह न्यूनतम संख्या में सदस्य, जिनकी उपस्थिति सदन की बैठक को वैध बनाती है।

अधिकार (Privilege):विधान सभा या विधान परिषद के सदस्य को सदन में चर्चा के दौरान विशेष अधिकार और सुरक्षा मिलती है, जो उन्हें किसी कार्यवाही में भाग लेने या अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्रदान करते हैं।

उपयुक्ति (Adjournment):सदन की कार्यवाही को स्थगित करना या रोकना, जो कुछ समय के लिए किया जा सकता है।

15.10 स्व-प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

1. विधान परिषद साधारण विधेयक को अधिक से अधिक :

(अ) चार माह की देरी कर सकती है, विधेयक को रोक नहीं सकती

(ब) तीन माह की देरी कर सकती है

(स) दो माह की देरी कर सकती है

(द) 6 माह की देरी कर सकती है।

2. यदि 14 दिन के भीतर विधान परिषद वित्त विधेयक को नहीं लौटती है तबः

(अ) दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन आवश्यक है

(ब) दोनों सदनों की संयुक्त समिति में विचार होगा

(स) विधानसभा को परिषद द्वारा सुझाये गये संशोधनों को मानना होगा

(द) भी वह दोनों सदनों द्वारा पारित माना जायेगा।

3. विधान परिषद के सदस्यों का कार्यकाल कितने वर्ष के लिए होता है:

(अ) 3 वर्ष (ब) 6 वर्ष (स) 5 वर्ष (द) 7 वर्ष

3. विधान परिषद का सदस्य निर्वाचित होने के लिए कितनी उम्र आवश्यक है:

(अ) 18 वर्ष (ब) 25 वर्ष (स) 21 वर्ष (द) 30 वर्ष

5. किसी भी राज्य की विधानसभा की अधिकतम अनुज्ञेय सीमा है:

(अ) 400 सदस्य (ब) 425 सदस्य

(स) 500 सदस्य (द) 545 सदस्य ।

6. राज्य विधानसभा के सदन की बैठक के लिए गणपूर्ति

(अ) तीस सदस्य अथवा कुल सदस्य संख्या का दसवां जो भी कम हो

(ब) सदन की कुल सदस्य संख्या का आधा

(स) सदन की कुल सदस्य संख्या का दसवां भाग

(द) दस सदस्य अथवा सदन की कुल सदस्य संख्या का दसवां भाग, जो भी अधिक हो।

उत्तर. 1. (अ), 2. (द), 3. (ब), 4. (द), 5. (स), 6. (द),

15.11 संदर्भ सूची

1. शर्मा, बी. (2020). *राजनीति विज्ञान की मूल बातें.* दिल्ली: रेजेंट पब्लिशर्स।
2. पाठक, स. (2019). *भारत में राज्य विधानमण्डल: संरचना और कार्य.* नई दिल्ली: विश्लेषक पब्लिशिंग।
3. अग्रवाल, ह. (2021). *भारतीय संविधान और राज्य विधानमण्डल.* दिल्ली: एनसीईआरटी।
4. मिश्रा, र. (2022). *राजनीति विज्ञान: सिद्धांत और अभ्यास.* लखनऊ: आकाश पब्लिकेशन।

5. यादव, पी. (2023). *राज्य विधानमण्डल और राजनीति: एक अध्ययन.* मुंबई: तात्या पब्लिशर्स।
6. सिंह, अशोक. (2021). *भारतीय राजनीति में राज्य विधानमण्डल की भूमिका.* पटना: सुमेरु पब्लिकेशन।
7. शर्मा, र. (2020). *राज्य विधानमण्डल की कार्यप्रणाली: सिद्धांत और वास्तविकता.* जयपुर: भारतीय प्रिंट हाउस।

15.12अभ्यास प्रश्न

1.राज्य विधानमंडल के संगठन, शक्तियों और कार्यों को विवेचना कीजिए।

2. राज्य विधान परिषद् के संगठन, शक्तियों और कार्यों का वर्णन कीजिए।

3. राज्य विधान परिषद का गठन समझाइये ।

4. विधानसभा एवं विधान परिषद की शक्तियों की तुलना कीजिए।

इकाई 16

भारत में राजनीतिक दल राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय दल

16.1 प्रस्तावना

16.2 उद्देश्य

16.3 भारत में दलीय-प्रणाली का स्वरूप एवं विशेषताएँ

16.4 भारतीय राजनीतिक दलों का वर्गीकरण

16.5 प्रमुख राष्ट्रीय राजनीतिक दल और उनके कार्यक्रम

16.6 मार्क्सवादी दल का सामाजिक आधार व राजनीतिक उपलब्धि

16.7 भारत में प्रमुख क्षेत्रीय दल

16.8 सार संक्षेप

16.9 शब्दावली

16.10स्व -प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

16.11संदर्भ सूची

16.12अभ्यास प्रश्न

16.1 प्रस्तावना

भारत जैसे विशाल लोकतांत्रिक देश में, राजनीतिक दलों का महत्वपूर्ण स्थान है। ये दल विभिन्न विचारधाराओं और नीतियों का प्रतिनिधित्व करते हैं और देश के प्रशासन, नीति-निर्माण, और विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। संविधान की संघीय भावना को बनाए रखते हुए, भारतीय लोकतंत्र में राष्ट्रीय और क्षेत्रीय, दोनों प्रकार के राजनीतिक दल अपना योगदान देते हैं।इस प्रकार, भारत के राजनीतिक दल, चाहे राष्ट्रीय हों या क्षेत्रीय, देश के लोकतंत्र को मजबूत बनाने, जन आकांक्षाओं को आवाज देने, और देश के विकास को गति देने का कार्य करते हैं। इन दलों का उद्देश्य भारतीय संविधान में निहित लोकतांत्रिक मूल्यों, अधिकारों और कर्तव्यों का संरक्षण करना और भारतीय समाज की विविधता को सम्मान देना है।

लोकतंत्र के पहियों के रूप में राजनीतिक दल अपरिहार्य हैं। राजनीतिक दल एक बहुत बड़ी सीमा तक हमारे जीवन के महत्वपूर्ण अंग बन चुके हैं। 'राजनीति'शब्द का

उच्चारण करते समय हमें उसमें राजनीतिक दलों की ध्वनि झंकृत होती दिख पड़ती है। लोकतंत्र, चाहे उसका कोई भी स्वरूप क्यों न हो, राजनीतिक दलों की अनुपस्थिति में, अकल्पनीय है; इसलिए उन्हें 'लोकतंत्र का प्राण' कहा गया है। यदि 'राजनीतिक दलों' को शासन का चतुर्थ अंग कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। मुनरो के शब्दों में, "लोकतंत्रात्मक शासन दलीय शासन का दूसरा नाम है।" ब्राईस के अनुसार, "किसी भी व्यक्ति ने यह नहीं दिखाया है कि राजनीतिक दलों के अभाव में लोकतंत्र कैसे चल सकता है? "आज की संवैधानिक व्यवस्था का सार यही है कि सरकार और संसद पर दल का नियन्त्रण रहता है। संसद, कार्यपालिका, सरकार और व्यवस्थापिका केवल संवैधानिक आवरण है। यथार्थ शक्ति का उपयोग राजनीतिक दल ही करते हैं। हूबर ने इसी कारण कहा है कि "लोकतंत्र के चालन में राजनीतिक दल तेल के तुल्य है।"

16.2 उद्देश्य

भारत में राजनीतिक दलों, विशेष रूप से क्षेत्रीय दलों के अध्ययन का उद्देश्य विद्यार्थियों के लिए निम्नलिखित बिंदुओं में स्पष्ट किया जा सकता है:

1. भारतीय लोकतंत्र की विविधता की समझ: भारत जैसे बहुसांस्कृतिक और बहुभाषी देश में क्षेत्रीय दलों के महत्व को जानना।

2. राजनीतिक प्रक्रिया की जानकारी: राजनीतिक दलों, उनके गठन, कार्यप्रणाली और उनके प्रभाव को समझना।

3. क्षेत्रीय मुद्दों की पहचान: क्षेत्रीय दलों द्वारा उठाए गए स्थानीय मुद्दों और उनकी राजनीति में भूमिका को समझना।

4. राष्ट्रीय और क्षेत्रीय संतुलन: क्षेत्रीय दलों और राष्ट्रीय दलों के बीच संतुलन और सहयोग के महत्व को जानना।

5. राजनीतिक भागीदारी: क्षेत्रीय दलों के माध्यम से समाज के विभिन्न वर्गों की राजनीतिक भागीदारी और सशक्तिकरण को समझना।

6. सत्ता में भागीदारी: गठबंधन राजनीति और सरकार गठन में क्षेत्रीय दलों की भूमिका का अध्ययन।

16.3 भारत में दलीय-प्रणाली का स्वरूप एवं विशेषताएँ

भारत में राजनीतिक दलों की अपनी अनूठी विशेषताएँ हैं। भारत में प्रत्येक जन-निर्वाचन ने दलीय प्रणाली के संगठन को प्रभावित किया है किन्तु फिर भी निम्नलिखित सामान्य विशेषताएँ हमारी दलीय प्रणाली के परिप्रेक्ष्य में सदैव विद्यमान रही है-

1. बहुदलीय-प्रणाली- भारत में बहुदलीय प्रणाली विकसित हुई है। भारत में इतने अधिक दल हैं कि संख्या निश्चित करना कठिन है। पहले आम चुनाव के बाद लोकसभा में तेईस दलों के प्रतिनिधि पहुँचे। चुनाव आयोग के अनुसार अप्रैल-मई 2009 में सम्पन्न 15वीं लोकसभा चुनावों के समय देश में कुल मिलाकर 1055 राजनीतिक दल थे जिनमें से 7 राष्ट्रीय दल एवं 48 राज्य स्तरीय मान्यता प्राप्त दल थे। लगभग 1000 गैर मान्यता प्राप्त पंजीकृत दल भी थे।

2. एक दल की प्रधानता भारत में बहुदलीय-प्रणाली के बावजूद सदैव राजनीति में एक दल की प्रधानता रही है वह है कांग्रेस दल। 1967 में कुछ राज्यों में मिलीजुली सरकारें बनीं, पर इससे उन राज्यों में अराजकता और अस्थिरता बढ़ी। अतः 1971 और 1972 के चुनावों में जनता ने इसे अस्वीकार कर दिया। मार्च, 1977 से जनवरी, 1980 तथा दिसम्बर, 1989 से मई, 1991 तक के काल को छोड़कर केन्द्र में सदा कांग्रेस शासन कायम रहा है।1989, 1991, 1996, 1998, 1999, 2004 तथा 2009 के लोकसभा चुनावों के बाद स्थिति में व्यापक परिवर्तन आया और एक दल की प्रधानता के युग का अन्त हुआ। केन्द्र में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हुआ।

3. दलीय-प्रणाली का अभ्युदय एक सुनिश्चित केन्द्र से भारत में दलीय-प्रणाली का विकास एक सुपरिचित केन्द्र से हुआ है, जिसका उदय स्वाधीनता से कई दशक पूर्व हो चुका था। इस सुपरिचित केन्द्र की अभिव्यक्ति भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के देशव्यापी संगठन और प्रभावशाली नेतृत्व के द्वारा हुई।

4. दल-बदल की प्रवृत्ति भारत में दल-बदल की सामान्य प्रवृत्ति पाई जाती है। सदस्यों को दल के सिद्धान्त में विश्वास नहीं रहता और वे स्वार्थवश सत्ताधारी दल में मिलना अनुचित नहीं समझते । सन् 1967 और 1970 के मध्य भारी दल-बदल हुआ। 1972 में भी

मध्यप्रदेश, आंध्रप्रदेश तथा उड़ीसा में दल-बदल की प्रक्रिया बन्द नहीं हुई। 1976 में गुजरात दल-बदल 'का आकर्षण रहा। छठी लोकसभा होने लगे। दल-बदल के परिणामस्वरूप ही मार्च, 1977 में कांग्रेस दल की सरकार गुजरात में अल्पमत में आ गयी। 1984 में जम्मू-काश्मीर में डॉ. फारुख के स्थान पर गुलामशाह और आंध्रप्रदेश में एन.टी. रामाराव के स्थान पर भास्कररराव का मुख्यमंत्री बनने का कारण दल-बदल ही था। चन्द्रशेखर और उनके 58 साथी दल बदलकर ही 1990 में सत्तारूढ़ हुये। 1991 मे मणिपुर, त्रिपुरा और महाराष्ट्र में दल-बदल की महत्वपूर्ण घटनाएँ हुई हैं। आजकल गोवा भी दलबदल और बदलती सरकारों के कारण सुर्खियों में है। नवम्बर 1999 में 17 महीनों में वहां पांचवीं सरकार सत्तारूढ़ हुई है।

5. वैचारिक एकता का अभाव भारत में सत्ताधारी और प्रतिपक्षी दलों में वैचारिक स्पष्टता और एकता का अभाव है। कई दलों के विचार और कार्यक्रम आपस में मिलते-जुलते हैं। कांग्रेस के अतिरिक्त अन्य लगभग एक दर्जन छोटे-बड़े राजनीतिक दल भी समाजवाद को ही अपना लक्ष्य घोषित किए हुए हैं।

6. दलीय राजनीति आर्थिक हितों पर आधारित नहीं भारत में राजनीतिक दलों का विकास मध्यवर्ती दल के फूटने से हुआ, सामाजिक और आर्थिक हितों के आधार पर नहीं। प्रतिपक्षी दलों का कांग्रेस से विरोध सामाजिक या वर्ग संघर्ष का परिणाम नहीं है, बल्कि राजनीतिक फूट या संघर्ष का परिणाम है।

7. दलीय राजनीति वैयक्तिक नेतृत्व पर आधारित समस्त प्रगतिशील दलों के अनेक समर्थक भूतपूर्व कांग्रेस जन रहे हैं। परन्तु व्यक्तिगत कारणोंवश वे कांग्रेस से पृथक हो गए। अनेक नए दल प्रभावशाली व्यक्तियों के ऊपर निर्भर रहते हैं। श्री राजनारायण, डॉ. राम मनोहर लोहिया, चौधरी चरणसिह, बीजू पटनायक, बलराज मधोक, मुलायम सिंह यादव, लालूप्रसाद यादव, कांशीराम सरीखे नेताओं ने अपनी व्यक्तिगत शक्ति के आधार पर दल संगठित किए हैं। । मौरिस जॉन्स ने ठीक ही लिखा है, "विरोधी दलों में टूट-फूट का कारण है कि उनमें आपस में सामाजिक सहयोग कम है और दलों के अग्रगामी नेता बिना शक्ति के भी अपनी छोटी-छोटी टुकड़ियों के नेता बने रहना चाहते हैं और नहीं मिलना चाहते।

8. दलों में टूट और विभाजन की प्रक्रिया प्रारम्भ से ही राजनीतिक दलों में टूट की प्रवृत्ति रही है। कांग्रेस से टूटकर कुछ लोगों ने किसान मजदूर दल, प्रसोपा आदि बनाए थे: आजकल कांग्रेस से टूटकर संगठन कांग्रेस, जनसंघ से टूटकर लोकतांत्रिक जनसंघ, द्रमुक से टूटकर अद्रमुक, साम्यवादी दल से टूटकर मार्क्सवादी साम्यवादी दल बना है।

हाल ही में कांग्रेस से टूटकर तमिल मनीला कांग्रेस, जनता दल से टूटकर राष्ट्रीय जनता दल, समता पार्टी जैसे दल बने हैं।

9. निर्दलीय सदस्य - भारत में अनेक राजनीतिक दलों के बावजूद संसद और राज्य विधान मण्डलों में 'निर्दलीय 'सदस्य भी काफी संख्या में है। निर्दलीय सदस्यों की कोई की कोई निश्चित नीति नहीं होती और वे किसी भी दल में शामिल हो जाते हैं। ऐसी प्रवृत्ति लोकतन्त्र के विकास में बाधक है। 1977 के लोकसभा चुनावों से निर्दलीय सदस्यों की संख्या में कमी होती जा रही है। 1977 में लोकसभा के लिए 9;1980 में 8 सदस्य और 1984 में मात्र 5 निर्दलीय चुने गए। मई, 1980 में सम्पन्न 9 राज्यों कि विधान सभाओं के चुनावों में 2225 स्थानों में से 98 निर्दलीय चुने गए जबकि उन्हें 12-13 प्रतिशत मत प्राप्त हुए। 1991 के लोकसभा चुनावों में 5687 निर्दलीय प्रत्याशी चुनाव लड़े और केवल 5 निर्वाचित हुये जबकि 1996 के लोकसभा चुनावों में 10603 प्रत्याशियों ने चुनाव लड़ा और 9 निर्वाचित हुए। 1998 में 1915 प्रत्याशियों ने चुनाव लड़ा और 6 लोक सभा में पहुंचे। 2004 में 2385 एवं 2009 में 3831 निर्दलीय प्रत्याशियों ने लोकसभा का चुनाव लड़ा और क्रमशः 5 व 9 प्रत्याशी विजयी हुये ।

10. अवसरवादिता की उभरती प्रवृत्ति रजनी कोठारी के अनुसार, "व्यक्ति का महत्व अभी भी राजनीति में बहुत है। भारत में एक ही संगठन के विभिन्न अंग अलग-अलग काम करते हैं। एक ही दल की राष्ट्रीय और राज्य शाखाएँ प्रतिकूल दिशाओं में चलती हैं और ऐसे गुटों व तत्वों से हाथ मिलाती हैं जो विचारधारा और नीति में उनसे भिन्न है।" उदाहरणार्थ, केरल में कांग्रेस ने मुस्लिम लीग से गठजोड़ किया तो जनसंघ ने संविद के शासनकाल में साम्यवादी दल से हाथ मिलाकर सत्ता का स्वाद चखा। पंचम लोकसभा के निर्वाचन काल में तो संगठन कांग्रेस, जनसंघ, स्वतंत्र और संसोपा जैसे बेमेल दलोंका महागठबंधन बना। 1989 में वी.पी. सिंह की अल्पमतीय सरकार को मार्क्सवादी और भारतीय जनता पार्टी का समर्थन प्राप्त हुआ। 1996 के चुनावों के बाद तीसरे मोर्चे के नेताओं ने उस कांग्रेस से सांठ-गांठ कर ली जिसके खिलाफ चुनावों में उसके नेताओं ने कटुतापूर्ण संघर्ष किया था। बिहार में लालू- राबड़ी राज्य के विरोध में चुनाव लड़ने वाली कांग्रेस ने चुनावों के बाद उनके साथ फरवरी 2000 में साझा सरकार बना ली।

11. संकुचित जातीय और प्रांतीय दलों का होना भारत में अनेक दल संकुचित आधार पर जाति, धर्म, भाषा तथा प्रान्तीयता के दृष्टिकोण से गठित हुए हैं। जैसे बिहार में झारखंड पार्टी, आन्ध्रप्रदेश में तेलगुदेशम्, तमिलनाडु में डी. एम.के, महाराष्ट्र में शिव सेना, पंजाब में अकाली दल, बम्बई में अनुसूचित जाति संघ आदि ।

12. विरोध की छूट - भारतीय राजनीति में विरोध की बड़ी छूट है। यहां नए दल बनाने और दल परिवर्तन की ही स्वतंत्रता नहीं है अपितु सत्ताधारी दल के विभिन्न गुटों से विरोधी दलों का परस्पर संबंध बना रहता है। जब कोई दल बहुत दिनों तक सत्ता में रहता है तो उसमें कई स्पष्ट गुट बन जाते हैं। चतुर्थ आम चुनावों तक विरोधी दलों का बहुत कम प्रभाव था और कांग्रेस के अंदर विरोधी गुट विरोधी दलों का काम करते थे।

13. राजनीतिक दल और करिश्माई नेतृत्व गाँधी जी के साथ ही भारतीय राजनीतिक जीवन में करिश्माती नेतृत्व का दौर शुरू हुआ। मैक्स वैबर के अनुसार, "करिश्माती नेता का अनुसरण बिना कुछ भी पूछें करने को उसके अनुयायी तैयार रहते है। "प्रभावशाली नेता का चमत्कारी व्यक्तित्व ही काफी जोरदार चुम्बक होता है। नेहरू शासनकाल में भी यही नेतृत्व शैली चलती रही। उसका असर कांग्रेस पर ही नहीं और राजनीतिक दलों पर भी पड़ा है, जिन्होंने संगठन की नींव डालने के बजाय 'चमत्कारी' नेताओं के नारे बुलन्द करने में ज्यादा जी लगाया है। यह बात करीब सभी राजनीतिक दलों पर लागू होती है, चाहे वह अन्नादूरे की द्रविड़ मुनेत्र कड़गम हो या चौधरी चरणसिंह का भारतीय क्रांतिदल । ऐसी ही विशिष्ट स्थिति संसोपा में डॉ. लोहिया की थी और अकाली दल के सन्त फतेहसिंह की। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि इन सभी व्यक्तियों की योग्यताएँ या करिश्माती शक्ति बराबर थी। सिर्फ हर दल के लिए किसी एक नेता का व्यक्तित्व सबसे महत्वपूर्ण बन गया।

15. राजनीतिक दलों का सामन्तशाही ढाँचा सभी राजनीतिक दलों का ढाँचा सामन्तशाही ढंग का रहा है। काँग्रेस की सिण्डीकेट तो खूब बदनाम हुई। प्रादेशिक सूबेदारों की शक्ति भी श्रीमती गाँधी के हाथों ही समाप्त हुई है। संसोपा के विघटन के समय भी दलीय नेतृत्व का सामन्ती नमूना ही दीख पड़ा था। जनसंघ के विघटन का कारण भी सामन्ती ढाँचा ही रहा है। अभी हाल में द्रविड़ मुनेत्र कड़गम का उदाहरण भी इसी प्रकार का है और अन्नाद्रमुक की स्थापना की गयी।

16.4 भारतीय राजनीतिक दलों का वर्गीकरण

भारतीय राजनीतिक दलों को चार भागों में बाँटा जा सकता है:-

1. राष्ट्रीय और धर्मनिरपेक्ष दल राष्ट्रीय अथवा अखिल भारतीय दल वे हैं जिनकी संसद तथा लोकसभा एवं राज्य विधानमण्डलों में पर्याप्त संख्या है तथा जिनको पर्याप्त मत प्राप्त हुए हैं। ऐसे दल दो प्रकार के है- बिना विचारधारा के और विचारधारा पर आधारित दल। बिना विचारधारा वाले दलों में काँग्रेस और संगठन काँग्रेस को लिया जा सकता है। दोनों काँग्रेस दलों को वैचारिक दृष्टि से तटस्थ दल कहा जा सकता है। काँग्रेस एक ऐसा

दल है जिसमें अनेक विचारधारा और हितों के व्यक्ति सम्मिलित हो सकते हैं। इसे 'दल' के बजाय एक सार्वजनिक मंच (प्लेटफार्म) कहा जा सकता है। विचारधारा में विश्वास करने वाले राष्ट्रीय दलों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है-दक्षिणपंथी और वामपंथी। स्वतंत्र पार्टी, जनसंघ, भारतीय लोकदल, भारतीय जनता पार्टी, लोकदल आदि को दक्षिणपंथी विचारधारा वाले दल कहा जा सकता है। वामपंथी दल भी दो प्रकार के हैं- उदार और उग्र वामपंथी दल। उदार दलों में सभी समाजवादी दलों को लिया जा सकता है तथा उग्र वामपंथी दलों में सभी प्रकार के साम्यवादी दलों को स्थान दिया जा सकता है।

2. क्षेत्रीय अथवा राज्य स्तरीय दल जैसे तमिलनाडु में अन्ना डी.एम.के, पंजाब में परिषद आदि । ये वे दल हैं जिनका प्रभाव राज्य की सीमा तक ही है। अकाली दल, आंध में तेलगू देशम, असम में गण संग्राम

3. स्थानीय किन्तु जातीय साम्प्रदायिक दल कतिपय दल विशेष जाति या सम्प्रदाय तक ही सीमित हैं। केरल की मुस्लिम लीग, पंजाब का अकाली दल तथा बिहार की झारखंड पार्टी ऐसे ही दल है।

4. तदर्थ दल भारत में ऐसे भी दल हैं जो बनते और बिगड़ते रहते हैं। इन्हें छोटे-छोटे गुट कहा जा सकता है। ऐसे दलों में केरल काँग्रेस, बंगाल काँग्रेस, हरियाणा काँग्रेस, जनता पार्टी, रामराज्य परिषद आदि को सम्मिलित किया जा सकता है।

16.5 प्रमुख राष्ट्रीय राजनीतिक दल और उनके कार्यक्रम (Major National Parties and their Programme)

1 अक्टूबर, 2010 से निम्नांकित 6 दलों को राष्ट्रीय दल के रूप में मान्यता प्राप्त है:

1. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस
2. भारतीय जनता पार्टी
3. भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी
4. भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी)
5. राष्ट्रीय कांग्रेस पार्टी
6. बहुजन समाज पार्टी

कांग्रेस पार्टी

कांग्रेस की स्थापना सन् 1885 में हुई। 1907 तक कांग्रेस का लक्ष्य विदेशी शासन पर दबाव डालना मात्र था। सन् 1907 से 1919 तक कांग्रेस उदारवादियों और उग्रवादियों में विभक्त रही। सन् 1920 से 1947 तक कांग्रेस का नेतृत्व महात्मा गाँधी ने किया और देश को स्वाधीनता प्राप्त हुई। स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरान्त कांग्रेस एक राजनीतिक दल में परिवर्तित हो गई तथा केन्द्र और राज्यों के निर्वाचन में प्रचण्ड बहुमत प्राप्त कर सत्ता का उपयोग करने लगी। सन् 1967 के आम चुनाव में कांग्रेस की स्थिति दुर्बल हुई। सन् 1969 में कांग्रेस दो भागों में विभक्त हो गयी तथा 1971 एवं 1972 के निर्वाचनों में कांग्रेस को पुनः प्रचण्ड विजय प्राप्त हुई।

कांग्रेस किसका प्रतिनिधित्व करती है? इस प्रश्न का जवाब 15 सितम्बर, 1931 में ही महात्मा गाँधी ने लंदन में 'फेडरल स्ट्रक्चर कमेटी' में भाषण के दौरान दिया था, "कांग्रेस मूलतः भारत में 7 लाख गाँवों में बसे मूक, अधभूखें करोड़ों लोगों का प्रतिनिधित्व करती है- चाहे वे तथाकथित ब्रिटिश भारत या भारतीय भारत के हों। कांग्रेस यह मानती है कि उन्हीं हितों की सुरक्षा की जानी चाहिए जो इन करोड़ों मूक लोगों के हितों का साधन करते हैं।" उन ऐतिहासिक दिनों से लेकर आज तक कांग्रेस निरंतर मूक करोड़ों इंसानों का प्रतिनिधित्व करती रही है। जब भी एक तरफ करोड़ों मूक लोगों तथा राष्ट्रीय हितों और दूसरी ओर कुछ वर्गीय हितों में संघर्ष छिड़ा, कांग्रेस अपनी अधिकांश जनता के हितों के साथ दृढ़ प्रतिज्ञ रही ।

संगठन कांग्रेस की सदस्यता दो प्रकार की है- प्रारम्भिक और सक्रिय। कोई भी ऐसा व्यक्ति जिसकी आयु 18 वर्ष अथवा अधिक हो कांग्रेस का सदस्य बन सकता है। सदस्य बनने के लिए दल के उद्देश्यों में लिखित विश्वास प्रकट करना पड़ता है। प्रारम्भिक और सक्रिय सदस्यों के चंदे तथा अधिकारों में अंतर है। संगठन की दृष्टि से ग्राम या मोहल्ला कांग्रेस समिति संगठन की आधारभूत इकाई है। ग्राम और मोहल्ला कांग्रेस समितियों के ऊपर तहसील समितियाँ होती हैं। इसके ऊपर जिला समितियाँ और प्रान्तीय समितियाँ होती हैं। संगठन की दृष्टि से सम्पूर्ण देश 28 प्रदेशों में विभक्त है। प्रान्तीय कांग्रेस समितियों के ऊपर कांग्रेस का राष्ट्रीय या अखिल भारतीय संगठन होता है जो एक अध्यक्ष, एक कार्यकारिणी समिति, एक अखिल भारतीय कांग्रेस समिति और कांग्रेस के खुले वार्षिक अधिवेशन से मिलकर बनता है। कांग्रेस ने विधान के एक नये संशोधन द्वारा अध्यक्ष की अवधि तीन वर्ष कर दी है। कांग्रेस कार्यकारिणी समिति में अध्यक्ष के अतिरिक्त 21 सदस्य होते हैं। कार्यकारिणी समिति के 11 सदस्यों की नियुक्ति कांग्रेसाध्यक्ष, अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के सदस्यों में से करताहै। कार्यकारिणी समिति में ही कांग्रेस की सर्वोच्च शक्ति निहित है। अखिल भारतीय कांग्रेस समिति में

तीन प्रकार के सदस्य होते हैं- निर्वाचित, पदेन और सम्बद्ध संस्थाओं के प्रतिनिधि। कांग्रेस के संसदीय कार्यों के नियंत्रण और समन्वय के लिए कांग्रेस कार्यकारिणी समिति एक संसदीय बोर्ड की स्थापना करती है जिसमें कांग्रेसाध्यक्ष और पाँच अन्य सदस्य होते हैं।

कांग्रेस संगठन के परिप्रेक्ष्य में 'हाईकमान' शब्द अत्यधिक प्रचलित हो गया है। यह हाईकमान क्या है? यथार्थ में 'हाईकमान' शब्द का प्रयोग कांग्रेस दल की सर्वोच्च निर्णय और आदेश देने वाली एक लघु संस्था या गुट के सम्बन्ध में किया जाता है। इसमें वे ही व्यक्ति सम्मिलित रहते हैं जो दल में सर्वोच्च स्थान रखते हैं। राजनीतिक सत्ता संरचना में हाईकमान एक अदृश्य सत्ता और भावनात्मक कल्पना ही है। उसकी विशाल शक्तियों का प्रयोग कभी कांग्रेस कार्यसमिति करती है तो कभी कांग्रेस का संसदीय बोर्ड। स्वाधीनता प्राप्ति से पूर्व महात्मा गाँधी के ही हाथों में यह सत्ता केन्द्रित हो गयी। सन् 1939 में जब गाँधी जी की इच्छा के विरुद्ध कांग्रेस महासमिति ने सुभाष बाबू को कांग्रेस का अध्यक्ष चुना, तब गाँधी जी से प्रभावित कांग्रेस हाईकमान ने सुभाष से सहयोग नहीं किया और उन्हें त्याग-पत्र देना पड़ा। गाँधी जी के बाद नेहरू और पटेल ने सामूहिक रूप से हाईकमान की सत्ता का क्रियान्वयन किया। पटेल की मृत्यु के पश्चात् नेहरू जी भारत के एकमात्र हाईकमान थे। उनका विरोध करने पर आचार्य कृपलानी और पुरुषोत्तम दास टण्डन जैसे दलीय अध्यक्षों को भी त्याग-पत्र देना पड़ा। पण्डितजी के महाप्रयाण के पश्चात् हाईकमान की इच्छा की अभिव्यक्ति सामूहिक नेतृत्व में हुई। सिण्डिकेट ने निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित किया। कांग्रेस के विभाजन के बाद प्रधानमंत्री हाईकमान की शक्तियों का प्रतीक और प्रयोगकर्ता बन गया। कांग्रेस के विभाजन का मूल कारण यही था कि क्या प्रधानमंत्री सर्वोपरि है या कांग्रेस संसदीय बोर्ड ? हाईकमान की सत्ता वैयक्तिक है या सामूहिक ? कांग्रेस के विद्यमान ढाँचे में न केवल कांग्रेस अध्यक्ष रस्मी प्रधान मात्र है बल्कि संसदीय बोर्ड और कार्यसमिति भी रबर की मोहर बन गयी तथा सम्पूर्ण शक्ति का केन्द्रीयकरण हाईकमान में हो गया। एक समय श्रीमती इन्दिरा गाँधी और राजीव गाँधी न केवल कांग्रेस (इ) के अध्यक्ष ही थे अपितु 'हाईकमान' भी थे। आजकल श्रीमती सोनिया गांधी हाईकमान हैं।

सत्ता कांग्रेस या इन्दिरा कांग्रेस

कांग्रेस के विघटन के बाद दिसम्बर 1969 के अंत में सत्ता कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन बम्बई में जगजीवनराम के सभापतित्व में हुआ। सत्ता कांग्रेस के द्वारा सदस्यता और संगठन के सम्बन्ध में 1968 तक कांग्रेस में जो स्थिति थी, उसे बनाये रखा गया। सम्मेलन में पारित प्रस्तावों में सत्ता कांग्रेस का 1968 तक की राष्ट्रीय कांग्रेस और

अपने ही साथ उदय हुई संगठन कांग्रेस की तुलना में अधिक समाजवादी रुझान स्पष्ट हुआ। यही प्रवृत्ति 24 जनवरी, 1971 को जारी किये गये चुनाव घोषणा पत्र में देखी गयी, जिसकी कुछ प्रमुख बातें इस प्रकार थीं:

(i) कांग्रेस का विचार निजी सम्पत्ति को समाप्त करना नहीं, वरन् उसको मर्यादित करना और सम्पत्ति के स्वामित्व को विकेन्द्रित करना है।

(ii) भारत की अधिकांश गरीबी भूमिहीन और छोटे किसानों की है। अतः देश की आर्थिक स्थिति में सुधार के लिए कार्यक्रम गांवों से प्रारम्भ होगा। कृषि के विकास हेतु आधुनिक वैज्ञानिक तरीकों का प्रयोग और प्रचलन किया जायेगा तथा यह चेष्टा होगी की इसका लाभ छोटे तथा मध्यम किसानों और भूमिहीन कृषकों को प्राप्त हो सके।

(iii) औद्योगिक विकास में सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों की प्रमुख भूमिका होगी। इस सम्बन्ध में कांग्रेस ने आम बीमे के राष्ट्रीयकरण, आयात-निर्यात व्यापार में सरकार के अधिकाधिक भाग लेने, खाद्य-निगम की कार्यवाहियों के विस्तार और ऐसे उद्योगों में जहाँ जनता का धन लगा है, सरकार की बढ़ती हुई भूमिका का प्रस्ताव किया। निजी क्षेत्र की कार्यप्रणाली ऐसी होनी चाहिए जो देश को समाजवाद की ओर ले जाने में सहायक हो सके। घोषणा-पत्र में रोजगार कार्यक्रमों को प्रभावी ढंग से चलाने पर भी बल दिया गया।

iv) आय नीति के साथ वास्तविक वेतन और मूल्य नीति का अभिन्न सम्बन्ध है। सत्ता कांग्रेस इसके लिए सुसंगठित नीति बनायेगी और कार्यान्वित करेगी।

(v) घोषणा-पत्र में शिक्षा और बाल-कल्याण (विशेषतया पिछड़े वर्गों) को भी मान्यता प्रदान की गई।

(vi) घोषणा पत्र में धर्मनिर्पेक्षता और अल्पसंख्यकों के अधिकारों एवं हितों (विशेषतया शैक्षणिक और भाषायी) की रक्षा पर बल दिया गया और उर्दू को भी उसका उपयुक्त स्थान दिलाने की बात कही गई। सेवाओं की भर्ती में अल्पसंख्यकों के साथ कोई भेदभाव नहीं किया जायेगा।

(vii) विज्ञान और तकनीक के क्षेत्र में एक राष्ट्रीय वैज्ञानिक और तकनीकी योजना तैयार की जायेगी और उसे आर्थिक योजना के साथ संगठित किया जायेगा।

(viii) कांग्रेस निम्न ओर मध्यम वर्ग की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर बड़े पैमाने का आवास कार्यक्रम हाथ में लेगी।

(ix) विदेशी नीति के क्षेत्र में कांग्रेस गुट निरपेक्षता तथा सैनिक गठबंधनों से अलग रहने की नेहरू नीति का अनुसरण करती रहेगी और पड़ोसी देशों के साथ मैत्री संबंध स्थापित

करने का विशेष प्रयास किया जायेगा किन्तु इसके साथ ही देश की प्रतिरक्षा को सुदृढ़ बनाने का प्रयास किया जायेगा।

'गरीबी हटाओ' कांग्रेस का प्रमुख नारा था और इससे सम्बन्धित घोषणा-पत्र का प्रेरक अंश, जिसने सत्ता कांग्रेस को लोकसभा को दो-तिहाई से अधिक स्थान प्राप्त करने में सहायता की।

1971 और 1972 के चुनावों में अल्पसंख्यकों, पिछड़े हुए वर्गों और भारत के जनसाधारण के द्वारा कांग्रेस को बहुत अधिक समर्थन प्रदान किया गया और सत्ता कांग्रेस में श्रीमती गांधी को निर्विवाद नेतृत्व की स्थिति प्राप्त हो गयी।

कांग्रेस के विभाजन के समय यह आशा की गयी थी कि सत्ता कांग्रेस एक स्पष्ट नीति और विचारधारा वाले गतिशील दल के रूप में कार्य करेगी। विभाजन के पूर्व ही श्रीमती गाँधी 14 प्रमुख बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर चुकी थीं और 1971-72 के वर्षों में सत्ता कांग्रेस के द्वारा राजाओं के प्रिवीपर्स की समाप्ति और संवैधानिक संशोधन के आधार पर सम्पत्ति के अधिकार को सीमित करने आदि कदम उठाये गये, लेकिन सत्ता कांग्रेस इस दिशा में और आगे नहीं बढ़ सकी ।

पामर लिखते हैं कि इन्दिरा काल में कांग्रेस की नीति 'मध्य से बायें' (Left of Centre) रही है और दिसम्बर, 1975 के 'कामागातामारू नगर अधिवेशन' में श्रीमती गाँधी ने स्वयं कहा कि हमारी स्थिति 'मध्यमवर्गीय वामपंथी' (Left of the Centre) की है।

1977 के लोकसभा चुनाव और कांग्रेस का चुनाव घोषणा-पत्र

मार्च, 1977 में लोकसभा चुनाव के संदर्भ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के द्वारा 8 फरवरी, 1977 को अपना चुनाव घोषणा-पत्र जारी किया गया। घोषणा-पत्र में कांग्रेस का आदर्श अग्र प्रकार घोषित किया गया:

'गरीबी खत्म हो, विषमताएँ कम हों और अन्याय का अंत हो। कांग्रेस एक ऐसी पार्टी है, जिसमें गतिशीलता है, जिसकी अपनी नीति है जिसका अपना कार्यक्रम है, जिसका अपना एक नेतृत्व है, जिसकी अपनी उपलब्धियाँ हैं और 91 वर्षों से भारतवासियों की निरंतर और समर्पित सेवा करती रही है' अंत में कहा गया है 'कांग्रेस ही जनता है, कांग्रेस को वोट दें।'

घोषणा पत्र में 12 मुद्दे गिनाते हुए जनता से अपील की गयी कि वे दल के उम्मीदवारों को अत्यधिक बहुमत से विजयी बनायें, जिससे इन पर अमल किया जा सके। ये हैं:-

(1) सर्वधर्म समभाव के आदर्श को बनाये रख सकें, अल्पसंख्यकों के हितों को और प्रत्येक जाति का अपने विश्वास के अनुसार अपना जीवन जीने के अधिकार को सुरक्षित रख सकें।

(2) लोकतंत्र को सुदृढ़ और सुरक्षित बना सकें और सभी प्रकार की हिंसा और अव्यवस्था समाप्त

कर सकें, ताकि जनता शान्ति और मेल-मिलाप से रह सके।

(3) गरीबी, अज्ञानता, रोग और असमानता से लड़ सकें और एक आधुनिक, समृद्ध, शक्तिशाली और समाजवादी समाज का निर्माण कर सकें।

(4) एक इन्सान और दूसरे इंसान के बीच भेदभावों को दूर कर सकें और शोषण के सभी रूपों को मिटा सकें।

(5) कृषि और सम्बन्धित कार्यों का विकास और आधुनिकीकरण कर सकें, एक सुगठित ग्रामीण विकास कार्यक्रम को तेजी से क्रियान्वित कर सकें और सार्थक ग्रामीण पुनरुत्थान में समर्थ हो सके।

(6) छोटे और अति छोटे किसान, खेतिहर मजदूरों, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और पिछड़े वर्गों के हितों की अभिवृद्धि कर सकें।

(7) देश के औद्योगिक आधार को मजबूत बनाकर नाना रूप प्रदान कर सकें, योजना की प्राथमिकता के अधीन रहते हुए और आर्थिक सम्पदा तथा शक्ति का केन्द्रीयकरण होने दिये बिना निजी क्षेत्र को अपनी उचित भूमिका निभाने का अवसर प्राप्त कर सकें।
(8) उत्पादनशील रोजगार के अवसरों में विस्तार लाने के लिए एक बड़ा भारी कार्यक्रम प्रारम्भ कर सकें।

(9) श्रमिक वर्ग के हितों की सुरक्षा कर सकें और उन्हें प्रबंध तथा अपनी मेहनत के फल के उपयोग में हिस्सा दिला सकें।

(10) मूल्यवृद्धि पर रोक लगा सकें और जीवनोपयोगी वस्तुएँ उचित मूल्यों पर जनसाधारण को उपलब्ध करा सकें।

(11) सब बच्चों को प्राथमिक शिक्षा दी जा सके और माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा के दायरे में वृद्धि की जा सके।

(12) स्वास्थ्य और चिकित्सा सुविधाओं और जनसाधारण के कल्याण कार्यक्रम का विस्तार कर सकें।

घोषणा-पत्र में दल की पिछली उपलब्धियों और भावी कार्यक्रमों का उल्लेख किया गया तथा जनता के सभी वर्गों की सेवा का व्रत दोहराया गया।

चुनावों के बाद दल की स्थिति और कांग्रेस के पुनः विभाजन की पृष्ठभूमि घोषणा-पत्र का यह दावा कि 'कांग्रेस ही जनता है', लोकसभा चुनावों में जनता के द्वारा अस्वीकार कर दिया गया। उत्तर भारत में तो कांग्रेस को पूर्ण पराजय की स्थिति प्राप्त हुई और इन चुनाव परिणामों के सामने आते ही कांग्रेस में आंतरिक द्वन्द्व प्रारम्भ हो गया। आरोप-प्रत्यारोप की इस श्रृंखला में अप्रैल, 1977 के प्रारम्भिक दिनों में ही श्री बरुआ के स्थान पर सरदार स्वर्णसिह को सर्वसम्मति से अन्तरिम अध्यक्ष बनाया गया। 5 और 6 मई, 1977 को दिल्ली में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति का अधिवेशन आयोजित किया गया और इस अधिवेशन में 27 वर्ष बाद कांग्रेस अध्यक्ष पद के लिए संघर्ष हुआ। इस संघर्ष में श्रीमती गाँधी के समर्थन से श्री ब्रम्हानन्द रेड्डी अध्यक्ष पद पर निर्वाचित हुए। श्रीमती गाँधी यह सोचती थीं कि रेड्डी अध्यक्ष के रूप में श्रीमती गाँधी के निर्देशों का पालन करेंगे। लेकिन अब व्यक्तिगत नेतृत्व की स्थिति थी और श्री रेड्डी इसके लिए तैयार नहीं थे। श्रीमती गाँधी ने पहले तो सत्ता कांग्रेस में रहते हुए ही उस पर अपना पूर्ण नियंत्रण स्थापित करने की चेष्टा की। इस हेतु रेड्डी के स्थान पर अपनी पसन्द के व्यक्ति को अध्यक्ष बनाने का भी प्रयत्न किया गया। लेकिन जब इसमें सफलता नहीं मिली, तब श्रीमती गांधी ने कांग्रेस के पुनः विभाजन का मार्ग अपनाकर एक अलग राजनीतिक दल खड़ा करने की बात सोची।

इन्दिरा कांग्रेस की स्थापना श्रीमती गाँधी ने अपने समर्थकों का दिल्ली में एक सम्मेलन 1 और 2 जनवरी, 1978 को आयोजित किया। इस सम्मलेन में एक अलग राजनीतिक दल की स्थापना की गयी, जिसे आगे चलकर 'इन्दिरा काँग्रेस' का नाम दिया गया। श्रीमती गाँधी न केवल इस दल की अध्यक्षा थीं वरन् जैसा कि दल के नाम से ही स्पष्ट है, वे इसकी सर्वोच्च और लगभग एकमात्र नेता थीं।

फरवरी, 1978 में दक्षिणी राज्यों में विधानसभाओं के चुनाव हुए वे बहुत अधिक सीमा तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और इन्दिरा कांग्रेस के बीच शक्ति परीक्षण के समान थे और इसमें संदेह नहीं कि इस शक्ति के परीक्षण में इंदिरा कांग्रेस विजयी रही। इन्दिरा कांग्रेस की विजय का एक बहुत बड़ा कारण यह रहा कि दलित वर्गों और अल्पसंख्यक वर्गों के बहुत बड़े भाग ने इस विचार को अपनाया कि उसका कल्याण इन्दिरा कांग्रेस का समर्थन प्राप्त करने में ही है।

अपनी स्थापना के समय इन्दिरा कांग्रेस द्वारा विधिवत् रूप से अपनी नीति और विचारधारा का प्रतिपादन किया गया। दल की सर्वोच्च नेता के अनुसार, दल धर्म

निरपेक्षता, लोकतंत्र और समाजवाद में विश्वास करता है। इन्दिरा कांग्रेस द्वारा जनता पार्टी शासन का पूर्ण विरोध करने की नीति अपनायी गयी। इस दल ने जाँच आयोगों और विशेष अदालतों की स्थापना को राजनीतिक बदला लेने की कार्यवाही करार देते हुए इनका पूर्ण विरोध करने की नीति अपनायी। 1979 के मध्य तक दल का सर्वप्रमुख कार्यक्रम था, 'जब-जब शासन द्वारा श्रीमती गाँधी या संजय गाँधी को गिरफ्तार किया जाये, तो इस गिरफ्तारी का राष्ट्रव्यापी विरोध।' इन्दिरा कांग्रेस का एक ही लक्ष्य था जनता पार्टी सरकार का पतन और लोकसभा भंग करवाकर नये चुनाव की स्थिति उत्पन्न करना तथा इसमें उसे सफलता मिली।

जनवरी, 1980 के लोकसभा चुनाव और इन्दिरा कांग्रेस की नीति तथा कार्यक्रम - जनवरी,1980 के लोकसभा चुनावों की विशेषता यह थी कि सत्ता प्राप्त करने की आशा रखने वाले तीन दलों या दलीय समूहों, इन्दिरा कांग्रेस, जनता पार्टी और लोकदल तथा उसके सहयोगी दलों के द्वारा चुनाव के बाद होने वाले अपने संसदीय नेताओं की पूर्व घोषणा कर दी गयी थी। इस प्रकार राजनीतिक दलों के द्वारा ये चुनाव अपनी नीति और कार्यक्रम के आधार पर नहीं वरन् अपने नेताओं के व्यक्तित्व के आधार पर लड़े गये थे।

घोषणा-पत्र में 20-सूत्री कार्यक्रम की कीर्ति का बखान करते हुए दावा किया गया है कि वह "गरीबों, भूमिहीनों, कारीगरों, हाथकरघों, बुनकरों तथा समाज के अन्य कमजोर और दबे हुए वर्गों के लिए वरदान सिद्ध हुआ था।" घोषणा-पत्र में विश्वास दिलाया गया कि इन्दिरा कांग्रेस के सत्ता में आने के बाद इसे फिर चालू किया जाएगा। आर्थिक-सामाजिक कार्यक्रम के रूप में इसके अतिरिक्त भी कुछ घोषणाएँ की गयीं; जैसे सिचाई सुविधाओं से रहित 5 एकड़ तक की भूमि को लगान मुक्त करने, कमजोर वर्गों को ऋण सुविधा दिलाने हेतु व्यापक कार्यक्रम अपनाने; भूमिहीनों को उन्हें मिली लेकिन जनता शासन के दौरान छीन ली गयी भूमि लौटाने तथा देश भर में भूमि के सरकारी दस्तावेजों में ठीक रिकार्ड दर्ज किये जाने के वचन दिये गये। हर परिवार से एक वयस्क व्यक्ति को रोजगार उपलब्ध करने और अल्पसंख्यकों के संरक्षण हेतु सभी वर्गों की एक शान्ति सेना तैयार कराने की योजना का वचन दिया गया। घोषणा-पत्र के मुस्लिम सम्प्रदाय से सम्बन्धित अंशों में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय को उसका मुस्लिम चरित्र लौटाने, उर्दू को उसकी समुचित जगह दिलाने तथा अल्पसंख्यक समुदायों को शिक्षा तथा नौकरियों में आनुपातिक स्थान दिलाने की बात कही गयी।

इन्दिरा कांग्रेस को लोकसभा में 351 स्थान प्राप्त हुए। इन्दिरा कांग्रेस की विजय श्रीमती गाँधी की व्यक्तिगत जीत तो थी ही, पर साथ ही उससे यह भी स्पष्ट है कि देश की जनता ने एक 'स्थिर सरकार' (Stable Government) के पक्ष में मतदान किया।

जुलाई 1981 में मुख्य चुनाव आयुक्त ने कांग्रेस (आई) को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस होने की मान्यता दे दी। इसलिए अब कांग्रेस (आई) ही असली कांग्रेस मानी गयी, कांग्रेस (शरद पवार) नहीं।

दिसम्बर 1984 के चुनाव और कांग्रेस

दिसम्बर 1984 के चुनावों हेतु जारी अपने चुनाव घोषणा पत्र में कांग्रेस ने आश्वासन दिया कि अनिवार्य जमा योजना खत्म कर दी जायगी, फसल बीमा योजना को व्यापक बनाया जायेगा, धार्मिक स्थानों का दुरुपयोग रोकने के लिए कड़ी कार्यवाही की जायेगी, भ्रष्टाचार, गरीबी, बेरोजगारी हटाने के प्रयास जारी रहेंगे, शिक्षा व्यवस्था में सार्थक परिवर्तन किये जायेंगे और जहाँ सम्भव हो, योग्यता को दृष्टिगत रखते हुए सरकारी नौकरी के लिए डिग्री योग्यता की अनिवार्यता को हटा दिया जायेगा।

दिसम्बर 1984 में कांग्रेस (इ) ने कुल 485 स्थानों पर चुनाव लड़ा और उसे 401 स्थान लोकसभा में प्राप्त हुए। उसे कुल 49.6 प्रतिशत मत प्राप्त हुए।

नवम्बर 1989 के चुनाव और कांग्रेस (इ)

नवम्बर 1989 के चुनाव घोषणा-पत्र में कांग्रेस (इ) ने कहा कि (1) पंचायती राज और नगर पालिका विधेयकों को फिर संसद में पेश करेगी; (2) सहकारिता आन्दोलन को मजबूत करेगी, (3) जल्दी और कम खर्च पर न्याय दिलाने के लिए व्यापक न्यायिक सुधार करेगी; (4) महिलाओं की सामाजिक-आर्थिक प्रगति के लिए इन्दिरा महिला योजना चलायेगी; (5) प्रशासन को संवेदनशील और जनकेन्द्रीय बनाया जायेगा।

1989 के लोकसभा चुनावों में कांग्रेस (इ) ने 504 स्थानों पर चुनाव लड़ा और उसे 193 सीटें प्राप्त हुई। दक्षिण राज्यों में इस बार ज्यादा संख्या में कांग्रेस (इ) सांसद जीते। लोकसभा में सबसे बड़ा दल होने के बावजूद भी उसने सरकार बनाने का दावा पेश नहीं किया।

जून 1991 के चुनाव और कांग्रेस (इ)

अपने घोषणा पत्र में कांग्रेस (इ) ने केन्द्र में स्थिर सरकार का वायदा किया। कांग्रेस अध्यक्ष राजीव गाँधी ने पार्टी की 52 सूची कार्य योजना की घोषणा की। घोषणा पत्र में इंका ने वायदा किया कि आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं की मूल्य वृद्धि को रोका जाएगा, सत्ता के विकेन्द्रीयकरण के लिए पंचायती राज और नगरपालिकाओं को स्वायत्तता देने सम्बन्धी विधेयकों को फिर से संसद् में प्रस्तुत किया जायेगा। अयोध्या में मस्जिद गिराये बिना मंदिर निर्माण किया जा सकता है; सभी धर्मस्थलों को 15 अगस्त 1947 की स्थिति बनाए रखने के लिए कानून बनाया जाएगा। घोषणा पत्र में सामाजिक

और शैक्षणिक रूप से पिछड़े वर्गों, जिनमें अल्पसंख्यक पिछड़ा वर्ग भी शामिल है, को नौकरियों में आरक्षण देने का वचन दिया गया। घोषणा पत्र में पिछले 15 माह के शासन को 'अंधकार युग' की संज्ञा देते हुए आरोप लगाया गया कि मोर्चा सरकार ने धर्म और जाति के आधार पर वैमनस्य बढ़ाया है। पार्टी ने कहा कि वह पंजाब, कश्मीर और असम के बारे में दबाव में कोई समझौता नहीं करेगी, जो लोग हिंसा का रास्ता छोड़ देंगे, उन्हीं से बातचीत की जायेगी ।

10 वीं लोकसभा चुनावों में इंका 225 सीटों के साथ सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभरकर आई। पार्टी ने श्री पी.वी. नरसिम्हाराव को सर्वसम्मति से अपना नेता चुन लिया। 21 जून 1991 से केन्द्र में कांग्रेस इं सरकार पदासीन हुई।

अप्रैल-मई 1996 के चुनाव और कांग्रेस (इ)

11 वीं लोक सभा के चुनावों में जनता ने आमतौर से सत्तारूढ़ कांग्रेस इं पार्टी को नकार दिया। केन्द्र में नरसिंह राव सरकार का पतन हुआ और लोकसभा में उसके निर्वाचित सदस्यों की संख्या मात्र 28.8 प्रतिशत वोट के साथ 140 रह गई।

फरवरी-मार्च 1998 के चुनाव और कांग्रेस

फरवरी 1998 में संपन्न 12 वीं लोक सभा चुनावों में कांग्रेस को 141 सीटें प्राप्त हुई। अरूणाचल प्रदेश, मणिपुर, पंजाब, सिक्किम तमिलनाडु, त्रिपुरा, उत्तर प्रदेश जैसे राज्यों में कांग्रेस को एक भी सीट नहीं मिली।

सितम्बर- अक्टूबर 1999 के चुनाव और कांग्रेस

सितम्बर 1999 में सम्पन्न 13 वीं लोकसभा चुनावों में कांग्रेस ने 453 प्रत्याशी खड़े किए और उसके मात्र 114 प्रत्याशी विजयी हुए। दल को 28.42% मत प्राप्त हुए।

14वीं लोकसभा के चुनाव (अप्रैल-मई 2004) और कांग्रेस :

2004 के लोक सभा चुनाव कांग्रेस ने श्रीमती सोनिया गाँधी के नेतृत्व में लड़े और 114 से अपनी सीटें 145 करके चुनावी चमत्कार किया। कुल मिलाकर उसे 26.29% मत प्राप्त हुये ।15वीं लोकसभा के चुनाव (अप्रैल-मई 2009) और कांग्रेस :

2009 के चुनावों कांग्रेस को 29.67 प्रतिशत मतों के साथ अकेले ही 206 सीटों पर जीत हासिल हुई।

भारतीय जनता पार्टी (भारतीय जनता पार्टी)

जनता पार्टी की केन्द्रीय कार्य समिति द्वारा दोहरी सदस्यता अस्वीकार कर दिये जाने पर श्री लालकृष्ण आडवाणी द्वारा दिल्ली में 6 अप्रैल, 1980 को जनता पार्टी से

संबंधित सदस्यों का एक दो दिवसीय सम्मेलन बुलाया गया जो दोहरी सदस्यता के प्रश्न को एक सही मुद्दा नहीं मानते थे। इस सम्मेलन में लगभग 4,000 प्रतिनिधि शामिल हुए। सम्मेलन में भूतपूर्व जनसंघ दल को पुनर्जीवित करने के स्थान पर एक नये दल 'भारतीय जनता पार्टी' की स्थापना की गयी। श्री अटल बिहारी वाजपेयी को इस नवीन दल का अध्यक्ष और श्री लालकृष्ण आडवाणी, सिकन्दर बख्त तथा मुरली मनोहर जोशी को दल का महासचिव नियुक्त किया गया। भूतपूर्व जनसंघ दल से सम्बद्ध जनता पार्टी सदस्य तो इसमें शामिल हुए ही इसके साथ ही सिकन्दर बख्त, राम जेठमलानी, शान्तिभूषण और के. एस. हेगड़े जैसे व्यक्ति जिनका जनसंघ या राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ से कोई सम्बन्ध नहीं रहा, भी इस पार्टी में शामिल हुए। पार्टी ने जयप्रकाश नारायण की सम्पूर्ण क्रान्ति तथा गाँधीवादी अर्थदृष्टि को अपना आदर्श बनाया और 6 मई, 1980 को जारी किये गये अपने आधारभूत नीति वक्तव्य में पार्टी को 5 निष्ठाओं से प्रतिबद्ध किया । ये निष्ठाएँ हैं: राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय समन्वय, लोकतन्त्र, प्रभावकारी धर्म निरपेक्षता, गाँधीवादी समाजवाद और सिद्धान्तों पर आधारित साफ-सुथरी राजनीति ।

नीति वक्तव्य में दोहरी सदस्यता के सम्बन्ध में कहा गया कि जो सामाजिक व सांस्कृतिक संगठन राजनीतिक गतिविधि में संलग्न नहीं है, उनके सदस्यों का भारतीय जनता पार्टी स्वागत करती है। जब तक वे पार्टी की विचारधारा और कार्यक्रम में आस्था रखेंगे, उन संगठनों की सदस्यता को पार्टी की सदस्यता के प्रतिकूल नहीं समझा जायेगा। नीति वक्तव्य में देश की मूलभूत समस्याओं के सम्बन्ध में राष्ट्रीय सहमति को अपनाने की आवश्यकता पर बल दिया गया। पार्टी ने बड़े राज्यों के स्थान पर नियोजित विकास और कुशल प्रशासन की दृष्टि से छोटे राज्यों की स्थापना की आवश्यकता पर बल दिया, लेकिन साथ ही घोषणा की गयी कि इसे वह राजनीतिक गतिविधियों और चुनाव का मुद्दा नहीं बनायेगी ।

पार्टी का सामाजिक आधार और राजनीतिक उपलब्धि इसमें कोई सन्देह नहीं कि भाजपा में संघ परिवार और हिन्दुत्व से सहानुभूति रखने वाले लोगों का आधिक्य है। पार्टी को छोटे व्यापारियों, शहरी मध्यम वर्ग, युवकों तथा बुद्धिजीवियों का भी समर्थन प्राप्त है।

मई 1980 में 9 राज्यों की विधान सभाओं के लिए जो चुनाव हुए उनमें भारतीय जनता पार्टी को वैसी सफलता नहीं मिली जैसी कि अपेक्षित थी। फिर भी जनता पार्टी के शेष टुकड़ों की अपेक्षा उसे सर्वाधिक यानी 149 सीटें मिलीं।

लोकसभा के दिसम्बर 1984 के चुनावों के अवसर पर भाजपा ने अपने चुनाव घोषणा पत्र में वायदा किया कि वह कोई नया टैक्स नहीं लायेगी। आयकर की सीमा बढ़ाकर 30 हजार रुपये कर देगी, चुंगी और बिक्री कर को समाप्त कर देगी, देश की

अखण्डता और हर नागरिक की सुरक्षा का प्रबन्ध करेगी। आकाशवाणी और दूरदर्शन को पूर्ण स्वायत्तता देने का भी आश्वासन दिया गया। दल ने नैतिक प्रभुत्व को बहाल करने, धर्म निरपेक्षता की सकारात्मक विचारधारा को आगे बढ़ाने, व्यापक चुनाव सुधार करने कृषि और छोटे उद्योगों को उच्च प्राथमिकता देने का भी वायदा किया। भारतीय जनता पार्टी ने 221 स्थानों पर प्रत्याशी खड़े किये और मात्र 2 प्रत्याशी ही आठवीं लोकसभा के लिये चुने गये। उसे 7.68 प्रतिशत मत प्राप्त हुए। दल के अध्यक्ष श्री अटल बिहारी वाजपेयी भी पराजित हुए। जून 1987 के हरियाणा विधानसभा चुनावों में पार्टी ने शानदार सफलता हासिल की। हरियाणा की साझी सरकार में यह पार्टी शामिल हुई।

नवम्बर 1989 लोकसभा चुनावों के अवसर पर जारी चुनाव घोषणा-पत्र में भाजपा ने वायदा किया कि (1) वह देश की रक्षा व्यवस्था में कोई कमी नहीं रखेगी और परमाणु बम बनाने सहित सभी आधुनिक हथियार देश की सेना के लिए जुटाएगी; (2) पिछड़ी जातियों के लिए नौकरियों में आरक्षण की मण्डल आयोग की सिफारिशें लागू करेंगा (3) काम के अधिकार को मौलिक अधिकार बनाया जाएगा; (4) पंचायतों व अन्य स्थानीय निकायों को संवैधानिक दर्जा दिया जाएगा; (5) रक्षा सौदों की व्यापक जांच की जायेगी; (6) मूल्यों में स्थिरता लायी जायेगी; (7) आकाशवाणी और दूरदर्शन को स्वायत्तशासी निगम बनाया जायेगा; (8) सत्ता के विकेन्द्रीयकरण तथा आर्थिक प्रशासनिक सुविधा के लिए बड़े राज्यों का विभाजन किया जायेगा; (9) भ्रष्टाचार के आरोपों की जांच के लिए लोकपाल की नियुक्ति की जायेगी; (10) कश्मीर को विशेष दर्जा देने सम्बन्धी संविधान के अनुच्छेद 370 को समाप्त करने की मंशा प्रकट की; (11) अल्पसंख्यक आयोग के बजाय मानवाधिकार आयोग बनाया जाएगा; (12) मताधिकार के प्रयोग को अनिवार्य बनाने पुलिस के काम में राजनीतिक हस्तक्षेप को रोकने, पर्यावरण को दूषित होने से रोकने का वायदा किया गया।

भाजपा ने 226 सीटों के लिए चुनाव लड़ा और 86 प्रत्याशी विजयी हुए। भाजपा के समर्थन के बिना केन्द्र में किसी भी दल की सरकार का निर्माण असंभव था। भाजपा के समर्थन से ही वी.पी. सिह और राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार अस्तित्व में आई।

10 वीं लोकसभा चुनाव (1991) के अवसर पर भाजपा ने अपने चुनाव घोषणा-पत्र में हर हालत में अयोध्या में मस्जिद के स्थान पर मंदिर बनाने व मस्जिद को अन्यत्र स्थानान्तरित करने की बात कही। पिछड़ी जातियों के उत्थान के लिए, आर्थिक आधार पर आरक्षण करने, अर्थव्यवस्था को सरकारी नियंत्रण से मुक्त करने, कश्मीर के संबंध में अनुच्छेद 370 समाप्त करने और विदेश नीति की नए सिरे से समीक्षा करने का आश्वासन दिया। चुनावों में पार्टी को 119 सीटें तथा 20.31 प्रतिशत मत प्राप्त हुये। उत्तर

प्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान और हिमाचल प्रदेश में भाजपा सरकारें सत्तारूढ़ हुईं। भाजपा संसद में सबसे बड़ा विपक्षी दल और अटल बिहारी बाजपेयी विपक्ष के नेता बने ।

मई 1996 में आयोजित 11 वीं लोकसभा के चुनावों में भारतीय जनता पार्टी सबसे बड़े दल के रूप में उभर कर आई और लोकसभा में अकेले उसे 161 स्थान प्राप्त हुये। चूंकि भाजपा लोकसभा में सबसे बड़ा दल था अतः उसे सरकार बनाने का अवसर मिला तथा श्री अटल बिहारी वाजपेयी प्रधानमंत्री पद पर मनोनीत किये गये।

12 वीं लोकसभा के चुनाव और भाजपा

12 वीं लोकसभा के चुनावों में भाजपा ने 'स्थिर सरकार और योग्य प्रधानमंत्री' का नारा दिया। जहां 1996 में भाजपा को 161 सीटें प्राप्त हुई वहां फरवरी 1998 के चुनावों में उसे 180 सीटें प्राप्त हुई। श्री अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में भाजपा एक बड़ी शक्ति के रूप में उभरी और अपने सहयोगी दलों के साथ मिलकर वह एक सबल विकल्प के रूप में श्री वाजपेयी के नेतृत्व में गठबंधन सरकार बनाने में सफल हुई।

13 वीं लोकसभा के चुनाव और भाजपा

13 वीं लोकसभा के चुनावों में भाजपा ने पृथक से चुनाव घोषणा पत्र प्रकाशित नहीं किया और राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन के घोषणा पत्र के आधार पर ही चुनाव लड़ा। भाजपा ने 339 सीटों पर चुनाव लड़ा और 182 सीटों पर विजय हासिल की। उसे 23.70% प्रतिशत मत मिलें। श्री अटल बिहारी वाजपेयी पुनः प्रधानमंत्री पद पर आसीन हुए।

14 वीं लोकसभा के चुनाव और भाजपा अप्रैल-मई 2004 में सम्पत्र 14वीं लोकसभा के चुनावों में भाजपा अपनी अब तक की सर्वाधिक 182 सीटों से खिसक कर 138 पर पहुँची और उसे 22.16 प्रतिशत मत ही प्राप्त हुए।

15वीं लोकसभा के चुनाव और भाजपा

15वीं लोकसभा के चुनाव (अप्रैल 2009) में भारतीय जनता पार्टी को 19.29 प्रतिशत मतों के साथ 116 सीटें हासिल हुई।

निष्कर्ष : भाजपा ने अपने को नई सदी के लिए तैयार करने के लिए 28-30 दिसम्बर, 1999 को चेत्रई बैठक में चेन्नई घोषणा पत्र को स्वीकृति प्रदान की। घोषणा पत्र में राम जन्मभूमि सहित सभी विवादित मुद्दों को दरकिनार कर राष्ट्रीय जनतान्त्रिक गठबंधन के एजेण्डे को निष्ठापूर्वक लागू करने का संकल्प व्यक्त किया गया है।

बहुजन समाज पार्टी : बसपा (Bahujan Samaj Party: BSP)

बहुजन समाज पार्टी (बसपा) राष्ट्रीय पार्टियों में सबसे नई है। 14 अप्रैल, 1984 को बनी बहुजन समाज पार्टी दलितों के पुनरोद्धार की अभिव्यक्ति है। लोकतान्त्रिक व्यवस्था द्वारा प्रदत्त अवसरों और अन्य राष्ट्रीय पार्टियों द्वारा दलितों को सामाजिक न्याय दिला पाने में असफल रहने के कारणों से देश के कुछ भागों में इसका उदय धीरे-धीरे हो रहा है।

बहुजन समाज पार्टी का उद्‌गम अखिल भारतीय पिछड़ी जातियाँ (अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़ी जातियां) एवं अल्पसंख्यक समुदाय कर्मचारी महासंघ से हुआ जिसकी स्थापना 1978 में कांशीराम ने की थी। पूरे देश में सरकारी कर्मचारियों के बीच अपना ताना-बाना बुनने के बाद, विशेष कर उत्तरी राज्यों में उसने 1981 में एक और संगठन डी.एस. 4 (दलित, शोषित समाज संघर्ष समिति) चलाया। अन्त में 14 अप्रैल, 1984 को बहुजन समाज पार्टी की स्थापना हुई। उसका मानना था कि अनुसूचित जातियां, अनूसूचित जनजातियां, पिछड़ी जातियां और अल्पसंख्यक वर्ग देश की जनसंख्या का 85 प्रतिशत भाग है और यह संख्या 'बहुजन'बनता है, लेकिन ऊंची जातियों का अल्पमत देश पर राज कर रहा है। इसलिए बहुजन समाज पार्टी की पैनी और स्पष्ट विचारधारा यह है कि दलितों और पीड़ितों को एकजुट किया जाए क्योंकि इनके ज्वालामुखी रूपी विस्फोट को अधिक समय तक नहीं रोका जा सकता और इसे तो एक दिन फटना ही है। पार्टी का मुख्य उद्देश्य दलितों को उनके अधिकारों के विषय में शिक्षित करने वाले निष्ठावान कार्यकर्ताओं को तैयार करना है।

प्रारम्भ में बहुजन समाज पार्टी अन्य पार्टियों से अलग चलने वाली पार्टी थी जिसने घोषित किया था कि वह किसी अन्य पार्टी के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखेगी। इसका उद्देश्य दलितों में आर्थिक एवं सांस्कृतिक आन्दोलन प्रारम्भ करना था। बाद में इसकी रणनीति में कुछ परिवर्तन हुए और उसका उत्तर प्रदेश में भारतीय जनता पार्टी के साथ गठजोड़ और सत्ता में भागीदारी 1995, 1997 तथा 2002 में हुई और 1996 में कांग्रेस के साथ चुनाव पूर्व गठजोड़ भी हुआ। पार्टी ने समाजवादी पार्टी के साथ भी समझौता किया। बहुजन समाज पार्टी का रणनीति में परिवर्तन को स्पष्ट करते हुए समीक्षक कहते हैं कि यह पिछड़ी जातियों से आवश्यक समर्थन जुटा पाने में असमर्थ थी, क्योंकि पिछड़ी जातियों और दलितों में आपस में नहीं बनती थी। वास्तव में ग्रामीण भारत में पिछड़ी और दलितों के बीच सक्रिय विरोध ने पार्टी का आधार नहीं बढ़ने दिया। पिछड़े वर्ग जो हरित क्रान्ति और भूमि सुधार के बाद भूपति हो गए और वे दलित जिनमें से कई ग्रामीण भारत में भूमि हीन ही रहे हैं अपने-अपने हितों के कारण संघर्षरत रहते थे। दूसरी और, ऊंची

जातियों और दलितों के बीच सक्रिय विरोध अब उतना तीव्र नहीं रहा जितना पिछले दो तीन दशकों में भू-स्वामित्व के बदलते परिप्रेक्ष्य में पिछड़ों और दलितों के बीच था।

एक दशक से भी कम समय में बहुजन समाज पार्टी, कम से कम हिन्दी भाषी राज्यों में इस सीमा तक राजनीतिक शक्ति बन गई है कि यह कांग्रेस, भारतीय जनता पार्टी और जनता दल जैसी बड़ी पार्टियों के चुनावी भाग्य को प्रभावित करने लगी है। इसके पश्चात् बहुजन समाज पार्टी विशेषतः उत्तर प्रदेश, हरियाणा, राजस्थान, पंजाब और मध्यप्रदेश में निरन्तर लाभ की स्थिति में उभर रही है। पार्टी को अपने प्रयासों में अनेक गम्भीर रुकावटों का सामना करना पड़ रहा है। जबकि बहुजन समाज का दावा एक दलित नेतृत्व के दायरे में केवल ऊंची जातियों को छोड़कर बाकी सबको एकत्रित करने की इच्छा की ओर इंगित करता है, परन्तु इसकी विशेष अपील दलितों के प्रति रहती है जो भारत की कुल मत संख्या के 16 प्रतिशत से कुछ ही अधिक है। बहुजन समाज पार्टी का उत्तर भारत में सफलता के अतिरिक्त, देश के अन्य भागों में कोई विशेष समर्थन नही है। दक्षिण भारत में विशेषतः अन्य दलित संस्थाएं भी है जिन्होने अपना स्थान बना लिया है।

जब जनू 1995 में मायावती उत्तर प्रदेश की मुख्यमंत्री बनी तब तत्कालीन प्रधानमंत्री पी.वी. नरसिंहराव ने इस घटना को लोकतंत्र का चमत्कार बताया था। यह वह समय था जब कोई दलित महिला देश के सबसे ज्यादा जनसंख्या वाले और राजनीतिक रूप से संवेदनशील राज्य की मुख्यमंत्री बनीं, लेकिन कुछ लोगों ने राव के इस वक्तव्य का मजाक उड़ाया। वे अब चौथी बार उत्तर प्रदेश की मुख्यमंत्री बनीं हैं। वर्ष 1995 की मायावती और वर्ष 2007 की मायावती की तुलना कीजिए। इस बार वे अपने बल पर सत्ता में आई है और उन्हें किसी राजनीतिक दल के समर्थन की आवश्यकता नहीं है। उच्च वर्ग के प्रति घृणा भी गायब नजर आती है। दलित तो उनके साथ दृढ़ता से जुड़े ही हैं, ब्राह्मण, मुस्लिम और उच्च वर्ग की दूसरी जातियों ने भी उन्हें समर्थन दिया है। इससे बसपा को विधानसभा में बहुमत मिल गया है। वर्ष 1991 में भाजपा को 221 सीटें मिली थीं। इसके बाद से उत्तर प्रदेश में किसी भी दल को बहुमत नहीं मिला। अब मायावती बहुमत जुटाने में कामयाब हुई है, जो उनकी सोशल इन्जीनियरिंग का नतीजा है। लोकतंत्र का यह एक और चमत्कार है।

बसपा की जीत के काफी गहरे अर्थ हैं। दलित पार्टी के साथ उत्तर प्रदेश की अगड़ी जातियों के एक मंच पर आने से धर्मनिरपेक्ष राजनीति का नया स्वरूप निखर कर सामने आएगा। अभी तक सेकुलर वोट को कुछ दल अपनी बपौती मान कर चला करते थे। वे खुद को धर्मनिरपेक्षता का अलमबरदार बताया करते थे। वे मान कर चलते थे कि यह

वोट सिर्फ उनका है। इस तरह सम्बन्धित समुदाय के पास भी विकल्प सीमित हो गए थे। वे मानकर चलते थे मायावती की कामयाबी ने इस विकल्प को अब नया विस्तार प्रदान किया है।

मायावती की जीत का सबसे उजला पक्ष है उनका उदारता, समन्वय और मेलजोल की राजनीति करना। बसपा अभी तक टकराव की राजनीति की राह पर ही चलती आ रही थी। उसके राजनीतिक व्यवहार में एक तरह की आक्रामकता थी। उसके नारे और कार्यक्रम भी उसी तरह के थे। परन्तु अब बहुजन समाज पार्टी में बदलाव आ गया है। वह सभी जातियों को साथ लेकर चलने में विश्वास करने लगी है हालाँकि उसकी सहानुभूति दलितों के साथ ही है। सुश्री मायावती ने पूरी समझदारी से उत्तर प्रदेश की सवर्ण जातियों को अपने साथ लिया है और राजनीतिक मेलजोल, समन्वय और सद्भाव की नई इबारत दीवार पर लिख डाली है।

राजनीति सिर्फ आंकड़ों पर कभी नहीं चलती, लेकिन मायावती ने काफी पहले ही यह महसूस कर लिया था कि जिस राज्य में उन्हें मुकाबला करना है, वहां आंकड़ों की अनदेखी आत्मघाती हो सकती है, उत्तर प्रदेश की कुल आबादी में ऊंची जातियों की 30 प्रतिशत हिस्सेदारी है जबकि दलित 21 प्रतिशत हैं, इनमें अगर मुस्लिमों की 17 प्रतिशत आबादी को जोड़ दिया जाए तो मायावती के लिए जीत का समीकरण बन जाता है, इसी को ध्यान में रखते हुए, उन्होंने 403 सीटों में से 138 सीटों पर ऊंची जातियों को बसपा का उम्मीदवार बनाया जिनमें 86 ब्राह्मण थे आज से पांच वर्ष पहले 26 ब्राह्मणों ने बसपा के टिकट पर चुनाव खड़ा था जिनमें से सिर्फ छह को जीत हासिल हुई थी, यह वह दौर था जब उन पर ऊंची बोली लगाने वालों को टिकट बेचने का आरोप लगा।

ऊंची जातियों खासकर ब्राह्मणों को भाजपा के खेमे से निकालकर अपने पाले में लाने में मायावती ने माहिर रणनीतिकार की भाँति अपनी राजनैतिक कुशाग्रता का प्रदर्शन किया जो भाजपा के ढेर से विचारकों, समाजवादी पार्टी के धनबल-बाहुबल तथा सबसे पुरानी पार्टी की नई पीढ़ी की ऊर्जा की साझा ताकत से कहीं बेहतर साबित हुई, यह ऐसी उपलबिध है जिसे खुद कांशीराम ताउम्र हासिल करने में विफल रहे।

उत्तर प्रदेश की 15वीं विधानसभा के लिए चुनाव अप्रैल-मई 2007 में सम्पन्न हुए थे। इन चुनावों में बसपा ने किसी भी अन्य दल के साथ गठबंधन किए बिना अकेले अपने दम पर चुनाव लड़ा तथा 403 सदस्यीय विधानसभा में 206 सीटें प्राप्त करके अपने ही दम पर मायावती ने सरकार बनाई। जहां 2002 में बसपा को 23.06 प्रतिशत वोटों के साथ 98 सीटें थीं वहां इस बार 30.46 प्रतिशत वोटों के साथ 206 सीटों पर जीत हासिल

हुई। उत्तर प्रदेश विधानसभा चुनावों के परिणामों यह रेखांकित होता है कि बसपा जहां चढ़ती गई, वहीं दूसरी पार्टियां लुढ़कती गई।

संलग्न तालिका से ज्ञात होता है कि लोकसभा चुनावों में जहां 1989 में बसपा को मात्र 3 सीटें मिली थीं वहीं 2009 की 15वीं लोकसभा के चुनावों में 6.27 प्रतिशत वोटों के साथ 21 सीटें प्राप्त हुई।

लोकसभा चुनाव वर्ष

स्थान जीते

मत प्रतिशत

1989

3

1991

2

4.02

1996

11

4.67

1998

5

4.23

1999

14

5.33

2004

19

6.27

2009

21

कम्युनिस्ट पार्टी

(COMMUNIST PARTY)

एम. एन. राय की प्रेरणा से 26 दिसम्बर, 1925 को भारत में साम्यवादी दल की स्थापना हुई। राय की सलाह से साम्यवादी दल को कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल की शाखा मान लिया गया और सन् 1928 में कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल ने ही भारत में साम्यवादी दल की कार्य-प्रणाली निश्चित की। यथार्थ में भारतीय साम्यवादी आन्दोलन सोवियत संघ की देख-रेख में ही शुरू हुआ और कई भारतीय साम्यवादियों को सोवियत संघ में प्रशिक्षण भी दिया गया। स्वाधीनता आन्दोलन के समय अनेक साम्यवादी नेताओं ने कांग्रेस के साथ मिल-जुलकर कार्य किया। किन्तु द्वितीय विश्व युद्ध के समय कांग्रेस और साम्यवादी नेताओं के दृष्टिकोण में आकाश पाताल का अन्तर आ गया। जहाँ कांग्रेस जनता को ब्रिटिश राज के विरुद्ध संघर्ष का आव्हान कर रही थी वहीं साम्यवादी जनता से आग्रह कर रहे थे कि वह ब्रिटिश सरकार का सहयोग करे। इसका कारण यही था कि सोवियत संघ और ब्रिटेन मिलकर नाजी जर्मनी के विरुद्ध महायुद्ध लड़ रहे थे। दिसम्बर, 1945 में कांग्रेस महासमिति ने सभी साम्यवादियों को अपने दल से निष्कासित कर दिया। जब भारत का नया संविधान आया तो साम्यवादी दल ने इसे 'दासता का घोषणा-पत्र' कहा।

संगठन - साम्यवादी दल के संगठन की निम्न इकाई सैल हैं। इसमें दो या तीन सदस्य होते हैं। इसके बाद ग्राम, शहर, जिला एवं प्रान्तीय स्तर पर 'सम्मेलन' होते हैं। प्रत्येक स्तर के सम्मेलन की एक कार्यकारिणी समिति होती है। साम्यवादी दल की सर्वोच्च शक्ति अखिल भारतीय दल कांग्रेस में निहित होती है। इसके प्रतिनिधि राज्य सम्मेलनों द्वारा भेजे जाते हैं। अखिल भारतीय कांग्रेस एक राष्ट्रीय परिषद् का निर्माण करती है और यह परिषद् एक केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति का निर्वाचन करती है। केन्द्रीय समिति में महा सचिव तथा दल के मुख्य नेता होते हैं। दल का एक केन्द्रीय नियन्त्रण आयोग भी होता है। साम्यवादी दल का संगठन लोकतान्त्रिक केन्द्रीयकरण के सिद्धान्त पर आधारित है।

भारतीय राजनीति में साम्यवादी दल स्वाधीनता प्राप्ति के बाद साम्यवादी दल ने 14 से 17 फरवरी, 1948 को अपने कलकत्ता सम्मेलन में 'कलकत्ता थीसिस'स्वीकार की। इस 'थीसिस' के अनुसार 'स्वाधीनता' को सच्ची स्वाधीनता नहीं माना गया, नेहरू

सरकार को पूंजीवादी हितों का रक्षक कहा गया और यह माना गया कि सरकार बड़े व्यावसायिक हितों का संरक्षण करने वाली है। साम्यवादी दल का यह विश्वास था कि सरकार आंग्ल-अमरीकी चंगुल में फँसी हुई है, अतः दल ने सभी क्रान्तिकारी तत्वों को संगठित करके एक लोकतान्त्रिक गठबन्धन तैयार करने का निर्णय लिया। दल के महासचिव रणदिवे ने तो यहाँ तक कहा कि भारत में भी रूस की अक्टूबर क्रान्ति के समतुल्य 'अन्तिम क्रान्ति' प्रारम्भ की जा सकती है। मार्च, 1947 में पश्चिमी बंगाल सरकार ने साम्यवादी दल को अवैध घोषित कर दिया। कई साम्यवादी नेताओं को देश के विभिन्न भागों में गिरफ्तार भी कर लिया गया। साम्यवादियों ने देश के विभिन्न भागों में हड़ताल, बन्द भी आयोजित किये। प्रथम आम चुनाव में साम्यवादी दल ने लोकसभाके 27 स्थानों पर विजय प्राप्त की और राज्य विधानमण्डलों में उसे 181 स्थान प्राप्त हुए। लोकसभा में सबसे बड़ा विरोधी दल होने के कारण उसके नेता एके गोपालन ने गैर-कांग्रेसी दलों का संयुक्त गठबन्धन करने का प्रयास भी किया। दूसरे जन-निर्वाचन में दल को लोकसभा में 29 स्थान प्राप्त हुए। केरल राज्य में तीसरे चुनाव में साम्यवादियों को पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ और 5 अप्रैल, 1957 को उन्होंने अपना मंत्रिमण्डल बनाया। विश्व के इतिहास में पहली बार चुनावों के माध्यम से साम्यवादियों को सत्ता में आने का यह पहला मौका मिला था।

साम्यवादी दल में कई कारणों से दरार पड़ने लगी। दिसम्बर, 1953 की तीसरी कांग्रेस में साम्यवादी नेताओं के मतभेद खुले तौर से सामने आने लगे। सर्वप्रथम लोकतान्त्रिक गठबन्धन के सवाल को लेकर नेताओं के बीच विवाद बढ़ा। अजय घोष, पी.सी. जोशी आदि का कहना था कि नेहरू सरकार प्रगतिशील नीतियों में विश्वास करती है; अतः उसके साथ सहयोग किया जा सकता है। दूसरी ओर भूपेश गुप्त, रमन मूर्ति इत्यादि नेहरू सरकार को पूंजीवाद परस्त मानते थे और उसका विरोध करना चाहते थे। साम्यवादी दल में मतभेद का दूसरा कारण खुश्चेव का निःस्टालिनीकरण की नीति थी। 1962 के भारत चीन संघर्ष को लेकर भी गंभीर मतभेद देखा जा सकता था। सन् 1964 के बाद भी साम्यवादी दल के दोनों गुटों में तनाव बहुत अधिक बढ़ा।

फरवरी, 1963 में डाँगे द्वारा लिखे गये कुछ पत्रों को लेकर के साम्यवादी दल में गम्भीर विवाद छिड़ गया। दल का वामपंथी गुट चाहता था कि डाँगे अपने पद से त्यागपत्र दे दें किन्तु डाँगे उनकी बात मानने के लिए तैयार नहीं थे। ऐसी स्थिति में दल के कतिपय प्रमुख सदस्य जैसे सुन्दरैया, ज्योति बसु, एके गोपालन, नम्बूदरीपाद, भूपेश गुप्त, प्रमोद दासगुप्ता इत्यादि दल से अलग हो गए। दोनों गुटों में समझौते के प्रयास भी किए गए

किन्तु वामपंथी गुट के लोगों ने गोपालन के नेतृत्व में 11 सदस्यों का एक नया गुट संगठित कर लिया। इस गुट को भारतीय साम्यवादी दल (मार्क्सवादी) कहा जाने लगा।

विभाजन के पश्चात् साम्यवादी दल वैचारिक दृष्टिकोण से सोवियत संघ के निकट रहा। ऐसा भी कहा जाता है कि दल ने सत्ताधारी कांग्रेस दल के साथ सहयोग करने की नीति प्रारम्भ कर दी। साम्यवादी दल ने कांग्रेस से सहयोग करने की नीति की शुरूआत मोहन कुमार मंगलम् की 'थीसिस' के आधार पर की। कुमार मंगलम् के अनुसार साम्यवादी कांग्रेस में घुस कर अन्ततोगत्वा सत्ता पर कब्जा कर सकते हैं। यह बात सर्वविदित है कि 1971 और 1972 के निर्वाचनों में साम्यवादी दल ने कांग्रेस के साथ न केवल सहयोग किया अपितु चुनाव-गठबन्धन भी किया। चुनावों के पश्चात् साम्यवादी दल ने केरल और पश्चिमी बंगाल में कांग्रेस से मिलजुलकर मंत्रिमण्डल का निर्माण किया। साम्यवादी दल को अपनी रणनीति का तात्कालिक लाभ भी प्राप्त हुआ। अनेक भूतपूर्व साम्यवादियों को केन्द्र और राज्यों में मंत्रिपदों पर भी नियुक्त किया गया।

सिद्धान्त और कार्यक्रम

भारत का साम्यवादी दल कार्ल मार्क्स व लेनिन के विचारों से प्रेरणा ग्रहण करता है। साम्यवादियों का उद्देश्य पुरानी सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था को समाप्त करके एक ऐसे समाज का निर्माण करना है जो मार्क्स व लेनिन के सिद्धान्तों पर आधारित थे। भारतीय साम्यवादी दल मजदूरों व किसानों के संरक्षण का दावा करता है। वह एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था चाहता है जिसमें "असमानता, जात-पांत, शोषण व सामाजिक व आर्थिक सुरक्षा की गारण्टी दी जाएगी।" श्री डाँगे के नेतृत्व में साम्यवादी दल ने "चीनी कम्युनिज्म की अपेक्षा रूसी कम्युनिज्म को चुना।"

साम्यवादी दल ने हिंसात्मक कार्यवाहियों को त्याग दिया है। साम्यवादी दल कांग्रेस दल को प्रगतिशील दल मानता है और उसके साथ सहयोग करना चाहता है। वह संविधान में इस प्रकार का संशोधन चाहता है ताकि संविधान संशोधनों को किसी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सके। दल ने सुझाव दिया कि सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति संसद व विधानसभाओं द्वारा स्वीकृत नामों की सूची में से की जाय।

साम्यवादी दल चाहता है कि कृषि के क्षेत्र में जोत की वर्तमान सीमा को काफी कम कर दिया जाये। औद्योगिक क्षेत्र में दल ने माँग की कि एकाधिकार पूँजीपतियों की कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण कर

भत्ता दिया जाये, श्रमिकों, सरकारी कर्मचारियों आदि की आवश्यकता पर आधारित न्यूनतम वेतन दिया जाये।

साम्यवादी दल संवैधानिक तरीकों तथा लोकतंत्र में विश्वास करता है। यह दल 'सर्वहारा वर्ग की तानाशाही', 'क्रांति की अनिवार्यता' को नहीं दोहराता है। 1971 में लोकसभा में इसके 23 सदस्य निर्वाचित हुए हैं। इसने कांग्रेस के साथ सहयोग और समर्थन की नीति अपनायी। इस दल का प्रभाव आंध प्रदेश, पश्चिमी बंगाल व केरल राज्यों में अधिक है।

1977 के लोकसभा के चुनावों के समय श्रीमती गाँधी के विरुद्ध रोष का वातावरण बन चुका था। इसलिए कम्युनिस्ट पार्टी को भी कोई विशेष कामयाबी हासिल नहीं हुई। 1977 में गठित लोकसभा में साम्यवादी दल के केवल 7 सदस्य थे।

नवम्बर, 1979 में श्री एसके डाँगे ने पार्टी चेयरमेन पद से और केन्द्रीय समिति से त्यागपत्र दे दिया। श्री डाँगे का मत था कि वामपंथी ताकतें श्रीमती गाँधी के नेतृत्व में ही आगे बढ़ सकती हैं। परन्तु साम्यवादी दल के महासचिव राजेश्वर राव श्री डाँगे की मान्यता (थीसिस) को सही नहीं समझते । उनके अनुसार आपातकाल में श्रीमती गाँधी का समर्थन गलत था। 1980 में एस. ए. डाँगे की पुत्री श्रीमती रोजा देशपाण्डे को पार्टी से निकाल दिया गया। उन्होंने और उनके साथियों ने मिलकर अखिल भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना की।

1980 के लोकसभा चुनावों के लिए वामपंथी मोर्चे का गठन किया गया था। कम्युनिस्ट पार्टी ने कुल मिलाकर 11 स्थानों पर विजय हासिल की। मई, 1980 के विधानसभाई चुनावों में कम्युनिस्ट पार्टी ने बिहार में अपने प्रभाव को कायम रखा। तमिलनाडु और पंजाब में उसने क्रमशः 10 व 9 सीटें प्राप्त की। 1981 में श्री डाँगे को कम्युनिस्ट पार्टी से निकाल दिया गया। पार्टी से निकालने के कई कारण बताये गये, जैसे दल विरोधी गतिविधियों को प्रोत्साहन देना और श्रीमती रोजा देशपाण्डे द्वारा संस्थापित कम्युनिस्ट पार्टी के समारोह में भाग लेना।

कम्युनिस्ट पार्टी के अधिकांश नेता और सदस्य मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल हो गये हैं, इसलिए उसका जनाधार (mass base) अब नहीं के बराबर है। कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं का कहना है कि यदि दोनों पार्टियाँ एक हो जायें तो राष्ट्र की राजनीतिक स्थिति पर उसका जबरदस्त असर पड़ेगा। मई, 1982 में कम्युनिस्ट पार्टी ने मार्क्सवादी पार्टी के नेतृत्व में चुनाव लड़ा। पश्चिम बंगाल में वामपंथी मोर्चे को भारी बहुमत मिला, पर केरल में उन्हें पराजय का सामना करना पड़ा। जनवरी, 1983 में आन्ध

प्रदेश, कर्नाटक और त्रिपुरा की विधानसभाओं के लिए चुनाव हुए। आंध्र प्रदेश की पिछली विधानसभा में कम्युनिस्ट पार्टी के 6 सदस्य थे, वहाँ इस पार्टी की सदस्य संख्या 6 से घटकर 4 रह गयी। कर्नाटक में कम्युनिस्ट पार्टी को 3 स्थान मिले, जबकि त्रिपुरा में उसके 4 उम्मीदवार विजयी रहे।

दिसम्बर, 1984 के लोकसभा चुनावों में भारतीय साम्यवादी दल ने 59 स्थानों पर प्रत्याशी खड़े किये और 6 स्थानों पर उसके प्रत्याशी विजयी हुए। दल को 2.64 प्रतिशत मत प्राप्त हुए। मार्च, 1987 में कम्युनिस्ट पार्टी ने मार्क्सवादी पार्टी के नेतृत्व में चुनाव लड़े। पश्चिमी बंगाल में वामपंथी मोर्चे को भारी बहुमत मिला। उसने 294 स्थानों में से 251 पर सफलता प्राप्त की जिनमें 11 सीटें कम्युनिस्ट पार्टी की थी। केरल में मार्क्सवादी पार्टी के नेतृत्व में वाम मोर्चे की सरकार बनी। कम्युनिस्ट पार्टी इस सरकार में शामिल हुई।

1989 के लोकसभा चुनावों में 12 सीटे, 1991 के चुनावों में 13 सीटें, 1996 के चुनावों में 11 सीटें और 1998 के चुनावों में भारतीय साम्यवादी दल को 9 सीटें प्राप्त हुई। 1999 में सम्पन्न 13 वीं लोकसभा चुनावों में साम्यवादी दल ने 54 प्रत्याशी खड़े किए और उसके मात्र 4 प्रत्याशी जीते। उसे 1.45 प्रतिशत मत प्राप्त हुए ।

अप्रैल-मई 2004 में संपन्न 14वीं लोकसभा के चुनावों में भारतीय साम्यवादी दल को 10 सीटें प्राप्त हुई और उसका वोट 1.4 प्रतिशत रहा। 15वीं लोकसभा चुनावों (2009) में भारतीय साम्यवादी दल को मात्र 1.46 प्रतिशत मतों के साथ 4 सीटों पर जीत हासिल हुई। कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) (COMMUNIST PARTY MARXIST)

सन् 1964 में साम्यवादी दल दो भागों में विभक्त हो गया तथा एक नये दल भारतीय साम्यवादी दल (मार्क्सवादी) का जन्म हुआ। इसके नेता प्रमोद दासगुप्ता, ज्योति बसु, एके गोपालन तथा पी. राममूर्ति हैं। 1967 ई. के चुनावों में इस दल को भारतीय साम्यवादी दल के मुकाबले में अधिक सफलता मिली। दल को लोकसभा में 19 एवं राज्य विधानसभाओं में 128 स्थान प्राप्त हुए। केरल में नम्बूद्रीपाद के नेतृत्व में संयुक्त सरकार का निर्माण हुआ। पश्चिमी बंगाल में अजय मुखर्जी की संयुक्त सरकार में मार्क्सवादी साम्यवादी दल की महत्वपूर्ण भूमिका रही। सन् 1971 के चुनावों में इसकी शक्ति में वृद्धि हुई और लोकसभा में इसके 25 सदस्य हो गये।

संगठन - मार्क्सवादी साम्यवादी दल का संगठन साम्यवादी दल की भाँति ही सीढ़ीनुमा है। निम्न स्तर पर सैल होते हैं उनके ऊपर, ग्राम, शहर, तालुका, जिला एवं राज्य समितियाँ होती हैं। सभी समितियों की एक-एक कार्यकारिणी समिति होती है।

केन्द्रीय समिति दल की सर्वोच्च संस्था है। केन्द्रीय समिति एक पोलित ब्यूरो का चुनाव करती है। इसमें दल के प्रमुख नेता सम्मिलित होते हैं।

16.6 मार्क्सवादी दल का सामाजिक आधार व राजनीतिक उपलब्धि

किसी समय कम्युनिस्ट पार्टी संसद में प्रमुख विपक्षी दल की भूमिका निभा रही थी और कई राज्यों की विधानसभाओं में भी उसका अच्छा प्रभाव था। बाद में उसका एक बड़ा हिस्सा टूटकर मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी बन गया। पहले जिन राज्यों में कम्युनिस्ट पार्टी प्रभावी थी, वहाँ अब मार्क्सवादियों की प्रधानता देखने को मिलती है। जैस-जैसे भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी क्षीण होती गयी, वैसे-वैसे मार्क्सवादी आगे बढ़ते गये। अब केवल बिहार ही एक ऐसा राज्य है जहाँ मार्क्सवादियों के मुकाबले कम्युनिस्टों का संगठन ज्यादा मजबूत है।

1971 के मध्यावधि चुनावों में मार्क्सवादी दल को लोकसभा की 25 सीटें मिलीं। पश्चिमी बंगाल इस दल का विशेष गढ़ है परन्तु आंध्र, केरल व त्रिपुरा में भी इस दल का संगठन काफी मजबूत है। छठी लोकसभा में इस दल के 22 सदस्य थे। 1980 के लोकसभा चुनाव में मार्क्सवादी दल के 35 सदस्य चुनकर आये जिनमें से 27 पश्चिमी बंगाल से चुने गये। मई 1980 के विधानसभाई चुनावों में पार्टी को कोई विशेष सफलता नहीं मिली। तमिलनाडु में मार्क्सवादी पार्टी ने 11 सीटें जीतीं और पंजाब में उसे 5 स्थानों पर विजय मिली। मई 1982 के चुनावों में वामपंथी मोर्चे को पश्चिमी बंगाल में उल्लेखनीय सफलता मिली। वहाँ मोर्चे को तीन-चौथाई बहुमत मिला। मोर्चे के प्रमुख घटक मार्क्सवादी पार्टी को इतनी सीटें मिलीं कि विधानसभा में उसे अकेले बहुमत प्राप्त हो गया। केरल विधानसभा में वामपंथी मोर्चे को प्राप्त 63 सीटों में से मार्क्सवादी पार्टी 26 5 सीटें ले पायी। जनवरी 1983 में त्रिपुरा में फिर से वाम मोर्चे की सरकार बनी जिसमें ज्यादा मंत्री मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के थे।

विचारधारा, नीतियाँ तथा कार्यक्रम

मार्क्सवादी साम्यवादी पार्टी डाँगे तथा सी.पी.आई. की ऐसे संशोधनवादियों के रूप में निन्दा करती है जो अपने वर्ग सहयोग की अवसरवादी धारणा का अनुसरण करना चाहते हैं। यह सी.पी.आई. पर आरोप लगाती है कि उसने श्रीमती गाँधी के अधीन कांग्रेस बुर्जुआ-जमींदारा सरकार के साथ गठजोड़ किया जिसने आपात् कालीन स्थिति की घोषणा की और सभी विरोधी नेताओं को जेलों में डाल दिया।

इस दल के नेता किसानों और मजदूरों के हितों की रक्षा करना चाहते हैं। यद्यपि उन्होंने चुनाव की राजनीति का परित्याग करना उचित नहीं समझा अर्थात् वे चुनावों में

भाग लेते हैं परन्तु उनका असली झुकाव लोकतंत्रीय व वैधानिक पद्धतियों की ओर न होकर प्रदर्शन, घेराव व मोर्चों की ओर है।

मार्क्सवादी पार्टी काफी समय तक जनवादी चीन की ओर झुकी रही है। परन्तु अफगानिस्तान में रूसी कार्यवाही का समर्थन करके उसने अपने को रूस के काफी निकट कर लिया। मार्क्सवादी पार्टी पर सोवियत रूस की ओर से यह दबाव डाला जा रहा था कि वह कांग्रेस (आई) के प्रति नरम रुख अपनाये। पर मार्क्सवादी पार्टी इसके लिए तैयार नहीं थी। पार्टी के विजयवाड़ा सम्मेलन (1982) के बाद महासचिव नम्बूदरीपाद ने कहा था, "सोवियत रूस ने पार्टी का जनसमर्थन देखना शुरू कर दिया है।

हमारी पार्टी सोवियत रुस की मान्यता प्राप्त करने के लिए कांग्रेस (आई) के प्रति नरमी बरतने को तैयार नहीं है। मार्क्सवादी पार्टी बिना सोवियत रूस की मान्यता के 18 वर्षों तक चलती रही है।"

यदि 1977-1980, 1984, 1989, 1991, 1996, 1998 एवं 1999 के चुनावों के लिए जारी किये गये घोषणा पत्रों को देखें तो इस दल के कार्यक्रम का निम्नलिखित रूप हमारे सामने आता है।

संवैधानिक क्षेत्र में - मार्क्सवादी दल मजदूर वर्ग के नेतृत्व में जन लोकतंत्र स्थापित करना चाहता है। यह लोगों की प्रभुसत्ता के आधार पर एक नया संविधान चाहता है जिसमें समानुपातिक प्रतिनिधित्व की अनुमति देगा और राष्ट्रपति की आपात् कालीन शक्तियों के लिए कोई स्थान नहीं होगा। इसके अनुसार राज्यपाल के पद और केन्द्रीय व राज्य विधानमण्डलों में दूसरे सदनों को समाप्त कर दिया जाना चाहिए। यह राज्यों को और अधिक शक्तियाँ प्रदान करने, सभी नागरिकों को समान अधिकार, सभी भाषाओं के लिए समानता और राज्य सरकारों को भारतीय प्रशासनिक तथा भारतीय पुलिस सेवा के अधिकारियों पर पूर्ण नियंत्रण रखने का समर्थक है।

राजनीतिक क्षेत्र में मार्क्सवादी दल एक नयी शासन प्रणाली लाना चाहते हैं जिसे 'जन लोकतंत्र' कहा जाता है। इसके अनुसार एक सर्वहारा राज्य की स्थापना की जानी चाहिए जिसमें शोषण के लिए कोई स्थान न हो, यह समाजवाद के लिए संसदीय मार्ग को अस्वीकार करता है। मार्क्सवादी दल न्यायपालिका की प्रतिबद्धता पर बल देता है।

आर्थिक क्षेत्र में (i) चीनी, कपड़ा, जूट, सीमेंट व अन्य महत्वपूर्ण उद्योग-धंधों का तुरन्त

राष्ट्रीयकरण किया जाये तथा विदेशों में भारतीयों की जो पूँजी है, उस पर सरकार का अधिकार स्थापित किया जाये, (ii) कारखाने व अन्य क्षेत्रों में कर्मचारियों को 'प्रबंध कार्यों'

में भाग लेने का अधिकार दिया जाय, छोटे किसानों को ऋण प्राप्त करने की सुविधाएं मिलें तथा गरीबों से कर न लेकर करों का बोझ अमीरों के ऊपर डाला जाये; (iii) जमींदारी प्रथा का पूर्ण खात्मा किया जाये तथा भूमिहीनों एवं समाज के कमजोर वर्गों के बीच तेजी से भूमि बाँटने का काम किया जाये। किसानों, खेतिहर मजदूरों एवं गाँवों की गरीब जनता पर जो ऋण है; वे तत्काल रद्द किये जायें। उन्हें मकान बनाने के लिए निःशुल्क जमीनें दी जायें। गरीब किसानों को किसी भी अवस्था में उसके खेतों से बेदखल न किया जाय ।

सामाजिक क्षेत्र में मार्क्सवादियों ने निम्नलिखित कार्यक्रम पर बल दिया है: (i) हरिजनों, जनजातियों व पिछड़े वर्गों के लिए सरकारी नौकरियों और विद्यालयों में स्थान आरक्षित किये जायेंगे । जिन हरिजन भाइयों ने बौद्ध धर्म अपना लिया है, उन्हें ये सुविधाएं बराबर मिलती रहनी चाहिए; (ii) मुसलमानों और उर्दू भाषा के साथ कोई भेदभाव नहीं किया जायेगा; (iii) अहिन्दी भाषा भाषियों पर हिन्दी नहीं लादी जायेगी ।

विदेश नीति के क्षेत्र में मार्क्सवादियों का कहना है कि भारत का हित इसी बात में है कि वह पूंजीवादी ताकतों का विरोध करे तथा समाजवादी देशों के साथ अपने सम्बन्ध मजबूत बनाये। समाजवादी वियतनाम और कंपूचिया की हैंग सैमरिन सरकार के साथ उसे विशेष हमदर्दी थी। पार्टी तीसरी दुनिया के उन देशों का समर्थन करती है जो अपनी राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए संघर्ष कर रहे हैं।

पश्चिम बंगाल के देहाती क्षेत्रों में भूमि सुधार कार्यक्रमों को प्रभावी ढंग से लागू करने में पार्टी की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। मार्क्सवादी दल वहाँ सभी जिलों में अपनी जड़ें जमाने में सफल हुआ है।

दिसम्बर 1984 के लोकसभा चुनावों में मार्क्सवादी पार्टी ने 59 स्थानों पर प्रत्याशी खड़े किये और उसके 22 प्रत्याशी विजयी हुए। उसे 5.96 प्रतिशत मत मिले। मई 1987 में पश्चिम बंगाल में वामपंथी मोर्चे ने लगातार तीसरी बार शानदार विजय हासिल की। मई 2001 में संपन्न प. बंगाल विधान सभा चुनावों में मार्क्सवादी पार्टी के नेतृत्व में नाम मोर्चे को 294 में से 199 सीटों पर जीत हासिल हुई। अकेली मार्क्सवादी पार्टी को 143 सीटें प्राप्त हुई।

नवम्बर 1989 के लोकसभा चुनावों में माकपा ने 62 स्थानों पर अपने प्रत्याशी खड़े किये और उसे 32 सीटें प्राप्त हुईं। 1991 के चुनावों में पार्टी को लोकसभा में 35 सीटें और 1996 के 11 वीं लोकसभा के चुनावों में 32 सीटें प्राप्त हुई। फरवरी 1998 में संपन्न 12 वीं लोकसभा चुनावों में मार्क्सवादी साम्यवादी दल को 32 सीटें प्राप्त हुई 1999

में 13 वीं लोकसभा चुनावों में दल ने 72 प्रत्याशी खड़े किए और 5.38 प्रतिशत मतों के साथ उसके 33 प्रत्याशी विजयी हुये। 14वीं लोक सभा के चुनावों में मार्क्सवादी साम्यवादी दल ने 43 सीटें जीतकर 5.69 प्रतिशत मत प्राप्त किये। 15वीं लोकसभा के चुनावों में माकपा उत्थान की जगह पतन के निम्नतम बिन्दु पर पहुँच गयी और उसे 5.52 प्रतिशत मतों के साथ मात्र 16 सीटें प्राप्त हुई। 13 मई, 2011 को घोषित पश्चिम बंगाल विधानसभा चुनाव परिणाम यह इंगित करते हैं कि मतदाताओं ने विगत 34 वर्षों से सत्तारूढ़ वाममोर्चे को केवल 62 सीटें ही प्रदान की। माकपा के बुद्धदेव भट्टाचार्य (मुख्यमंत्री) भी चुनाव में पराजित हुए। माकपा ने 1977 में मोरारजी सरकार को, 1989 में वी.पी. सिंह सरकार को, 1996-97 में देवगौड़ा एवं गुजराल सरकारों को तथा 2004-08 तक मनमोहन सिहं सरकार को बाहर से समर्थन दिया था। देश में सबसे लम्बे समय तक मुख्यमंत्री रहने का रिकार्ड बनाने वाले नेता ज्योति बसु माकपा के ख्याति प्राप्त दिग्गज रहे हैं।

16.7 भारत में प्रमुख क्षेत्रीय दल

भारत में प्रमुख रुप से तीन प्रकार के स्तरीय दल हैं। पहले प्रकार के क्षेत्रीय दल वे हैं जो वास्तव में जाति, धर्म, क्षेत्र अथवा सामुदायिक हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं और उन पर आधारित हैं। इसके प्रमुख उदाहरण द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम् (तमिलनाडु), अकाली दल (पंजाब), नेशनल कांग्रेस (जम्मू-कश्मीर), शिव सेना (महाराष्ट्र), झारखण्ड पार्टी (बिहार) तथा उत्तर पूर्व में कुछ आदिवासी संगठन जैसे नागालैण्ड नेशनल डेमोकेटिक पार्टी मिजो नेशनल फ्रण्ट आदि है। दूसरे प्रकार के क्षेत्रीय दल वे हैं जो किसी समस्या विशेष को लेकर अथवा सदस्यों की क्षुब्धता के कारण राष्ट्रीय दलों विशेष रुप से कांग्रेस से अलग होकर बने हैं। इनमें से अधिकतर दल केवल कुछ समय के लिए राष्ट्रीय रहे हैं, कुछ ने स्वयं को राष्ट्रीय दल का स्तर देने का प्रयत्न किया है और कुछ केवल नाममात्र को रह गये है। इस प्रकार के दलों में भारतीय क्रान्तिदल, बंगला कांग्रेस, उत्कल कांग्रेस, केरल कांग्रेस, तेलंगाना प्रजा समिति, विशाल हरियाणा तथा लोकदल (श), इत्यादि सम्मिलित किये जा सकते हैं। तीसरे प्रकार के दल वे हैं जो विचारधारा तथा लक्ष्यों के आधार पर तो राष्ट्रीय दल हैं, परन्तु उनका समर्थन केवल कुछ लक्ष्यों तथा कुछ मामलों में केवल कुछ ही क्षेत्रों तक सीमित है। इस प्रकार के दल फारवर्ड ब्लॉक, सोशलिस्ट यूनिटी सेण्टर, मुस्लिम लीग तथा क्रान्तिकारी सोशलिस्ट पार्टी, इत्यादि हैं।

अकाली दल, डी.एम. के, अन्ना डी.एम.के, तेलगूदेशम्, नेशनल कांफ्रेन्स, सिक्किम संग्राम परिषद, असमगण परिषद, शिवसेना, आदि इस समय प्रमुख क्षेत्रीय दल हैं, उनका संक्षिप्त विवेचन निम्न हैं।

अकाली दल (Akali Dal)

अकाली दल सिक्खों की मुख्य राजनीतिक व सामाजिक संस्था है। अकाली दल राज्य स्तरीय दल है क्योंकि यह पंजाब तक ही सीमित है। गुरुद्वारों (सिक्ख मन्दिरों) को परम्परानिष्ठ सिक्ख सुदाय के अधिकार क्षेत्र में लाने के लिए एक सुधार समूह के रुप में अकाली दल का गठन किया गया। सन् 1925 में अकाली प्रत्यक्ष कार्यवाही के द्वारा गुरुद्वारों को वयस्क मताधिकार द्वारा सिक्ख समुदाय में से चुनी हुई एक समिति के अधिकार क्षेत्र में लाने में सफल हुए। समितियों के सौ से अधिक गुरुद्वारों पर नियन्त्रण तथा उनकी दान सम्पत्ति ने पंजाब में अकाली दल की स्थिति को पर्याप्त शक्तिशाली बना दिया। धार्मिक दृष्टिकोण से यह "पन्थ की सुरक्षा" (सिक्ख धार्मिक दल या समुदाय) के लिए बना है। राजनीतिक दृष्टि से अपने संविधान के अनुसार यह एक ऐसे "वातारण के निर्माण के लिए बनाया गया जिसमें सिक्ख राष्ट्रीय अभिव्यक्ति को पूरी सन्तुष्टी प्राप्त हो सके।" इनके राजनीतिक उद्देश्यों ने पंजाबी भाषायी राज्य की मांग का मार्ग प्रशस्त किया ।

जब पंजाब द्विभाषी राज्य था तब अकाली दल ने सरकार के साथ सन्धि घोषित कर दी तथा 1957 के चुनावों के समय कांग्रेस के साथ मिल गये। फिर भी 1960 में पंजाबी सूबे के समर्थन में प्रदर्शन बढ़ गये। लेकिन इसके फलस्वरुप अकालियों के बीच गुटबन्दी का जन्म हुआ। लगभग तीस वर्षों तक मास्टर तारासिंह अकाली दल के एक प्रभावशाली नेता रहे। फिर भी 1962 में उनके प्रमुख अनुयायी सन्त फतेहसिंह ने अकाली दल की एक प्रतिद्वन्द्वी शाखा की स्थापना की जो शीघ्र मास्टर तारासिंह के दल पर पूरी तरह छा गयी। 1966 में अलग पंजाब राज्य की रचना करके पंजाबी सूबे के लिए अकाली दल की चिरकालिक तथा आग्रहपूर्ण मांग मंजूर कर ली। 1968 में मास्टर तारासिंह की मृत्यु हो गयी तथा अकाली दल के दोनों पक्ष फिर से एक हो गये। 1969 के मध्यावधि चुनाव में विधानसभा में दोबारा गठित दल के कांग्रेस से अधिक सदस्य चुने गये। जनसंघ के साथ एक आश्चर्यजनक मेल कर अकाली दल ने पंजाब में सरकार बनायी। 1977 के चुनावों में अकाली दल ने जनता सरकार का समर्थन किया। जुलाई 1979 में जनता पार्टी सरकार पर संकट के समय अकाली दल ने उसका साथ छोड़ दिया। जनवरी 1990 के लोकसभा चुनाव में दल को भारी असफलता की स्थिति का सामना करना पड़ा। मई 1980 के विधानसभा चुनाव इस दल ने भारतीय साम्यवादी दल और मार्क्सवादी दल के साथ समझौते के आधार पर लड़े और दल ने पंजाब के ग्रामीण अंचलों में अपनी लोकप्रियता का परिचय दिया। चुनाव परिणामों से यह स्पष्ट है कि दल पंजाब में कांग्रेस (इ) को चुनौती देने की क्षमता रखता है।

पहले चुनाव से ही अकाली दल पंजाब में कांग्रेस के पश्चात् दूसरे सबसे बड़े दल के रुप में सफल रहा है। वास्तव में अकाली दल और तीसरे नम्बर के दल के बीच का अन्तर कांग्रेस और अकाली दल के बीच के अन्तर से कहीं अधिक रहा। सन् 1952 में अकाली दल को वैध मतों का 24 प्रतिशत प्राप्त हुआ। सन् 1957 के चुनाव से पहले अकाली दल कांग्रेस में सम्मिलित हो गया और इसने एक अलग राजनीतिक दल के रुप में चुनाव नहीं लड़ा। सन् 1962 में दल को 20.7 प्रतिशत, 1967 में 24.7 प्रतिशत और 1969 में 19.5 प्रतिशत मत मिले। सन् 1972 में अकाली दल को 27.7 प्रतिशत और 1977 में 31.4 प्रतिशत मत प्राप्त हुए।

ऊपर वर्णित चुनाव सफलताओं के विश्लेषण से अकाली समर्थन के बारे में कुछ विशेषताएं देखने को मिलती है। पहली बात तो यह है कि पंजाब में इस दल का निश्चित आधार है जो दलीय व्यवस्था में उथल-पुथल के बावजूद इस दल को समर्थन देता है। अध्ययनों से पता चलता है कि यह आधार मुख्य रुप से ग्रामीण सिक्ख कृषक वर्ग का है। अकाली दल इस वर्ग का आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक सभी क्षेत्रों में प्रतिनिधित्व करता है। दूसरी विशेषता यह है कि सदैव दूसरे नम्बर का दल रहने के बावजूद अकाली दल की चुनाव जीतने की क्षमता सीमित है। सन् 1977 के चुनाव को छोड़कर इस दल का मत प्रतिशत कभी भी 30 प्रतिशत से ऊपर नहीं गया इसका कारण इसकी केवल एक ही धार्मिक सम्प्रदाय से अपील और आर्थिक कार्यक्रम में वर्ग विशेष का प्रतिनिधित्व है।

जून 1980 के चुनावों में पराजय के बाद अकाली नेताओं को निराशा ने घेर लिया। अकाली दल कई धड़ों में बंट गया। मुख्य धड़े का नेतृत्व सन्त हरचन्द सिंह लोंगोवाल और पंजाब के पूर्व मुख्यमंत्री प्रकाश सिंह बादल कर रहे थे। कई मुद्दों को लेकर उन्होंने पंजाब की कांग्रेस (आई) सरकार और भारत सरकार के विरुद्ध आन्दोलन छेड़ दिया। अकाली दल की मुख्य मांगें रही हैं: (i) हरियाणा हिमाचल प्रदेश और राजस्थान के पंजाबी भाषी इलाके पंजाब में शामिल किये जायें (ii) चण्डीगढ़ को अकेले पंजाब की 2 राजधानी स्वीकृत किया जाय (iii) भाखड़ानांगल जैसे जल विद्युत केन्द्र पंजाब के नियन्त्रण में रहे (iv) पंजाब में भारी उद्योगों की स्थापना की जाये (v) गुरुद्वारों की प्रबन्ध समितियों व सिक्खों के अन्य धार्मिक मामलों में सरकार हस्तक्षेप न करे। इन मांगों को लेकर अकाली दल ने न केवल धरने दिये और प्रदर्शन किया, बल्कि 'रास्ता रोको' और 'रेल रोको' जैसे आन्दोलन भी चलाये। धीरे-धीरे अकाली आन्दोलन एक खतरनाक मोड़ पर पहुंच गया। सन्त लोंगोवाल आन्दोलन शान्तिपूर्ण ढंग से चलाना चाहते थे, पर अकाली दल के भीतर उन लोगों की संख्या बढ़ी जो 'सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न सिक्ख राज्य' का

समर्थन करते थे। पंजाब के उग्रवादियों की बागडोर सन्त जरनैल सिंह भिण्डरावाला के हाथों में आ गई। कई पुलिस अधिकारी, सरकारी कर्मचारी और निदर्दोष व निहत्थे लोग उग्रवादियों की हिंसा का निशना बने। फलस्वरुप जून 1984 में पंजाब में फौजी कार्रवाई की गयी। स्वर्ण मन्दिर में सेना के प्रवेश और भिण्डरावाले के अन्त के बाद पंजाब की समस्या के राजनीतिक समाधान की जरुरत थी। 24 जुलाई, 1985 को अकाली दल और केन्द्र सरकार के बीच एक समझौता हुआ। समझौते के अन्तर्गत चण्डीगढ़ शहर पंजाब को और उसके बदले में पंजाब के हिन्दी भाषी इलाके हरियाणा को दिये जाने हैं। श्रीमती गांधी हत्या के बाद नवम्बर 1984 में हुए दंगों की जांच के लिए एक आयोग की स्थापना कीगई तथा अकालियों का आनन्दपुरा साहिब प्रस्ताव सरकारिया आयोग को विचार के लिए सौंप दिया गया।

अकाली दल के चुनाव घोषणा-पत्र में दावा किया गया है कि अकाली दल आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक न्याय के आधार पर खड़ा राजनीतिक दल है, जिसका उद्देश्य अधिनायकवाद का विरोध और व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा करना है। अकाली दल संविधान के संघीय स्वरुप, राज्यों की स्वायत्तता और अल्पसंख्यकों के सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, भाषायी हितों की रक्षा के मुद्दों पर विशेष बल देता है। यह दल पंजाब और अन्य सम्बन्धित क्षेतत्रों में गुरुमुखी भाषा और लिपि के अधिकाधिक प्रयोग का विशेष समर्थक है।

अकाली दल प्रमुखतया पंजाब के कृषकों का राजनीतिक दल है। अपने आर्थिक कार्यक्रम के अन्तर्गत इसके द्वारा भूमि सुधार कानूनों की क्रियान्विति, कृषि के आधुनिकीकरण, कृषकों को उनकी उपज का उचित मूल्य दिलवाने, उर्वरकों का दाम घटवाने और ग्रामीण एवं कुटीर उद्योगों के विकास की बात कही गयी है। सन् 1962 के चुनाव से जब अकालीदल को ग्रामीण कृषक वर्ग का अधिक समर्थन प्राप्त हुआ है दल की नीतियों में तनुसार परिवर्तन देखने को मिलते हैं। अब अकालीदल तथाकथित अनावश्यक भूमि सुधारों का विरोध करता है और शहरी सम्पत्ति की अधिकतम सीमा निर्धारित करने के लिए तत्पर है। इसी प्रकार उचित दाम पर अनाज की बिक्री के स्थान पर आज इसकी मांग किसानों को उचित न्यूनतम कीमत प्राप्त करवाने की है।

पंजाब में रहने वाले हिन्दू-हरिजन और एक सीमा तक शहरी सिक्ख अकाली दल को समर्थन नहीं देते। इसी का दूसरा पहलू यह है अकाली दल अपनी संकीर्णता के बावजूद अकेले विधानसभा में बहुमत नहीं प्राप्त कर सकता ।

सितम्बर 1985 के विधानसभा एवं लोकसभा चुनावों में अकाली दल को पंजाब में ऐतिहासिक सफलता प्राप्त हुई। विधानसभा के 115 स्थानों में से 73 तथा लोकसभा के

13 स्थानों में से 7 स्थान जीतकर राज्य में पहली बार उसने अपने बलबूते पर सरकार बनायी। काफी संख्या में हिन्दू मतदाताओं ने भी अकालियों को मत दिये। 1987 में पंजाब में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया जो नवम्बर 1991 तक जारी रहा। नवम्बर 1989 के लोकसभा चुनावों में अकाली दल (मान गुट) को 7 स्थान प्राप्त हुए। अकाली दल में सदैव से ही दो या अधिक गुटों में विभाजन की स्थिति रही है और फरवरी 92 में पंजाब विधानसभा और पंजाब से लोकसभा चुनाव के समय चार अकाली दल थे अकाली दल (मान), अकाली दल (लोंगोवाल-बरनाला), अकाली दल (बादल तलबण्डी) और अकाली दल (के अर्थात काबुल सिह) इनमें से केवल अकाली दल (के) ने ही विधानसभा और लोकसभा चुनावों ने भाग लिया तथा उसे भी असफलता ही हाथ लगी। अन्य अकाली दलों ने फरवरी 92 के विधानसभा चुनावों का बहिष्कार किया। फरवरी 1997 में सम्पन्न पंजाब विधानसभा के चुनावों में अकाली दल-भाजपा गठबन्धन को शानदार सफलता मिली। गठबन्धन को 117 सीटों पर हुए चुनावों में 93 सीटें तथा 45.8 प्रतिशत मत प्राप्त हुए। अकेले शिरोमणि अकाली दल को 75 सीटें मिली और अकाली नेता श्री प्रकाश्सिह बादल के नेतृत्व में अकाली-भाजपा गठबन्धन सरकार अस्तित्व में आई।

फरवरी 1998 में सम्पन्न 12 वीं लोकसभा के चुनाव अकाली दल ने भाजपा के साथ मिलकर लड़े और 13 सीटों में से 8 सीटें अकाली दल को प्राप्त हुई। 1999 में संपन्न 13वीं लोकसभा चुनावों में शिरोमणि अकाली दल को 2 सीटें प्राप्त हुई। मई 2004 में संपन्न 14वीं लोकसभा चुनावों में अकालीदल ने भाजपा के साथ मिलकर चुनाव लड़ा और उसे 8 सीटों के साथ 0.91 प्रतिशत वोट मिले। 2009 में सम्पन्न 15वीं लोकसभा के चुनावों में अकाली दल को मात्र 4 सीटें प्राप्त हुई। आज अकाली दल राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन का एक घटक दल है।

द्रविड़ मुनेत्र कड़गम तथा अन्ना द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम (D.M.K. and A.D.M.K.)

तमिलनाडु राज्य में द्रविड़ कड़गम एक स्थानीय द्रविड़ आन्दोलन की राजनीतिक शक्ति का प्रतीक है। इसकी मूल जड़ें जस्टिस पार्टी (दक्षिण भारतीय उदारवादी संघ) में थी जो एक गैर ब्राम्हण आन्दोलन

था। पेरियर के नाम से विख्यात ई.बी. रामास्वामी नाइकर जो 1938 में जस्टिस पार्टी के अध्यक्ष थे, ने राजनीति को तमिल रुप देने का कार्यक्रम शुरु किया और तमिलनाडु में एक नये राज्य द्रविड़िस्तान बनाने की मांग रखी। 1944 में पेरियर ने दल का द्रविड़ कड़गम के नाम से पुनः निर्माण किया और अपना लक्ष्य एक स्वतंत्र द्रविड़िस्तान की प्राप्ति रखा। इसने तमिल समुदाय को एक पूर्ण इकाई के रुप में राजनीतिक गतिविधियों

के द्वारा ऊंचा उठाने के लिए प्रोत्साहित किया। द्रविड़ कड़गम एक ब्राम्हण विरोधी और धर्म विरोधी दल था।

जस्टिस पार्टी के सक्रिय सदस्य और पेरियर के मुख्य समर्थक तथा द्रविड़ कड़गम के एक समूह के नेता सी.एन. अन्नादुराई ने 1949 में एक नये दल द्रविड़ मुनेत्र कड़गम का गठन किया। यह एक प्रकार से पेरियर की प्रजातंत्र विरोधी नीति के विरुद्ध विरोध था। अन्नादुराई जनता के प्रिय महान नेता व ओजस्वी वक्ता थे, उन्होंने जल्दी ही द्रविड़ मुनेत्र कड़गम को तमिल राजनीति में विशिष्ट स्थान दिला दिया। 1957 में पहली बार द्रविड़ कड़गम में हिस्सा लिया और 15% मत प्राप्त किये। इसके प्रश्चात इसने तीव्र प्रगति की तथा 1967 के आम चुनाव में डी.एम.के मद्रास में सत्तारुढ़ दल तथा राष्ट्रीय संसद में तीसरे बड़े विरोधी दल के रुप में आगे आया। अन्नादुराई ने मद्रास में डी.एम.के.दल की पूर्ण बहुमत की सरकार बनायी। फरवरी 1969 में अन्नादुराई की मृत्यु के पश्चात् दल में व्यक्तिगत प्रतिस्पर्धाएं तथा मतभेद प्रारम्भ हो गये। अन्त में करुणानिधि दल के नेता बने तथा 1969 से 1976 तक तमिलनाड़ के मुख्यमंत्री बने रहे। जनवरी 1967 में केन्द्रीय सरकार ने डी.एम.के. सरकार को भंग कर दिया। जून 1976 के चुनाव में राज्य विधानसभा में डी.एम.के. को 48 स्थान प्राप्त हुए। हिन्दी विरोध और आगे चलकर राज्यों के लिए स्वायत्ता इस दल की नीति और कार्यक्रम के प्रमुख आधार रहे है।

अन्ना डी.एम. के. डी.एम.के. के अध्यक्ष करुणानिधि और कोषाध्यक्ष एम.जी. राजचन्द्रन के बीच मतभेद उत्पन्न हो जाने पर अक्टूबर 1972 में एम.जी. रामचन्द्रन ने डी. एम. के. से अलग होकर अन्ना डी.एम. के. का निर्माण किया। अन्ना डी.एम.के. एक क्षेत्रीय दल है जिसका प्रभाव क्षेत्र तमिलनाडु और पाण्डिचेरी में है। जून 1977 के राज्य विधानसभा चुनावों में अन्ना डी.एम. के. ने 130 स्थान प्राप्त किये तथा एम.जी. रामचन्द्रन के नेतृत्व में राज्य मंत्रिमण्डल का गठन किया। अपनी स्थापना के समय से ही अन्ना डी.एम. के. की मूलनीति यथासम्भव केन्द्र के शासक दल के साथ सहयोग करने की रही है। इसी कारण 1977 के लोकसभा तथा विधानसभा चुनाव इसने सत्ता कांग्रेस के साथ सहयोग करते हुए लड़े, लेकिन जब केन्द्र में जनता पार्टी की सरकार बन गयी तो जनता पार्टी के समीप आने का कार्य किया और जब इसका पतन हो गया तो जनता 'एस' के साथ सरकार में भागीदारी की। मई 1980 के विधानसभा चुनावों में तमिलनाडु में दो गठबन्धन थे-पहला, कांग्रेस डी.एम. के गठबन्धन तथा दूसरा वामपन्थी तथा अन्य छोटे दलों के साथ अन्ना डी.एम. के. गठबन्धन। इसमें अन्ना डी. एम. के गठबन्धन ने सफलता प्राप्त कर तमिलनाडु में अपनी सरकार का निर्माण किया।

तमिलनाडु के दोनों राज्य स्तरीय दलों की राज्य में नीति एक-सी है और दोनों ही अखिल भारतीय सन्दर्भ में केन्द्र में सत्तारूढ़ दलों चाहे कांग्रेस हो या जनता पार्टी साथ देते रहे हैं या साथ देने के इच्छुक रहे हैं। राबर्ट हार्डग्रेव के अनुसार, "डी.एम. के. और डी.एम.के. एक-दूसरे प्रतिद्वन्द्वी जरूर है पर इन दोनों दलों की नीतियों में कोई विशेष अन्तर नहीं है।" दोनों दलों के कार्यक्रम के खास-खास मुद्दे इस प्रकार हैं- (i) समाज के पिछड़े वर्गों को समान अवसर दिये जायें तथा छुआछूत को पूरी तरह से समाप्त किये जाये। यहां यह उल्लेखनीय है कि सरकार ने राज्य के लगभग 65 हजार निर्धन बच्चों को दोहर का भोजन मुफ्त देने की योजना लागू करके एक साहसिक कदम उठाया। 1982-83 के बजट में इसके लिए एक अरब रुपये की व्यवस्था की गयी, (ii) अन्धविश्वास नष्ट किये जाय तथा हर क्षेत्र में 'बुद्धिवाद' (Rationalism) और वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया जाये, (iii) तमिल भाषा और संस्कृति का प्रचार किये जाये तथा हिन्दी के जबरन लादे जाने का विरोध किया जाये, (iv) डी.एम.के. की एक प्रमुख मांग यह रही है कि राज्यों को अधिक स्वायत्तता और वित्तीय साधन दिये जायें। 1970 में डी.एम.के. ने 'राज्य स्वायत्तता सम्मेलन' आयोजित किया। राजमन्नार समिति प्रतिवेदन के आधार पर अपनी राज्य स्वायत्तता की मांग को तार्किक आधार प्रदान किया।

दिसम्बर 1984 के लोकसभा चुनावों में अन्ना द्रमुक को 11 सीटे प्राप्त हुईं। वैसे उसने लोकसभा की 12 सीटों के लिए चुनाव लड़ा था। राज्य विधानसभा की 234 सीटों में उसे 133 सीटें प्राप्त हुई और इस तमिलनाडु में राज्य राजनीति की बागडोर पुनः अन्ना डी. एम. के. दल के हाथों में आ गयी।

फरवरी 1989 में तमिलनाडु विधानसभा चुनावों में डी.एम.के. को 147 स्थान प्राप्त हुए और करुणानिधि के नेतृत्व में 13 वर्ष बाद दल ने शासन की बागडोर संभाली। डी.एम. के को 33.4 प्रतिशित मत प्राप्त हुए। इसके विपरीत अन्ना द्रमुक (जय ललिता) को 21.7 प्रतिशत मत और 27 स्थान एवं अन्ना द्रमुक (जानकी) को 9.1 प्रतिशत मत और 1 स्थान मिला। नवम्बर 1989 के लोकसभा चुनावों में डी.एम. के. को एक सीटें प्राप्त नहीं हुई जबकि अन्ना डी.एम.के. (जय ललिता) को 13 सीटें मिलीं। 1991 में द्रमुक सरकार को बर्खास्त कर राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। तमिलनाडु विधानसभा चुनावों में जयललिता और अन्नाद्रमुक को अप्रत्याशित सफलता मिली। जहां द्रमुक को मात्र एक सीट मिली वहां अन्ना द्रमुक को 163 सीटें मिली और जयललिता मुख्यमन्त्री पद पर आसीन हुई । जयललिता लोगों को यह विश्वास दिलाने में कामयाब रही कि द्रमुक ने राज्य में उग्रवादी गतिविधियों को शह दी। मार्च 93 में अन्ना द्रमुक की

नेता जयललिता ने औपचारिक घोषणा कर कांग्रेस (इ) के साथ गठबंधन की स्थिति को समाप्त कर दिया।

1996 के लोकसभा तथा तमिलनाडु विधानसभा चुनाव डी. एम. के. ने तमिल मनीला कांग्रेस के साथ गठबन्धन तथा सिनेमाई व्यक्तित्व रजनीकान्त के समर्थन से लड़े और भारी सफलता अर्जित की। संयुक्त मोर्चे के एक भागीदार दल के रूप में डी.एम.के. एच.डी. देवगौड़ा और इन्द्रकुमार गुजराल के नेतृत्व में बनने वाली केन्द्रीय सरकार का सहभागी दल था। फरवरी 1998 में सम्पन्न 12 वीं लोकसभा के चुनाव अन्ना डी.एम. के भाजपा के साथ मिलकर लड़े और उसे 18 सीटें प्राप्त हुई जबकि डी.एम. के को मात्र 5 सीटें मिलीं। डी.एम.के. ने तमिल मनीला कांग्रेस के साथ मिलकर चुनाव लड़ा था। 1999 में सम्पन्न 13 वीं लोकसभा के चुनाव डी.एम.के ने राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन के सहयोगी के रूप में लड़े और उसे 12 सीटें मिली जबकि अन्ना द्रमुक ने कांग्रेस के साथ मिलकर चुनाव लड़ा और उसे 11 सीटें मिलीं। 14वीं लोकसभा के चुनाव अन्नाद्रमुक ने राजद के साथ मिलकर लड़े और उसे लोकसभा में एक भी सीट प्राप्त नहीं हुई। 13 मई, 2011 को घोषित तमिलनाडु विधानसभा चुनाव परिणामों से इंगित होता है कि 234 सदस्यीय विधानसभा में अन्नाद्रमुक गठबंधन को 203 सीटें प्राप्त हुईं जिनमें 150 सीटें अकेले अन्नाद्रमुक की है। द्रमुक को मात्र 23 सीटें प्राप्त हुई।

नेशनल कांफ्रेंस (National Conference)

नेशनल कांफ्रेन्स की मूल जड़ 1930 के दशक में 'वाचनालय दल' के रूप में थी। शेख मोहम्मद अब्दुल्ला इस छोटे से दल के राजनीतिक वाद-विवादों का नेतृत्व करते है। 'वाचनालय दल' शीघ्र ही अखिल जम्मू व कश्मीर मुस्लिम कांग्रेस में बदल गया। 1938 में अपने पहले अधिवेशन में नेशनल कांफ्रेन्स ने वयस्क मताधिकार की तथा अल्पसंख्यकों के लिए स्थानों के आरक्षण की सिफारिश की। भारत के विभाजन के समय नेशनल कांफ्रेन्स के नेता जेल में थे। भारतीय संघ में कश्मीर के विलय के बाद शेख अब्दुल्ला प्रधानमन्त्री बने। उन्होंने भारतीय संविधान सभा पर अनुच्छेद 370 को अंगीकार करने के लिए जोर डाला, जिसके अन्तर्गत जम्मू व कश्मीर राज्य के भारत गणराज्य के साथ विशेष सम्बन्ध स्थापित किये गये ।

केन्द्रीय सरकार के साथ कश्मीर के मामलों के एकीकरण की प्रक्रिया का शेख अब्दुल्ला और उनकी नेशनल कांफ्रेन्स ने विरोध किया तथा इससे इन्हें अगस्त 1953 में कैद व नजरबन्द कर दिया गया। जनवरी 1964 में मुख्यमन्त्री सादिक ने नेशनल कांफ्रेन्स 'कश्मीर स्वतन्त्रता आन्दोलन के सबसे पुराने दल' के उन्मूलन पर अध्यक्षता

की। भूतपूर्व प्रधान बख्शी गुलाम मुहम्मद ने स्वयं अपने नेतृत्व में नेशनल कांफ्रेन्स को पुनर्जीवित करने का निर्णय किया।

जम्मू एवं कश्मीर विधानसभा के लिए 1967 के आम चुनावों में बख्शी की नेशनल कांफ्रेन्स ने केवल आठ स्थान प्राप्त किये, हालांकि इसने कुल मतों का 34% प्राप्त किया। यह जनता में असन्तोष का केन्द्र-बिन्दु बन गयी।

1968 के शुरू में शेख अब्दुल्ला को बिना शर्त रिहा कर दिया। सितम्बर 1972 में कश्मीर में हुए नागरिक मतदान में उसके समर्थकों की लगभग सम्पूर्ण विजय ने नेशनल कांफ्रेन्स की राजनीतिक शक्ति के पुनः उभर आने की घोषणा की। फरवरी 1975 में शेख अब्दुल्ला तथा प्रधानमन्त्री श्रीमती गांधी के बीच समझौता सम्पन्न हुआ। इस समझौते के परिणामस्वरूप शेख अब्दुल्ला तथा उनकी नेशनल कांफ्रेन्स ने आत्म-निर्णय व जनमत संग्रह का नारा छोड़ दिया तथा राज्य की 1953 की स्थिति को पुनः प्रतिष्ठित किया गया। इस समझौते के आधार पर शेख के द्वारा जम्मू कश्मीर में कांग्रेस के सहयोग से सत्ता ग्रहण की गयी, लेकिन नेशनल कांफ्रेन्स और कांग्रेस दल के सम्बन्ध तनावपूर्ण बनते गये। मार्च 1977 के चुनावों में स्वतन्त्रता के बाद पहली बार शेख अब्दुल्ला तथा उनका दल नेशनल कांफ्रेन्स सत्ता में आया। विधानसभा चुनावों में नेशनल कांफ्रेन्स ने डाले गये मतों का 48% प्राप्त किया तथा मुख्यमन्त्री शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व में सरकार का गठन किया गया।

जून 1983 में कश्मीर विधानसभा चुनाव में सत्तारूढ़ नेशनल कांफ्रेन्स और कांग्रेस (इ) में जबरदस्त टक्कर हुई। नेशनल कांफ्रेन्स को 46 स्थान प्राप्त हुए और डॉ. फारुख अब्दुल्ला पुनः मुख्यमन्त्री पद पर आसीन हुए। उसके बाद नेशनल कांफ्रेन्स का स्वर केन्द्र विरोधी होता रहा और डॉ. फारुख 'राज्य स्वायत्तता' की मांग करने लगे।

अक्टूबर 1983 में श्रीनगर में प्रतिपक्षी नेताओं का सम्मेलन आयोजित करके उन्होंने राज्य स्वायत्तता और केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के पुनः निर्धारण का जोरदार समर्थन किया।

जुलाई 1984 में नेशनल कांफ्रेन्स से दल-बदल के कारण डॉ. फारुख की सरकार अल्पमत में आ गयी और राज्यपाल जगमोहन ने उसे बर्खास्त कर दिया। केन्द्र ने फारुख अब्दुल्ला पर यह आरोप लगाया था कि वह पृथकतावादी तत्वों से मिले हुए हैं और भारत विरोधी गतिविधियों में संलग्न हैं। जम्मू-कश्मीर की बागडोर जी.एम.शाह के हाथों में सौंप दी गयी जो नेशनल कांफ्रेन्स के प्रतिद्वन्द्वी गुट के नेता थे। दिसम्बर 1984 के लोकसभा चुनावों में नेशनल कांफ्रेन्स ने 4 प्रत्याशी खड़े किये और तीन स्थानों पर उसे विजय प्राप्त

हुई। नवम्बर 1986 में कश्मीर के राष्ट्रपति शासन की जगह लोकप्रिय सरकार का गठन किया गया, जिसका नेतृत्व डॉ. फारुख अब्दुल्ला कर रहे थे। सरकार में नेशनल कांफ्रेन्स और कांग्रेस (इ) दोनों ही दलों के व्यक्ति शामिल थे। मार्च 1987 के विधानसभा चुनाव में दो दलों के इस मोर्चे को भारी सफलता मिली और कश्मीर में पुनः एक मिली-जुली सरकार का गठन किया गया। नवम्बर 1989 के लोकसभा चुनावों में नेशनल कांफ्रेन्स को 6 में से 3 सीटें प्राप्त हुई।

1990-96 की कालावधि में जम्मू-कश्मीर में आतंकवादी गतिविधियां बड़े पैमाने पर शुरू हुई। जनवरी, 1990 में वहां राष्ट्रपति शासन लागू किया गया और जुलाई, 1990 से 8 अक्टूबर, 1996 तक वहां राष्ट्रपति शासन लागू रहा। सितम्बर 1996 में लगभग 9 वर्ष बाद वहां विधानसभा की 87 सीटों के लिए चुनाव सम्पन्न हुए। चुनाव परिणामों से स्पष्ट होता है कि कश्मीर की जनता ने पुनः सत्ता डॉ. फारुख अब्दुल्ला की नेशनल कांफ्रेन्स को सौंपने का निश्चय किया। उनकी पार्टी को 57 सीटें प्राप्त हुई। 9 अक्टूबर, 1996 को डॉ. फारुख अब्दुल्ला ने मुख्यमन्त्री पद की शपथ ली। सितम्बर-अक्टूबर 2002 में जम्मू-कश्मीर में नौवीं विधानसभ के अस्तित्व में आने से सत्तारूढ़ नेशनल कांफ्रेंस को सत्ता से हाथा धोना पड़ा। विधानसभा में यद्यपि नेशनल कांफ्रेंस सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभरी तथापि कुल 87 सीटों में से 28 सीटें ही उसे इन चुनावों में प्राप्त हो सकी जबकि 85 सीटों पर उसने उम्मीदवार खड़े किए थे। फारूख अब्दुल्ला सरकार के अधिकांश मंत्री इस चुनाव में पराजित हुए। 13 वी लोकसभा चुनावों में उसके 4 सदस्य राज्य से विजयी हुए जबकि 14वीं लोकसभा चुनावों में मात्र 2 तथा 15वीं लोकसभा चुनावों में 3 सदस्य विजयी रहे।

तेलगूदेशम् (Telgu Desham) तेलगूदेशम् आन्ध्र प्रदेश में राज्य स्तरीय दल है। जनवरी 1983 के आंध विधान सभा के चुनावों के 9-10 माह पूर्व इस दल की स्थापना की गयी। आंध्र प्रदेश कांग्रेस का गढ़ रहा है और तेलगूदेशम् की स्थापना कांग्रेस शासन की प्रतिक्रिया रही है। आमतौर यह माना जाता है कि अकेले रामाराव ने तेलगूदेशम् पार्टी पार्टी का गठन किया। मगर वास्तविकता यह है कि राजनीतिक दल की स्थापना में आंध्र प्रदेश के कुछ महत्वपूर्ण व्यक्तियों का हाथ है जिनकी राजनीतिक

आकांक्षाएं किसी से छिपी नहीं। इसी सिलसिले में 'ई-नाडु' तेलगू समाचार पत्र के संस्थापक रामूजीराव का नाम चर्चित हो गया है जो क्षेत्रीय समस्याओं के प्रकाशन से ही लोकप्रिय हो गया। रामूजीराव और उनके साथियों ने कई वर्षों से पूरे आंध्र प्रदेश में क्षेत्रीय भावनाओं पर आधारित सूचना तन्त्र की स्थापना की थी जिसके आधार पर वे किसी भी समय क्षेत्रीय दल का गठन कर सकते थे क्योंकि वे समझ चुके थे कि कांग्रेस

के शासन से प्रदेश के लोग क्षुब्ध हैं मगर कोई व्यावहारिक विकल्प न होने के कारण लोगों को बार-बार श्रीमती गांधी के करिश्मे की शरण लेनी पड़ती थी।

जनवरी 1983 के आंध्र विधानसभा के चुनावों में तेलगूदेशम् को भारी बहुमत प्राप्त हुआ। उसने 289 स्थानों पर चुनाव लड़ा और 294 सदस्यीय विधानसभा में उसके 202 सदस्य निर्वाचित हुए। एन.टी. रामाराव मुख्य मन्त्री बने ।

तेलगूदेशम् की चुनावी कार्यक्रम इस प्रकार था:

(1) उनकी पार्टी राज्य को स्वच्छ और प्रशासन प्रदान करेगी।

(2) लोगों को चावल दो रुपये प्रति किलो की दर से उपलब्ध कराया जायेगा।

(3) अफसरों की जवाबदेही पर विशेष ध्यान दिया जायेगा।

(4) निरर्थक और अलाभकारी खर्चों की कटौती होगी।

(5) उद्योगों, कृषि, सिचाई बिजली और ग्रामीण विकास, आदि क्षेत्रों में सलाह-मश्विरे के लिए आवश्यकमंच बनाये जायेंगे, जिनमें जन प्रतिनिधियों को शामिल किया जायेगा।

(6) उन सभी नियमों को खत्म कर दिया जायेगा जिन पर बेकार का खर्चा होता है।

(7)प्राथमिक पाठशालाओं के छात्रों को दोपहर का भोजन देने के लिए एक व्यापक कार्यक्रम बनाया जायेगा ।

(8) तेलगू प्रदेश की सरकारी भाषा होगी, सभी कामकाल इसी भाषा में किया जायेगा। मगर अन्य राज्यों और केन्द्र से हिन्दी ही सम्पर्क भाषा है। अंग्रेजी एक अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है।

सत्तारूढ़ होने के बाद तेलगूदेशम ने पड़ोसी राज्यों और प्रतिपक्षी दलों के साथ सहयोग की नीति अपनायी। रामाराव ने मन्दिरों की नगरी तिरुपति में एक महिला विश्वविद्यालय की स्थापना करवायी। वे छः हजार रुपये वार्षिक आय से कम वाले परिवारों को दो रुपये प्रति किलो की दर से चावल दिलवाने लगे।

तेलगूदेशम् दल राज्य स्वायत्तता का प्रबल समर्थक है। विजयवाड़ा और श्रीनगर में आयोजित सम्मेलनों में दल ने केन्द्र-राज्य सम्बन्धों पर पुनर्विचार की मांग की।

दिसम्बर 1984 के लोकसभा चुनावों में तेलगूदेशम् ने 32 स्थानों पर चुनाव लड़ा और उसे 28 सीटें प्राप्त हुईं। आठवीं लोकसभा में तेलगूदेशम ने विधानसभा की दो-तिहाई से अधिक सीटें जीतीं। नवमब्र 1989 के राज्य विधनसभा चुनावों में तेलगूदेशम् को भारी पराजय का मुंह देखना पड़ा। लोकसभा की 42 सीटों में तेलगू देशम को सिर्फ

2 सीटें मिली। विधानसभा चुनाव में यह पार्टी हार गई तथा 5 वर्ष बाद आंध्र प्रदेश में पुनः कांग्रेस सरकार लौट आई। 1991 के लोकसभा चुनावों में इसे मात्र 13 सीटें मिलीं। मार्च 1992 में इस पार्टी का विभाजन हो गया। लोकसभा में इसके 5 सदस्यों ने पृथक गुट बनाकर तेलगूदेशम् से नाता तोड़ लिया। दिसम्बर 1994 में हुए विधानसभा चुनावों में एन.टी. रामाराव के नेतृत्व में तेलगूदेशम् अप्रत्याशित बहुतम से विजयी हुई। पार्टी को 294 में से 225 सीटें प्राप्त हुई। अगस्त 1995 में तेलगूदेशम् का पुनः विभाजन हो गया। सत्तारूढ़ तेलगूदेशम् से अलग हुए गुट के नेता चन्द्रबाबू नायडू को एन.टी. रामाराव के स्थान पर पार्टी का अध्यक्ष चुन लिया गया। तेलगूदेशम् के विभाजन का मूल कारण रामाराव की दूसरी पत्नी लक्ष्मी पार्वती की राजनीतिक महत्वाकांक्षा थी। लक्ष्मी पार्वती की ओर से राजनीति में जो भूमिका निभाई गई उससे विधायक और मंत्रीकरण नाराज हो गये। तेलगू देशम् का विभाजन पार्टी के नेता रामाराव की कार्य शैली के खिलाफ पार्टी में आन्तरिक विद्रोह का भी परिणाम कहा जा सकता है।

1996 के लोकसभा चुनावों में तेलगूदेशम् को 16 सीटें प्राप्त हुईं। मुख्यमन्त्री चन्द्रबाबू नायडू के सक्रिय प्रयलों से केन्द्र में यूनाइटेड फ्रण्ट की सरकार बनी जिसमें तेलगूदेशम् एक सहभागी दल था।

श्री चन्द्रबाबू नायडू यूनाइटेड फ्रण्ट की संचालन समिति के संयोजक के तथा देवगौड़ा सरकार के त्यागपत्र के बाद प्रधानमन्त्री पद पर इन्द्रकुमार गुजराल के पक्ष में आज सहमति तैयार करने में उनकी प्रभावी भूमिका रही। फरवरी 1998 में सम्पन्न 12 वीं लोकसभा के चुनावों में तेलगूदेशम् को यद्यपि 12 सीटें प्राप्त हुई हैं, किन्तु केन्द्र में सरकार बनाने की चाबी उसके नेता चन्द्रबाबू नायडू के हाथें में आ गई। वाजपेयी सरकार को उन्होंने बाहर से समर्थन प्रदान किया। 1999 के 13 वीं लोकसभा चुनावों में तेलगूदेशम् के 29 सदस्य चुनकर लोकसभा में पहुंचे और राजग सरकार का बाहर से समर्थन कर करते रहे। 14वीं लोकसभा चुनावों में तेलुगुदेशम को मात्र 5 सीटों पर जीत हासिल हुई। 1999 के विधानसभा चुनावों में तेलगूदेशम् भाजपा गठबंधन को 192 स्थान प्राप्त हुए और चन्द्र बाबू नायडू के नेतृत्व में सरकार गठित की। असम गण परिषद असम का प्रमुख क्षेत्रीय दल असम गण परिषद है। जिस तेली से इसका उत्थान हुआ उतनी तेजी से इसके प्रभाव का ह्यास भी हुआ। असम गण परिषद का उदय असम आन्दोलन (1979-85) की कोख से हुआ। 1979-85 में असमिया मूल के लोगों में यह आशंका घर कर चुकी थी कि वे अल्पसंख्यक बन जायेंगे क्योंकि भारत की सीमा पर लाखों लोग आकर बसते जा रहे हैं। इसलिए 1979 में वहां एक विशाल आन्दोलन की शुरूआत हुई। इस आन्दोलन का नेतृत्व शूरू से आखिर तक विद्यार्थियों ने किया।

विद्यार्थी नेताओं ने अन्त तक इस आग्रह को कायम रखा कि वे राजनीतिक दल से कोई सम्बन्ध नहीं रखेंगे। अगस्त 1985 में असम समझौता हुआ जिसके तहत् व्यवस्थित रूप से चुनाव हुए। असम आन्दोलनकारियों ने चुनाव लड़ने के लिए असम गण परिषद के नाम से एक क्षेत्रीय दल का गठन किया, जिसने विधानसभा में पूर्ण बहुमत हासिल किया। प्रफुल्ल कुमार महन्त, जो विद्यार्थी आन्दोजन का नेतृत्व कर रहे थे, 24 दिसम्बर, 1985 को असम के मुख्यमन्त्री बने। बाद में असम गण परिषद राष्ट्रीय मोर्चे का घटक बन गया और विश्वनाथ प्रतापसिंह सरकार में उसके प्रतिनिधि शामिल हुए।

असम गण परिषद् की सरकार बोडो आन्दोलन से निबटने में असमर्थ रही। उल्फा के नेतृत्व में चलाये जा रहे अलगाववादी आन्दोलन ने उग्र रूप धारण कर लिया था। अतः चन्द्रशेखर सरकार ने असम सरकार को बर्खास्त कर राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया। जून 1991 के चुनावों में असम गण परिषद को 121 में से 19 सीटें ही प्राप्त हुई और राज्य में कांग्रेस इ सत्तारूढ़ हो गई।

असम गण परिषद के युवा नेता अपने पांच वर्ष के शासनकाल में जनता का विश्वास खोने लगे । वे भ्रष्टाचार के दल-दल में फंसते गये। वे विदेशियों की समस्या को भूल गये, जिसके लिए छः वर्षों तक आन्दोलन किया था। असम गण परिषद विभाजित हो गई और उसका करिश्मा लुप्त होने लगा।

1995 में असम गण परिषद में पुनः एकता स्थापित हो गई और परिषद ने विधानसभा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त कर लिया। 1996 के लोकसभा चुनावों में उसे 5 सीटें प्राप्त हुई और केन्द्र में यूनाइटेड फ्रण्ट की मिलीजुली सरकार में असम गण परिषद के प्रतिनिधि भी शामिल हुए। फरवरी 1998, में सम्पन्न 12 वीं तथा सितम्बर, 1999 में सम्पन्न 13 वीं लोकसभा चुनावों में असमगण परिषद् को एक भी सीट हासिल नहीं हुई। मई 2004 में संपन्न 14वीं लोकसभा चुनावों में उसे 2 तथा 2009 में सम्पन्न 15वीं लोकसभा चुनावों में 3 से मात्र 1 सीट पर विजय हासिल हुई। मई 2001 में सम्पन्न असम विधान सभा चुनावों में असम गण परिषद को 126 सदस्यीय विधानसभा में केवल 20 सीटों पर विजय प्राप्त हुई।

16.8 सार संक्षेप

भारत में राजनीतिक दलों को मुख्य रूप से दो श्रेणियों में बांटा जाता है: राष्ट्रीय दल और क्षेत्रीय दल। राष्ट्रीय दल वे दल होते हैं जिनका प्रभाव पूरे देश में होता है और जो विभिन्न राज्यों में चुनावी सफलता प्राप्त करते हैं। इन दलों का उद्देश्य राष्ट्रीय स्तर पर शासन करना होता है, और ये आमतौर पर केंद्र सरकार का गठन करते हैं। प्रमुख राष्ट्रीय दलों

में भारतीय जनता पार्टी (BJP), भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (INC), और बहुजन समाज पार्टी (BSP) शामिल हैं। दूसरी ओर, क्षेत्रीय दल वे दल होते हैं जिनका प्रभाव एक विशिष्ट राज्य या क्षेत्र में होता है। इन दलों का मुख्य उद्देश्य स्थानीय मुद्दों को उठाना और अपने क्षेत्र के विकास पर ध्यान केंद्रित करना होता है। ये दल अक्सर राज्य सरकारों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं और गठबंधन सरकारों का हिस्सा बनते हैं। तृणमूल कांग्रेस (TMC), शिवसेना, और समाजवादी पार्टी (SP) जैसे दल क्षेत्रीय राजनीति में प्रभावी हैं। इन दोनों प्रकार के दल भारतीय राजनीति में अलग-अलग भूमिकाएं निभाते हैं, जहां राष्ट्रीय दल व्यापक राष्ट्रीय हितों पर ध्यान केंद्रित करते हैं, वहीं क्षेत्रीय दल स्थानीय विकास और मुद्दों को प्राथमिकता देते हैं।

16.9 शब्दावली

1. राष्ट्रीय दल (National Party):वे राजनीतिक दल जो पूरे देश में चुनावी क्षेत्र में सक्रिय होते हैं और विभिन्न राज्यों में अपनी उपस्थिति दर्ज कराते हैं। उदाहरण: भारतीय जनता पार्टी (BJP), भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (INC), बहुजन समाज पार्टी (BSP)।

2. क्षेत्रीय दल (Regional Party):वे राजनीतिक दल जो एक विशेष राज्य या क्षेत्र में सक्रिय होते हैं और स्थानीय मुद्दों पर ध्यान केंद्रित करते हैं। उदाहरण: तृणमूल कांग्रेस (TMC), शिवसेना, समाजवादी पार्टी (SP)।

3. गठबंधन (Coalition):विभिन्न राजनीतिक दलों का एकत्र होना, ताकि वे एक साथ सरकार बना सकें। यह आमतौर पर तब होता है जब कोई दल पूर्ण बहुमत हासिल नहीं कर पाता।

4. संविधानिक पार्टी (Constitutional Party):वह राजनीतिक दल जो भारतीय संविधान और इसके सिद्धांतों का पालन करते हुए चुनावी राजनीति में भाग लेते हैं।

5. विचारधारा (Ideology):एक राजनीतिक दल की मूल विचारधारा या सिद्धांत जो उनके नीति-निर्माण और कार्यों को प्रभावित करती है। उदाहरण: समाजवाद, पूंजीवाद, धर्मनिरपेक्षता।

6. लोकतंत्र (Democracy):एक राजनीतिक व्यवस्था जिसमें सरकार जनता के प्रतिनिधियों द्वारा चुनी जाती है और जनता को राजनीतिक निर्णयों में भागीदारी का अधिकार होता है।

7. बहुमत (Majority):एक दल या गठबंधन द्वारा संसद या विधान सभा में आवश्यक सीटों का हासिल किया जाना, जिससे वे सरकार बना सकते हैं।

8. विधानसभा (Legislative Assembly):राज्य का निचला सदन, जिसमें जनता द्वारा चुने गए सदस्य होते हैं और यह राज्य के कानून बनाने की प्रक्रिया में भाग लेते हैं।

9. विधान परिषद (Legislary Council):राज्य का ऊपरी सदन, जो कुछ राज्यों में मौजूद होता है, जिसमें सदस्य विभिन्न क्षेत्रों से आते हैं और यह राज्य विधानमंडल में नीति-निर्माण में भागीदारी करते हैं।

10. चुनाव आयोग (Election Commission):एक स्वतंत्र संस्था जो चुनावों की प्रक्रिया और निष्पक्षता सुनिश्चित करने का कार्य करती है। यह चुनावों की तारीख तय करने, उम्मीदवारों की पात्रता जांचने, और चुनाव परिणामों की घोषणा करती है।

11. राजनीतिक गठबंधन (Political Alliance):दो या दो से अधिक राजनीतिक दलों का मिलकर चुनावी उद्देश्य के लिए एकजुट होना। यह गठबंधन आमतौर पर सरकार बनाने के लिए होता है।

16.10 स्व-प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

1. भारतीय दल प्रणाली का सही लक्षण है:

(अ) एक दलीय पद्धति (बी)बहुक्रिया पद्धति

(स) एक दल की प्रधानता वाली बहुदलीय पद्धति (डी) द्विदलीय पद्धति

2. भारत में वर्तमान में कितने राष्ट्रीय दल हैं?

(अ) 9 राष्ट्रीय दल (ब) 7 राष्ट्रीय दल

(स) 6 राष्ट्रीय दल (द) 4 राष्ट्रीय दल

4. राजनीतिक दलों के सिद्धान्त के सन्दर्भ में, निम्नलिखित में से किसका प्रतिपादन मौरिस दुवर्जर द्वारा किया गया ?

(ए) द्विदलीय व्यवस्था (स) संवर्ग

(ब) संरचना के आधार पर चतुर्वर्गीय वर्गीकरण (द) मिली-जुली बहुदलीय व्यवस्था

5. निम्नलिखित में से किसने राजनीतिक दल को 'अल्पतंत्र के लौह नियम के रूप में परिभाषित किया ?

(अ) वी.आई. लेनिन (स) डेविड ऐप्टर

(ब) राबर्ट मिशेल्स (द) मॉरिस दुवर्जर

6.निम्नांकित में से कौन-सा एक राजनीतिक दल नहीं है?

(अ) संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (स) भारतीय साम्यवादी दल

(ब) शिव सेना (द) तेलुगुदेशम

7. किस दल ने दिसम्बर 1999 में अपनी चेन्नई बैठक में चेन्नई घोषणा-पत्र को स्वीकृति दीः

(अ) बहुजन समाज पार्टी (ब) द्रविड़ मुनेत्र कढ़गम

(स) भारतीय जनता पार्टी (द) अन्ना द्रमुक

8. भारत में साम्यवादी दल की स्थापना कब हुई ?

(अ) 1906 (ब) 1925 (स) 1947 (द) 1950

9. साम्यवादी दल भारत में कब दो भागों में

विभक्त हुआ ?

(अ) 1925 (ब) 1964 स) 1975 (द) 1980

10. किस दल का सामाजिक-आर्थिक आधार कृषकों में देखा जा सकता है?

(अ) अकाली दल (ब) असम गण परिषद (स) शिव सेना (द) नेशनल कॉन्फ्रेन्स

उत्तर- 1. (स), 2. (स), 3. (ब), 4. (स), 5. (ब), 6. (अ), 7. (स), 8. (ब), 9. (ब), 10. (अ)

16.11संदर्भ सूची

1. शर्मा, बी. (2020). *राजनीति विज्ञान की मूल बातें.* दिल्ली: रेजेंट पब्लिशर्स।
2. पाठक, स. (2019). *भारत में राज्य विधानमण्डल: संरचना और कार्य.* नई दिल्ली: विश्लेषक पब्लिशिंग।
3. अग्रवाल, ह. (2021). *भारतीय संविधान और राज्य विधानमण्डल.* दिल्ली: एनसीईआरटी।
4. मिश्रा, र. (2022). *राजनीति विज्ञान: सिद्धांत और अभ्यास.* लखनऊ: आकाश पब्लिकेशन।
5. यादव, पी. (2023). *राज्य विधानमण्डल और राजनीति: एक अध्ययन.* मुंबई: तात्या पब्लिशर्स।
6. सिंह, अशोक. (2021). *भारतीय राजनीति में राज्य विधानमण्डल की भूमिका.* पटना: सुमेरु पब्लिकेशन।
7. शर्मा, र. (2020). *राज्य विधानमण्डल की कार्यप्रणाली: सिद्धांत और वास्तविकता.* जयपुर: भारतीय प्रिंट हाउस।

16.12अभ्यास प्रश्न

1. भारत में दलीय प्रणाली की प्रमुख विशेषताओं का विवेचन कीजिए।

2. भारतीय जनता पाटी के संगठन एवं चुनावी उपलब्धियों का परीक्षण कीजिए।

3. कांग्रेस की विचारधारा एवं कार्यक्रम का वर्णन कीजिए।

4. अकाली दल की विचारधारा का परीक्षण कीजिए।

5. नेशनल कांफ्रेन्स अथवा तेलगू देशम् की विचारधारा एवं चुनावी उपलब्धियों का परीक्षण कीजिए।

6. भारत में दल प्रणाली की विशेषताएं लिखिए।

7. भारतीय राजनीति में अकाली दल की भूमिका बताइये ।

इकाई 17

भारतीय राजनीति में प्रमुख मुद्दे

17.1 प्रस्तावना
17.2 उद्देश्य
17.3 जाति
17.4 जाति का परम्परागत अर्थ एवं रूप
17.5 जाति का राजनीतिक रूप रजनी कोठारी का दृष्टिकोण
17.6 जाति और राजनीति में अन्तः क्रिया सैद्धान्तिक रूपरेखा
17.7 जाति के राजनीति करण की विशेषताएं
17.8 भारतीय राजनीति में 'जाति' की भूमिका
17.9 साम्प्रदायिकता और धर्म
17.10 साम्प्रदायिकता का अर्थ
17.11 भारत में साम्प्रदायिक राजनीति का विकास
17.12 क्षेत्र
17.13 भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद के कारण
17.14 गरीबी अथवा निर्धनता निवारण
17.15 भारत में गरीबी के कारण
17.16 गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम एवं पंचवर्षीय योजनाएं
17.17 सार संक्षेप
17.18 शब्दावली
17.19 स्व -प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर
17.20 संदर्भ सूची
17.21 अभ्यास प्रश्न

17.1 प्रस्तावना

प्रस्तावना– भारतीय राजनीति विश्व की सबसे बड़ी लोकतांत्रिक प्रणाली का प्रतिनिधित्व करती है, जो विविधता, जटिलता और चुनौतियों से परिपूर्ण है। भारतीय राजनीति का अध्ययन केवल शासन की प्रक्रिया को समझने तक सीमित नहीं है, बल्कि यह समाज, संस्कृति, और इतिहास के साथ गहराई से जुड़ा हुआ है।

यह पाठ्यक्रम विद्यार्थियों को भारतीय राजनीतिक प्रणाली, संविधान, और लोकतंत्र की मूलभूत संरचना से परिचित कराते हुए, समाज के विभिन्न मुद्दों जैसे जातिवाद, क्षेत्रवाद, साम्प्रदायिकता, और आर्थिक असमानता को समझने का अवसर प्रदान करता है। इसके साथ ही, यह पाठ्यक्रम भारत के विकास, चुनौतियों, और समकालीन राजनीतिक समस्याओं के समाधान में छात्रों की भूमिका को भी स्पष्ट करता है।

17.2 उद्देश्य

भारतीय राजनीति के प्रमुख मुद्दों के अध्ययन का उद्देश्य विद्यार्थियों के लिए निम्नलिखित बिंदुओं में स्पष्ट किया जा सकता है:

1. लोकतांत्रिक प्रक्रिया की समझ: भारतीय राजनीति में चुनावी प्रक्रिया, राजनीतिक दलों, और नागरिकों की भागीदारी का ज्ञान प्राप्त करना।

2. सामाजिक न्याय का महत्व: जाति, धर्म, लिंग और क्षेत्रीय असमानताओं के मुद्दों को समझकर सामाजिक न्याय की आवश्यकता को पहचानना।

3. आर्थिक असमानता और विकास: गरीबी, बेरोजगारी, और क्षेत्रीय असमानताओं जैसे मुद्दों का अध्ययन करना और उनकी राजनीतिक भूमिका को समझना।

4. धर्मनिरपेक्षता और सांप्रदायिकता: भारतीय समाज में धर्मनिरपेक्षता की आवश्यकता और सांप्रदायिकता के खतरों को जानना।

5. क्षेत्रीय राजनीति और संघवाद: केंद्र और राज्यों के बीच संबंधों और क्षेत्रीय राजनीति के बढ़ते प्रभाव का अध्ययन करना।

17.3 जाति

कतिपय विद्वानों की यह मान्यता है कि लोकतान्त्रिक एवं प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं की स्थापना के बाद जाति व्यवस्था का भारत में लोप हो जाना चाहिए। अन्य कुछ विद्वानों की धारणा थी कि जाति व्यवस्था परम्परागत शक्ति के रूप में कार्य करती है तथा राजनीतिक विकास एवं आधुनिकीकरण के मार्ग में बाधक है। इस सम्बन्ध में रजनी कोठारी का अभिमत है कि प्रथम, कोई भी सामाजिक तन्त्र कभी पूर्णतया समाप्त नहीं हो सकता, अतः यह प्रश्न करना कि क्या भारत में जाति का लोप हो रहा है, अर्थशून्य है। द्वितीय, जाति व्यवस्था आधुनिकीकरण और सामाजिक परिवर्तन में रुकावट नहीं डालती बल्कि इसको बढ़ाने में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। स्थानीय और राज्य स्तर की राजनीति में जातीय संघ और समुदाय निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करने में उसी प्रकार की भूमिका अदा करते हैं जिस प्रकार पश्चिमी देशों में दबाव गुट (Pressure Groups)। हमारे राजनीतिज्ञ एक अजीब असमंजस की स्थिति में हैं। जहां एक ओर वे जातिगत भेदभाव मिटाने की बात करते हैं वहीं दूसरी ओर जाति के आधार पर वोट बटोरने की कला में निपुणता हासिल करना चाहते हैं।

17.4 जाति का परम्परागत अर्थ एवं रूप

जाति व्यवस्था एक अति प्राचीन व्यवस्था रही है। इसका अभिप्राय पेशे के आधार पर समाज को कई भागों में बांट देना है। सामान्यतया यह माना जाता है कि जाति प्रथा की उत्पत्ति वैदिक काल में हुई। ब्राह्मण धार्मिक और वैदिक कार्यों का सम्पादन करते थे। क्षत्रियों का कार्य देश की रक्षा करना और शासन प्रबन्ध करना था। वैश्य कृषि और वाणिज्य सम्हालते थे तथा शूद्रों को अन्य तीन वर्षों की चाकरी करनी पड़ती थी। शुरू-शुरू में जाति प्रथा के बन्धन कठोर न थे और वह जन्म पर नहीं अपितु कर्म पर आधारित थे। बाद में जाति प्रथा में कठोरता आती गयी, वह पूरी तरह जन्म पर आधारित हो गयी तथा एक जाति से दूसरी जाति में अन्तःक्रिया असम्भव हो गयी। अपने मौलिक रूप में जाति प्रथा उपयोगी थी। चूंकि वह श्रम विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित थी, अतः उसने आर्थिक क्षेत्र में निपुणता के तत्व का समावेश किया। एक जाति का पेशा उसी जाति में होता था। बेटा बाप से अपना पुश्तैनी पेशा सीखता था और प्रायः उसी को अपनी आजीविका के साधन के रूप में अपना लेता था। इस प्रथा ने एक जाति और

बिरादरी के लोगों में भाई-चारे की भावना को बढ़ाया। एक जाति के लोग एक-दूसरे से भली-भांति परिचित होते थे तथा एक-दूसरे के सुख-दुःख में काम आते थे।

प्रो. घुरिये (Ghurye) ने जाति व्यवस्था की छः विशेषताएं बतायी हैं, जो इस प्रकार हैं:

(i)भारत में जाति ऐसे समुदाय है जिसका अपना विकसित जीवन है और इसकी सदस्यता जन्म से निश्चित होती है।

(ii) भारत का प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामाजिक स्थिति जानता है और जातियों के पदसोपान में ब्राह्मण सबसे ऊपर माना जाता है।

(iii) जातियों के आधार पर खान-पान और सामाजिक आदान-प्रदान के प्रतिबन्ध लगे रहते हैं।

(iv) गांवों तथा शहरों में जाति के आधार पर पृथकता की भावना बनी रहती है।

(v) कुछ जातियां कतिपय विशेष प्रकार के व्यवसायों को अपना पुश्तैनी अधिकार समझती हैं।

(vi) जातियों की परिधि में ही वैवाहिक आदान-प्रदान होता है और जातियां कई उपजातियों में विभक्त होती हैं। उप-जातियों में भी वैवाहिक परिसीमाएं हैं।

जाति का राजनीति से सम्पर्क सूत्र

स्वाधीनता संग्राम के दौरान ऐसा दीखता था कि जनता पर जातिवाद का प्रभाव कम हो रहा है, किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त जातिवाद ने फिर जोर पकड़ा और वयस्क मताधिकार व्यवस्था के देश में लागू कर दिए जाने के परिणामस्वरूप यह एक राजनीतिक शक्ति के रूप में उदित हुआ है। वैसे राजनीति पर जातिगत प्रभाव प्रतिनिधि व्यवस्था के लागू होने के समय से ही शुरू हो गया था, किन्तु यह प्रभाव नगण्य ही था। इसके लिए उत्तरदायी थे ब्रिटिश प्रशासन, राष्ट्रीय आन्दोलन तथा सीमित मताधिकार । स्वतन्त्रता की प्राप्ति ने प्रथम दो कारणों का निराकरण कर दिया और नए संविधान में अपनायी गयी वयस्क मताधिकार व्यवस्था ने तीसरे का। फलतः जातियों के प्रभाव क्षेत्र में आशातीत वृद्धि हो गयी। आरम्भ में तो सामाजिक अथवा आर्थिक दृष्टि से उच्च अथवा श्रेष्ठ जातियां ही राजनीति से प्रभावित रहीं और राजनीतिक लाभ उन्हीं तक सीमित रहे। समय के साथ-साथ मध्यम और निम्न समझी जाने वाली जातियां आगे आने लगीं और अपने राजनीतिक प्रभाव को बढ़ाने में प्रयत्नशील रहने लगीं। प्रो. रूडोल्फ के शब्दों में, "भारत के राजनीतिक लोकतन्त्र के सन्दर्भ में जाति वह धुरी है जिसके माध्यम से नवीन मूल्यों और तरीकों की खोज की जा रही है। यथार्थ में यह एक ऐसा माध्यम बन गयी है

कि इसके जरिए भारतीय जनता को लोकतान्त्रिक राजनीति की प्रक्रिया से जोड़ा जा सकता है।"

17.5 जाति का राजनीतिक रूप रजनी कोठारी का दृष्टिकोण (Political Dimensions of Caste: Rajni Kothari's Approach)

प्रो. रजनी कोठारी ने अपनी पुस्तक 'कास्ट इन इण्डियन पॉलिटिक्स' (Caste in Indian Politics) में भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका का विस्तृत विश्लेषण किया है? उनका मत है कि अक्सर यह प्रश्न पूछा जाता है कि क्या भारत में जाति प्रथा खत्म हो रही है? इस प्रश्न के पीछे यह धारणा है कि मानो जाति और राजनीति परस्पर विरोधी संस्थाएं हैं। ज्यादा सही सवाल यह होगा कि जाति-प्रथा पर राजनीति का क्या प्रभाव पड़ रह है और जाति-पाति वाले समाज में राजनीति क्या रूप ले रही है? जो लोग राजनीति में जातिवाद की शिकायत करते हैं, वे न तो राजनीति के प्रकृत स्वरूप को ठीक समझ पाए हैं और न जाति के स्वरूप को। भारत की जनता जातियों के आधार पर संगठित है। अतः न चाहते हुए भी राजनीति को जाति संस्था का उपयोग करना ही पड़ेगा। अतः राजनीति में जातिवाद का अर्थ जाति का राजनीतिकरण है। जाति को अपने दायरे में खींचकर राजनीति उसे अपने काम में लाने का प्रयत्न करती है। दूसरी ओर राजनीति द्वारा जाति या बिरादरी को देश की व्यवस्था में भाग लेने का मौका मिलता है। राजनीतिक नेता सत्ता प्राप्त करने के लिए जातीय संगठन का उपयोग करते हैं और जातियों के रूप में उनको बना-बनाया संगठन मिल जाता है जिससे राजनीतिक संगठन में आसानी होती है।

जाति व्यवस्था और राजनीति में अन्तः क्रिया के सन्दर्भ में प्रो. रजनी कोठारी ने जाति-प्रथा के तीन रूप प्रस्तुत किए हैं: (i) लौकिक रूप (The secular aspect), (ii) एकीकरण का रूप (The integration aspect) तथा (ii) चैतन्य रूप (The aspect of consciousness)

(i) जाति व्यवस्था का लौकिक रूप रजनी कोठारी ने जाति व्यवस्था के लौकिक रूप को व्यापक दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया। जाति व्यवस्था की कुछ बातों पर सबका ध्यान गया है जैसे जाति के अन्दर विवाह, छुआछूत और रीति-रिवाजों के द्वारा जाति की पृथक् इकाई को कायम रखने का प्रयत्न, लेकिन इस बात की ओर बहुत ही कम लोगों का ध्यान गया है कि जातियों में आपसी प्रतिद्वन्द्विता एवं गुटबन्दी रहती है, प्रत्येक जाति प्रतिष्ठा और सत्ता की प्राप्ति के लिए संघर्षरत रहती है। उदाहरण के लिए, आजकल बिहार में ऊंची जातियों और पिछड़ी जातियों के बीच सत्ता प्राप्ति का अनवरत संघर्ष चल

रहा है और यही कारण है कि जनता शासन के दौरान दोनों ही मुख्यमन्त्री पिछड़ी और अनुसूचितजातियों से आए। तौलिक पक्ष के दो रूपरूप यानि जाति की ओर गांव की पंचायत और चौधराहट। दूसरा रूप राजनीतिक था यानि जाति की आन्तरिक गुटबन्दी और अन्य जातियों से गठजोड़ और प्रतिद्वन्द्विता। इन संगठनों का प्रभाव इस बात पर निर्भर करता था कि स्थानीय नेताओं के समाज की केन्द्रस्थ सत्ता से किस प्रकार के सम्बन्ध थे। धर्म, व्यवसाय और प्रदेश के आधार पर इन जातियों की स्थिति बनती और बिगड़ती थी। पहले इन जातियों का सम्बन्ध जाति या गांव की पंचायत और राजा या जमींदार से रहता था। अब जातीय पंचायतों के स्थान पर विधानसभाएं और संसद हैं तथा राजा के स्थान पर राष्ट्रीय सरकार है। रजनी कोठारी का यह भी विचार है कि देश की राजनीति पर किसी एक जाति का प्राधान्य नहीं हो सका क्योंकि कुछ स्थानों पर ब्राह्मणों का वर्चस्व था तो कुछ प्रदेशों में जैसे गुजरात और मारवाड़ में जैन, वैष्णव जैसे सम्प्रदायों के हाथ में आर्थिक शक्ति थी।

(ii) जाति व्यवस्था का एकीकरण रूप जाति का दूसरा रूप एकीकरण का है अर्थात् व्यक्ति को समाज से बांधने का है। जाति प्रथा जन्म के साथ ही प्रत्येक व्यक्ति का समाज में स्थान नियत कर देती है। जाति के आधार पर ही उस व्यक्ति का व्यवसाय और आर्थिक भूमिका निश्चित हो जाती है। चाहे कितना भी बड़ा व्यक्ति क्यों न हो, उसका अपने समाज में लगाव पैदा हो जाता है, जाति के प्रति उसकी निष्ठा बढ़ने लगती है। यही निष्ठा आगे चलकर बड़ी निष्ठाओं अर्थात् लोकतन्त्र और राजनीतिक व्यवस्था के प्रति भी विकसित हो सकती है। इस प्रकार जातियां जोड़ने वाली कड़ियां बन जाती है। लोकतन्त्र के अन्दर विभिन्न समूहों में शक्ति के लिए प्रतिद्वन्द्विता होती है और विभिन्न जातियों में आपस में मिल-जुलकर गठजोड़ बनाने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है ताकि वे सत्ता का लाभ प्राप्त कर सकें।

(iii) जाति व्यवस्था का चैतन्य रूप जाति प्रथा का तीसरा रूप चेतना बोध है। कुछ जातियां अपने को उच्च समझती हैं और इस कारण समाज में उनकी विशेष प्रतिष्ठा होती है। इस कारण कुछ निम्त समझी जाने वाली जातियां भी अपने को उनके साथ जोड़ने की चेष्टा करती है। क्षत्रिय वर्ण के साथ जो प्रतिष्ठा जुड़ी हुई है, उसके कारण देश के विभिन्न भागों में अनेक जातियों ने इस वर्ण का दावा किया है। कुछ जातियों में इसी प्रकार बाह्मण पद का भी दावा किया है। राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक स्थिति में परिवर्तन के परिणामस्वरूप जाति विशेष की स्थिति भी बदलती है। सामाजिक व्यवहार में अलग-अलग स्तर पर अलग-अलग रूप धारण करने के कारण जाति व्यवस्था में लोच और परिवर्तनशीलता आ जाती है। इसके लिए चार मार्ग अपनाए जाते हैं। प्रथम,

संस्कृतिकरण का तरीकों है। संस्कृतिकरण में छोटी जातियां सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए बाहह्मणों के रीति-रिवाजों की नकल करने लगती हैं। इसे ब्राह्मणीकरण भी कहा जाता है। द्वितीय, लौकिकीकरण या अब्राह्मणीकरण का तरीका है। आर्थिक उन्नति, राजनीतिक एकता और बुद्धिवाद की सार्वजनिक प्रवृत्तियों के प्रभाव से अक्सर अब्राह्मण जातियां ब्राह्मणों की नकल करने की प्रवृत्ति छोड़ देती हैं और अन्य अबाह्मण जातियों से मिलकर राजनीतिक व सामाजिक अधिकार प्राप्त करने की चेष्टा करती हैं। तृतीय, महापुरुषों से सम्बन्ध जोड़ने का तरीका है। कभी-कभी कतिपय जातियां अपनी उच्चता सिद्ध करने के लिए अपना सम्बन्ध पौराणिक पुरुषों से जोड़ने का प्रयत्न करती हैं। जैसे गुजरात के पाटीदार, बंगाल के महाष्यि और राजस्थान के जाट, आदि। चतुर्थ, आधुनिक राजनीति में भी भागीदारी का तरीका है। कुछ जातियां सीधे ही आधुनिक राजनीति में भाग लेने लगीं और इस प्रकार उन्होंने समाज में भी उच्च स्थिति प्राप्त की। आन्ध प्रदेश और बिहार इसके उदाहरण है।

प्रो. रजनी कोठारी ने जाति के राजनीतिकरण की चर्चा करते हुए कहा है कि 'इससे पुराना समाज नयी राजनीतिक व्यवस्था के करीब आया है।' इस प्रक्रिया को उन्होंने तीन चरणों में बांटा है:

(i) शक्ति और प्रभाव की प्रतिस्पर्द्धा-ऊंची जातियों तक सीमित रही भारत का पुराना समाज जब नयी व्यवस्था के सम्पर्क में आने लगा तो सबसे पहले शक्ति और प्रभाव की स्पर्द्धा समाज की प्रतिष्ठित और जमी हुई जातियों तक सीमित रही। जिन जातियों ने उच्च शिक्षा प्राप्त करके आधुनिक बनने का प्रयत्न किया, वे प्रतिष्ठित जातियों के समक्ष आने लगीं। इन जातियों ने अधिकार और पदप्राप्त करने के लिए अपना राजनीतिक संगटन बनाया कि संची जातियों में प्रति और प्रतिनिता बढ़ने लगी। तमिलनाडु और महाराष्ट्र में ब्राह्मण-अब्राह्मण; राजस्थान में राजपूत जाट; गुजरात में नियां-ब्राह्मण-पाटीदार, आन्ध प्रदेश में कम्मा रेड्डी और केरल में इजवा-नायर द्वन्द्व इसके उदाहरण हैं।

(ii) जाति के अन्दर की प्रतिस्पर्धी गुटबन्दी इस चरण में भिन्न-भिन्न जातियों की प्रतिस्पर्द्धा के साथ-साथ जाति के अन्दर भी प्रतिस्पर्धी गुट बन जाते हैं। प्रतिद्वन्द्वी नेताओं के पीछे गुट बन जाते हैं। इन गुटों में विभिन्न जातियो के लोग होते हैं। अपना गुट मजबूत करने के लिए उन जातियों की भी सहायता ली जाती है, जो अब तक दायरे से बाहर थीं। चुनाव में समर्थन प्राप्त करने के लिए नीच जातियों के प्रमुख लोगों को छोटे राजनीतिक पद और लाभ में कुछ हिस्सा देकर प्रतिस्पद्धों नेता अपना गुट मजबूत करने का प्रयत्न करते हैं। जहां इस प्रकार मुखियों को इनाम और पद देकर इन जातियों का समर्थन प्राप्त करना सम्भव नहीं हुआ, वहां विभिन्न जातियों और उपजातियों में आपसी प्रतिस्पर्द्धा पैदा

करके उनका संगठन बनाने की और उन संगठनों के मध्यस्थ या बिचवइयों द्वारा समझौता करने की कोशिश की गयी। इस चरण में पुराने ब्राह्मण और कायस्थ, आदि प्रशासनिक जातियों के नेताओं के बजाय व्यवसायी और कृषक जातियों के नेताओं और कार्यकर्ताओं की संख्या बढ़ी। ये नेता सौदा पटाने में कुशल थे, ज्यादा व्यावहारिक थे और अपने वर्ग और जाति के लोगों का नेतृत्व कर सकते थे। (iii) जाति के बन्धन ढीले पड़ना और राजनीति को व्यापकता मिलना रजनी कोठारी के अनुसार तीसरे चरण में एक ओर राजनीतिक मूल्यों की प्रधानता हुई और जाति-पांति से लगाव कम हुआ, वहां दूसरी ओर शिक्षा, नए शिल्प और शहरीकरण के कारण समाज में परिवर्तन आया। भौतिक उन्नति की नयी धारणाओं का जोर बढ़ा। पुराने पारिवारिक बन्धन टूटने लगे और लोग काम-धन्धे के लिए शहरों में जाकर बसने लगे। जाति की भावना ढीली पड़ने लगी और सामाजिक व्यवहार अपनी जाति तक सीमित न रहा। राजनीति में भी व्यापकता आयी। नयी शिक्षा और नए सामाजिक व्यवहार से उत्पन्न होने वाली नयी प्रवृत्तियां फैलने लगीं। राजनीतिक संस्थाओं का ढांचा व्यापक होने लगा और जाति की भावना को नया रूप मिलने लगा। राजनीतिक प्रवृत्तियों ने नयी निष्ठाओं को जन्म दिया, जो पुरानी निष्ठाओं को काटती हैं। जाति अब राजनीतिक समर्थन या शक्ति का एकमात्र आधार नहीं रही, यद्यपि राजनीति में इसका अधिकाधिक उपयोग किया जा रहा है।

प्रो. रजनी कोठारी का राजनीति में जाति सम्बन्धी निष्कर्ष इस प्रकार है:

(1) आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था में भाग लेने के कारण पहले तो जाति प्रथा पर पृथक्ता की प्रवृत्ति का प्रभाव पड़ा, बाद में जाति भावना का सामंजस्य हुआ और इसने राजनीतिक संगठन में सहायता दी।

(2) आधुनिक राजनीति में भाग लेने से लोगों की दृष्टि में परिवर्तन हुआ और उनकी यह समझ में आ गया कि आज के युग में केवल जाति और सम्प्रदाय से काम नहीं चल सकता।

(3) जहां जाति बड़ी होती है, वहां भी उसमें एकता नहीं रहती, उसमें उप-जातियों के भेद हाते हैं और छोटी जातियां तो अपने बल पर चुनाव भी नहीं जीत सकती हैं। यदि कोई प्रत्याशी अपनी ही जाति का पक्ष लेता है तो दूसरी जातियां उसके खिलाफ हो जाती हैं इसलिए चुनाव की राजनीति में अनेक जातियों का गुट बनाना पड़ता है।

(4) राजनीति में आने के कारण जाति की भावना ढीली पड़ जाती है और अनेक नयी निष्ठाओं का उदय होता है।

(5) आजकल राजनीति में जातिवाद और सम्प्रदायवाद का जोर बढ़ने की शिकायत की जाती है। ऐसा समझा जाता है कि शिक्षा प्रसार, शहरों के विस्तार व औद्योगीकरण के कारण सम्प्रदाय और जाति के बन्धन ढीले पड़ रहे थे, वे चुनाव की राजनीति के कारण फिर से जोर पकड़ रहे हैं और इससे देश में फूट बढ़ेगी जिससे धर्मनिरपेक्ष लोकतन्त्र का ढांचा खतरे में पड़ जाएगा, किन्तु प्रो. कोठारी का मानना है कि वास्तव में जाति और राजनीति के मिश्रण से दूसरे ही परिणाम निकलते हैं। बजाय राजनीति पर जाति के हावी होने के, जाति का राजनीतिकरण हो जाता है (It is not Politics that gets caste ridden, it is caste that gets Politicization)। राजनीति ने जाति को लीक से हटाकर नया सन्दर्भ दे दिया, जिससे उसका पुराना रूप बदल रहा है।

(6) आधुनिकतावादी नेता जाति-पांति पर भले ही नाक-भौं सिकोड़ें, परन्तु इसके द्वारा राजनीतिक शक्ति उन वर्गों या समूहों के हाथ में पहुँच सकी, जो अब तक उससे वंचित थे।

(7) जाति के आधार पर संघ और संगठन बनते हैं जैसे कायस्थ सभा, क्षत्रिय संघ, आदि। सब मिलाकर जातीय संगठनों ने भारत की राजनीति में वही भाग लिया है जो पश्चिमी देशों में विभिन्न हितों व वर्गों के संगठनों ने।

(8) जातियों और सम्प्रदायों के राजनीति में भाग लेने के फलस्वरूप सामूहिक या राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ है और उनकी पृथकता कम होकर उनका राजनीतिक एकीकरण हुआ है।

17.6 जाति और राजनीति में अन्तः क्रिया सैद्धान्तिक रूपरेखा

भारत में जाति और राजनीति में किस प्रकार का सम्बन्ध है? इस सम्बन्ध में चार प्रकार से विचार प्रस्तुत किए जा रहे हैं:

सर्वप्रथम, यह कहा जाता है कि भारतीय सामाजिक व्यवस्था का संकलन जाति की संरचना के आधार पर हुआ है और राजनीति केवल सामाजिक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति मात्र है। सामाजिक संगठन राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप निर्धारित करता है।

द्वितीय, राजनीति के प्रभाव के फलस्वरूप जाति नया रूप धारण कर रही है। लोकतान्त्रिक राजनीति के अन्तर्गत राजनीति की प्रक्रिया प्रचलित जातीय संरचनाओं को इस प्रकार प्रयोग में लाती है जिससे सम्बद्ध पक्ष अपने लिए समर्थन जुटा सकें तथा अपनी स्थिति को सुदृढ़ बना सकें। जिस समाज में जाति को सर्वाधिक महत्वपूर्ण संगठन

माना जाता है उसमें यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि राजनीति इस संगठन के माध्यम से अपने आपको संगठित करने का प्रयास करे। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जिसे हम राजनीति में जातिवाद के नाम से पुकारते हैं वह वास्तव में जाति का राजनीतिकरण है।

तृतीय, भारत में राजनीति 'जाति' के इर्द-गिर्द घूमती है। जाति प्रमुखतम राजनीतिक दल है। यदि मनुष्य राजनीति की दुनिया में ऊंचा उठना चाहता है तो उसे अपने साथ अपनी जाति को लेकर चलना होगा। भारत में राजनीतिज्ञ जातीय समुदायों को इसलिए संगठित करते हैं ताकि उनके समर्थन से उन्हें सत्ता तक पहुँचने में सहायता मिल सके।

चतुर्थ, जातियां संगठित होकर प्रत्यक्ष रूप से राजनीति में भाग लेती हैं और इस प्रकार जातिगत भारतीय समाज में जातियां ही 'राजनीतिक शक्तियां' बन गयी है।

17.7 जाति के राजनीतिकरण की विशेषताएं

भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका की उभरती विशेषताएं निम्नवत् हैं:

प्रथम, जाति व्यक्ति को बांधने वाली कड़ी है। जातीय संघों और जातीय पंचायतों ने जातिगत राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं को बढ़ाया है। जाति-पांति को समाप्त करने वाले आन्दोलन अन्ततोगत्वा नयी जातियों के रूप में मुखरित हुए जैसे लिंगायत, कवीरपन्थी और सिक्ख आन्दोलन स्वयं नयी जातियां बन गए ।

द्वितीय, शिक्षा, शहरीकरण, औद्योगीकरण और आधुनिकीकरण से जातियां समाप्त नहीं हुईं अपितु उनमें एकीकरण की प्रवृत्ति को बल मिला और उनकी राजनीतिक भूमिका में वृद्धि हई।

तृतीय, राजनीति में प्रधान जाति (Dominant caste) की भूमिका का विश्लेषण किया जा सकता है। प्रधान जाति न केवल राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से ही शक्तिशाली होती है, बल्कि संख्या में भी गांव या इलाके में ज्यादा होती है। प्रधान जाति अपने संख्या बल के आधार पर गांव और क्षेत्र की स्थानीय संस्थाओं जैसे पंचायतों की राजनीति में सक्रिय होती है। यदि किसी राज्य विशेष में किसी जाति की प्रधानता होती है तो राज्य राजनीति में जाति एक प्रभावक तत्त्व बन जाती है। हरियाणा की राजनीति के बारे में डॉ. सुभाष कश्यप ने लिखा है "हरियाणा में जाति और वर्ग की भावना को

अपेक्षाकृत अधिक बल मिला है तथा हारेषाणा के जनजीवन में सदा ही 'जाति' राजनीतिक दल की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण रही है। गुड़गांव और महेन्द्रगढ़ क्षेत्रों का

अहीर, अहीर उम्मीदवार को ही मत देना चाहेगा अन्य किसी को नहीं यही बात राज्य के अन्य भागों में अन्य जाति के समूहों के बारे में लागू। होती है। चुनावों के समय यहां अक्सर एक पुरजोर नारा सुनायी पड़ता है 'जाट की बेटी जाट को, जाट का वोट जाट को।' आश्चर्य की बात यह है कि जाति की यह छूत हिन्दुओं तक ही सीमित नहीं, मुसलमान भी उनकी गिरफ्त से नहीं बच सके।"

चतुर्थ, उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही जातिगत समुदायों का झुकाव राजनीति की ओर हो गया था जबकि ब्रिटिश शासन ने भारत में एक मजबूत प्रशासनिक व्यवस्था की नींव डाली थी। सबसे पहले इसका ध्यान जनगणना कार्यालय की ओर गया जहां जातीय समुदायों ने सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्ति के ध्येय से अपने संगठन का नामकरण कराना आवश्यक समझा। बाद में अपनी जाति के लोगों के हितों को संरक्षण के लिए जातीय संघों ने प्रस्ताव पारित किए और शासन को अपनी मांगों के लिए प्रभावित करना प्रारम्भ किया। यहां तक कि कुछ जातियों ने शैक्षणिक सुविधा, शिक्षण संस्थाओं में जातिगत आरक्षण और सरकारी नौकरियों में आरक्षण की मांग की। तमिलनाडु की वेनियर (Venniyars) जाति के नेता पदायची (Padayachi) ने सी. राजगोपालाचारी के मंत्रिमण्डल में शामिल होने से इंकार कर दिया क्योंकि उन्होंने उनकी जातीय मांगों को मानने से इंकार कर दिया था। बाद में वे कामराज मंत्रिमण्डल में शामिल हो गए क्योंकि उन्होंने वेनियरों की मांगें स्वीकार कर ली थीं।

पंचम, निर्वाचनों के दिनों में जातिगत समुदाय प्रस्ताव पारित करके राजनीतिक नेताओं और दलों को अपने जातिगत समर्थन की घोषणा करके अपने हितों को मुखरित करते हैं।

षष्ठ, जाति की भूमिका राष्ट्रीय स्तर की राजनीति पर उतनी नहीं है जितनी स्थानीय और राज्य राजनीति पर है।

सप्तम, जाति और राजनीति के सम्बन्ध स्थैतिक न होकर गतिशील हैं।

17.8 भारतीय राजनीति में 'जाति' की भूमिका

जयप्रकाश नारायण ने एक बार कहा था कि 'जाति भारत में अत्यधिक महत्वपूर्ण दल है।' हेरल्ड गोल्ड के शब्दों में, 'राजनीति का आधार होने के बजाय जाति उसको प्रभावित करने वाला एक तत्व है।' भारतीय राजनीति में 'जाति' की भूमिका का अध्ययन निम्न शीर्षकों में किया सकता है:

(1) निर्णय प्रक्रिया में जाति की प्रभावक भूमिका (Influential role of Caste inDecision-making Process) - भारत में जातियां संगठित होकर राजनीतिक और प्रशासनिक निर्णय की प्रक्रिया को प्रभावित करती है। उदाहरणार्थ, संविधान में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए आरक्षण के प्रावधान रखे गए हैं जिनके कारण ये जातियां संगठित होकर सरकार पर दबाव डालती हैं कि इन सुविधाओं को और अधिक वर्षों के लिए अर्थात् जनवरी 2010 तक के लिए बढ़ा दिया जाए। अन्य जातियां चाहती हैं कि आरक्षण समाप्त किया जाए अथवा इसका आधार सामाजिक-आर्थिक स्थिति हो अथवा उन्हें आरक्षित सूची में शामिल किया जाए ताकि वे इसके लाभ से वंचित न रह जाएं।

(2) राजनीतिक दलों में जातिगत आधार पर निर्णय (Caste-oriented decisions at the level of Political Parties) भारत में सभी राजनीतिक दल अपने प्रत्याशियों का चयन करते समय जातिगत आधार पर निर्णय लेते हैं। प्रत्येक दल किसी भी चुनाव क्षेत्र में प्रत्याशी मनोनीत करते समय जातिगत गणित का अवश्य विश्लेषण करते हैं। 1962 में गुजरात के चुनाव में स्वतन्त्र पार्टी की सफलता का राज उसका क्षत्रिय जाति के समर्थन में छिपा हुआ था। हरिजन-मुसलमान-ब्राह्मण शक्तिपुंज बनाकर ही 1971 का आम चुनाव कांग्रेस ने जीता था। 1977 में जनता पार्टी की विजय का कारण उसे मुसलमानों और हरिजनों के साथ उच्च जातियों का प्राप्त समर्थन था। जनवरी 1980 के सप्तम लोकसभा चुनावों में कांग्रेस (इन्दिरा) की विजय का कारण था कि श्रीमती गांधी हरिजनों, ब्राह्मणों और मुसलमानों का जातीय समर्थन जुटाने में सफल हो गयीं। नवम्बर 1989 के लोकसभा चुनावों में उत्तर प्रदेश और बिहार में जनता दलकी अपूर्व विजय का एक कारण जाट-राजपूत रामर्थन था। उत्तर प्रदेश में बहुजन समाज पार्टी का उदय और आधार कतिपय दलित जातियों के समर्थन पर निर्भर है। कांग्रेस सहित सभी राजनीतिक दलों में जातीय आधार पर अनेक गुट पाए जाते हैं जिनमें प्रतिस्पर्द्धा की भावना विद्यमान रहती है।

"लोगों की जाति-पांति के प्रति निष्ठा को राजनीतिज्ञों ने थोक वोट के रूप में देखा; सत्ता में आने के लिए सदनों में बहुमत प्राप्त करने के उद्देश्य से राजनीतिज्ञों ने जाति-पांति के आधार पर उम्मीदवारों के चयन और सत्ता में आने पर उन्हें मंत्रिपद एवं अन्य लाभ के पद उपलब्ध कराए।"

(3) जातिगत आधार पर मतदान व्यवहार (Caste-oriented voting behaviour) भारत में चुनाव अभियान में जातिवाद को साधन के रूप में अपनाया जाता है और प्रत्याशी जिस निर्वाचन क्षेत्र में चुनाव लड़ रहा है उस निर्वाचन क्षेत्र में जातिवाद की

भावना को प्रायः उकसाया जाता है ताकि सम्बन्धित प्रत्याशी की जाति के मतदाताओं का पूर्ण समर्थन प्राप्त किया जा सके। जनवरी 1980 के चुनावों में उत्तर प्रदेश और कुछ बिहार के हिस्सों में लोकदल की सफलता पिछड़ी जातियों की राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं का प्रतीक है। उत्तर प्रदेश के चुनावों में चरणसिह की सफलता सदैव ही जाट जाति के मतों की एकजुटता पर निर्भर रही है। केरल के चुनावों में साम्यवादी और मार्क्सवादी दलों ने भी वोट जुटाने के लिए सदैव जाति का सहारा लिया है।

जिस प्रकार जापान में मतदान समूह-निर्धारित (Group determinant) है, ब्रिटेन में यह वर्ग-निर्धारित है, अमेरिका में यह प्रजाति-निर्धारित है, उसी प्रकार भारत में जाति-निर्धारित है। जो जातियां जातीय-संस्तरण में सबसे नीचे हैं, उनके लिए मतदान की प्रक्रिया कई प्रकार से एक शक्तिशाली क्रिया हो सकती है। जाति का सामाजिक व आर्थिक स्तर जितना निम्न होगा उतना ही उनके मत का अधिक महत्व होगा। कोहन, मेयर, कोठारी, वर्मा और भांभरी, रामाश्रय राय, आदि अनेक विद्वानों के भारत में गहन अध्ययनों से पता चलता है कि जातियां अपनी मत शक्ति के कारण प्रभाव डालने में सक्षम भूमिका निभाती रही हैं और शक्ति सौदेबाजी में लाभ प्राप्त करती रही हैं। ये जातियां राजनैतिक संस्थाओं में उच्च जातियों के नेतृत्व को चुनौती देती रही है, यद्यपि उन्हें सदैव सफलता प्राप्त नहीं होती है। रजनी कोठारी की भी मान्यता है कि जातियां अपनी पहचान बनाए रखती हैं और सत्ता के लिए संघर्ष करती हैं। आन्द्रे बेतेई ने कहा है कि मतदान में जाति निष्ठाओं (loyalties) का शोषण किया जाता है। जातियों को तोड़कर नवीन गठबन्धन भी स्थापित होते हैं। रूडोल्फ (Rudolph) का मत है कि जाति संघों ने जाति को नवीन स्फूर्ति प्रदान की है और भारत में जनतन्त्र ने जातियों को महत्वपूर्ण राजनैतिक भूमिका निभाने के योग्य बनाया है। जाति संगम (federations) एक जाति से ही नहीं बल्कि अनेक जातियों से मिलकर बनते हैं। कभी-कभी उनके राजनैतिक उद्देश्य एक समान होते हैं; उदाहरणार्थ, हरियाणा में गूजरों, जाटों और राजपूतों ने 1989 के चुनावों में इसी प्रकार के जाति संगम बना लिए थे।

चुनाव के लिए प्रत्याशी के चुनने मे राजनैतिक दल अक्सर चुनाव क्षेत्र की जाति-संरचना पर अधिक ध्यान देते हैं। इस तथ्य ने अनेक निम्नस्तरीय जातियों को उनकी संख्यात्मक शक्ति के आधर पर राजनैतिक दृष्टि से प्रभावशाली बना दिया है। 1960 व 1970 के दशकों में भारत में सम्पन्न हुए चुनाव पर हुए अध्ययन से ज्ञात होता है कि (i) मध्य व निम्न जाति के लोग कांग्रेस की ओर झुके हुए थे, (ii) उच्च जाति के लोग विरोधी दलों को वोट देने के पक्ष में थे और (iii) अनुसूचित जाति के लोग कांग्रेस के पक्ष में थे। किन्तु 1980 दशक के अन्त में और 1990 दशक के आरम्भ के चुनावों में उपरोक्त सिद्धान्त निरर्थक

सिद्ध हुए। कोठारी ने हाल में लिखा है कि राष्ट्रीय राजनीति में जाति का महत्व कम होता जा रहा है। हैरोल्ड गूल्ड (Economic and Political Weekly, August, 1977) भी इसी विचार के है कि भारत में अब राजनीतिक निर्धारक के रूप में जाति का महत्व कम हो रहा है। परन्तु कुछ विद्वानों की मान्यता है कि दिसम्बर 1994 में दस राज्यों में होने वाले चुनावों में दो-तीन राज्यों में जाति का वोटों पर प्रभाव अवश्य दिखाई देता है। आज जो वास्तविक कारक मतदाता को प्रभावित करते हैं उनमें से कुछ अचेतन व कुछ सचेत शक्तियां हैं, जिनमें से कुछ को सरलता से पहचाना जा सकता है, जबकि दूसरी भ्रामक है, यद्यपि वे भी समान रूप से महत्वपूर्ण निर्धारक हो सकते हैं।

(4) मंत्रिमण्डलों के निर्माण में जातिगत प्रतिनिधित्व (Caste representation in the Ministry making) - राजनीतिक जीवन में जातीयता का सिद्धान्त इतना गहरा धंस गया है कि राज्यों के मंत्रिमण्डल में प्रत्येक प्रमुख जाति का मन्त्री होना चाहिए। यह सिद्धान्त प्रान्तों की राजधानियों से ग्राम पंचायतों तक स्वीकृत हो गया कि प्रत्येक स्तर पर प्रधान जाति को प्रतिनिधित्व मिलना ही चाहिए। यहां तक कि केन्द्रीय मंत्रिमण्डल में भी हरिजनों, जनजातियों, सिक्खों, मुसलमानों, ब्राह्मणों, जाटों, राजपूतों और कायस्थों को किसी न किसी रूप में स्थान अवश्य दिया जाता है। हाल ही में अजीतसिंह को केन्द्रीय मंत्रिमण्डल में जातीय पृष्ठभूमि और उत्तर प्रदेश विधानसभा चुनावों में जातीय समीकरण को पुख्ता करने की मंशा से ही शामिल किया गया है।

(5) जातिगत दबाव समूह (Caste as Pressure Groups) मेयर के अनुसार, "जातीय संगठन राजनीतिक महत्व के दबाव समूह के रूप में प्रवृत्त हैं।" जातिगत दबाव समूह अपने न्यस्त स्वार्थों एवं हितों की पूर्ति के लिए नीति-निर्माताओं को जिस ढंग से प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं उससे तो उनकी तुलना यूरोप और अमरीका में पाए जाने वाले ऐच्छिक समुदायों से की जा सकती है।

अनेक जातीय संगठन और समुदाय जैसे तमिलनाडु में नाडार जाति संघ, गुजरात में क्षत्रिय महासंघ, बिहार में कायस्थ सभा, आदि राजनीतिक मामलों में रुचि लेने लगते हैं और अपने-अपने संगठित बल के आधार पर राजनीतिक सौदबाजी भी करते हैं। यद्यपि देश की सभी प्रमुख जातियों को इस प्रकार पूर्णतया संगठित नहीं किया जा सका है। मगर जो जातियां इस प्रकार संगठित नहीं हो सकीं, वे राजनीतिक सौदेबाजी में सफल नहीं रहीं और उनके सदस्यों को अपनी आवाज उठाने के लिए उपद्रव और तोड़-फोड़ का सहारा लेना पड़ा।

(6) जाति एवं प्रशासन (Caste and Administration) लोकसभा और विधानसभाओं के लिए जातिगत आरक्षण की व्यवस्था प्रचलित है, केन्द्र एवं राज्यों की सरकारी नौकरियों

एवं पदोन्नति के लिए जातिगत आरक्षण का प्रावधान है। मेडिकल एवं इन्जीनियरिंग कॉलेजों में विद्यार्थियों की भर्ती हेतु आरक्षण के प्रावधान मौजूद है। चरणसिंह सरकार ने तो अल्पकाल में एक अध्यादेश के माध्यम से पिछड़ी जातियों के लिए केन्द्रीय सरकार की सेवा में आरक्षण व्यवस्था घोषित करने की मंशा प्रकट की थी और इस सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय को भी ताक में रख दिया था। यदि यह अध्यादेश लागू हो जाता तो मध्यम जातियाँ; जैसे अहीर, कुर्मी, आदि को भी आरक्षण के अवसर मिल जाते। राष्ट्रीय मोर्चा सरकार ने अगस्त 1990 में मण्डल रिपोर्ट लागू कर नौकरियों में पिछड़ी जातियों के लिए 27 प्रतिशत आरक्षण का प्रावधान किया। ऐसा भी माना जाता है कि भारत में स्थानीय स्तर के प्रशासनिक अधिकारी निर्णय लेते समय अथवा निर्णयों के क्रियान्वयन में प्रधान और प्रतिष्ठित अथवा संगठित जातियों के नेताओं से प्रभावित हो जाते हैं।

(7) राज्य राजनीति में जाति (Caste in State Politics) माईकेल ब्रेचर के अनुसार अखिल भारतीय राजनीति की अपेक्षा राज्य स्तर की राजनीति पर जातिवाद का प्रभाव अधिक है। यद्यपि किसी भी राज्य की राजनीति जातिगत प्रभावों से अछूती नहीं रही है तथापि बिहार, केरल, तमिलनाडु, आन्ध प्रदेश, महाराष्ट्र, हरियाणा, राजस्थान और महाराष्ट्र राज्यों की राजनीति का अध्ययन तो बिना जातिगत गणित के विश्लेषण के कर ही नहीं सकते। बिहार की राजनीति में राजपूत, ब्राह्मण, कायस्थ और जनजाति प्रमुख प्रतिस्पर्दी जातियां हैं। पृथक् झारखण्ड राज्य की मांग वस्तुतः एक जातीय मांग ही रही है। केरल में साम्यवादियों की सफलता का राज यही है कि उन्होंने 'इजावाहा' जाति को अपने पीछे संगठित कर लिया। आन्ध्र प्रदेश की राजनीति काम्मा और रेड्डी जातियों के संघर्ष की कहानी है। काम्माओं ने साम्यवादी दल का समर्थन किया तो रेड्डी जाति ने कांग्रेस दल का। महाराष्ट्र की राजनीति में मराठों, ब्राह्मणों और महरों में प्रतिस्पर्द्धा रही है। गुजरात की राजनीति में दो ही जातियां प्रभावी हैं पाटीदार और क्षत्रिय। केरल की राजनीति अपने तीन समुदायों के इई-गिर्द घूमती रही है हिन्दू, क्रिश्चियन और मुसलमान । केरल की राजनीति में अन्तिम दो प्रमुख राजनीतिक शक्तियों के रूप में सक्रिय हैं। कहने को तो वहां सभी प्रकार के राजनीतिक दल है, किन्तु उन्हें ध्यानपूर्वक देखा जाए तो पता चलेगा कि वे सब जातीय संगठन हैं। मुस्लिम लीग मुसलमानों की है, दोनों केरल कांग्रेस के अधिसंख्य सदस्य ईसाई हैं। रा. प्रा.मी. नायर लोगों की संस्था है। कांग्रेस (इ) और दोनों साम्यवादी दलों में इजावाहा जाति के अलावा

हिन्दुओं के कुछ प्रमुख वर्गों का प्रभाव देखा जा सकता है। राजस्थान की राजनीति में जाट-राजपूत जातियों की प्रतिस्पर्द्धा प्रमुख रही है। संक्षेप में, राज्यों की राजनीति में

'जाति' का प्रभाव इतना अधिक प्रतीत हो रह है कि टिकर जैसे विद्वानों ने 'राज्यों की राजनीति' को 'जातियों की राजनीति' की संज्ञा दे डाली है।

देश के सर्वाधिक आबादी वाले राज्यों उत्तर प्रदेश और बिहार में जाति की राजनीति ज्यादा ही खुलकर सामने आती रही। उत्तर प्रदेश में चरणसिंह और बिहार में कर्पूरी ठाकुर के नेतृत्व में जात-पांत को खुलकर बढ़ावा मिला। देवीलाल ने भी हरियाणा में जाति की बैसाखियों पर ही सत्ता के शिखर छूने का प्रयास किया। बिहार में लालूप्रसाद यादव के नेतृत्व में जाति की राजनीति की जड़ मजबूत हुई, तो उत्तर प्रदेश में मुलायमसिह यादव व कांशीराम की प्रतिनिधि मायावती ने अपने-अपने जातीय वोट बैंकों के आधार पर राज्य को जातीय संघर्षों की ओर धकेल दिया।

17.9 (II) साम्प्रदायिकता और धर्म

संविधान द्वारा भारत को एक पंथनिरपेक्ष राज्य घोषित किया गया है फिर भी भारतीय राजनीति में पंथ की एक विशेष भूमिका है। हम पंथ निरपेक्ष राज्य की स्थापना तो कर पाए हैं, किन्तु धर्मनिरपेक्ष समाज की नहीं। धार्मिक विभिन्नता के कारण समाज में विभिन्न प्रकार के तनाव पैदा होते हैं और इन तनावों को बढ़ाने में राजनीतिज्ञ भी भूमिका अदा करते हैं। इससे उनके स्वार्थ सिद्ध होते हैं। बी.जी. गोखले जैसे अनेक व्यक्तियों ने आशा व्यक्त की थी कि राजनीति से धर्म के अलग हो जाने से हिन्दू और मुसलमानों के पुराने विरोध फिर कभी उत्पन्न नहीं होंगे। किन्तु पिछले 55 वर्षों में गुजरात, बिहार, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश राज्यों में हुई घटनाएं इस बात का सबल प्रमाण है कि साम्प्रदायिक वैमनस्य अभी भी विद्यमान है, जो छोटी-छोटी घटनाओं से भभक उठता है और भारत की राजनीति एवं शासन उससे आक्रान्त हो उठते हैं।

17.10 साम्प्रदायिकता का अर्थ

साम्प्रदायिकता के अन्तर्गत वे सभी भावनाएं व क्रियाकलाप आ जाते हैं जिनमें किसी धर्म अथवा भाषा के आधार पर किसी समूह विशेष के हितों पर बल दिया जाए और उन हितों को राष्ट्रीय हितों के ऊपर प्राथमिकता दी जाए तथा उस समूह में पृथकता की भावना उत्पन्न की जाए या उसको प्रोत्साहन दिया जाए। पारसियों, बौद्धों, जैनों तथा ईसाइयों के अपने-अपने संगठन हैं, साथ ही वे अपने सदस्यों के हितों की साधना में लिप्त रहते हैं, परन्तु ऐसे संगठनों को सामान्यतः साम्प्रदायिक नहीं कहा जाएगा क्योंकि वे किसी पृथकता की भावना से प्रेरित नहीं हैं। इसके विपरीत, मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा तथा अन्य कुछ संस्थाओं को साम्प्रदायिक कहा जाएगा क्योंकि वे धार्मिक अथवा भाषा समूहों के अधिकारों तथा हितों को राष्ट्रीय हितों के भी ऊपर रखते हैं।

विंसेंट स्मिथ के शब्दों में, "एक साम्प्रदायिक व्यक्ति या व्यक्ति समूह वह है जो कि प्रत्येक धार्मिक अथवा भाषायी समूह को एक ऐसी पृथक् सामाजिक तथा राजनीतिक इकाई मानता है, जिसके हित अन्य समूहों से पृथक् होते हैं और उनके विरोधी भी हो सकते हैं। ऐसे ही व्यक्तियों अथवा व्यक्ति समूह की विचारधारा को सम्प्रदायवाद या साम्प्रायिकता कहा जाएगा।"

सामान्यत, एक सम्प्रदायवादी का दृष्टिकोण समाज विरोधी होता है। उनको समाज विरोधी इसलिए कहा जा सकता है क्योंकि वह अपने समूह के संकीर्ण हितों को पूरा करने के लिए अन्य समूहों के और सम्पूर्ण देश के भी हितों की अवहेलना करने से पीछे नहीं हटता। साम्प्रदायिक संगठनों का उद्देश्य शासकों के ऊपर दबाव डालकर अपने सदस्यों के लिए अधिक सत्ता, प्रतिष्ठा तथा राजनीतिक अधिकार प्राप्त करना होता है।

जब एक समुदाय जान-बूझकर धार्मिक-सांस्कृतिक भेद के आधार पर राजनीतिक मांगें रखने का निर्णय करता है तब सामुदायिक चेतना सम्प्रदायवाद के रूप में एक राजनीतिक सिद्धान्त बन जाती है। राजनीतिक स्वायत्तता को तब सांस्कृतिक स्वायत्तता सुरक्षित रखने की अनिवार्य शर्त घोषित कर दिया जाता है। बहुसंस्कृतीय समाज में सामाजिक तनाव तथा टकराव वास्तव में विभिन्न समूहों के बीच चलरहे सत्ता द्वन्द्व के लक्षण हैं। इस पारस्परिक द्वन्द्व को सैद्धान्तिक स्तर पर धर्म की शिला पर खड़ा करना एक राजनीतिक विचारधारा के रूप में सम्प्रदायवाद का मूल सार है।

भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता का उदय (Emergence of Communalism in Indian Politics) मानव इतिहास में धर्म के नाम पर सदैव विवाद उठते रहते हैं। धर्म की दृष्टि से भारत विशेष रूप से हतभाग्य रहा है। स्वाधीनता आन्दोलन के समय अंग्रेजों ने भारत में अपना शासन बनाए रखने के लिए धार्मिक भेद-भावों का विशेष लाभ उठाया। अंग्रेजी शासनकाल में साम्प्रदायिक भावनाओं को राजनीतिक रूप मिलने का एक कारण यहां प्रतिनिधि या निर्वाचित संस्थाओं की स्थापना थी। अंग्रेज लोग प्रतिनिधित्व का अर्थ अलग-अलग समूहों, वर्गों, हितों, क्षेत्रों, संस्थाओं और सम्प्रदायों का प्रतिनिधित्व समझते थे। उन्होंने भारत के अनेक सम्प्रदायों और जातियों की समस्या को इनके स्वाभाविक अस्तित्व बोध और एक-दूसरे की आपसी वैमनस्यता की समस्या समझा और उसका उपाय अलग-अलग धार्मिक समूहों को पृथक् पृथक् प्रतिनिधित्व देने में समझा। स्वतन्त्रता के बाद पिछले 56 वर्षों में देश में हुई साम्प्रदायिक घटनाओं की कुल तादाद आज लगभग 5,000 ठहरती है। गृह मन्त्रालय के साम्प्रदायिक एकता प्रकोष्ठ की 1980-81 की रपट के अनुसार सन् 1977 तक

साम्प्रदायिक हिंसा की जो घटनाएं देश में घटीं, वे कुल हिंसात्मक वारदातों की 11.6 प्रतिशत ठहरती थीं, 1982 तक यह प्रतिशत बढ़कर 17.6 हो गया और सन् 1982 के बाद तो उनमें 50 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई है। सन् 1961 में साम्प्रदायिक तनाव की दृष्टि से देश में 61 जिले पुलिस द्वारा गड़बड़ी वाले जिले माने गए, 1990 में ऐसे जिलों की संख्या 100 हो गयी। 88 अन्य जिले तो ऐसे माने जाते हैं जहां किसी भी समय कुछ भी हो सकता है। इन जिलों में से 36 तो सिर्फ उत्तर प्रदेश में हैं। सन् 1987 में मेरठ शहर में भीषण साम्प्रदायिक दंगे हुए जिनमें 300 लोगों की जानें गईं। आजादी के बाद मेरठ जिले में हुए 12 बड़े दंगों में 1,500 से ज्यादा लोग मारे गए। उत्तर प्रदेश में दंगों के कारण पिछले एक दशक में 5,500 लोगों की जानें जा चुकी हैं और 1,000 करोड़ रू. की सम्पत्ति स्वाहा हुई है। गुजरात भी साम्प्रदायिक हिंसा के लिए संवेदनशील हो चुका है। मई 1987 में पुरानी दिल्ली के अनेक क्षेत्रों में साम्प्रदायिक हिंसक वारदातें हुईं और प्रशासन को कर्फ्यू लगाना पड़ा। 5 जनवरी 1993 को मुम्बई शहर व्यापक साम्प्रदायिक हिंसक की चपेट में आ गया। हिंसा की इस घटना में 600 से अधिक लोग मारे गए तथा 1,500 से अधिक घायल हुए। 50 हजार लोग बेघर हो गए एवं करीब 25 लाख लोग भुखमरी के शिकार हुए।गृह मन्त्रालय के दस्तावेज के अनुसार, "किसी एक मुद्दे ने हिन्दू-मुस्लिम समुदाय के आपसी सद्भाव को इस कदर नहीं स्जिद विवाद ने बिगाड़ दिया।" आगे कहा गया है कि "राजनीति को साम्प्रदायिकता का जामा पहनाने की बढ़ती प्रवृत्ति के कारण सम्प्रदायों के आपसी सम्बन्धी सामान्य बनाने की प्रक्रिया में बड़ी बाधा पेदा हो गई है।" पिछले वर्षों में राजस्थान, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और बिहार में जो दंगे हुए उनमें नई बात यह है साम्प्रदायिकता ग्रामीण इलाकों में भी तेजी से फैल रही है। 1988 में 611 साम्प्रदायिक हादसों में से 55 प्रतिशत गांवों में हुए। 1971 में, अति गम्भीर किस्म के दंगों की संख्या 80 थी जो 1988 में बढ़कर 213 पर पहुँच गई। 1989-90 के मध्य उत्तर प्रदेश में 40 से अधिक कस्बे साम्प्रदायिक दंगों से ग्रस्त थे जो स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के सबसे भयंकर दंगे थे। उत्तर प्रदेश के जिलों में एक के बाद एक होने वाले इन दंगों में सैकड़ों लोग मारे गए और इससे अधिक घायल हुए तथा हजारों घरों को आग लगा दी गई। एक समय ऐसा भी आया जबकि 40 से अधिक कस्बों में दंगों के कारण अनिश्चितकालीन कर्फ्यू लगा दिया गया था।

गृह मन्त्रालय की 1998-99 की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार वर्ष 1998-99 में साम्प्रदायिक हिंसा की 626 वारदातें हुईं जिनमें 207 व्यक्तियों की जानें गईं और 2,065 व्यक्ति जख्मी हुए जबकि वर्ष 1997-98 में 725 वारदातें हुईं जिनके परिणामस्वरूप 264 व्यक्तियों की जानें गईं और 2,503 व्यक्ति जख्मी हुए। लगभग 90% साम्प्रदायिक वारदातें उत्तर

प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, राजस्थान, दिल्ली, पश्चिमी बंगाल और तमिलनाडु राज्यों में हुई थीं।

गृह मन्त्रालय की रिपोर्ट के अनुसार वर्ष 1998-99 में घटित कुछ मामले अपराधजनित थे, लेकिन यह केवल इत्तफाक ही था कि पीड़ित व्यक्ति ईसाई थे। कुछ मामलों में यह हमले जानबूझकर किए गए तथा कायरतापूर्ण थे, जैसा कि उड़ीसा में ग्राहम स्टीवर्ट स्टेन्स तथा उनके दो पुत्रों को जिन्दा जला देने की घटना से स्पष्ट होता है। गुजरात एवं उड़ीसा में ईसाइयों और उनके संस्थानों पर हुए हमलों को राष्ट्रीय समाचार पत्रों में प्रमुखता मिली और इससे उपयुक्त निवारक कार्रवाई करने में राज्य सरकारों की असफलता की तीव्र आलोचना हुई। 27 फरवरी, 2002 को गुजरुत के गोधरा रेलवे स्टेशन पर शरारती तत्वों द्वारा साबरमती एक्सप्रेस के डिब्बों में लगाई आग में 35 लोगों के जल कर मर जाने तथा कई अन्य के घायल हो जाने की प्रतिक्रिया में गुजरुत का साम्प्रदायिक माहौल गरमा गया। मरने वालों में ज्यादातर कारसेवक थे। इस घटना के बाद गोधरा शहर में हिंसा भड़क उठी, फलतः वहाँ कर्फ्यू लगा दिया गया। गोधरा अग्निकांड का बदला लेने के लिए उग्रवादियों ने 28 फरवरी को पूरे गुजरुत राज्य में उत्पात मचाया था। इन घटनाओं की पृष्ठभूमि में राज्य के 26 शहरों में कर्फ्यू लगा दिया गया। भारत में साम्प्रदायिकता की समस्या ब्रिटिश शासन की समकालिक है। अंग्रेजों ने भारत में 'फूट डालो और शासन करो' (Divide and Rule) की नीति अपनायी ताकि वे हिन्दुओं और मुसलमानों को लड़ाते रहें और भारत पर अपनी हुकूमत चलाते रहें। भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के निर्माण एवं विकास में जितना अंग्रेजों की कूटनीतिक चाल का हाथ रहा उतना ही हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच राजनीतिक संघर्ष का भी। वास्तव में, समस्या यह थी कि भारत में बसने वाले विभिन्न वर्गों हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई के राजनीतिक सत्ता में हिस्सा लेने की मांग को कैसे सन्तुलित किया जाए? भारतीय राजनीति में ब्रिटिश सरकार, कांग्रेस तथा लीग का एक त्रिभुज बन गया जिसने साम्प्रदायिकता को आधार बनाकर नए-नए गुल खिलाए। मेहता और पटवर्द्धन के शब्दों में, "अंग्रेजी शासकों ने अपने आपको हिन्दू और मुसलमानों के मध्य खड़ा करके ऐसे साम्प्रदायिक त्रिभुज की रचना का निश्चय किया जिसका आधारबिन्दु वे स्वयं रहे।"

17.11 भारत में साम्प्रदायिक राजनीति का विकास

अंग्रेजों के आने से पूर्व भारत में हिन्दू-मुस्लिम शासकों और नवाबों के हाथों में सत्ता थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी उनसे डरती थी। फलतः उन्होंने हिन्दुओं की सहायता और सहानुभूति प्राप्त करने की कोशिश की। प्लासी के युद्ध के बाद जब कम्पनी के हाथ में शासन सत्ता आने लगी तो उसने मुसलमानों के प्रति सौतेला व्यवहार किया और हिन्दुओं

को नौकरियों में प्रोत्साहन देकर मुसलमानों के प्रति उपेक्षा की नीति अपनायी। 'वहाबी आन्दोलन' के रूप में मुस्लिम असन्तोष व्यक्त हुआ। सन् 1857 की क्रान्ति में हिन्दुओं और मुसलमानों ने मिलकर अंग्रेजों का विरोध किया। अंग्रेज इसे मुस्लिम विद्रोह मानते थे, जिसके माध्यम से मुसलमानों ने मुगल शासन की स्थापना करने की चेष्टा की थी। अतः उन्होंने मुसलमानों के विरोध और दमन की नीति अपनायी। कुछ समय बाद हिन्दुओं के विकास, उन्नति और आधुनिकीकरण की बढ़ती हुई प्रवृत्ति से अंग्रेज उनसे भी डरने लगे। अब उन्होंने मुसलमानों से मित्रता की चातुर्यपूर्ण नीति अपनायी। इसके फलस्वरूप 'मुहमडन-एंग्लो औरियण्टल डिफेन्स एसोसिएशन' की स्थापना हुई। मुसलमानों को खुश करने एवं उनकी राजभक्ति प्राप्त करने के लिए सन् 1905 में कर्जन ने बंगाल का विभाजन किया। बंगाल का विभाजन 'फूट डालो और शासन करो' की कुटिल नीति का ही परिणाम था। भारतीय मुसलमानों के राजनीतिक एवं अन्य अधिकारों की रक्षा के लिए 1906 में ढाका में 'आल इण्डिया मुस्लिम लीग' की स्थापना हुई। 1908 में लीग ने मुसलमानों को आबादी से अधिक स्थान दिए जाने की मांग की। 1909 के मार्ले-मिण्टो सुधारों में साम्प्रदायिक आधार पर पृथक् चुनावों की व्यवस्था का समावेश कर दिया गया। 1919 के लखनऊ पैक्ट के अन्तर्गत मुसलमानों की प्रतिनिधि संस्था के रूप में लीग का अस्तित्व साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व तथा मुसलमानों के लिए प्रतिनिधित्व गुरुता के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया, जो एकदम गलत था। 1919 के ऐक्ट में साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति को न केवल मुसलमानों के लिए कायम रखा गया वरन् सिक्खों, यूरोपियनों और आंग्ल-भारतीय समुदायों के लिए भी इसे अपना लिया गया। सन् 1928 के बाद जिन्ना साम्प्रदायिक राजनीति के खलनायक बन गए। सन् 1935 के अधिनियम द्वारा साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति का विस्तार किया गया। सन् 1940 में जिन्ना ने 'द्विराष्ट्र सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया और अन्त में 1947 में साम्प्रदायिकता के आधार पर भारत का विभाजन हुआ। भारत की संविधान निर्मात्री सभा का शुरू में गठन (1946) प्रान्तों की विधानसभाओं के सदस्यों के साम्प्रदायिक समूहों द्वारा अप्रत्यक्ष रीति से हुआ था।

17.12 साम्प्रदायिकता की समस्या के कारण(Problem of Communalism: Causes)

यह प्रश्न विशेष महत्व का है कि स्वाधीनता प्राप्ति के बाद भी भारत में साम्प्रदायिकता के तत्व क्यों दिखाई देते हैं? स्वाधीनता से पूर्व अंग्रेजों ने 'फूट डालो और राज करो' की नीति अपनायी थी, किन्तु देश के विभाजन के बाद राष्ट्रीय सरकार की

स्थापना के पश्चात् भी साम्प्रदायिकता का रंग क्यों दिखलायी देता है? इसके निम्न कारण हैं:

1. मुसलमानों में पृथक्करण की भावना ऐसा माना जाता है कि मुसलमानों में पृथक्करण की भावना आज भी विद्यमान है और वे अपने को राष्ट्रीय धारा में समाविष्ट नहीं कर पाए। अनेक मुस्लिम नेताओं ने स्वाधीनता के बाद इस बात का प्रचार किया कि उन्हें मुख्य राष्ट्रीय प्रवाह में शामिल होने के लिए ऐसे राजनीतिक दलों को सहयोग देना चाहिए जिनका विश्वास धर्मनिरपेक्षता, समाजवाद तथा आर्थिक न्याय में है, परन्तु इन विचारों का कोई खास प्रभाव नहीं पड़ा और अनेक मुस्लिम नेताओं और संगठनों ने इस बात का प्रचार किया कि मुस्लिम सम्प्रदाय के हितों की सुरक्षा के लिए उन्हें पृथक् रूप से भाग लेना चाहिए। 'जमायत-ए-इस्लाम' ने मुसलमानों को सलाह दी कि पहले आम चुनावों में भाग नहीं लेना चाहिए। ऐसे ही एक दूसरे संगठन 'जमीयत-उल-उलेमा-ए हिन्द' ने भी मुसलमानों को राष्ट्रीय राजनीति से पृथक् रहने की सलाह दी। 1948 में मुस्लिम लीग ने पृथक् निर्वाचन की मांग की। 1961 में 'अखिल भारतीय मुस्लिम लीग' की स्थापना की गयी और यह प्रचार किया गया कि भारत में मुस्लिम लीग ही मुस्लिम हितों का संरक्षण कर सकती है। सन् 1971 के मध्यावधि चुनावों के समय नई दिल्ली में देश के अधिकांश भागों के मुस्लिम प्रतिनिधियों ने अखिल भारतीय राजनीतिक सम्मेलन आयोजित किया। इस प्रकार अनेक धर्मान्ध मुस्लिम संगठनों ने सम्प्रदायवाद का स्वतन्त्रता के बाद भी कभी उन्मूलन नहीं होने दिया।

2. मुसलमानों का आर्थिक दृष्टि से पिछड़ापन यह बात सच है कि अंग्रेजी काल से ही मुसलमान आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए रहे हैं। स्वाधीनता के बाद भी उनकी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ नहीं हो पायी। शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े होने के कारण सरकारी नौकरियों, व्यापार एवं उद्योग-धन्धों में उनकी स्थिति नहीं सुधर पायी। आज भी उनका आधुनिकीकरण नहीं हो पाया है। इससे उनमें असन्तोष बढ़ा और उनका मनोबल भी गिरा है। कभी-कभी यह असन्तोष उग्र रूप ले लेता है और कभी-कभी यह असन्तोष हिंसा के रूप में प्रकट होता है।

आर्थिक कारणों से साम्प्रदायिक दंगों का सम्बन्ध भारत सरकार के कृषि मंत्रालय की एक शोध रिपोर्ट से भी स्पष्ट होता है। रिपोर्ट में कहा गया है कि उत्तरी हिन्दी भाषी क्षेत्र में 50% अतिरिक्त भूमि का सही वितरण न हो पाना बढ़ती साम्प्रदायिकता का बड़ा कारण है।

3. पाकिस्तानी प्रचार जब कभी भारत में हिन्दू-मुस्लिम तनाव की कोई छुट-पुट घटना हो जाती है तो पाकिस्तानी रेडियो तथा समाचारपत्र इसको तूल देने का प्रयास करते हैं। वे

भारत सरकार की आलोचना करते हैं और ऐसी घटनाओं को हिन्दुओं द्वारा मुसलमानों का जातिवध (Genocide) कहकर पुकारते हैं। पाकिस्तान ऐसा इसलिए करता है जिससे वह भारत की धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवादी भावनाओं को उत्तेजित कर सके। भारत में गरीब और अशिक्षित मुसलमान यह मान बैठते हैं कि पाकिस्तान उनके हितों की रक्षा के लिए कह रहा है।

4. संकुचित हिन्दू राष्ट्रवाद भारत के हिन्दू-सम्प्रदाय में भी ऐसे लोग तथा गुट हैं जो धर्मान्धता की संकीर्ण भावनाओं से ओत-प्रोत हैं। अनेक हिन्दूवादी संगठनों ने हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं को बराबर उत्तेजित किया है। ये लोग यहां तक कहते हैं कि भारत हिन्दुओं का देश है और हिन्दू धर्म के अनुयायियों को ही इस देश में निवास करने का अधिकार है।

5. सरकार की उदासीनता सरकार और प्रशासन की उदासीनता के कारण भी कभी-कभी साम्प्रदायिक दंगे हो जाते हैं। सामान्य-सी घटना प्रशासन की असावधानी के कारण कई बार साम्प्रदायिक दंगों का रूप ले लेती है। शाहबानो के मामले में राजीव सरकार ने सुप्रीम कोर्ट के फैसले को नहीं माना और साम्प्रदायिक दबाव के चलते मुस्लिम महिला विधेयक पास करवाया; अब हीन्दूवादी संगठन कहते है कि वह भी राम जन्म भूमि के मामले पर इलाहाबाद हाईकोर्ट का फैसला मानने के लिए बाध्य नहीं है। स्वतन्त्रता के बाद हुए साम्प्रदायिक उपद्रवों के अध्ययन से पता चलता है कि उनमें वृद्धि हो रही है। किन्तु इस विषय में स्थिति विभिन्न क्षेत्रों एवं नगरों में भिन्न-भिन्न है। रत्ना नायडू के अनुसार, ऐसे नगर जिनमें बड़े साम्प्रदायिक उपद्रव हुए हैं, दो प्रकार के हैं। इनमें एक प्रकार के नगर वे हैं जो औद्योगिक नगर हैं और दूसरे प्रकार के वे जो दस्तकारी एवं उद्योगों के नगर हैं और जो उद्योग एवं व्यापार के आधुनिक केन्द्रों के रूप में विकसित होने का प्रयत्न कर रहे हैं। प्रथम वर्ग के उदाहरण जमशेदपुर, राउरकेला, आदि हैं और दूसरे वर्ग के उदाहरण मुरादाबाद, अलीगढ़, अहमदाबाद, वाराणसी, आदि है। साम्प्रदायिकता के बारे में गृह मन्त्रालय की गोपनीय रिपोर्ट में एक टिप्पणी यह है "थोड़े-थोड़े समय बाद भड़क उठने वाली साम्प्रदायिक हिंसा से गहन चिन्ता व्याप्त हो रही है।" एक अन्य रिपोर्ट का सार तत्व यह है "जनता के मन में कानून एवं व्यवस्था के प्रति चिन्ता का मुख्य कारण विभाजक, विभेदक और अन्य आन्दोलनों को दिया जाने वाला अनुचित प्रचार (समाचार पत्रों द्वारा) है। कतिपय राजनीतिक दल और गुट किसी भी उपलब्ध बहाने की आड़ लेकर इन आन्दोलनों को खड़ा कर देते है।" वास्तविक अपराधी तो राजनीतिक दल हैं। साम्प्रदायिक दंगों सम्बन्धी सात जांच आयोगों की रिपोर्टों का विश्लेषण करने पर यह पाया गया है कि उन सभी में किसी न किसी रूप में राजनीतिक

दलों की आलोचना की गयी है। रघुवीर दयाल आयोग (1969) ने कहा है कि राजनीतिक दलों को अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए साम्प्रदायिक या जातीय भावनाओं को नहीं उभारना चाहिए।' दत्ता आयोग (1970) ने कहा- 'राजनीतिक दलों को किसी समुदाय की धार्मिक भावनाओं के नाम पर अपील करके वोट प्राप्त करने की कोशिश नहीं करनी चाहिए।' जोसेफ विथ्याथिस आयोग (1971) ने कहा "यह भी कहना होगा कि धर्मनिरपेक्ष लोकतान्त्रिक पार्टियों में भी सामान्य सदस्यों में साम्प्रदायिकता का प्रवेश हो गया है। यह एक अहितकर प्रवृत्ति है, जिसे सम्बद्ध दलों को रोकना चाहिए। जमशेदपुर में 1979 में हुए दंगों की जांच के लिए गठित आयोग ने कहा था कि वे (राजनीतिक दल) सम्प्रदायों को सदैव ही 'वोट-बैंक' समझते हैं और तदनुरूप ही अपने कार्यक्रम और कार्यवाही सम्बन्धी योजना बनाते हैं। वोट का अर्थ है सत्ता और राजनीतिज्ञों को अन्य किसी भी बात की तुलना में सत्ता कहीं अधिक प्यारी है।" साम्प्रदायिक घटनाओं के पीछे 'विदेशी हाथ' होने का आरोप भी आजकल जोरशोर से सुनाई पड़ रहा है। कुछ वर्ष पूर्व जब तमिलनाडु में हरिजनों का धर्म परिवर्तन करके उन्हें मुसलमान बनाया गया तो केन्द्रीय सरकार ने यह आकलन प्रस्तुत किया था "इस बात के पर्याप्त संकेत हैं कि इस क्षेत्र में हरिजनों का धर्म परिवर्तन करने के लिए जमायते-इस्लामी-हिन्द और अन्य कट्टरपन्थी गुट जिस उत्साह से कार्यरत हैं, उसका एक कारण आंशिक तौर पर ही क्यों न हो, यह भी है कि मुलिम देशों और अन्तर्राष्ट्रीय इस्लामी संगठनों की ओर से पिछले दो-तीन वर्षों से धनराशि प्राप्त हो रही है। इस क्षेत्र के समृद्ध और सम्पन्न मुसलमानों ने, जिनके खाड़ी के देशों और दक्षिण-पूर्व में स्थित मुस्लिम देशों के साथ गहन व्यावसायिक सम्पर्क और सम्बन्ध है, मुस्लिम संगठनों के प्रयासों को बढ़ावा दिया है।" कुलदीप नायर के शब्दों में, "ये आरोप गम्भीर हैं और जब तक सरकार इस बारे में कुछ निश्चित प्रमाण नहीं देती तो यही समझा जा सकता है कि ये आरोप भी हिन्दू वोट प्राप्त करने के लिए सत्तारूढ़ दल की रणनीति का ही एक भाग है।"अब जबकि हिन्दू-मुस्लिम दंगों की संख्या में वृद्धि हुई है 1982 में 427 दंगे हुए, जबकि 1988 में 611 दंगे हुए; केन्द्रीय सरकार की राय में "अल्पसंख्यक समुदाय में कट्टरपन्थी नेतृत्व का उभार" और "परम्परावादी मुस्लिम गुटों को अरब देशों से भारी मात्रा में धनराशि प्राप्त होना और मुस्लिम जगत में अन्य अन्तर्राष्ट्रीय इस्लामी एकता का प्रभाव" इसका कारण है। दोनों ही सम्प्रदायों की गहन धार्मिक भावनाओं का दुरुपयोग किया जा रहा है, यह दशनि के लिए कि एक सम्प्रदाय दूसरे को नष्ट करने पर उतारू है, उनके रीति-रिवाजों और व्यवहारों में अन्तर को उछाला जा रहा है। अतएव ऐसे मामलों का भी कोई स्थायी समाधान नहीं खोजा जा सकता कि जिन्हें सुनकर भी अधिकांश अन्य देशों में लोग हंस ही सकते हैं। जैसे कि मस्जिदों के सामने संगीत या हिन्दुओं द्वारा पावन मानी जाने वाली गौ का वध अथवा

हिन्दू धार्मिक समारोहों के अवसर पर मुसलमानों पर गुलाल अथवा रंग डाले जाने, आदि के मामले हैं।

किसी भी सभ्य समाज में ऐसे मामलों को स्थानीय समुदाय खुद ही आपस में विचार-विमर्श करके निपटा लेते हैं और वे एकता के बारे में आवश्यकता होने पर हर समुदाय में प्रचलित रीति-रिवाजों को ध्यान में रखकर रियायतें बरतते हैं। कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए दोनों ही सम्प्रदायों के समझदार लोगों ने कभी कोशिश ही नहीं की है, किन्तु दोनों ही सम्प्रदायों के निहित स्वार्थी तत्वों के सतत् प्रचार ने एक ऐसा वातावरण बना दिया है, जिससे समस्या का हल खोजा जाना असम्भव-सा ही प्रतीत होता है। पराजित राजनीतिज्ञ और पार्टियां विशेष रूप से दोषी हैं।

"इस प्रकार भय, अविश्वास और दोनों समुदायों के बीच एक-दूसरे के प्रति सन्देह की भावना ही साम्प्रदायिक वैमनस्य का मुख्य कारण है।" और जब सरकार समस्या के मूल कारणों की चर्चा करने के बजाय 'विदेशी धन' और 'विदेशी हाथ' की चर्चा करके ही सन्तुष्ट हो जाती हो तो समस्या का भयावह रूप धारण कर लेना स्वाभाविक ही है।

17.12 साम्प्रदायिकता के दुष्परिणाम

भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिक दंगों के दुष्परिणाम इस प्रकार रहे है:

(1) आपसी द्वेष - साम्प्रदायिकता से विभिन्न वर्गों में आपसी द्वेष को बढ़ावा मिलता है। केवल बढ़ावा ही नहीं, वरन् आपसी द्वेष का एक बहुत बड़ा कारण ही साम्प्रदायिकता है। जब हिन्दू और मुसलमान अपने-अपने हितों के लिए एक ही सरकार से लड़ते हैं तो आपस में द्वेष, वैमनस्य हो जाना स्वाभाविक ही है। यही द्वेष कभी भयंकर रूप धारण कर समाज में आतंक फैला देता है, यही द्वेष समाज की शान्ति भंग कर सकता है और यही द्वेष समाज के सदस्यों में मार-काट फैला देता है।

(2) आर्थिक हानि- साम्प्रदायिकता के कारण आर्थिक हानि भी होती है। न जाने कितनी दुकाने लूटी जाती हैं, न जाने कितनी राष्ट्रीय सम्पत्ति नष्ट की जाती है और न जाने कितने व्यक्ति कार्य नहीं कर पाते। इतना ही नहीं, साम्प्रदायिक दंगों पर काबू पाने के लिए न मालूम कितना धन व्यय किया जाता है।

(3) प्राण हानि - साम्प्रदायिकता के कारण प्राण हानि भी अत्यधिक होती है। शायद ही कोई ऐसा साम्प्रदायिक दंगा हुआ हो जिसमें कुछ व्यक्तियों की जानें न गयीं हों। रांची, श्रीनगर, वाराणसी, अलीगढ़, अहमदाबाद, मुम्बई आदि के साम्प्रदायिक दंगों का

उदाहरण सामने है। इन दंगों में अनेक व्यक्तियों की जानें तो गयी ही, साथ ही अनेक व्यक्ति जीवन व मृत्यु का संघर्ष करने के लए घायलावस्था में पड़े रहे।

(4) राजनीतिक अस्थिरता साम्प्रदायिकता का एक दुष्पपरिणाम राजनीतिक अस्थिरता भी है। साम्प्रदायिकता वह परिस्थितियां उत्पन्न कर देती है, या उन परिस्थितियों को उत्पन्न करने में सहायक होती है, जिससे कि देश में राजनीतिक अस्थिरता आ जाती है।

(5) राष्ट्रीय एकता में बाधा- साम्प्रदायिकता राष्ट्रीय एकता की गम्भीर शत्रु है। राष्ट्रीय एकता का तात्पर्य है, सभी लोग आपस में एक होकर रहें, सबके हित को अपना हित मानें। जबकि साम्प्रदायिकता इसके बिल्कुल विरुद्ध है- इसकी मूल धारणा है कि विभिन्न सम्प्रदाय के व्यक्ति अपने-अपने हितों के लिए संघर्ष करें।

(6) राष्ट्रीय सुरक्षा को खतरा भारत एक बहुसम्प्रदायवादी देश है। इसमें अनेक अल्पसंख्यक एवं बहुसंख्यक व्यक्ति निवास करते हैं और इन्हीं अल्पसंख्यकों और बहुसंख्यकों के बीच जो साम्प्रदायिक झगड़े और तनाव पैदा होते हैं, उनसे भारत की राष्ट्रीय सुरक्षा को गम्भीर खतरा पैदा हो सकता है।

उपरोक्त दुष्परिणामों के अतिरिक्त साम्प्रदायिकता से देश में आर्थिक उन्नति व औद्योगिक विकास में भी बाधा पड़ती है। अन्य राष्ट्रों से भारत के सम्बन्धों पर भी साम्प्रदायिकता से बुरा प्रभाव पड़ता है।

धर्म और राजनीति में अन्तःक्रिया

(Interactions Between Religion and Politics)

भारतीय राजनीति के निर्धारक तत्वों में 'धर्म और साम्प्रदायिकता' अत्यन्त प्रभावशाली तत्व माना जाता है। धर्म का प्रयोग राजनीति में जहां एक ओर तनाव उत्पन्न करने के लिए किया जाता है वहां दूसरी ओर प्रभाव और शक्ति अर्जित करने का भी माध्यम धर्म मान लिया जाता है। जामा मस्जिद के शाही इमाम अब्दुल्ला बुखारी और जय गुरुदेव की राजनीतिक शक्ति की आधारशिला उनके अपने-अपने सम्प्रदायों में अनुयायियों का संख्या बल है। धर्म के आधार पर राजनीतिक दलों का निर्माण होता है, चुनावों में समर्थन और मत प्राप्त करने के लिए धर्म का सहारा लिया जाता है। जनता से की जानेवाली अपीलों, उन्हें दिए जाने वाले आश्वासनों, निर्वाचनों में प्रत्याशियों के चयन तथा मतदान व्यवहार में धर्म का राजनीतिक स्वरूप देखने को मिलता है। स्वतन्त्रता के 56 वर्षों के बाद भी हिन्दू और मुसलमानों के बीच ऐसा एकीकरण विद्यमान था, उदाहरणार्थ, हिन्दुओं और सिक्खों में, वहां भी इसे रूढ़िवाद एवं साम्प्रदायिकता के बढ़ते हुए विरोध

का खतरा पैदा हो गया है। धर्म और सम्प्रदाय पंथनिरपेक्ष संविधान अपनाए जाने के बाद भी भारतीय राजनीति के स्वरूप को निम्नलिखित ढंग से प्रभावित करते रहे हैं:

(1) धर्म और राजनीतिक दल स्वाधीनता के बाद पंथ और सम्प्रदाय के आधार पर भारत मेंराजनीतिक दलों का गठन हुआ है। मुस्लिम लीग, शिरोमणि अकाली दल, राम राज्य परिषद्, हिन्दू महासभा, आदि राजनीतिक दलों के निर्माण में पंथिक और साम्प्रदायिक तत्वों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। यदि साम्प्रदायिकता एक रोग है और वह भी संक्रामक तो इन दलों के शासन और राजनीति पर प्रभाव को सहज ही आंका जा सकता है। ये साम्प्रदायिक दल पंथ को राजनीति में प्रधानता देते हैं, पंथ के आधार पर चुनावों में प्रत्याशियों का चुनाव करते हैं और सम्प्रदाय के नाम पर वोट मांगते हैं। चुनावों में धार्मिक मुद्दों जैसे गौ-वध को बन्द करवाने, राम मन्दिर का निर्माण, आदि का प्रयत्न करते हैं। प्रो. मॉरिस जोन्स ने लिखा है, "यदि साम्प्रदायिकता को संकुचित अर्थ में लिया जाए अर्थात् कोई राजनीतिक पार्टी किसी विशेष पंथिक समुदाय के राजनीतिक दावों की रक्षा के लिए बनी हो तो कुछ पार्टियां ऐसी हैं जो स्पष्ट रूप से अपने को साम्प्रदायिक कहती हैं जैसे मुस्लिम लीग जो भारत में सिर्फ दक्षिण भारत में रह गयी है और जो मालाबार मोपला समुदाय के बल पर केवल केरल में ही शक्तिशाली है; सिक्खों की अकाली पार्टी जो सिर्फ पंजाब में ही है, हिन्दू महासभा जो सिद्धान्त रूप में एक अखिल भारतीय पार्टी है, किन्तु मुख्य रूप से मध्य प्रदेश और उसके आस-पास इलाकों में शक्तिशाली है।"

यदि साम्प्रदायिकता को व्यापक अर्थ में लिया जाए अर्थात् सम्पूर्ण हिन्दू समाज के ही भीतर किसी सामाजिक-धार्मिक समुदाय के साथ सम्बन्ध के रूप में लिया जाए तो सभी पार्टियों में किसी न किसी स्तर पर और कुछ न कुछ मात्रा में ऐसी साम्प्रदायिकता अवश्य मिलेगी, यहां तक कि कांग्रेस भी इससे मुक्त नहीं है। केरल में ईसाई समुदाय के साथ कांग्रेस का ऐसा गठजोड़ रहा है कि इसे संकुचित दृष्टि से भी साम्प्रदायिक कहा गया है। यहां तक कि साम्यवादियों ने भी कुछ जगहों पर और कतिपय प्रयोजनों के लिए साम्प्रदायिक क्षेत्र तैयार कर लिए हैं।

(2) धर्म और निर्वाचन - भारत में अधिकांश राजनीतिक दल और उनके नेता चुनावों में पंथ और सम्प्रदाय की दलीलों के आधार पर वोट मांगते हैं। वोट बटोरने के लिए मठाधीशों, इमामों, पादरियों और साधुओं के साथ सांठ-गांठ की जाती है। मतदान के अवसर पर मत मांगने वाले और मतदान करने वालों के आचरण पर पंथिक तत्व छाए रहते हैं। मार्च 1977 और जनवरी 1980 के लोकसभा चुनावों के दिनों में दिल्ली की जामा मस्जिद के शाही इमाम की भूमिका से आसानी से यह समझा जा सकता है

कि पंथिक नेता राजनीतिक दलों से मुस्लिम सम्प्रदाय के वोटों का किस प्रकार सौदा करते हैं? राजनीतिक नेता की भांति शाही इमाम ने चुनाव सभाओं में भाषण दिए और मुस्लिम सम्प्रदाय के मतदाताओं को किसी विशेष राजनीतिक दल के पक्ष में मतदान करने के लिए प्रेरित किया। किसी संवाददाता ने लिखा है, "सवाल उठता है कि समाजवाद और गणतन्त्र की बात करने वाले अगर इमाम के नाम से वोट पाना चाहेंगे तो हो सकता है कि बलराज मधोक जैसे लोग शंकराचार्य के नाम पर वोट मांगने लगें। फिर क्या इस देश को इमाम और शंकराचार्य के बीच चुनाव करना पड़ेगा?" मिजोरम के चुनाव में जारी एक पर्चे में कांग्रेस (इ) ने कहा था कि वह ईसाई अधिकारों के लिए लड़ेगी। धर्मनिरपेक्षता का हलफ उठाने के बाद भी वी.पी. सिंह लोकसभा चुनावों से पूर्व अब्दुल्ला बुखारी जैसे कट्टरवादियों से रिश्ते बनाते हैं तो स्पष्ट है कि राजनीतिक दलों की निगाहें करीब 100 महत्वपूर्ण चुनाव क्षेत्रों में मुस्लिम सम्प्रदाय के 20 प्रतिशत वोट हथियाने के लिए लालायित हैं।

(3) राजनीति में धार्मिक दबाव गुट साम्प्रदायिक संगठन भारतीय राजनीति में सशक्त दबाव समूहों की भूमिका अदा करने लगे हैं। ये पंथिक गुट शासन की नीतियों को प्रभावित करते हैं और कभी-कभी अपने पक्ष में अनुकूल निर्णय भी करवाते हैं। उदाहरणार्थ, हिन्दुओं की आपत्ति और आलोचना के बावजूद 'हिन्दू कोड बिल' पास कर दिया गया, किन्तु दूसरे सम्प्रदाय के सम्बन्ध में ऐसा कोई महत्वपूर्ण कदम नहीं उठाया जा सका। स्वतन्त्रता के बाद अनेक मुस्लिम संगठनों, जैसे जमीयत-उल-उलेमा-ए-हिन्द, अमारते शरिया, जमायते इस्लामी; आदि ने कम से कम तीन बातों के लिए सरकारी नीतियों को प्रभावित कर 'दबाव गुटों' की भूमिका अदा की है। ये तीन बातें हैं उर्दू को सांविधानिक संरक्षण दिया जाए, अलीगढ़ विश्वविद्यालय का अल्पसंख्यक स्वरूप स्थापित किया जाए और मुस्लिम पर्सनल लॉ के बारे में कोई तब्दीली न की जाए।

(4) धर्म के आधार पर पृथक् राज्यों की मांग कई बार परोक्ष रूप से पंथ के आधार पर पृथक्राज्यों की मांग भी की जाती रही है। अकाली दल द्वारा पंजाबी सूबे की मांग ऊपरी तौर से भाषायी आधार की मांग नजर आती है, किन्तु यथार्थ में यह पंथ के आधार पर ही पृथक्राज्य की मांग थी। 2 नवम्बर, 1949 को मास्टर तारासिंह ने पूर्वी पंजाब में एक 'सिक्ख प्रान्त' की मांग करते हुए कहा कि पूर्वी पंजाब के हिन्दू 'संकीर्ण हृदय वाले सम्प्रदायवादी' हो गए हैं और 'सिक्खों को उनसे उचित व्यवहार की आशा नहीं रह गयी।' सन्त फतेहसिंह के अनुयायी सिक्ख 'होम लैण्ड' की मांग करने लगे। उनका कहना था कि 'उत्तर भारत में एक समाजवादी लोकतन्त्रीय सिक्ख होमलैण्ड' की स्थापना ही सिक्ख राजनीति का वास्तविक एवं एकमात्र लक्ष्य है। पुराने पंजाब राज्य का विभाजन

वस्तुतः पंथ के आधार पर ही हुआ था। इसी प्रकार नगालैण्ड के ईसाइयों की पृथक् राज्य की मांग का आधार भी पंथगत निष्ठाएं ही थीं।

(5) मंत्रिमण्डल के निर्माण में पंथिक आधार पर प्रतिनिधित्व केन्द्र और राज्यों में मंत्रिमण्डल बनाते समय सदैव इस बात को ध्यान में रखा जाता है कि प्रमुख सम्प्रदायों और पंथिक विश्वासों वाले व्यक्तियों को उनमें प्रतिनिधित्व मिल जाए। केन्द्रीय मंत्रिमण्डल में अल्पसंख्यकों; जैसे मुसलमानों, सिक्खों, ईसाइयों को सदैव प्रतिनिधित्व दिया जाता है।

(6) धर्म और राष्ट्रीय एकता पंथ और साम्प्रदायिकता राष्ट्रीय एकता के लिए घातक माने जाते हैं। धार्मिक मतभेदों के परिणामस्वरूप ही हमारे देश का विघटन हुआ था और उसी के कारण आज भी विघटनकारी तत्व सक्रिय हैं।

(7) राज्यों की राजनीति में धर्म की प्रभावक भूमिका पंथ और साम्प्रदायिक समुदायों का भारतीय राजनीति में कितना प्रभाव है, केरल और पंजाब राज्यों की राजनीति इसके लिए सन्दर्भ प्रस्तुत करती है। केरल की राजनीति का ऊपरी आवरण चाहे वामपन्थी रंग में रंगा हुआ नजर आए, किन्तु उसका अन्तरंग धार्मिक और साम्प्रदायिक गुटों के गठजोड़ से बनता है। राज्य-राजनीति में दो प्रकार के दबाव समूह पाए जाते हैं - साम्प्रदायिक और व्यावसायिक। साम्प्रदायिक दबाव समूहों में नय्यर सर्विस सोसायटी, श्रीनारायण धर्म परिपालन युगम् और अनेक ईसाई संगठन प्रमुख हैं। जमीदार, धनिक वर्ग, व्यापारी, आदि इन्हीं संगठनों से जुड़े है, अतः ये साम्प्रदायिक व धार्मिक गुट शासन की निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। प्रगतिशील समझे जाने वाले साम्यवादी दल भी केरल में पंथिक दबाव गुटों से अपना तालमेल बिठाकर चुनावी रणनीति तैयार करते हैं।पंथ और राजनीति की अन्तःक्रिया को समझने के लिए पंजाब राज्य की राजनीति विशिष्ट महत्व रखती है। पंजाब की राजनीति सदा ही अकाली दलों की आन्तरिक राजनीति तथा सशक्त और समृद्ध शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्ध समिति के निर्वाचनों के इर्द-गिर्द घूमती रही है। अधिक दूर न जाकर पिछले एक दशक की राजनीतिक घटनाओं का विश्लेषण करें तो धर्म की राजनीतिक भूमिका का अनुमान लगाया जा सकता है। शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक समिति के चुनाव प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से अकाली दल की राजनीति को प्रभावित करते हैं और अकाली दल पंजाब की राजनीति को। सिक्ख पंथ के सर्वोच्च धार्मिक नेताओं द्वारा अकाल तख्त से जारी किए गए फरमान ने अकाली दल के प्रधान का चुनाव रोक दिया। स्वर्ण मन्दिर के सामने स्थित अकाल तख्त की स्थापना गुरु गोविन्दसिंह ने एक राजनीतिक शक्ति के रूप में की थी। पंजाब की राजनीति में अकाल तख्त का स्वरूप एवं भूमिका एक समानान्तर सरकार की भांति है जिस पर समकालीन

सरकार के आदेश लागू नहीं होते। अनेक बार धार्मिक विवादों के साथ-साथ राजनीतिक विवादों के बारे में भी फैसले अकाल तख्त करता है।

साम्प्रदायिकता को दूर करने के सुझाव

सांप्रदायिकता उन्मूलन के लिए सुझाव

साम्प्रदायिकता मानवता के लिए एक गम्भीर अभिशाप है और भारत जैसे देश में तो यह और भी घातक है। धार्मिक और साम्प्रदायिक विवादों को दूर करने की दृष्टि से सरकार ने अगस्त 1991 में पूजा स्थल विधेयक पारित कर प्रशंसनीय कार्य किया है। इस विधेयक में यह व्यवस्था है कि पूजा स्थानों की वही स्थिति रखी जाएगी जो 15 अगस्त, 1947 को थी। प्रस्तावित विधेयक राम जन्मभूमि-बाबरी मस्जिद विवाद पर लागू नहीं होता क्योंकि इस प्रश्न पर बातचीत चल रही थी और यह मामला न्यायालय के विचाराधीन भी है। साम्प्रदायिकता को दूर करने के लिए कुछ सुझाव अग्रलिखित हैं:

(1) सरकार को सदैव ही इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसके द्वारा ऐसा कोई भी कार्य न होने पाए, जिसके द्वारा साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन मिलता है।

(2) सर्वत्र इस भावना को प्रोत्साहन दिया जाए कि सब धर्मों के लोग मिल-जुलकर रोज मौन प्रार्थना करें। सार्वजनिक अथवा व्यक्तिगत स्थानों पर जहां प्रार्थना, आदि के कार्यक्रम होते हैं, ऐसा वातावरण बनाया जाए ।

(3) शिक्षण में आध्यात्मिक मूल्यों का समावेश किया जाए। साम्प्रदायिक या मजहबी क्रियाक्रम भिन्न चीज है।

(4) किसी भी सार्वजनिक क्षेत्र में बहुमत के आधार पर कोई प्रवृत्ति पैदा न की जाए। सारा कार्य ऐसे ढंग से हो कि अल्पसंख्यकों को अपने अल्पसंख्यक होने का भान ही न रहे।

(5) सरकार को सदैव ही इस प्रकार के कानूनों का निर्माण करना चाहिए, जो कि हर व्यक्ति पर समान रूप से लागू होते हों। कानून लागू होने में किसी भी प्रकार का जाति, लिंग, पंथ, भाषा एवं सम्प्रदाय सम्बन्धी भेदभाव नहीं होना चाहिए।

(6) भारत में विभिन्न समयों पर अनेक सम्प्रदाय सरकार में अपने विशेष प्रतिनिधित्व की मांग करते हैं। सरकार को इन सबके इस प्रस्ताव को केवल साम्प्रदायिकता के आधार पर ठुकराना होगा और उन्हें 'एक राष्ट्र' का सबक देना होगा क्योंकि इनसे भी साम्प्रदायिकता को बढ़ावा मिलता है।

(7) भाषा के सम्बन्ध में भी भारत सरकार को अपनी नीति ठीक करनी होगी। यह भी भारत में साम्प्रदायिकता का एक बहुत बड़ा कारण है।

धर्म की राजनीतिक भूमिका : निष्कर्ष

(Political Role of The Religion: Conclusion)

हमें इस बात का गर्व है कि हमारे देश में अनेक धर्मों को मानने वाले और अनेक जातियों के लोग बसते हैं। शायद ही किसी धर्म या जाति के लोग हों जो भारत में न पाए जाते हों। नए भारत को पंथनिरपेक्ष राज्य घोषित किया गया, जिसका तात्पर्य यह था कि पंथ को राजनीति से हटा लिया जाए, लेकिन व्यावहारिक रूप से पंथ का प्रभाव भारतीय जनता के मस्तिष्क से नहीं मिटा है और आज भी राजनीतिक एवं सामाजिक क्षेत्र में पंथ के आधार पर भेदभाव किया जाता है। राजनीतिज्ञ और राजनीति दल पंथ एवं सम्प्रदाय को राजनीतिक सफलता के लिए एक साधन के रूप में अपनाते रहे हैं। मंत्रिमण्डल के निर्माण में तथा चुनावों के समय टिकिट के बंटवारे के लिए पंथिक आधार पर प्रतिनिधित्व की मांग की जाती रही है। पंथनिरपेक्षी हिन्दू नेताओं ने यदि मतदाताओं के रूप में मुसलमानों की हैसियत समाप्त करके उन्हें महज वोटों में बदल दिया है तो साम्प्रदायवादी मुस्लिम नेताओं ने इस वोट शक्ति को अपने सीमित लक्ष्यों की प्राप्ति का साधन बना लिया है। राजनीतिक दल इस डर से साम्प्रदायिकता से बचने की कोशिश करते हैं कि वे दूसरे सम्प्रदायों के वोट खो देंगे परन्तु उनके स्थानीय संगठन स्थानीय झगड़ों का लाभ उठाने के प्रलोभन में पड़ जाते हैं। साम्प्रदायिक झगड़े भले ही छिटपुट और स्थानीय हों, लेकिन उनसे देश की बदनामी होती है और उसका लोकतन्त्री पंथनिरपेक्ष स्वरूप कलंकित होता है। संक्षेप में, भारतीय राजनीति में धर्म एवं साम्प्रदायिकता का प्रभाव बढ़ने से पंथनिरपेक्ष राजनीति के विकास का मार्ग अवरुद्ध हुआ है। साम्प्रदायिकता की राजनीति के अपने तर्क होते हैं, उसका मुख्य ध्येय संकुचित हितों की रक्षा करना होता है। यह दायित्व राष्ट्रीय नेताओं का है कि वे समुदाय के सीमित तथा राष्ट्र के वृहत्तर हितों के बीच सन्तुलन स्थापित करें, समुदाय को राष्ट्र में बदलें। यह आशा की जा सकती है कि राजनीतिक चेतना की वृद्धि और लोकतान्त्रिक मूल्यों के परवान चढ़ने के साथ पंथनिरपेक्षता का स्वरूप भी निखरता जाएगा।

17.12 क्षेत्र

क्षेत्रीयतावाद का अर्थ क्षेत्रीयतावाद से तात्पर्य एक देश में या देश के किसी भाग में उस छोटे-से क्षेत्र से है जो आर्थिक, भौगोलिक, सामाजिक, आदि कारणों से अपने पृथक् अस्तित्व के लिए जागरूक है। साधारण शब्दों में क्षेत्रवाद का अर्थ किसी क्षेत्र के लोगों

की उस भावना एवं प्रयत्नों से है जिनके द्वारा वे अपने क्षेत्र विशेष के लिए आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक शक्तियों में वृद्धि चाहते हैं।

'क्षेत्र' शब्द के बहुत सारे अर्थ है। मूल रूप से किसी क्षेत्र को जोड़ने वाली कड़ी 'सांस्कृतिक समानता' है। किसी भौगोलिक क्षेत्र को भी 'क्षेत्र' के आधार पर सम्बोधित किया जा सकता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और अपने निवास के आस-पास की भूमि से उसका भावात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और कालान्तर में अपने पूरे क्षेत्र के प्रति उसकी निष्ठा विकसित हो जाती है। इस दृष्टि से क्षेत्र एक तरह से समाजशास्त्रीय अभिधारणा है जिसे विविध सामाजिक हितों की अभिव्यक्ति की धुरी कहा जा सकता है। किसी भी भू-भाग को क्षेत्र कहने के लिए कतिपय तत्वों का होना आवश्यक है, किन्तु आज तक उन तत्वों का ठीक तरह से निर्धारण नहीं हो सका। यदि भौगोलिक रूप से निश्चित किसी स्थान पर कुछ प्रक्रियाएं तथा धारणाएं समाज के अन्य भागों से भिन्न हों और लगातार काफी समय से, चाहे अलग-अलग मात्रा में सही, चली आ रही हों तो उस भाग को एक अलग क्षेत्र कहा जा सकता है। ये प्रक्रियाएं और धारणाएं भौगोलिक, धार्मिक, भाषाई, रीति-रिवाज सम्बन्धी, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक विकास की स्थिति, रहन-सहन के ढंग और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, इत्यादि पर आधारित हो सकती है, परन्तु किसी भी क्षेत्र के पृथक् स्वरूप के लिए प्रमुख बात वहां के लोगों में आपसी समानता और एकरूपता तथा अन्य क्षेत्रों से अलगाव की भावना है। इस प्रकार अनेक तत्वों; जैसे भूगोल, जलवायु,भाषा, रीति-रिवाज, राजनीतिक और आर्थिक विकास, ऐतिहासिक अनुभव, रहन-सहन के तरीके, आदि की अन्तःक्रियाओं से किसी क्षेत्र (Region) का निर्माण हो सकता है। प्रो. श्रीराम माहेश्वरी का मत है कि क्षेत्र इनसे भी कुछ अधिक होता है, क्षेत्र के लोगों में साथ रहने की भावात्मक एकता होती है और दूसरों से अपने को पृथक् मानने की इच्छा। यदि कोई व्यक्ति यह सोचता है कि वह विदर्भ क्षेत्र का निवासी है जो इसका मतलब है कि वह अपने को महाराष्ट्रियनों से थोड़ा भिन्न मानता है चाहे सभी महाराष्ट्रियन यह महसूस करते हों कि अन्य राज्यों से महाराष्ट्र के लोग भिन्न हैं। ऐसी भावनाएं सांस्कृतिक वास्तविकताएं हैं और उनसे कोई भी आसानी से मुक्त नहीं हो सकता।

भारतीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में क्षेत्रीयतावाद से अभिप्राय है राष्ट्र की तुलना में किसी क्षेत्र विशेष अथवा राज्य या प्रान्त की अपेक्षा एक छोटे क्षेत्र से लगाव, उसके प्रति भक्ति या विशेष आकर्षण दिखाना। इस दृष्टि से क्षेत्रीयतावाद राष्ट्रीयता की वृहद् भावना का विलोम है और इसका ध्येय संकुचित क्षेत्रीय स्वार्थों की पूर्ति होना है। भारतीय राजनीति के सन्दर्भ में यह एक ऐसी धारणा है जो भाषा, धर्म, क्षेत्र आदि पर आधारित है

और जो विघटनकारी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देती है। क्षेत्रीयता की भावना सारे देश में व्याप्त है जो कि प्रायः सुनियोजित एवं सुव्यवस्थित आन्दोलनों तथा अभियानों के रूप में प्रकट होती है।

17.13 भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद के कारण (Causes of Regionalism in Indian Politics)

भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद के निम्नलिखित प्रमुख कारण हैं:

(1) भौगोलिक - भौगोलिक दृष्टि से भारत के कई राज्य आज भी बहुत बड़े हैं। इन बड़े राज्यों; जैसे उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश और राजस्थान में छोटे-छोटे महत्वपूर्ण क्षेत्र भौगोलिक दृष्टि से महत्वपूर्ण इकाई बन सकते हैं। राजस्थान में मारवाड़ और मेवाड़ का क्षेत्र, मध्य प्रदेश में मालवा का क्षेत्र, आदि को यदि पृथक् राज्यों का दर्जा दे दिया जाए तो भी वे केरल, नगालैण्ड से तो बड़े राज्य ही बनेंगे।

(2) सांस्कृतिक - कुछ राज्यों में कई भाषाभाषी एवं संस्कृति के लोग रहते हैं। उन्हें अपनी भाषा एवं संस्कृति पर गर्व है। इसी आधार पर द्रविड़ मुनेत्र कड़गम म ने भारतीय संघ से अलग होने की बात कही थी।

(3) ऐतिहासिक राज्य पुनर्गठन के बाद कई पुरानी रियासतों को राज्यों में मिला दिया गया था। आज भी इन रियासतों के लोग यह महसूस करते हैं कि यदि उनकी रियासत का ही पृथक् राज्य होता तो वे अधिक लाभ की स्थिति में होते। केवल ऐतिहासिक सम्बन्धों के आधार पर ही पुराने क्षेत्रों की चर्चा की जाती है। दूसरे शब्दों में, सारे भारत का इतिहास सामान्य न होकर क्षेत्रों के आधार पर भिन्न है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, सांस्कृतिक विरासत, लोक परम्पराओं, सामाजिक मिथकों तथा लक्षणों

(Symbolism) के आधार पर क्षेत्रवाद के अस्तित्व को सहायता मिलती है। (4) आर्थिक कारण - भारत के कुछ राज्यों के कुछ क्षेत्रों में अधिक आर्थिक विकास हुआ और आर्थिक विकास की दृष्टि से कुछ क्षेत्र पिछड़ गए। इससे इन पिछड़े क्षेत्रों में असन्तोष फैलने लगा और क्षेत्रीयतावाद की भावना फैलने लगी। उदाहरणार्थ, आन्ध प्रदेश में तेलंगाना का क्षेत्र, राजस्थान में दक्षिणी-पूर्वी राजस्थान, महाराष्ट्र में विदर्भ, उत्तर प्रदेश में पूर्वांचल, बुन्देलखण्ड आदि क्षेत्रों में तेज रफ्तार से विकास नहीं हो पाया और वे अपने लिए पृथक् राज्य की मांग करने लगे। उड़ीसा के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री ज.बी. पटनायक ने सरकारी आंकड़ों का हवाला देते हुए कहा कि आर्थिक विकास में पूर्वी राज्यों की उपेक्षा करने के परिणामस्वरूप क्षेत्रीय आर्थिक असन्तुलन और विषमताएं बढ़ी हैं। उनके

अनुसार अखिल भारतीय वित्तीय सार्वजनिक संस्थाओं एवं निकायों द्वारा दी जाने वाली सहायता एवं वित्तीय निवेश में पूर्वी पूर्वी राज्यों को उनका समुचित हिस्सा नहीं मिल पाता है। सन् 1985 तक प्रति व्यक्ति गैर-बैंकिंग वित्तीय संस्थानों से सार्वजनिक क्षेत्र में सहायता इस प्रकार रही है - पश्चिमी बंगाल 217 रु, उड़ीसा 119 रु., असम 75 रु., बिहार 69 रु, जबकि अखिल भारतीय औसत 247 रु. तथा 350 रु. रहा है।

तेलंगाना राष्ट्र समिति के आंदोलन के आगे झुकते हुये पृथक तेलंगाना राज्य के गठन की माँग स्वीकार करने की घोषणा केन्द्र सरकार ने 9 दिसम्बर, 2009 को कर दी। इस घोषणा के विरोध में आन्ध्रप्रदेश में उपजे व्यापक विरोध के कारण इस निर्णय की समीक्षा के लिए उच्चतम न्यायालय के अवकाश प्राप्त न्यायमूर्ति बी.एम. श्रीकृष्णा की अध्यक्षता में 3 फरवरी, 2010 को पाँच सदस्यीय समिति का गठन किया गया। समिति ने 600 पृष्ठों की दो खण्डों की रिपोर्ट में छः विकल्प पेश किये हैं; इनमें हैदराबाद को केन्द्र शासित प्रदेश बनाने का भी एक विकल्प है। समिति ने संयुक्त आन्ध्रप्रदेश को बेहतर विकल्प बतलाया है, साथ ही तेलंगाना क्षेत्र के सामाजिक आर्थिक विकास के लिए तेलंगाना क्षेत्रीय विकास परिषद की स्थापना का सुझाव दिया है।

"आर्थिक स्रोत कम हैं और मांगों में निरन्तर वृद्धि हो रही है। मांग और उत्पादन में अन्तर का एक प्रभाव यह है कि व्यक्ति, समुदाय, वर्ग और क्षेत्र सभी स्तरों पर प्रतिस्पर्द्धा होती है।"- रजनी कोठारी

(5) भाषा - भारत में भाषागत विविधता रही है। उत्तर और दक्षिण की भाषा एक-दूसरे से भिन्न रही है। भाषा को राजनीतिक हथियार के रूप में प्रयुक्त करने की प्रवृत्ति बढ़ी। भाषा के प्रश्न को लेकर उत्तर तथा दक्षिण राज्यों में हिंसात्मक आन्दोलन हुए और राष्ट्रीय एकता संकट में पड़ गयी।

(6) जाति - जाति के आधार पर भी क्षेत्रीयता की प्रवृत्ति बढ़ी है। जिन क्षेत्रों में किसी एक जाति की प्रधानता रही वहां क्षेत्रीयतावाद की प्रवृत्ति दिखलायी देती है। हरियाणा और महाराष्ट्र में क्षेत्रीयता की प्रवृत्ति फैलाने में जाति प्रभावक तत्व रहा है।

"यद्यपि जाति व्यवस्था क्षेत्रवाद के लिए अपने आप में बहुत महत्वपूर्ण तत्व नहीं है, परन्तु जहां यह आर्थिक हितों (जैसे महाराष्ट्र में मराठा जाति), भाषायी समुदायों (तमिलनाडु में तमिल भाषी और गैर-ब्राह्मण जातियां) और धर्म (पंजाब में सिक्ख धर्म और जाट जाति) के साथ जुड़ी हों वहां यह क्षेत्रवाद को प्रबल बनाने में काफी सहायक होती है।"रजनी कोठारी

(7) राजनीतिक कारण राजनीतिक कारणों से भी प्रादेशिकता की मांग बढ़ी है। राजनीतिज्ञ यह सोचते हैं कि यदि पृथक् राज्य बन जाएंगे तो उनकी राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति आसानी से हो सकेगी। प्रादेशिक दलों; जैसे डी.एम.के, अकाली दल, झारखण्ड पार्टी, शिव सेना, आदि ने भी राजनीतिक कारणों से प्रादेशिकता की अग्नि प्रज्ज्वलित की है।

भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद को चर्चा निम्नलिखित शीर्षकों के आधार पर की जा सकती है:

(1) क्षेत्रीयतावाद और पृथक् राज्यों की मांग; (2) क्षेत्रीयतावाद बनाम अन्तर्राज्यीय झगड़े; (3) क्षेत्रीयतावाद और स्वायत्तता की मांग; (4) क्षेत्रीयतावाद और केन्द्र-राज्य संघर्ष; (5) क्षेत्रीयतावाद के सन्दर्भ में उत्तर और दक्षिण की भावनाएं (6) क्षेत्रीयतावाद के सन्दर्भ में भाषावाद; (7) क्षेत्रीयतावाद और भारतीय संघ से पृथक् होने की. प्रवृत्ति; (8) क्षेत्रीयतावाद और क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का अभ्युदय।

1. क्षेत्रीयतावाद और पृथक् राज्यों की मांग

क्षेत्रीयतावाद का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष पृथक् राज्य की मांग रही है। आर्थिक पिछड़ेपन, जाति, भाषा, धर्म को लेकर विभिन्न क्षेत्रों द्वारा पृथक् राज्य की मांग समय-समय पर उठायी गयी तथा क्षेत्रीय आन्दोलनों की शुरूआत की गयी। पृथक् राज्यों की मांग के सन्दर्भ में सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष संघीय इकाइयों द्वारा पूर्ण राज्य का दर्जा प्राप्त करने की मांग है। इसी मांग के तहत् हिमाचल प्रदेश को 1970 में पूर्ण राज्य का दर्जा दिया गया तथा जनवरी 1972 में त्रिपुरा एवं मणिपुर को भी पूर्ण राज्य बना दिया गया। दिल्ली के लोग भी पूर्ण राज्य की मांग करते रहे हैं। दिसम्बर 1991 में दिल्ली के लिए 70-सदस्यीय विधानसभा तथा 7-सदस्यीय मंत्रिपरिषद के निर्माण से संबंधित विधेयक संसद ने पारित कर दिया, परन्तु केन्द्र शासित क्षेत्र के रूप में दिल्ली का दर्जा बना रहेगा। इसके अतिरिक्त पृथक् राज्यों की मांग को निम्नलिखित सन्दर्भ में देखा जा सकता है:

राज्यों का पुनर्गठन - सन् 1956 में राज्यों का पुनर्गठन किया गया। राज्यों के पुनर्गठन का मुख्य कारण भाषायी राज्यों की ही मांग थी। भाषागत राज्यों की मांगों ने राष्ट्रव्यापी असन्तोष को जन्म दिया। इसके द्वारा क्षेत्रीय भावनाओं को प्रोत्साहन मिला और राष्ट्रवादी लोगों में यह आशंका पैदा हुई कि इससे देश छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित हो जाएगा और राष्ट्रीय एकता का अन्त हो जाएगा।

बम्बई राज्य का विभाजन बम्बई राज्य के विभाजन की मांग तीव्रतर होने लगी। यह मांग की जाने लगी कि गुजराती और मराठी भाषा के आधार पर राज्य को दो भागों में विभाजित किया जाना चाहिए। सन् 1960 में महाराष्ट्र और गुजरात राज्य की स्थापना हुई।

पृथक् विदर्भ राज्य की मांग सन् 1960 के आस-पास पृथक् विदर्भ राज्य की मांग की जाने लगी। नागपुर के लोगों का कहना था कि महाराष्ट्र की स्थापना से नागपुर का महत्व कम हो गया क्योंकि उससे पूर्व नागपुर मध्य भारत की राजधानी था।

पंजाब राज्य का पुनर्गठन - सन् 1966 में पंजाब राज्य का पुनर्गठन किया गया परिणामतः पंजाब, हरियाणा एवं चण्डीगढ़ का संघीय प्रदेश बनाया गया। हिमाचल प्रदेश एक प्रशासनिक इकाई बन गया। इस पुनर्गठन का उद्देश्य इस क्षेत्र के सभी राज्यो का तेजी से आर्थिक विकास करना और वहां की जनता की राजनीतिक आकांक्षाओं को सन्तुष्ट करना था।

असम राज्य का पुनर्गठन - सितम्बर 1968 में असम पुनर्गठन की एक योजना घोषित की गयी थी। इस योजना में राज्य के पहाड़ी लोगों के लिए पर्याप्त मात्रा में स्वायत्त शासन की व्यवस्था थी जिससे पहाड़ी लोगों की आकांक्षाएं पूरी हों और विकास सम्बन्धी क्रिया-कलाप बढ़ सकें। 'असम पुनर्गठन (मेघालय) बिल' दिसम्बर 1968 में पारित होकर कानून बन गया और असम राज्य के अन्तर्गत 'मेघालय' का स्वायत्तशासी राज्य स्थापित हो गया। भूतपूर्व संघीय प्रदेशों मणिपुर तथा त्रिपुरा के लोग भी अधिक स्वायत्त शासन की मांग कर रहे थे। सरकार ने उनकी मांगों पर सहानुभूतिपूर्वक विचार किया और असम के मिजो जिले की जनता के लिए एक पृथक् प्रशासनिक इकाई की मांग पर विचार किया। प्रदेश की सुरक्षा और आर्थिक विकास की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों के पुनर्गठन के लिए कदम उठाए गए। इन परिवर्तनों को अमल में लाने के लिए 1972 में एक अधिनियम पारित किया गया और मणिपुर एवं त्रिपुरा को पूर्ण राज्य का दर्जा दिया गया है आज बोरो, गारो और करबी जैसी जनजातियां भी असम से अलग हो जाने की भाषा बोल रही आन्ध्र राज्य के विभाजन की मांग आन्ध्र प्रदेश में तेलंगाना की समस्या काफी जटिल बन गयी; विकास, रोजगार के अवसरों और शिक्षा-विषयक सुविधाओं के मामले में तेलंगाना क्षेत्र के लिए 1967 में पब्लिक एम्प्लायमेण्ट ऐक्ट में संरक्षणों की व्यवस्था की गयी। उसी वर्ष सर्वोच्च न्यायालय ने इस ऐक्ट की उस व्यवस्था को असंवेधानिक करार दे दिया, जिसका तेलंगाना क्षेत्र को मिलने वाले संरक्षणों से सम्बन्ध था। संरक्षणों के कार्यान्वयन के ढंग से असन्तोष था और तेलंगाना एवं आन्ध्र प्रदेश के अन्य भागों में गम्भीर आन्दोलन शुरू हो गए। हिंसात्मक आन्दोलनों से बड़ी

गम्भीर परिस्थिति पैदा हो गयी जिससे राज्य के संगठन को ही खतरा पैदा हो गया। आन्ध्र प्रदेश के लोगों में पूरी-पूरी भावनात्मक एकता लाने के लिए बड़े भारी धैर्य, सूझ-बूझ और कुशलता की आवश्यकता थी। 1967 में शुरू की गयी इस बड़ी नाजुक कार्यवाही का परिणाम 6-सूत्रीय फार्मूला था जो 1973 में घोषित किया गया।

पृथक् तेलंगाना के समर्थकों का कहना था कि अन्य क्षेत्रों का विकास तेलंगाना के मूल्य पर किया जा रहा है। तेलंगाना आन्दोलन को देखते हुए शंका व्यक्त की गयी कि तेलंगाना की समस्या भारत के कई भागों में उपक्षेत्रीयतावाद (Sub-regionalism) की उदीयमान शक्तियों का संकेत देती प्रतीत होती है।

नए राज्यों का सृजन 25 मार्च, 1998 को राष्ट्रपति ने संसद को सम्बोधित करते हुए कहा था कि सरकार उत्तर प्रदेश में उत्तरांचल, बिहार में वनांचल और मध्य प्रदेश में छत्तीसगढ़ बनाने की कार्रवावई शुरू करने के लिए प्रतिबद्ध है। तदनुसार, उत्तर प्रदेश, बिहार और मध्य प्रदेश के राज्यों का पुनर्गठन करने के लिए विधेयकों का प्रारूप तैयार किया गया। 20 अगस्त, 1998 को राष्ट्रपति महोदय ने उक्तविधेयकों को भारत के संविधान के अनुच्छेद-3 की मंशानुसार अपने विचार व्यक्त करने के लिए सम्बन्धित विधानमण्डलों को भेजा था। राज्य विधानमण्डलों के विचार प्राप्त हो जाने के पश्चात् लोकसभा में दिसम्बर 1998 में उत्तर प्रदेश पुनर्गठन विधेयक 1998, बिहार पुनर्गठन विधेयक और मध्य प्रदेश पुनर्गठन विधेयक 1998 पेश किए गए।

अगस्त 2000 में संसद द्वारा पारित मध्य प्रदेश पुनर्गठन अधिनियम के अनुसार नवगठित छत्तीसगढ़ राज्य (1 नवम्बर, 2000) में वर्तमान मध्य प्रदेश के 16 जिले सम्मिलित हैं। अगस्त 2000 में संसद ने उत्तर प्रदेश पुनर्गठन अधिनियम, 2000 पास करके उत्तरांचल राज्य के निर्माण को स्वीकृति दे दी तथा 9 नवम्बर, 2000 को नया उत्तरांचल राज्य अस्तित्व में आया। नवगठित उत्तरांचल राज्य में उत्तर प्रदेश के 13 जिले शामिल किए गए हैं। अगस्त 2000 में ही संसद ने बिहार पुनर्गठन अधिनियम पारित करके झारखण्ड राज्य के निर्माण (15 नवम्बर, 2000) को मंजूरी दे दी।

अन्य भागों में पृथक् राज्यों की मांग सन् 2000 में उपर्युक्त तीन नए राज्यों के गठन के बाद भी आठ नए राज्यों के गठन के लिए पुरजोर मांग की जा रही है उत्तर प्रदेश में पूर्वांचल, हरित प्रदेश एवं बुन्देलखण्ड, महाराष्ट्र में विदर्भ, गुजरात में सौराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश में तेलंगाना, असम में बोडोलैण्ड तथा पश्चिम बंगाल में गोरखालैण्ड ।

इण्डिया टुडे लिखता है- "आज पुराने राज्यों में से नए राज्य बनाने के पीछे पहले की तरह जातीय या सांस्कृतिक पहचान का हठ नहीं है। अगर किसी अल्पसंख्यक

समुदाय को शिक्षा और नौकरियों में बराबर का हिस्सा नहीं मिलता तो वह अलग होना ही बेहतर समझता है।"

2. क्षेत्रीयतावाद बनाम अन्तर्राज्यीय झगड़े

क्षेत्रीयतावाद का एक महत्वपूर्ण पक्ष विभिन्न राज्यों के आपसी झगड़े हैं। राज्यों के बीच सीमा विवादों एवं नदी पानी विवादों को लेकर राज्य में उग्र मतभेद एवं तनाव बढ़े हैं। राष्ट्रीय स्रोतों के वितरण पर राज्यों के बीच कई बार सहमति नहीं हो पायी और राज्यों में कई बार अधिकतम स्रोत प्राप्त करने की होड़-सी दिखलायी देने लगी। मध्य प्रदेश, गुजरात और राजस्थान के बीच नर्मदा नदी के जल के वितरण को लेकर उत्पन्न विवाद, राजस्थान और पंजाब के बीच भाखड़ा नंगल बांध से उत्पन्न बिजली के बंटवारे को लेकर विवाद, तमिलनाडु व कर्नाटक के बीच कावेरी के जल वितरण का विवाद, महाराष्ट्र तथा कर्नाटक, पंजाब तथा हरियाणा के बीच सीमा विवाद अन्तर्राज्यीय झगड़ों के मुख्य उदाहरण हैं, जिनमें कई बार क्षेत्रीयता की संकुचित मनोवृत्ति ने उग्र रूप धारण कर लिया और संघवाद की भावना डगमगाती प्रतीत हुई।

असम-नगालैण्ड सीमा विवाद भयंकर नरसंहारों का कारण बन चुका है। 5 जनवरी, 1979 को हथियारों से लैस नागाओं ने 55 असमियों की हत्या कर दी थी। 4 जून, 1985 को मेरापानी में दूसरा बड़ा काण्ड हुआ। इस बार नागाओं के साथ उनके राज्य की सशस्त्र पुलिस भी थी। इस काण्ड में 30 असमी मारे गए और 90 घायल हुए। असम के अधिकारी दावा करते हैं कि उनके राज्य की 878 वर्ग किमी भूमि नगालैण्ड ने दबा ली है।

वस्तुतः असम और नगालैण्ड के बीच 4,973 वर्ग मील क्षेत्र पर विवाद चल रहा है। नगालैण्ड ने विवादास्पद क्षेत्र में विधानसभा चुनावों (1987) के लिए 25 मतदान केन्द्र खोलने की घोषणा की तो पूरा असम उग्र हो उठा और अखिल असम छात्र संघ ने नगालैण्ड की आर्थिक नाकेबन्दी करने का कदम उठाया। प्रधानमन्त्री राजीव गांधी को यह आश्वासन देना पड़ा कि अगर नगालैण्ड की आर्थिक नाकेबन्दी समाप्त न की गयी तो केन्द्र सरकार विमानों के जरिए वहां जरूरी सामान भेजेगी। असम-अरुणाचल, असम-मेघालय, मिजोरम का मणिपुर व त्रिपुरा के साथ सीमा विवाद भी बहुत कटु और चिन्ताजनक होता जा रहा है।

कावेरी जल विवाद - कावेरी जल विवाद कर्नाटक, तमिलनाडु और केरल राज्यों तथा केन्द्रशासित प्रदेश पांडिचेरी के बीच कावेरी नदी के पानी के बंटवारे पर एक लम्बे, लगभग दो दशाब्दियों से अधिक समय से चला आ रहा है। तमिलनाडु के किसानों ने

सर्वोच्च न्यायालय में याचिका दायर कर केन्द्रसरकार को यह निर्देश देने की प्रार्थना की थी कि वह अन्तर्राज्यीय जल विवाद अधिनियम के अन्तर्गत एक न्यायाधिकरण की नियुक्ति कर तमिलनाडु को कावेरी जल का उचित भाग दिलाए। 14 मई, 1990 को सर्वोच्च न्यायालय ने केन्द्र सरकार को एक माह के अंदर ऐसा न्यायाधिकरण नियुक्त करने का निर्देश दिया। इस आदेश के अनुपालन में केन्द्र सरकार ने 2 जून, 1990 को बम्बई उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश न्यायमूर्ति चित्ततोष मुखर्जी की अध्यक्षता में तीन सदस्यीय न्यायाधिकरण की नियुक्ति की। इस कावेरी जल विवाद न्यायाधिकरण ने 26 जून, 1991 को अपने अन्तरिम आदेश में कर्नाटक सरकार को 1 जुलाई, 1991 से प्रारम्भ होने वाले वर्ष के लिए तमिलनाडु को 205 हजार घन मीटर (T.M.C.) पानी छोड़ने का तथा कावेरी बेसिन में अपने सिचाई क्षेत्र को 11.2 लाख एकड़ तक सीमित रखने का निर्देश दिया।

कर्नाटक ने इस आदेश का डटकर विरोध किया। मुख्यमंत्री बंगारप्पा ने 25 जुलाई, 1991 को कनार्टक-कावेरी बेसिन सिचाई सुरक्षा अधिनियम, 1991 के नाम से एक अध्यादेश जारी करवाकर न्यायाधिकरण के अन्तरिम आदेश को निष्यभावी कर दिया। दूसरी तरफ तमिलनाडु सरकार ने केन्द्र सरकार से मांग की कि वह कर्नाटक सरकार द्वारा न्यायाधिकरण के निर्णय का अनुपालन कराए। दोनों राज्यों ने केन्द्र सरकार से अपना-अपना पक्ष मनवाने के लिए आंदोलनों की श्रृंखला प्रारंभ कर दी। मामले ने इतना तूल पकड़ा कि कर्नाटक ने न्यायाधिकरण के अन्तरिम आदेश के विरोध में सर्वोच्च न्यायालय में रिट याचिका तक दायर कर दी।

3. क्षेत्रीयतावाद और स्वायत्तता की मांग

भारतीय संविधान द्वारा ऐसे संघवाद की स्थापना की गयी है जिसमें स्वाभाविक रूप से केन्द्र शक्तिशाली है। विगत कुछ वर्षों से मांग की जाती रही है कि भारतीय संविधान के संघवाद से सम्बन्धित प्रावधानों का पुनरीक्षण किया जाना चाहिए तथा राज्यों की केन्द्र पर अत्यधिक निर्भरता को कम कर दिया जाना चाहिए। मांग की गयी है कि राज्यों को अधिक स्वायत्ता दी जानी चाहिए। स्वायत्तता की मांग के साथ-साथ यदाकदा पृथक्तावादी नारे भी दिए जाते हैं। स्वायत्तता की यह मांग उन दिनों बड़ी प्रबल हो जाती है जबकि केन्द्र एवं राज्यों में पृथक् पृथक् राजनीतिक दलों की सरकारें होती हैं। पंजाब में मास्टर तारासिंह के नेतृत्व में अकाली दल द्वारा सिक्खों के स्वायत्त राज्य की मांग उठायी गयी थी। पश्चिमी बंगाल की मार्क्सवादी सरकार ने बार-बार राज्यों की स्वायत्तता की मांग दुहराई है। द्रमुक और अन्नाद्रमुक दलों ने भी राज्य स्वायत्तता की मांग का समर्थन किया है।

जम्मू-कश्मीर विधानसभा ने पांच दिन की बहस के पश्चात् राज्य स्वायत्ता समिति की रिपोर्ट को 26 जून, 2000 को ध्वनि मत से स्वीकार कर लिया। रिपोर्ट में राज्य की 1953 से पूर्व की स्थिति बहाल करने की संस्तुति की गई है।

4. क्षेत्रीयतावाद और केन्द्र-राज्य संघर्ष

भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद की अभिव्यक्ति केन्द्र व राज्यों के बीच हुए विवादों में भी हुई हैं। राज्यों ने कई बार केन्द्र के सुझावों और निर्देशों को मानने से इन्कार कर दिया और अपने स्वतन्त्र अस्तित्व का परिचय दिया है। 18 सितम्बर, 1968 को केन्द्रीय कर्मचारियों की हड्ताल का सामना करने के लिए केन्द्र ने राज्यों को निर्देश दिए। केरल की वामपन्थी सरकार के मुख्यमन्त्री नम्बूद्रीपाद ने केन्द्रीय अध्यादेश को श्रमिक विरोधी कहकर उसे मानने से इन्कार कर दिया। सन् 1968 में पश्चिम बंगाल के दार्जिलिंग और नक्सलवादी क्षेत्रों में होने वाले उपद्रवों से चिन्तित होकर केन्द्रीय सरकार ने उपद्रव-ग्रस्त क्षेत्रों में हथियार रखने पर प्रतिबन्ध लगा दिया जिसे राज्य सरकार ने राज्य के मामलों में केन्द्र के हस्तक्षेप की संज्ञा दी। केन्द्र द्वारा राज्यों में केन्द्रीय रिजर्व पुलिस भेजने का राज्यों ने बराबर विरोध किया है। जनता पार्टी के शासन काल में गौ-हत्या प्रतिबन्ध के विषय पर केन्द्र तथा तमिलनाडु, केरल व पश्चिमी बंगाल की सरकारों के बीच विवाद उत्पन्न हुए। केन्द्र से अधिकतम वित्तीय स्त्रोतों को प्राप्त करने के लिए भी राज्यों ने केन्द्र के विरुद्ध संघर्ष का रुख अपनाया। कई बार अन्तर्राज्यीय विवादों के समाधानमें राज्यों ने केन्द्र के निर्णय को मानने से इन्कार कर दिया। इस प्रकार राज्यों द्वारा केन्द्र की नीति का विरोध करना, केन्द्र के निर्देशों का पालन न करना क्षेत्रीयतावाद की नीति के द्योतक हैं।

5. क्षेत्रीयतावाद के सन्दर्भ में उत्तर-दक्षिण की भावनाएं

भारत में उत्तर और दक्षिण के सन्दर्भ में सोचने की प्रवृत्ति पायी जाती है। दक्षिण के लोग यह महसूस करते हैं कि उत्तरी भारत के लोगों ने सदैव हर मामले में उनकी उपेक्षा की है। दक्षिण के चार राज्यों- तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश, केरल और कर्नाटक में जहां द्रविड़ भाषा बोली जाती है का विचार है कि राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से उत्तरी भारत की अपेक्षा दक्षिणी भारत को वे लाभ नहीं मिले जो मिलने चाहिए थे। केन्द्रीय मंत्रिमण्डल, योजना आयोग तथा केन्द्रीय सचिवालय में दक्षिण की अपेक्षा उत्तर के लोग ही छाए हुए हैं। दूसरी पंचवर्षीय योजना में 2,240 करोड़ रु. की राशि में से दक्षिण भारत को मात्र 521 करोड़ रु. ही दिए गए। इस्पात के सभी बड़े कारखाने-रूरकेला, भिलाई तथा दुर्गापुर उत्तरी भारत में ही हैं। दक्षिण की अपेक्षा उत्तरी भारत में उद्योगों का जाल बिछा हुआ है। दक्षिण के राज्यों ने सरकार की भाषा नीति का डटकर

विरोध किया है। दक्षिणी राज्य यह मानते हैं कि हिन्दी उत्तरी भारत की भाषा है और उन पर हिन्दी जबर्दस्ती थोपने की एक चाल है। वे मानते हैं कि अन्य भारतीय भाषाओं की भांति हिन्दी भी एक भारतीय भाषा है। अन्य द्रविड़ भाषाओं, जैसे तमिल, तेलुगू, मलयालम और कन्नड़ से हिन्दी इतिहास एवं साहित्य की दृष्टि से अधिक समृद्ध नहीं है। दक्षिण के राज्य चाहते है कि प्रशासन की भाषा के रूप में हिन्दी के बजाय अंग्रेजी को चलाया जाना चाहिए। हिन्दी को वे उत्तरी भारत की साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का परिचायक मानते हैं।

क्षेत्रीयता की इस मनोवृत्ति के कारण मार्च 1977 के छठी लोकसभा के चुनावों में उत्तर और दक्षिण के मताचरण में भी काफी अन्तर पाया गया। जहां उत्तरी भारत में कांग्रेस के पैर पूरी तरह से उखड़ गए वहां दक्षिण भारत के राज्यों ने कांग्रेस के पक्ष में मतदान किया। जनता पार्टी को तमिलनाडु में तीन, कर्नाटक में दो, आन्ध्र प्रदेश में एक और केरल में एक भी स्थान नहीं मिला। इसके विपरीत, कांग्रेस को मध्य प्रदेश और राजस्थान में एक-एक स्थान मिला। उसे बिहार, उत्तर प्रदेश, हरियाणा, पंजाब, हिमाचल प्रदेश में एक भी स्थान नहीं मिला। इसी प्रकार नवम्बर 1989 तथा मई-जून 1991 के लोकसभा चुनावों में भी उत्तर और दक्षिण के मताचरण में व्यापक अन्तर दिखलायी देता है। उत्तरी भारत के राज्यों में जनता दल और भाजपा को शानदार सफलता मिली वहां दक्षिण के राज्यों में कांग्रेस (इ) को उल्लेखनीय विजय प्राप्त हुई।

6. क्षेत्रीयतावाद के सन्दर्भ में भाषावाद

स्वाधीनता के तुरन्त बाद मुख्य प्रश्न यह था कि राष्ट्र भाषा और उसकी लिपि क्या हो तथा भाषायी अल्पसंख्यकों को किस प्रकार संरक्षण दिया जाए। संविधान ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित किया । भाषा के आधार पर राज्यों का निर्माण एवं पुनर्गठन हुआ। दक्षिण के लोग हिन्दी भाषा का विरोध करने लगे। वे राजभाषा के रूप में हिन्दी को पसन्द नहीं करते थे। उनका कहना था कि हिन्दी इस स्थिति में नहीं है कि वह भारत की राजभाषा बन सके। भाषा को राजनीतिक हथियार के रूप में प्रयुक्त करने की प्रवृत्ति बढ़ी। भाषा के प्रश्न को लेकर उत्तर तथा दक्षिण के राज्यों में हिंसात्मक आन्दोलन हुए और राष्ट्रीय एकता संकट में पड़ गयी। मॉरिस जोन्स लिखते हैं कि "दक्षिण भारत ने हिन्दी का जोरदार विरोध किया, बंगाल ने उससे कम विरोध किया और देश के अन्य भागों के शिक्षित वर्ग के लोगों ने सीमित रूप में ही इसका विरोध किया।"

असम में भाषा की राजनीति असम आन्दोलन की प्रेरणा स्रोत रही है। जनगणना के आंकड़ों के अनुसार 1951 व 1971 के बीच राज्य में 61-62 प्रतिशत लोग ही असमिया भाषा बोलते थे। राज्य के हिन्दू जो लगभग 72 प्रतिशत हैं ऐसा सोचते हैं कि

असमिया भाषा बोलने वाले 62 प्रतिशत लोगों में 25 प्रतिशत लोग बंगलादेश के मुसलमान हैं। उनका यह मानना है कि इन मुसलमानों ने असमिया भाषा बोलना इसलिए शुरु किया ताकि उन्हें पहचाना न जा सके कि वे विदेशी हैं। असम के लोगों को भय है कि एक बार स्थिति सामान्य हुई और बंगलादेश से आए मुसलमान अपनी मूल भाषा बंगाली का प्रयोग शुरु कर देंगे और ऐसी स्थिति में असमिया बोलने वालों का प्रतिशत 36-37 रह जाएगा।

दूसरी ओर बंगला भाषी लोग जो इस समय असम की जनसंख्या के 20 प्रतिशत हैं, उनकी संख्या में 25 प्रतिशत वृद्धि हो जाएगी। इस प्रकार राज्यों में बंगला भाषाभाषियों का प्रतिशत 45 हो जाएगा जो असमिया भाषा बोलने वालों के प्रतिशत से आठ-नौ प्रतिशत ज्यादा होगा।

इससे "असली" असमवासी भयभीत हो जाते हैं। इन लोगों का कहना है कि बंगाली अच्छे-अच्छे पदों पर हैं और असमिया भाषा को तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं।

7. क्षेत्रीयतावाद और भारतीय संघ से पृथक होने की प्रवृत्ति

(1) द्रविड़ मुनेत्र कड़गम् की मांग क्षेत्रीयतावाद के आन्दोलन को प्रबल बनाने में तमिलनाडु के द्रविड़ मुनेत्र कड़गम् दल की प्रमुख भूमिका रही है। जून 1950 में द्रमुक ने मद्रास राज्य में पृथकतावादी आन्दोलन संगठित किया और मद्रास राज्य को भारतीय संघ से विलग करने की इच्छा प्रकट की। जगह-जगह भारत के नक्शों को जलाया गया। द्रमुक ने यहां तक कहा कि मद्रास, आन्ध्र प्रदेश, केरल और मैसूर राज्यों को भारतीय संघ से अलग करके एक पृथक् सम्प्रभु 'द्रविड़ स्थान' राज्य बनाया जाना चाहिए। मई 1962 में राज्यसभा में द्रमुक के नेता अन्नादुरै ने कहा कि दक्षिण के लोग उत्तर वालों से कई दृष्टि से भिन्न हैं और दक्षिण वालों की सदैव उपेक्षा की गयी है। इस प्रकार की विघटनकारी मांगों के फलस्वरुप अक्टूबर 1963 में संविधान का 16 वां संशोधन अधिनियम पारित किया गया। इसमें यह व्यवस्था की गयी कि भारत की अखण्डता के विरुद्ध कोई भी व्यक्ति कार्य नहीं कर सकेगा। इसके फलस्वरुप द्रमुक ने भारतीय संघ से अलग होने की मांग को छोड़ दिया और भारतीय संघ में ही 'स्वायत्त राज्य' की मांग प्रस्तुत की। सन् 1970 में द्रमुक के तत्वावधान में 'राज्य स्वायत्तता सम्मेलन' आयोजित किया गया और राज्य स्वायत्तता की मांग की गयी। राज्य के तात्कालिक मुख्यमंत्री करुणानिधि ने चुनौती दी कि यदि उनकी मांग स्वीकार नहीं की जाती है तो वे जन आन्दोलन का भी सहारा लेंगे। एक बार तो उन्होंने पृथक् ध्वज की भी मांग की। क्षेत्रीय दल होने के कारण द्रमुक ने सदैव क्षेत्रीय भावना को भड़काया है। करुणानिधि ने तो

यहां तक कह डाला कि राज्य की नौकरियों में 80% स्थान स्थानीय लोगों को दिए जाएंगे।

(2) अकाली दल की मांग मास्टर तारासिंह के नेतृत्व में पंजाब के सिक्ख सम्प्रदाय ने स्वाधीनता से पूर्व 'खालिस्तान' की मांग की थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद मास्टर तारासिंह ने पृथक 'सिक्ख राज्य' की मांग की। सन् 1950 से 1969 के बीच सिक्खों ने हिंसात्मक आन्दोलनों के माध्यम से 'पंजाबी सूबे' की मांग की और 1 नवम्बर, 1966 को पंजाब का विभाजन हुआ। इससे भी सिक्ख समुदाय सन्तुष्ट नहीं हुआ और सिक्खों के लिए सिक्ख राज्य की मांग उठने लगी। अकाली दल के महासचिव डॉ. जगजीतसिंह ने सिक्ख जनमत को जाग्रत करने के लिए 'सिक्खिस्तान' की मांग हेतु विभिन्न देशों की यात्रा की। अकाली दल के कई नेता यह धमकी देने लगे कि भारतीय संघ के अन्तर्गत सिक्ख राज्य को स्वायत्तता प्रदान नहीं की गयी तो वे जन-आन्दोलन का सहारा लेंगे। आज अकाली दल राज्यों के लिए अधिक स्वायत्तता की मांग कर रहा है।

(3) खालिस्तान की मांग (Demand of Khalistan) सिक्खों के लिए पृथक् राज्य 'खालिस्तान'की मांग नयी नहीं है। 'सिक्ख देश' की मांग भारत की आजादी के दिनों से पहले की है। खालसा पन्थ का कहना है कि सिक्खों को धोखाधड़ी से भारतीय गणतन्त्र में शामिल होने के लिए मजबूर किया गया था। पन्थ यह भी कहता है कि भारत के हिन्दू बहुमत ने एकजुट होकर इस बात पर जोर देते हुए कि सिक्ख धर्म हिन्दू धर्म का ही अंग है, सिक्ख धर्म को बर्बाद करने की कोशिश की और उनकी पंजाबी भाषा को एक बोली मात्र घोषित करके और पंजाब को द्विभाषी प्रदेश बनाकर उनकी भाषा को नीचा दिखाने की कोशिश की।

खालिस्तान की यह मांग (खासतौर से 1980-1992 की अवधि में) एकाएक चिन्ता का विषय इसलिए बन उठी कि पहले इसका समर्थन कुछ मुट्ठी भर उग्र तत्व करते थे, लेकिन अब प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रुप से इसके समर्थन में राजनीतिक दल तो आ ही गए, सिक्खों की वे संस्थाएं भी अपने मंच काउपयोग इस प्रकार की गतिविधियों के लिए करने लगी जो केवल गुरुद्वारों और शिक्षा संस्थाओं के प्रबंध से ताल्लुक रखती थीं। पिछले दिनों आनन्दपुर साहिब में आयोजित शैक्षिक सम्मेलन के मंच से पृथक् सिक्ख राज्य की मांग की गयी। इसके बाद शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी ने जिसका गुरुद्वारा और उनकी विशाल सम्पत्ति पर नियन्त्रण है, इसी प्रकार का एक प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास किया। इस पर अकाली दल के लोंगोवाल गुट का प्रभुत्व है। बाद में पृथक् सिक्ख कौम के रुप में संयुक्त राष्ट्रसंघ की सह-सदस्यता प्राप्त करने के बारे में अकाली दल के तलवण्डी गुट ने प्रस्ताव पास कर दिया। वे भारत संघ के अन्दर पृथक् सिक्ख राज्य चाहते है।

खालिस्तान आन्दोलन को विदेशों में रहने वाले सिक्खों की एक बड़ी संख्या का समर्थन प्राप्त हुआ है। यह आन्दोलन अमरीका में बसे गंगासिंह ढिल्लों और इंग्लैण्ड में बसे जगजीतसिंह द्वारा चलाया गया। उनका अपना ध्वज है, निर्वासित सरकार है, लन्दन में मुख्य कार्यालय है। उत्तरी अमरीका के लगभग सभी बड़े शहरों में गुप्त संगठन है और वे इस कोशिश में लगे हुए हैं कि संयुक्त राष्ट्र में उन्हें वही सहभागी दर्जा दिया जाए जो फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन को प्राप्त है। पृथक्तावादी आन्दोलन के संगठनों का दावा है कि कनाडा में उनके सदस्यों की संख्या 10,000 है जो मासिक प्रतिव्यक्ति 10 डालर चन्दे के हिसाब से खालिस्तान गणतन्त्र के निर्माण के लिए प्रतिवर्ष लगभग 12 लाख डालर इकट्ठे करते हैं।

आनन्दपुर साहिब में शैक्षिक सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए गंगासिंह ढिल्लों ने कहा कि खालिस्तान की मांग सिक्खों के हितों की रक्षा के लिए की जा रही है। आजादी के बाद भारत में सिक्खों के साथ भेदभाव बरता गया है। इसलिए जरुरी है कि सिक्खों का एक पृथक् राज्य हो जहां उन्हीं का बोलबाला हो।

वस्तुतः यह तर्क काफी खोखला है। यह इस तथ्य से स्पष्ट है कि भारत में सिक्खों की जनसंख्या केवल दो प्रतिशत है, लेकिन सेनाओं में ग्यारह प्रतिशत सिक्ख है। इसी प्रकार पुलिस व अन्य असैनिक सरकारी सेवाओं में भी उन्हें जनसंख्या के अनुपात से अधिक स्थान प्राप्त हैं। केन्द्रीय मंत्रिमण्डल में सिक्ख है, राज्यपाल सिक्ख हैं, राष्ट्रपति (श्री जैलसिह) सिक्ख रह चुके हैं तथा पंजाब में जहां केवल आधी आबादी सिक्ख हैं, अब तक हमेशा सिक्ख मुख्यमंत्री रहा है। इस प्रकार यह कहना कि भारत में सिक्खों के हितों की उपेक्षा की जा रही है, सरासर गलत है।

(4) असम में मिजो मांग असम राज्य के मिजो पहाड़ी जिलों के नेता भारतीय संघ से पृथक् होने की लगातार मांग करते रहे हैं। वे एक 'स्वाधीन मिजो राज्य' की स्थापना करना चाहते थे। इस ध्येय की पूर्ति के लिए 'मिजो राष्ट्रीय फ्रण्ट' की स्थापना की गयी। मिजो लोगों ने सशस्त्र आन्दोलन का मार्ग अपनाया। 1962 के चीनी आक्रमण के समय फ्रण्ट पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया, किन्तु कछार और त्रिपुरा क्षेत्रों में इनकी गतिविधियां चलती रहीं। सन् 1971 में मिजो नेता राज्य की मांग के प्रश्न पर जनमत संग्रह कराने की मांग करने लगे। मिजो लोगों की राजनीतिक आकांक्षाओं को देखते हुए केन्द्रीय सरकार ने 'मिजोरम' नामक संघीय क्षेत्र की स्थापना की और सन् 1987 में इसे पूर्ण 'राज्य' का दर्जा प्रदान किया।

(5) असम में नागा आन्दोलन असम में नागा जाति ने भी भारतीय संघ से अलग होने का आन्दोलन छेड़ा। फीजो के नेतृत्व में नागा राष्ट्रीय परिषद की स्थापना की गयी और

हिंसात्मक संघर्ष की सक्रिय गतिविधियां प्रारम्भ कर दी गयी। सन् 1952 में नागा लोगों ने प्रथम आम चुनाव का बहिष्कार किया। फीजो ने यहां तक कहा कि वे नागा लोगों को संयुक्त राष्ट्र में ले जाएंगे। 1960 में नागाओं और केन्द्रीय सरकार के मध्य एक समझौता हुआ जिसके फलस्वरुप नागा राज्य की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हुआ।

(6) पृथक् तेलंगाना आन्दोलन 1960 के दशक में तेलंगाना को पृथक् राज्य बनाने की मांग की गयी। तेलंगाना के लोगों का कहना था कि उनके क्षेत्र का समुचित आर्थिक विकास नहीं हो रहा है। जनवरी 1969 से पृथक् राज्य के लिए आन्दोलन प्रारम्भ हुआ जिसका नेतृत्व डॉ.चेन्ना रेड्डी एवं 'तेलंगानाप्रजा समिति' जैसे संगठन ने किया। हाल में 1969 की तरह फिर एक बार पृथक् तेलंगाना की मांग जोर पकड़ने लगी। पृथक् तेलंगाना की मांग करने वालों को डॉ. चेन्ना रेड्डी का परदे के पीछे से समर्थन प्राप्त था। 8 जुलाई, 1985को तेलंगाना के प्रबल समर्थक पूर्वपार्षद पद्मनाभन ने ध्वज फहराकर आन्दोलन की शुरुआत की ।

(7) स्वतंत्र गोरखालैण्ड की मांग, 1986 प.बंगाल के पहाड़ी क्षेत्र के लोगों ने स्वतंत्र गोरखालैण्ड की मांग प्रस्तुत की है। मई 1988 में दार्जिलिंग एवं कालिमपोंग में तीन दिन का सफल बन्द गोरखा मुक्ति मोर्चे ने आयोजित किया। नेपाल से आए गोरखा लोगों ने इस संगठन के माध्यम से यह मांग रखी कि उनका स्वतंत्र देश गोरखालैण्ड बनाया जाए। सुभाष घीसिंग के नेतृत्व में गोरखा राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा पिछले कई वर्षों से प.बंगाल में सक्रिय हैं।

(8) स्वतंत्र कश्मीर का सपना हाल ही में कश्मीर में उग्रवादियों की गतिविधियों में वृद्धि हुई है। अधिकांश कश्मीरी कल्पनालोक में रहना चाहते हैं और उनमें यह धारणा बढ़ती जा रही है कि उग्रवादियों के प्रयासों और इस्लामाबाद की मदद से स्वतंत्र कश्मीर की स्थापना सम्भव है। पाकिस्तान ने अपने हथकंडे बदल दिए हैं और उसने भारत के साथ विलय को निष्प्रभावी करने के लिए स्वतंत्र कश्मीर की मांग का समर्थन करना आरम्भ कर दिया है।

8. क्षेत्रीयतावाद और क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का अभ्युदय

पिछले कुछ वर्षों से भारतीय राजनीति में क्षेत्रीय दलों का निर्माण एवं प्रभाव बढ़ता जा रहा है। लगभग सभी क्षेत्रीय दलों का उदय और विकास क्षेत्रवाद के लिए उत्तरदायी अनेक कारणों के मिश्रण से ही होता है। तमिलनाडु में डी. एम. के और अन्ना डी.एम. के, पंजाब में अकाली दल, जम्मू-कश्मीर में नेशनल कॉन्फ्रेंस, आन्ध्र प्रदेश में तेलुगूदेशम्,

असम में असम गण परिषद् प्रधान क्षेत्रीय दल हैं। इसके अतिरिक्त नागालैण्ड, त्रिपुरा और महाराष्ट्र में भी क्षेत्रीय दलों का स्वर प्रबल होता जा रहा है।

अकाली दल और द्रमुक दोनों ही के कार्यक्रम से स्पष्ट होता है कि क्षेत्रीय दल राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में सत्ता के लिए अधिक आकृष्ट हैं न कि केवल आर्थिक और सांस्कृतिक स्वरुप को बनाए रखने में।

क्षेत्रीयतावाद के दुष्परिणाम

क्षेत्रीयता की भावना जन-जीवन में जड़ पकड़ने के कारण आज हमारा देश केवल भारत और पाकिस्तान में ही नहीं अपितु एकाधिक क्षेत्रों में बंट गया है और प्रत्येक क्षेत्र में लोग दूसरों पर अपनी श्रेष्ठता को प्रमाणित करने का बीड़ा उठा चुके हैं। क्षेत्रीयतावाद के दुष्परिणाम इस प्रकार है:

(1) विभिन्न क्षेत्रों के बीच संघर्ष और तनाव संकीर्ण क्षेत्रवाद का प्रथम दुष्परिणाम हमें भारत में देखने को मिलता है वह यह है कि इसके कारण विभिन्न क्षेत्रों के बीच आर्थिक, राजनीतिक यहां तक कि मनोवैज्ञानिक संघर्ष और तनाव दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक क्षेत्र अपने स्वार्थों या हितों को सर्वोच्च स्थान दे बैठता है और उसे यह चिन्ता नहीं होती कि उससे दूसरे क्षेत्रों को कितना नुकसान होगा।

(2) राज्य तथा केन्द्रीय सरकार के बीच सम्बन्धों का विकृत होना भारत में क्षेत्रीयता के कारण केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकार के बीच का सम्बन्ध कभी-कभी अत्यन्त कटु रुप धारण कर लेता है। प्रत्येक क्षेत्र के हित समूह, क्षेत्रीय नेतागण, बड़े-बड़े उद्योगपति या राजनीतिज्ञ अपने-अपने क्षेत्र के स्वार्थों को प्राथमिकता देते हैं और केन्द्रीय सरकार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करते हैं। केन्द्रीय सरकार जिसकी तरफ भी थोड़ा-सा झुक गयी वहीं विवाद का विषय बन जाता है और राज्य सरकारों का पारस्परिक सम्बन्ध सौहार्दपूर्ण नहीं रह पाता है।

(3) स्वार्थी नेतृत्व व संगठन का विकास क्षेत्रीयता का एक और दुष्परिणाम यह होता है कि इसके फलस्वरुप अलग-अलग क्षेत्र में कुछ इस प्रकार के नेतृत्व व संगठनों का विकास हो जाता है जो कि जनता की भावनाओं को उभारकर अपने संकीर्ण स्वार्थों की पूर्ति करना चाहते हैं। इस प्रकार के

प्रजा समिति' जैसे संगठन ने किया। हाल में 1969 की तरह फिर एक बार पृथक् तेलंगाना की मांग जोर पकड़ने लगी। पृथक् तेलंगाना की मांग करने वालों को डॉ. चेन्ना रेड्डी का परदे के पीछे से समर्थन प्राप्त था। 8 जुलाई, 1985को तेलंगाना के प्रबल समर्थक पूर्वपार्षद पद्मनाभन ने ध्वज फहराकर आन्दोलन की शुरुआत की ।

(7) स्वतंत्र गोरखालैण्ड की मांग, 1986 प.बंगाल के पहाड़ी क्षेत्र के लोगों ने स्वतंत्र गोरखालैण्ड की मांग प्रस्तुत की है। मई 1988 में दार्जिलिंग एवं कालिमपोंग में तीन दिन का सफल बन्द गोरखा मुक्ति मोर्चे ने आयोजित किया। नेपाल से आए गोरखा लोगों ने इस संगठन के माध्यम से यह मांग रखी कि उनका स्वतंत्र देश गोरखालैण्ड बनाया जाए। सुभाष घीसिंग के नेतृत्व में गोरखा राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा पिछले कई वर्षों से प.बंगाल में सक्रिय हैं।

(8) स्वतंत्र कश्मीर का सपना हाल ही में कश्मीर में उग्रवादियों की गतिविधियों में वृद्धि हुई है। अधिकांश कश्मीरी कल्पनालोक में रहना चाहते हैं और उनमें यह धारणा बढ़ती जा रही है कि उग्रवादियों के प्रयासों और इस्लामाबाद की मदद से स्वतंत्र कश्मीर की स्थापना सम्भव है। पाकिस्तान ने अपने हथकंडे बदल दिए हैं और उसने भारत के साथ विलय को निष्प्रभावी करने के लिए स्वतंत्र कश्मीर की मांग का समर्थन करना आरम्भ कर दिया है।

(9) भाषायी अल्पसंख्यकों की समस्या नये भाषायी राज्यों के निर्माण के उपरान्त भी भाषायी अल्पसंख्यकों की समस्या बनी हुई है, जो शासन से अनेकानेक प्रकार के संरक्षणों की मांग कर रहे हैं। उत्तर प्रदेश में उर्दू का सवाल, कर्नाटक में मराठी भाषा-भाषियों का सवाल, पंजाब में हिन्दी भाषा-भाषियों की स्थिति भाषायी अल्पसंख्यकों की समस्याएं उत्पन्न करती है कर्नाटक में बसे मलयालियों और तमिलों में अब असुरक्षा की भावना पैर जमाने लगी है। कन्नडिगाओं का गुस्सा धीरे-धीरे सुलग रहा है और 1982 के हिंसक आन्दोलन में तो जैसे ज्वालामुखी फट ही पड़ा।

(10) सर्वमान्य शिक्षा नीति के निर्माण में कठिनाइयां भाषा सम्बन्धी समस्याओं का ही परिणाम है कि हम स्वतन्त्रता प्राप्ति के 55 वर्षों के उपरान्त भी किसी ऐसी शिक्षा नीति (Education Policy) का निर्माण नहीं कर सके जिसे हम अपना कह सकें; शिक्षा के क्षेत्र में आज भी प्रयोग हो रहे हैं और इससे जीवन के हर क्षेत्र पर दूरगामी प्रभाव पड़ रहा है। माध्यमिक और उच्च शिक्षा के बारे में शिक्षाशास्त्रियों और राजनीतिज्ञों के बीच निरन्तर नोंक-झोंक चलती रही। कई फार्मूले आते और खण्डित होते रहे और जब कभी ऐसा लगता था कि एक पक्ष की जीत हो गयी तो उसे लागू करने की विधि के सम्बन्ध में मतभेद पैदा हो जाता था। सरकार फूंक-फूंककर कदम रखती हुई 'तीन भाषा फार्मूले' तक पहुंची। इसका मतलब यह था कि अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में माध्यमिक शिक्षा के किसी स्तर पर क्षेत्रीय भाषा के अलावा कोई अन्य भारतीय भाषा भी पढ़ायी जाएगी। इस प्रकार दो भाषाएं हो जाएंगी। तीसरी भाषा अंग्रेजी या अन्य कोई विदेशी भाषा होगी। इस प्रकार माध्यमिक स्तर पूरा होते-होते तीन भाषाएं आ जाएंगी। शुरु में उत्तर भारत के कुछ भागों

में इसका पालन नहीं किया गया-यहां तमिल या ऐसी कोई भाषा पढ़ाने के बजाय संस्कृत भाषा को लिया गया, लेकिन जब 1967 से मद्रास में हिन्दी के कट्टर विरोधी द्रविड़ मुनेत्र कड़गम की सरकार बन गयी, तो सबसे पहला काम यह किया कि द्वितीय भाषा के रुप में हिन्दी की पढ़ाई रोक दी। मद्रास विधानसभा के प्रस्ताव में प्रावधान था कि मद्रास राज्य के विद्यार्थियों को केवल अंग्रेजी व तमिल भाषाएं पढ़ायी जाएं तथा हिन्दी को पाठ्यक्रम से बिल्कुल निकाल दिया जाए।

(11) भाषायी आधार पर राजनीतिक आन्दोलन सरकार की भाषा नीति से हिन्दी के समर्थकों एवं विरोधियों दोनों में ही बड़ा रोष फैला। पहले उत्तरी राज्यों-उत्तर प्रदेशों, बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान और महाराष्ट्र में अंग्रेजी विरोधी प्रदर्शन व उपद्रव हुए और भीड़ ने, जिसमें अधिकतर छात्र होते थे, अराजकता एवं हिंसापूर्ण कृत्य किए। दिसम्बर 1967 में मद्रास राज्य में छात्रों ने हिन्दी विरोधी आन्दोलन आरम्भ किए जो शीघ्र ही आन्ध और मैसूर तक जा पहुंचे ।.

(12) स्थानीयता की संकीर्ण भावना का उदय भाषागत राजनीति के परिणामस्वरुप "धरती के पुत्रों को ही" (The Sons of the Soils) अर्थात् केवल उन्हीं लोगों को जो प्रादेशिक भाषा बोलते हैं, सरकारी व गैर-सरकारी पदों पर नियुक्त कर देना चाहिए, धारणा का प्रचलन हुआ। महाराष्ट्र में शिवसेना ने केरल एवं कर्नाटकवासियों को इसलिए तंग किया और उनके साथ मारपीट की थी कि केरलवासियों की भाषा मलयालम तथा कर्नाटक वालों की भाषा कन्नड़ थी।

भारत में भाषा समस्या इतनी व्यापक और उलझी हुई है कि इसका कोई तत्कालीन हल नहीं ढूंढा जा सकता है। इसके लिए हमें बहुत धैर्य रखने एवं रचनात्मक कार्य करने की आवश्यकता है। भाषा समस्या के हल की दिशा में हमें निम्न बातों की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है:

(1) ऐतिहासिक तथ्यों और आंकड़ों से यह स्पष्ट हो चुका है कि इस देश की राजभाषा और सम्पर्क भाषा हिन्दी ही हो सकती है। अहिन्दी भाषी प्रदेशों को इन तथ्यों को स्वीकार करने के लिए प्रेरित करना चाहिए।

(2) हिन्दी भाषी लोगों को अहिन्दी भाषी लोगों की कठिनाइयों की ओर पर्याप्त ध्यान देना चाहिए। दोनों ही पक्षों को भाषायी उग्रता से बचना चाहिए।

(3) प्रांतीय शासन और सभी स्तरों पर शिक्षा का माध्यम प्रादेशिक भाषाओं को बनाया जाना चाहिए। इस हेतु प्रादेशिक भाषाओं के विकास के लिए पर्याप्त ध्यान देना चाहिए।

(4) हिन्दी भाषा को सरल और लोकप्रिय बनाने के लिए ठोस रचनात्मक कार्य करना चाहिए। इस हेतु सरल हिन्दी में मूल पुस्तकें लिखी जाएं और उपयोगी पुस्तकों का अनुवाद किया जाए और कम से कम मूल्य में उन्हें अहिन्दी भाषियों में वितरित किया जाए।

(5) अंग्रेजी का प्रयोग सीमित किया जाए, परन्तु उसे समूल नष्ट नहीं किया जाए।

(6) त्रि-भाषा सूत्र को पूर्ण निष्ठा से लागू किया जाए।

(7) शैक्षणिक भ्रमण, व्याख्यान, सांस्कृतिक कार्यक्रमों के माध्यम से भारतीय भाषाओं में निकट सम्पर्क स्थापित किया जाए।

(8) अन्त में, भाषा को राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति का माध्यम बनाने से रोका जाए।

17.14 गरीबी अथवा निर्धनता निवारण(Poverty Alliviation)

गरीबी के दो अर्थ लगाये जाते हैं (1) निरपेक्ष गरीबी (Absolute Poverty), (2) सापेक्ष गरीबी (Relative Poverty) I

(1) "एक व्यक्ति की निरपेक्ष गरीबी (Absolute Poverty) से अर्थ है कि उसकी आय या उपभोग व्यय इतना कम है कि वह न्यूनतम भरण-पोषण स्तर के नीचे स्तर पर रह रहा है।" इसी बात को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि "गरीबी से अर्थ मानव की आधारभूत आवश्यकताओं-खाना, कपड़ा, स्वास्थ्य सहायता, आदि की पूर्ति हेतु पर्याप्त वस्तुओं व सेवाओं को जुटा पाने में असमर्थता से हैं।"

भारत में गरीबी से अर्थ उस निरपेक्ष गरीबी से है जिसे सामान्य शब्दों में गरीबी के नाम से पुकारा जाता है, लेकिन अब प्रश्न यह है कि गरीबी कहाँ से आरम्भ होती है? इसका उत्तर यह है कि गरीबी के लिए कुछ न्यूनतम वस्तुओं और सेवाओं को निर्धारित करना पड़ता है। यदि वे न्यूनतम वस्तुएँ भी किसी व्यक्ति को नहीं मिलती हैं तो कहते हैं कि वह गरीबी रेखा से नीचे स्तर पर (Below the Poverty Line) रह रहा है। यदि उसको वे न्यूनतम वस्तुएँ व सेवाएँ मिल जाती हैं तो कहते हैं, कि गरीबी रेखा के बराबर है। जब किसी व्यक्ति को उस न्यूनतम स्तर से अधिक वस्तुएँ और सेवाएँ मिलती हैं तो इसे गरीबी रेखा से ऊपर (Above the Poverty Line) कहा जाता है।

इस विवरण से हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि "गरीबी से अर्थ उस न्यूनतम आय से है जिसकी एक परिवार के लिए आधारभूत न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु आवश्यकता होती है तथा जिसे वह परिवार जुटा पाने में असमर्थ होता है।" इस गरीबी

को निरपेक्ष गरीबी कहते हैं। जो परिवार उस आय के जुटा पाने में असमर्थ होता है उस परिवार को गरीबी रेखा से नीचे जीवन बिता रहे कहा जाता है।

(2) "सापेक्ष गरीबी (Relative Poverty) से अर्थ आय की असमानताओं से होता है।" जब दो देशों की प्रति व्यक्ति आय की तुलना करते हैं तो उनमें भारी अन्तर पाते हैं, इस अन्तर के आधार पर हम गरीब व अमीर देश की तुलना कर सकते हैं। यह गरीबी सापेक्षिक होती है।

भारत में गरीबी की परिभाषा पौष्टिक आहार (Nutritional Intake) के आधार को लेकर दी गयी है। भारतीय योजना आयोग के अनुसार यदि किसी व्यक्ति को गाँव में 2,400 कैलोरीज प्रतिदिन व शहर में 2,100 कैलोरीज प्रतिदिन नहीं मिलता है तो यह माना जायेगा कि वह व्यक्ति गरीबी रेखा के नीचे (Below Poverty Line) अपना जीवन व्यतीत कर रहा है। यदि पौष्टिक आहार को रुपयों में परिणत कर दिया जाता है तो 107 रुपये प्रति व्यक्ति प्रति माह गाँवों में व 122 रुपये प्रति माह शहरों में आता है। परन्तु बाद में गरीबी की परिभाषा में संशोधन किया गया, जिसके अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में 11,060 रुपये व शहरी क्षेत्रों में 11,850 रुपये प्रति गृह वार्षिक उपभोग व्यय का मानदण्ड माना गया है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (NSSO) के यूआरपी आधारित आकलन में देश में निर्धनों की संख्या 2004-04 में 30.7 करोड़ बताई गई जबकि एम आरपी आंकड़ों में यह 23.85 करोड़ है। इसमें ग्रामीण व शहरी क्षेत्रों में निर्धनों की कुल संख्या क्रमशः 17.03 करोड़ व 6.82 करोड़ आकलित है। इससे पूर्व 1999-2000 के आंकड़ों में देश के निर्धनों की कुल संख्या (निर्धनता रेखा से नीचे कुल जनसंख्या) 26.02 करोड़ थी।

ताजा आंकड़ों के अनुसार 1999-2000 में ग्रामीण क्षेत्रों में यह गरीबी प्रतिशत 27.09 तथा शहरी क्षेत्रों में 23.62 प्रतिशत रहा जबकि 1993-94 के आँकड़ों में यह प्रतिशत क्रमशः 37.3% तथा 32.4% था। निरपेक्ष संख्या की दृष्टि से कुल 26.02 करोड़ आबादी 1999-2000 में गरीबी रेखा के नीचे थी।

निर्धनों की निरपेक्ष संख्या की दृष्टि से उत्तरप्रदेश 5.3 करोड़ निर्धन आबादी के साथ पहले स्थान पर है। उसके बाद बिहार (4.3 करोड़), मध्यप्रदेश (3.0 करोड़), महाराष्ट्र (2.2 करोड़), पश्चिम बंगाल (2.1 करोड़) तथा उड़ीसा (1.7 करोड़) राज्य है।

निर्धनता अनुपात में उड़ीसा राज्य देश में (47.2%) के साथ प्रथम स्थान पर है। दूसरा स्थान बिहार (42.6%) तथा तीसरा स्थान मध्यप्रदेश का (37.43%) है।

17.15 भारत में गरीबी के कारण (Causes of Poverty in India)

भारत में गरीबी का कोई एक कारण नहीं है बल्कि अनेक कारण हैं। इन कारणों को (1) आर्थिक, (2) सामाजिक, (3) राजनीतिक कारणों के रुप में व्यक्त कर सकते हैं।

(1) आर्थिक कारण भारत में गरीबी का मुख्य कारण इसका अल्प-विकसित होना है। हम अभी तक प्रकृति-दत्त साधनों का उचित उपयोग नहीं कर पाये हैं। हमारे अधिकांश खनिज, बिजली, पानी व जंगल साधन या तो बिना उपयोग के रह गये हैं या फिर उनका उपयोग कम मात्रा में ही होता रहा है। हमारी कृषि आज भी पुरानी तकनीक से ही हो रही है। हमारे खेत छोटे व बिखरे हुए हैं। रासायनिक खाद, कीटाणुनाशक दवाएं, अच्छे बीज व वित्त का उपयोग भी कम है तथा उनकी उपलब्धता भी आवश्यकता के अनुसार नहीं है।

उद्योग भी अभी कम उन्नत है। साहसियों की कमी है। बिजली की पूर्ति अनियमित है। कच्चे माल का अभाव है। श्रमिक अशान्ति है। वित्त प्रदान करने वाले साधन भी कम ही हैं। इन सभी के फलस्वरुप औद्योगिक प्रगति धीमी है। जनसंख्या का अत्यधिक होना व उसमें वृद्धि होते रहना भी यहां की गरीबी का एक महत्वपूर्ण कारण है।

(2) सामाजिक कारण सामाजिक परिस्थिति भी गरीबी के कारणों में से एक है। जाति-प्रथा, संयुक्त परिवार प्रणाली, उत्तराधिकार नियम, शिक्षा स्वास्थ्य, आदि भी गरीबी बनाये रखने में योगदान दे रहे हैं। भारतीय युवकों में साहस व सम्पन्नता का अभाव भी गरीबी के कारणों में से है।

(3) राजनीतिक कारण - ब्रिटिश काल में भारत का उपयोग उसके हित के विरुद्ध किया गया। वर्तमान में भी राजनीतिक नेताओं की कार्यप्रणाली स्वयं के हित की है। राष्ट्र हित व समाज हित अब केवल कहने मात्र के लिए ही है। प्रशासनिक भ्रष्टाचार व अकुशलता बराबर बढ़ती जा रही है। आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण भी गरीबी को बनाये रखने में योगदान दे रहा है।

17.16 गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम एवं पंचवर्षीय योजनाएं

हमारी योजनाओं में 'सामाजिक न्याय' (Social Justice) की बात बराबर कही गयी है, लेकिन अभी तक इस सम्बन्ध में कोई अधिक प्रगति नहीं हुई है। स्वयं छठवीं योजना में यह स्वीकार किया गया है कि यहां की लगभग 50 प्रतिशत जनसंख्या पिछले काफी लम्बे समय से गरीबी रेखा से नीचे रह रहीं है। छठवीं योजना के 10 प्रमुख उद्देश्य

थे जिनमें से एक "गरीबी व बेरोजगारी के भार को उत्तरोत्तर कम करना" (A progressive reduction in the incidence of poverty and unemployment) था। सातवीं योजना में भी गरीबी उन्मूलन की बात जोरदारी से कही गयी जबकि आठवीं योजना में भी इसे प्रमुख स्थान दिया गया। नवीं योजना में गरीबी उन्मूलन की दृष्टि से कृषि और ग्रामीण विकास को प्राथमिकता देने की बात कही गई। नौवीं योजना (1997-2002) के अंत तक देश में निर्धनता अनुपात को घटाकर 18% करने का लक्ष्य रखा गया था जिसे प्राप्त नहीं किया जा सका। दसवीं पंचवर्षीय योजना का लक्ष्य गरीबी में कमी लाते हुए निकास के लाभों का उपयोग जीवन गुणवत्ता में सुधार के लिए करना जिसके अंतर्गत सन् 2012 तक गरीबी तक गरीबी अनुपात में 5 प्रतिशत अंक की कमी लाना शामिल है, जिसे 26 प्रतिशत से घटाकर 21 प्रतिशत पर लाने का लक्ष्य है।

योजनाओं से गरीबी उन्मूलन भ कुछ प्रगति हुई है। गांवों में कृषि श्रमिकों को अब अधिक मजदूरी दी जा रही है। छोटे व सीमान्त किसानों को अब अधिक सुविधाएं दी जा रही हैं। छोटे-छोटे उद्योगपति व साहसी अब बड़े बनने लगे हैं। सरकार ने गरीबी उन्मूलन के लिए अनेक योजनाएं चलाई हैं जिनमें से कई अभी भी चल रही हैं; जैसे स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना (Swaran Jayanti Gram Swarozgar Yojna) जवाहर ग्राम समृद्धि योजना, रोजगार आश्वासन योजना, प्रधानमंत्री रोजगार योजना व स्वर्ण जयन्ती शहरी रोजगार योजना ।

भारत में गरीबी हटाने के लिए सुझाव (Suggestions for Removal of Poverty in India) भारत में गरीबी हटाने या कम करने के लिए निम्न सुझाव दिये जा सकते हैं:

(1) आर्थिक विकास में तेजी भारत को सबसे पहले आर्थिक विकास की गति को तेज करना चाहिए जिससे कि जैसे-जैसे विकास की गति बढ़े वैसे-वैसे रोजगार की सुविधाएं भी बढ़े। इससे गरीबी को हटाने या कम करने में सहायता मिलेगी। साथ ही कृषि व लघु एवं कुटीर उद्योगों को भी अपना विकास करने का अधिक-से-अधिक अवसर दिया जाना चाहिए। इससे भी विकास की गति तेज होगी क्योंकि यह अधिक रोजगार की सुविधाएं देने में समर्थ है, अतः गरीबी में कमी करके अपना अच्छा योगदान दे सकते हैं।

(2) ग्रामीण औद्योगीकरण आज गांवों में पूर्ण बेरोजगारी व अल्प-बेरोजगारी पायी जाती है, अतः गरीबी भी वहीं अधिक है। अतः गांवों में औद्योगीकरण किया जाना चाहिए। ऐसे छोटे-छोटे कुटीर एवं लघु उद्योग स्थापित किये जाने चाहिए जिनमें अधिक रोजगार सुविधाएं मिलने की सम्भावनाएं हों। इससे न तो अति भीड़, परिवहन, मकान आदि की समस्या उत्पन्न होगी और न औद्योगिक अशान्ति ।

(3) ग्रामीण सार्वजनिक निर्माण कार्य गांवों में सार्वजनिक कार्य तेजी से शुरु किये जाने चाहिए। इसके लिए सड़कें, नहरें, कुएं, ग्रामीण मकान, बिजली, आदि के निर्माण कार्य प्रारम्भ किये जा सकते हैं। इससे ग्रामीण बेरोजगारी में कमी होगी व गरीबी को कम करने में सहायता मिलेगी।

(4) कृषि विकास व भूमि सुधार कृषि का विकास किया जाना चाहिए, लेकिन कृषि में यन्त्रीकरण को बढ़ावा न देकर श्रम को बढ़ावा दिया जाना चाहिए। सिचाई सुविधा को प्राथमिकता के आधार पर उपलब्ध किया जाना चाहिए। उत्तम बीज, रासायनिक खाद, कीटनाशक दवाइयां व अन्य आवश्यक साज-सज्जा से उपलब्ध करायी जानी चाहिए। गरीबी को कम करने के लिए भूमि सुधार करना भी आवश्यक है। भूमि कानून, अधिकतम जोत कानून, आदि को तेजी एवं प्रभावकारी ढंग से लागू किया जाना चाहिए। इससे भूमिहीन श्रमिकों को रोजगार सुविधाएं मिल सकेंगी व प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि होगी।

(5) सामाजिक सेवाएं व सुरक्षा राज्य को सामाजिक सेवाएं, जैसे स्वास्थ्य, शिक्षा, मनोरंजन आदि का विस्तार करना चाहिए और जनता को यह बताना चाहिए कि कम आय में वह किस प्रकार अच्छा जीवन व्यतीत कर सकती है। श्रमिकों व आम जनता के लिए सामाजिक सुरक्षा सेवाओं का विस्तार किया जाना चाहिए। गरीब को अपना मकान बनाने की सुविधा देने के लिए सहायता व अनुदान दिया जाना चाहिए। जीवन बीमा का ग्रामीण क्षेत्रों में विस्तार किया जाना चाहिए। ग्रामीण क्षेत्रों में उचित मूल्य की दुकानों की संख्या बढ़ायी जानी चाहिए।

(6) जनसंख्या नियन्त्रण बिना जनसंख्या नियन्त्रण के गरीबी में कमी नहीं हो सकती है। अतः जनसंख्या को हर कीमत पर नियन्त्रित किया जाना चाहिए जिसके लिए परिवार कल्याण कार्यक्रम को प्रभावी ढंग से लागू किया जाना चाहिए। अन्त में गरीबी में कमी करने का कार्य एक चुनौती है जिसे स्वीकार करने के लिए वृहत् व भारी मात्रा में प्रयास करने की आवश्यकता है जिससे कि रोजगार सुविधाएं बढ़ सकें व सामाजिक सेवाओं व सुरक्षा का विकास हो सके।

विभिन्न योजनाओं में गरीबी निवारण कार्यक्रम

(Removal of Poverty Programme Under Various Plans)

योजनाओं से गरीबी उन्मूलन में कुछ प्रगति हुई है। गांवों में कृषि श्रमिकों को अब अधिक मजदूरी दी जा रही है। छोटे व सीमान्त किसानों को अब अधिक सुविधाएँ दी जा रही हैं। छोटे-छोटे उद्योगपति व साहसी अब बड़े बनने लगे हैं। सरकार ने गरीबी

उन्मूलन के लिए अनेक योजनाएँ चलायी है, जैसे समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम (Integrated Rural Development Programme-IRDP), ग्रामीण युवकों को स्वरोजगार हेतु प्रशिक्षण (Training of Rural Youth for Self-employment), जवाहर रोजगार योजनाJawahar Rozgar Yojna-JRY), आदि। वर्तमान में ग्रामीण बेरोजगारी कम करने के लिए तीन कार्यक्रम लागू हैं- (1) स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना (Swarana Jayanti Gram Swarozgar Yojna), (II) जवाहर ग्राम समृद्धि योजना (Jawahar Gram Samridhi Yojna-JGSY), (III) रोजगार आश्वासन योजना (Employment Aswasana Scheme)-प्रधानमंत्री रोजगार योजना (Prime Minister's Rozgar Yojna), व स्वर्ण जयन्ती शहरी रोजगार योजना (Swarana Jayanti Shahri Rozgar Yojna-SJSRY)।

7 सितम्बर 2005 को अधिसूचित राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम देश के ग्रामीण क्षेत्रों के उस प्रत्येक परिवार जिसके वयस्क सदस्य अकुशल शारीरिक कार्य करना चाहते हैं, को एक वित्तीय वर्ष में 100 दिन का गारंटी युक्त रोजगार प्रदान करके निर्धान्ता निवारण में मदद करना है। 2 फरवरी 2006 को कार्यान्वित अधिनियम पहले चरण में 200 जिलों में लागू किया गया और 1 अप्रैल 2008 से सभी ग्रामीण क्षेत्रों में लागू कर दिया गया है।

17.17 सार संक्षेप

भारतीय राजनीति में गरीबी एक महत्वपूर्ण मुद्दा है, जिसे विभिन्न सरकारें और राजनैतिक दल अपनी प्राथमिकताओं में शामिल करते हैं। गरीबी के कारणों में आर्थिक असमानता, शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं की कमी, और रोजगार के अवसरों का अभाव प्रमुख हैं। सरकारें गरीबी उन्मूलन के लिए कई योजनाएं चला रही हैं, जैसे महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार योजना (MGNREGA), प्रधानमंत्री आवास योजना और सार्वजनिक वितरण प्रणाली (PDS)। हालांकि, इन योजनाओं का प्रभावी कार्यान्वयन और गरीब वर्ग तक इन योजनाओं का पहुंच सुनिश्चित करना एक बड़ी चुनौती है। गरीबी को कम करने के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, और रोजगार के क्षेत्रों में सुधार आवश्यक हैं। इसके अलावा, आर्थिक सुधारों और समावेशी विकास के माध्यम से ही इस समस्या का स्थायी समाधान संभव है। गरीबी उन्मूलन के लिए केवल सरकारी नीतियाँ ही पर्याप्त नहीं हैं, बल्कि समाज के सभी वर्गों को मिलकर इस दिशा में कार्य करना होगा।

17.18 शब्दावली

1. गरीबी उन्मूलन (Poverty Eradication) - गरीबों के जीवन स्तर को सुधारने और उनके लिए सुविधाओं को उपलब्ध कराने की प्रक्रिया।

2. स्वास्थ्य नीति (Health Policy) - सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं को सुधारने के लिए बनाई गई सरकारी नीतियाँ।

3. रोजगार नीति (Employment Policy) - बेरोज़गारी को कम करने और नए रोजगार अवसरों को बढ़ाने के लिए बनाई गई नीतियाँ।

4. धर्मनिरपेक्षता (Secularism) - राज्य और धर्म के बीच पृथकता की स्थिति, जिससे सभी धर्मों को समान दर्जा मिलता है।

5. संविधान (Constitution) - देश के कानूनों का प्रमुख दस्तावेज, जो सरकार की संरचना और नागरिकों के अधिकारों को परिभाषित करता है।

6. आतंकवाद (Terrorism) - राजनीतिक या धार्मिक उद्देश्यों के लिए हिंसा और डर का प्रयोग करना।

7. कृषि संकट (Agricultural Crisis) - किसानों को उपज का सही मूल्य न मिलने, प्राकृतिक आपदाओं, और सरकार की नीतियों के कारण उत्पन्न समस्याएँ।

8. भ्रष्टाचार (Corruption) - सार्वजनिक पदों का दुरुपयोग निजी लाभ के लिए करना।

9. राष्ट्रवाद (Nationalism) - अपने देश के प्रति प्रेम और उसकी भलाई के लिए काम करना।

10. आंतरिक सुरक्षा (Internal Security) - देश के भीतर कानून व्यवस्था बनाए रखना और बाहरी या आंतरिक खतरों से सुरक्षा सुनिश्चित करना।

17.19 स्व-प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

1. 'कास्ट इन इण्डियन पालिटिक्स' कृति के लेखक है:

(अ) रजनी कोठारी (ब) मारिस जोन्स (स) इकबाल नारायण (द) नारमन डी-पामर

2.रजनी कोठारी द्वारा प्रतिपादित जातिवाद का प्रतिरूप नहीं है:

(अ) लौकिक रूप (ब) वोट बैंक का रूप (स) एकीकरण का रूप (द) चैतन्य रूप

3. भारत का वह राज्य जिसमें राजनीति धर्म एवं साम्प्रदायिकता के इर्द-गिर्द घूमती है:

(अ) पंजाब (ब) पश्चिम बंगाल (स) तमिलनाडु (स) तमिलनाडु (द) मध्यप्रदेश

4. कावेरी जल विवाद से संबंधित राज्य नहीं है:

(अ) कर्नाटिक (व) केरल (स) गुजरात (द) आन्ध्रप्रदेश

5. नर्मदा का जल विवाद किस राज्य से संबंधित नहीं है:

(अ) मध्यप्रदेश (ब) उत्तरप्रदेश (द) राजस्थान

उत्तर- 1. (अ), 2. (ब), 3. (अ), 4. (द), 5. (ब)

17.20 संदर्भ सूची

1. शर्मा, बी. (2020). *राजनीति विज्ञान की मूल बातें.* दिल्ली: रेजेंट पब्लिशर्स।
2. पाठक, स. (2019). *भारत में राज्य विधानमण्डल: संरचना और कार्य.* नई दिल्ली: विश्लेषक पब्लिशिंग।
3. अग्रवाल, ह. (2021). *भारतीय संविधान और राज्य विधानमण्डल.* दिल्ली: एनसीईआरटी।
4. मिश्रा, र. (2022). *राजनीति विज्ञान: सिद्धांत और अभ्यास.* लखनऊ: आकाश पब्लिकेशन।
5. यादव, पी. (2023). *राज्य विधानमण्डल और राजनीति: एक अध्ययन.* मुंबई: तात्या पब्लिशर्स।
6. सिंह, अशोक. (2021). *भारतीय राजनीति में राज्य विधानमण्डल की भूमिका.* पटना: सुमेरु पब्लिकेशन।
7. शर्मा, र. (2020). *राज्य विधानमण्डल की कार्यप्रणाली: सिद्धांत और वास्तविकता.* जयपुर: भारतीय प्रिंट हाउस।

17.21 अभ्यास प्रश्न

1. भारतीय राजनीति में जाति अथवा धर्म की भूमिका का परीक्षण कीजिए।

2. भारतीय राजनीति में क्षेत्रवाद या भाषावाद की भूमिका का परीक्षण कीजिए।

3. भारत में निर्धनता के कारणों का परीक्षण करते हुए निवारण के उपाय बताइये ।

4. प्रमुख गरीबी निवारण कार्यक्रमों के नाम लिखिए।

5 भारत में निर्धनता से क्या अभिप्राय है?

6 भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन पर एक टिप्पणी लिखिए।

7 क्षेत्रीयतावाद के दुष्परिणाम बतलाइये ।

8 साम्प्रदायिकता को दूर करने हेतु सुझाव दीजिए।

इकाई 18

भारत में चुनाव सुधार

(ELECTORAL REFORMS IN INDIA)

18.1 प्रस्तावना

18.2 उद्देश्य

18.3 निर्वाचन पद्धति में किए गए प्रमुख सुधार

18.4 सार संक्षेप

18.5 शब्दावली

18.6 स्व -प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

18.7 संदर्भ सूची

18.8 अभ्यास प्रश्न

18.1 प्रस्तावना

प्रस्तावना–भारत एक विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र है, जहां चुनाव प्रक्रिया नागरिकों की इच्छा और उनकी भागीदारी पर आधारित है। चुनाव लोकतंत्र का आधार स्तंभ हैं, जो नागरिकों को अपने प्रतिनिधियों का चयन करने का अधिकार देते हैं। वर्तमान में, चुनाव प्रणाली में सुधार की आवश्यकता इस बात को इंगित करती है कि लोकतांत्रिक मूल्यों को बनाए रखने के लिए हर नागरिक, विशेष रूप से विद्यार्थियों, को इस प्रक्रिया का ज्ञान और उसमें सक्रिय भूमिका निभाने का अवसर मिलना चाहिए।

विद्यार्थी देश का भविष्य हैं, और उनकी भूमिका केवल वोट देने तक सीमित नहीं होनी चाहिए, बल्कि चुनाव सुधारों को समझने, समर्थन करने और लोकतंत्र को सशक्त बनाने में सक्रिय भागीदारी निभाने की होनी चाहिए। इस संदर्भ में, भारत में चुनाव सुधार का उद्देश्य चुनाव प्रक्रिया को निष्पक्ष, पारदर्शी और समावेशी बनाना है, ताकि यह हर नागरिक के अधिकार और दायित्व को सुनिश्चित कर सके।

इस प्रस्तावना का लक्ष्य विद्यार्थियों को जागरूक, जिम्मेदार और लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रति प्रतिबद्ध नागरिक बनने के लिए प्रेरित करना है। चुनाव सुधार केवल एक प्रक्रिया नहीं, बल्कि एक मिशन है, जो भारत को एक और अधिक न्यायसंगत और सशक्त लोकतंत्र बनाने में सहायक होगा।

18.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप निम्नलिखित कार्य करने में सक्षम होंगे:

1. राजनीति विज्ञान की परिभाषा को समझ सकेंगे।
2. चुनाव सुधार की आवश्यकता और इसके महत्व को पहचान सकेंगे।
3. भारत में चुनाव सुधारों के ऐतिहासिक विकास को जान सकेंगे।
4. चुनाव आयोग की भूमिका और चुनावी प्रक्रिया की पारदर्शिता को समझ सकेंगे।
5. चुनाव सुधारों से संबंधित विभिन्न चुनौतियों का विश्लेषण कर सकेंगे।

18.3 भारत में चुनाव सुधार

भारत में अब तक 15 आम चुनाव हो चुके हैं। ये सभी चुनाव सामान्यतया शानतिपूर्ण ढंग से सम्पन्न हुए हैं, लेकिन इसके साथ ही चुनाव पद्धति और चुनावों में कुछ ऐसी बातें देखने में आयी है, जिन्होंने जनता की चुनावों में आस्था को कम किया है अथवा यदि उन्हें समय रहते नियन्त्रित नहीं किया गया, तो वे कालान्तर में चुनावों के प्रति आस्था को आघात पहुंचा सकती हैं। चुनावों में काले धन, हिंसा, मतदान केन्द्रों पर कब्जा करने की प्रवृत्तियां निरन्तर बढ़ रही हैं।

चुनावों से सम्बन्धित व्याधियों की विवेचना और चुनाव सुधार का विषय पिछले कुछ वर्षों से संसद और देश के प्रबुद्ध वर्ग का ध्यान आकर्षित करता रहा है। इस दृष्टि से वर्ष 1990 में श्री दिनेश गोस्वामी की अध्यक्षता में गठित समिति ने चुनाव सुधारों पर अनेक प्रस्ताव प्रस्तुत किए। अनेक पक्षों द्वारा इस सम्बन्ध में सिफारिशें प्रस्तुत की गयी हैं, इनमें से अधिक महत्वपूर्ण पक्षों की सिफारिशों का अध्ययन अपना महत्व रखता है।

1. राजनीतिक दलों को प्राप्त जन समर्थन और स्थानों के अनुपात में गम्भीर अन्तर (Serious Disparity between People's Support to Political Parties and Number of Seats Gained) - भारत में साधारण बहुमत की जो निर्वाचन पद्धति अपनायी गयी है, उसके अन्तर्गत प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से वह उम्मीदवार निर्वाचित घोषित होता है जिसे सबसे अधिक मत मिले हों, चाहे विरोधी अथवा पराजित उम्मीदवारों को मिले मतों का योग उसे प्राप्त मतों से कितना ही अधिक हो। इसके परिणामस्वरूप बहुधा उस दल को सरकार बनाने अवसर मिल जाता है जिसे देश के बहुमत का समर्थन प्राप्त नहीं है और छोटे दलों को उन्हें प्राप्त जन समर्थन की तुलना में बहुत ही कम स्थान

प्राप्त होते हैं। महत्पूर्ण तथ्य है कि कांग्रेस जिसने प्रथम तीन आम चुनावों में 70 प्रतिशत से अधिक, चतुर्थ आम चुनाव में 54 प्रतिशत, 1971 में 68 प्रतिशत और 1980 में लगभग 64 प्रतिशत स्थान प्राप्त किये, वह इनमें से किसी भी चुनाव में 50 प्रतिशत मत प्राप्त नहीं कर सकी थी। 1980 के लोकसभा चुनावों में एक विसंगति इस रूप में देखी गयी कि जनता पार्टी ने मतदाताओं के 19.94 प्रतिशत और जनता 'एस' (लोकदल) ने 9.43 प्रतिशत मत प्राप्त किये, लेकिन जनता 'एस' (भारतीय लोकदल) को जनता पार्टी की तुलना में 10 स्थान अधिक प्राप्त हुए।

1999 में सम्पन्न 13 वीं लोकसभा के चुनावों में विभिन्न दलों को प्राप्त मतों के प्रतिशत और उन्हें प्राप्त स्थानों से भी यह बात नितान्त स्पष्ट है:

राजनीतिक दल

प्राप्त मत प्रतिशत

लोक सभा में प्राप्त स्थान

इन्दिरा कांग्रेस

28.42

114

20

जनता दल

3.05

182

4

33

भारतीय जनता पार्टी

23.70

साम्यवादी दल

1.45

मार्क्सवादी दल

5.38

लोकतान्त्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत इस स्थिति को न्यायपूर्ण नहीं कहा जा सकता। अतः निर्वाचन प्रणाली की इस असंगति को दूर करने के लिए कुछ क्षेत्रों से यह सुझाव दिया जाता है कि आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति को अपनाया जाना चाहिए। कुछ वर्ष पूर्व जनसंघ ने इसलाममा अध्ययन करने के लिए एक समिति नियुक्त की थी, उस समिति ने सुझाव दिया कि देश में चुनावों के लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व की 'सूची प्रणाली' (List System) को अपनाया जाना चाहिए जिससे प्रत्येक राजनीतिक दल को उसे प्राप्त जन समर्थन के आधार पर विधानमण्डल में स्थान प्राप्त हो सकें। जनसंघ के पूर्व भारतीय साम्यवादी दल के द्वारा भी इसी प्रकार का सुझाव दिया गया था।

परन्तु उपर्युक्त सुझाव को स्वीकार करने में अनेक कठिनाइयां हैं। सूची प्रणाली या आनुपातिक प्रतिनिधित्व का अनय कोई रूप एक जटिल पद्धति है और भारतीय मतदाता इसका उचित रूप में प्रयोग कर सकें, इसमें निश्चित रूप से सन्देह है। इसके अतिरिक्त, वर्तमान समय में भी चुनाव आयोग के पास कुछ मिलाकर 50 से अधिक राजनीतिक दलों का पंजीकरण हो चुका है, आनुपातिक प्रतिनिधित्व के किसी भी रूप को अपनाने पर छोटे-छोटे राजनीतिक दलों में और अधिक वृद्धि होगी, जिसका परिणाम राजनीतिक अस्थिरता हो सकता है।

वस्तुतः उपर्युक्त त्रुटि का उपचार चुनाव प्रणाली में कोई परिवर्तन नहीं वरन् राजनीतिक दलों की सुसंगति को अपनाकर 'राजनीतिक बुवीकरण' (Political Polarisation) की अर्थात् विचारधारा पर आधारित दो प्रमुख राजनीतिक दलों के अस्तित्व की दिशा में आगे बढ़ना है। वर्तमान समय में चुनाव आयोग राष्ट्रीय तथा राज्य स्तर पर उन दलों को मान्यता देता है, जिन्हें मतों का एक निश्चित प्रतिशत प्राप्त होता है, किन्तु मान्यता न प्राप्त होने वाले राजनीतिक दलों के चुनाव लड़ने पर कोई प्रतिबन्ध हनी है और इस कारण मान्यता प्राप्त होने या न होने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। व्यवहार में प्रत्येक चुनाव के बाद राजनीतिक दलों की संख्या बढ़ती जा रही है। डॉ. जे.डी. सेठी लिखते हैं, "भारत में जिन सुधारों की आवश्यकता है वे ये हैं कि निर्वाचन विधि तुरन्त ही यह उपबन्धित करे कि प्रत्येक उम्मीदवार के लिए दलीय उम्मीदवार होना आवश्यक हो और सम्बन्धित दल का पंजीकरण आम चुनाव के कम से कम एक वर्ष पूर्व कराया जावे। यदि किसी दल को कुल दिये गये मतों का एक न्यूनतम निर्धारित प्रतिशत कह लीजिए लोकसभा में तीन प्रतिशत और राज्य विधानसभा में पांच प्रतिशत प्राप्त नहीं हो, तो उस दल के प्रतिनिधित्व का अधिकार समाप्त हो जाना चाहिए।" यह कदम छोटे दलों को उनसे मिलते-जुलते बड़े दलों में मिलने के लिए प्रेरित करेगा और इससे राजनीतिक दलों की संख्या को कम करने में मदद मिलेगी ।

2. चुनावों में धन की बढ़ती हुई भूमिका (The Increasing Role of Money in the Elections) - चुनावों में एक अत्यधिक गम्भीर दोष चुनावों में घन की बढ़ती हुई भूमिका के रूप में सामने आया है। हमारे कानून निर्माता इस दोष के प्रति सचेत थे और इसी कारण उनके द्वारा चुनाव में उम्मीदवार द्वारा किये जाने वाले व्यय की सीमा निश्चित की गयी है। 1979 के मध्य तक अधिकांश राज्यों में लोकसभा चुनाव में खर्च किये जाने वाले व्यय की सीमा 35 हजार रुपये थी। वास्तविक व्यय को देखते हुए व्यय सीमा नितान्त अवास्तविक थी। व्यय की इस सीमा को बढ़ाने की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी, अतः 31 दिसम्बर, 1997 को एक अधिसूचना जारी करके प्रत्याशियों द्वारा किए जाने वाले चुनाव व्यय की सीमा में वृद्धि कर दी गई है। अब बड़े लोकसभा क्षेत्र में प्रत्याशी द्वारा अधिकतम 4.5 लाख रुपए के स्थान पर 15 लाख रुपए तक तथा विधानसभा क्षेत्रों में अधिकतम 1.5 लाख रुपए के स्थान पर 6 लाख रुपए तक व्यय किए जा सकते हैं। प्रत्याशियों द्वारा किए जा सकने वाले चुनाव व्यय की अधिकतम सीमा में इससे पूर्व अक्टूबर 1994 में संशोधन किया गया था।

कानून में यह सीमा विद्यमान है, लेकिन व्यावहारिक रूप में राज्यों में इसका कोई अस्तित्व नहीं है। वास्तविक रूप में चुनावों के अन्तर्गत खर्च किये जाने वाले धन की मात्रा के सम्बन्ध में तत्कालीन संसद सदस्य कृष्णकान्त लिखते हैं, "लोकसभा सदस्य को अपने चुनाव में ईमानदारी के साथ 30 से 40 लाख रुपये खर्च करना पड़ता है। औसतन 65 करोड़ रुपया लोकसभा के चुनावों पर खर्च होता है और लगभग 135 करोड़ रुपया विधानसभा चुनावों पर।" श्री कृष्णकान्त द्वारा यह बात 1974 में कही गयी थी, आज तो उस समय की तुलना में चुनाव व्यय निश्चित रूप से बहुत अधिक बढ़ गया है।

चुनाव कार्य से परिचित व्यक्ति बतलाते है कि अब तो लोकसभा चुनाव में औसतन 70 से 80 लाख रुपया खर्च करना होता है जिसके अन्तर्गत भ्रष्ट उपायों के रूप में खर्च की जाने वाली राशि सम्मिलित नहीं है। सार्वजनिक जीवन में दखल रखने वाले विश्वसनीय सूत्र बतलाते हैं कि कुछ उदाहरणों में लोकसभा उम्मीदवार ने अपने चुनाव अभियान में 2 से 10 करोड़ रुपये या इससे भी अधिक और कुछ उदाहरणों में विधानसभा उम्मीदवार द्वारा अपने चुनाव अभियान में एक करोड़ रुपये या उससे अधिक धनराशि खर्च की गयी। यह स्थिति आर्थिक क्षेत्र और राजनीतिक क्षेत्र दोनों में ही अनेक दोषी को जन्म देकर समस्त व्यवस्था को विकृत करने वाली है। 5 अक्टूबर, 1974 को संसद सदस्य अमरनाथ चावला का चुनाव अवैध घोषित करते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने भी चुनावों में धन की बढ़ती हुई शक्ति के प्रति सचेत किया है। चुनाव में धन की निरन्तर बढ़ती हुई इस भूमिका के कारण ही काला धन और भ्रष्ट राजनीतिज्ञ एक-दूसरे

के साथ जुड़ गये हैं। वस्तुतः चुनावों में धन की शक्ति को नियन्त्रित करना बहुत अधिक आवश्यक हो गया है और इस सम्बन्ध में निम्न सुझाव दिये जा सकते हैं:

(1) राजनीतिक दलों के व्यय को उम्मीदवार के चुनाव खर्च में शामिल करना अमरनाथ चावला विवाद' में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के बाद 19 अक्टूबर, 1974 को राष्ट्रपति द्वारा इस आशय का अध्यादेश जारी किया गया कि चुनाव में उम्मीदवार के राजनीतिक दल द्वारा किये जाने वाले खर्च को उम्मीदवार द्वारा किये गये खर्च में सम्मिलित नहीं समझा जायेगा ।

इस अध्यादेश के कारण वर्तमान समय में स्थिति यह है कि यदि किसी व्यक्ति को सत्तारूढ़ दल या सत्तारूढ़ होने की सम्भावना रखने वाले राजनीतिक दल के उम्मीदवार की स्थिति प्राप्त हो जाय, तो उसे प्राप्त साधनों और परिणामतया उसके चुनाव व्यय की व्यवहार में कोई सीमा ही नहीं रहती। वह चुनाव लड़ने के लि अपने राजनीतिक दल से नकद राशि ही नहीं वरन् जीप गाड़ियां और अन्य वाहन, झण्डे, बड़ी संख्या में छोटे-बड़े पोस्टर, वीडियो टेप और प्रचार साहित्य सभी कुछ प्राप्त कर लेता है और वह जितना भी खर्च करे, सबका सब कानूनी और जायज होता है, क्योंकि राजनीतिक दल द्वारा खर्च की जाने वाली राशि को उम्मीदवार के खर्च में शामिल नहीं समझा जाता। 19 अक्टूबर, 1974 को जारी किये गये अध्यादेश के कारण चुनाव व्यय के सम्बन्ध में सीमा निर्धारण का कोई महत्व नहीं रह गया है।

चुनाव में धन की शक्ति के इस्तेमाल और प्रभाव से चिन्तित चुनाव आयोग ने सितम्बर 1982 में ही सरकार से अनुरोध किया था कि हमें 19 अक्टूबर, 1974 से पूर्व की स्थिति को पुनः अपनाना चाहिए, जिसमें राजनीतिक दल द्वारा खर्च किये जाने वाले धन को उम्मीदवार के चुनाव व्यय में सम्मिलित करने की व्यवस्था है। अतः 19 अक्टूबर, 1974 का अध्यादेश वापस लिया जाना चाहिए, सभी राजनीतिक दलों से अलग-अलग उम्मीदवारों के लिए खर्च की गयी धनराशि का हिसाब पूछा जाना चाहिए और स्वयं उम्मीदवार, उसके राजनीतिक दल, उसके मित्र, सम्बन्धी और शुभचिन्तक सभी द्वारा चुनाव प्रसंग में खर्च की गधी धनराशि को उम्मीदवार के चुनाव खर्च में सम्मिलित किया जाना चाहिए। यह प्रसन्नता की बात है कि हाल ही में सर्वोच्च न्यायालय ने एक महत्वपूर्ण फैसले में यह निर्णय दिया कि उम्मीदवार के राजनीतिक दल द्वारा उस पर किए गए व्यय को भी शामिल किया जाएगा।

(ii) राजनीतिक दलों के आय-व्यय विवरण की विधिवत् जांच वर्तमान समय में भ्रष्ट राजनीति और काले धन के बीच एक गठबन्धन स्थापित हो गया है। इसे तोड़ा जाना नितान्त आवश्यक है। अतः राजनीतिक दलों के लिए आय-व्यय का समस्त विवरण रखा

जाना अनिवार्य होना चाहिए और प्रत्येक राजनीतिक दल के लिए प्रतिवर्ष मुख्य चुनाव आयुक्त द्वारा निश्चित किये गये लेखा परीक्षक (Auditors) द्वारा जांचशुदा हिसाब प्रकाशित करना अनिवार्य होना चाहिए, जिसमें आय के स्त्रोत और व्यय के मद पूरे विवरण सहित बतलाये जायें। राजनीतिक दल द्वारा इस सम्बन्ध में बरती गयी किसी भी अनियमितता या लापरवाही पर चुनाव आयोग द्वारा कड़ा दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिए और विशेष स्थिति में आयोग को अधिकर होना चाहिए कि वह सम्बन्धित राजनीतिक दल की मान्यता समाप्त कर सके। इससे राजनीतिक दलों को प्राप्त होने वाले गुप्त अनुदानों और विदेशी सहायता पर रोक लगायी जा सकेगी। (iii) चुनाव प्रचार की अवधि में कमी करना वर्तमान समय में नाम वापस लेने की तिथि और चुनाव की तिथि में कम-से-कम 20 दिन का अन्तर होना आवश्यक है। अब यह अवधि 15 या 10 दिन कर दी जानी चाहिए, इससे भी चुनाव खर्च में कमी होगी।

(iv) संसद और राज्य विधानसभाओं के लिए एक साथ चुनाव की व्यवस्था 1967 के चतुर्थ आम चुनाव तक भारत में लोकसभा और राज्य विधानसभाओं के चुनाव एक साथ होते थे, लेकिन 1971 ई. में यह स्थिति समाप्त हो गयी और अब तक भी पुनः यह स्थिति नहीं बन पायी है। यदि लोकसभा और विधानसभाओं के चुनाव एक साथ हों तो राज्य द्वारा चुनाव व्यवस्था में किया जाने वाला खर्च और विविध राजनीतिक दलों के उम्मीदवार द्वारा किये जाने वाले खर्च दोनों में ही बहुत कमी हो जायेगी। इसके अतिरिक्त, लोकसभा और राज्य विधानसभाओं के चुनाव अलग-अलग होने पर सदैव ही चुनाव का वातावरण बना रहता है और यह स्थिति राज्य व्यवस्था के लिए अत्यधिक अहितकर है।

1971 ई. में लोकसभा चुनाव में राज्य विधानसभा चुनावों को अलग करते समय यह तर्क दिया गया था कि लोकसभा चुनाव राष्ट्रीय प्रश्नों पर और विधानसभा चुनाव स्थानीय तथा राज्यस्तरीय प्रश्नों के आधार पर लड़े जाते हैं। इस तर्क में सत्यता है, लेकिन बहुत अधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि भारतीय मतदाता पर्याप्त जागरूक हो गया है। मतदाता की जागरूकता का प्रमाण यह है कि वे आठवी लोकसभा के चुनाव में कर्नाटक राजय में 28 में से 24 स्थान इंका को देता है, लेकिन दो महीने बाद होने वाले राज्य विधानसभा चुनावों में उसी दल को एक-तिहाई स्थान भी नहीं (224 में से केवल 66) देता । इस परिप्रेक्ष्य में मतदाताओं से सहज ही यह आशा की जा सकती है कि लोकसभा और राज्य विधानसभाओं के चुनाव एक साथ होने पर भी वे अपने दोनों मतों को अलग-अलग इकाई समझते हुए उनके सम्बन्ध में अलग-अलग दृष्टिकोण से विवेकपूर्ण विचार कर निर्णय कर लेंगे।

(v) चुनाव अवधि में सार्वजनिक संस्थाओं को अनुदान देने पर रोक चुनाव की अवधि (विधानसभा या लोकसभा भंग करने के दिन से लेकर चुनाव के दिन तक) में दलों या उम्मीदवारों द्वारा सार्वजनिक संस्थाओं को अनुदान देने पर रोक लगा दी जानी चाहिए।

(vi) चुनाव खर्च या भार पूर्णतया या आंशिक रूप से राज्य द्वारा वहन करना - इस सम्बन्ध में सबसे प्रमुख सुझाव यह दिया जा रहा है कि चुनाव खर्च का भार पूर्णतया या आंशिक रूप से राज्य के द्वारा वहन किया जाना चाहिए। कांग्रेस दल द्वारा नियुक्त की गयी संसदीय समिति ने भी सुझाव दिया है कि राजनीतिक दलों और उम्मीदवारों द्वारा किये गये वैध चुनाव खर्चों का बोझ धीरे-धीरे राज्य द्वारा अपने ऊपर ले लिया जाना चाहिए।

वर्तमान समय में विश्व के कुछ देशों में राज्य द्वारा चुनाव खर्च का भार वहन किये जाने की व्यवस्था है। स्वीडन में सभी राष्ट्रीय राजनीतिक दलों का उनकी पिछली सफलता के आधार पर सरकार से सीधे चुनाव का समस्त खर्च दिया जाता है। दूसरी विधि मिश्रित चुनाव व्यय की है जिसे पश्चिमी जर्मनी में अपनाया गया है। इस विधि के अनुसार सरकार चुनाव व्यय के एक हिस्से की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेती है तो दूसरे हिस्से की जिम्मेदारी उम्मीदवार स्वयं वहन करता है। ब्रिटेन और 9 अन्य देशों में भी राजकोष से राजनीतिक सहायता दिये जाने की व्यवस्था है।

भारतीय परिस्थितियों में राज्य द्वारा खर्च का समस्त भार अपने ऊपर लेना अव्यावहारिक हो सकता है, लेकिन रजनी कोठारी के सुझाव को स्वीकार किया जा सकता है। "शासन के द्वारा दलों के शामियाने, दरी, जीप, पोस्टर छपवाने के लिए निर्धारित धनराशि आदि मूल सुविधाएं दी जानी चाहिए, जिससे चुनाव समान शक्तियों के बीच एक खेल बन सके और चुनावों में धन की भूमिका को कम किया जा सके।" शासन के द्वारा सभी दलों के लिए चुनाव सभाओं की व्यवस्था करने और मतदाताओं में परची (Slips) बांटने का कार्य और उन्हें चुनाव स्थल तक पहुंचाने का कार्य भी अपने हाथ में लिया जा सकता है। इस सम्बन्ध में यह व्यवस्था की जा सकती है मतदाताओं के एक निश्चित प्रतिशत मत प्राप्त करने या अन्य कुछ शर्तों को पूरा करने वाले राजनीतिक दलों को ही शासन से यह सहायता प्राप्त होगी।

चुनाव में धन की बढ़ती हुई शक्ति की समस्या के दो पहलू हैं। प्रथम, चुनाव में प्रयोग किये जाने वाले धन की मात्रा में निरन्तर वृद्धि और द्वितीय चुनावों में काले धन का प्रयोग। इनमें दूसरी स्थिति को नियन्त्रित करने का एक प्रयत्न अभी मार्च 1985 में किया गया है।

अब संयुक्त पूंजी कम्पनियों द्वारा राजनीतिक दलों को दिये जाने वाले दान पर प्रतिबन्ध हटा दिया गया है। यह प्रतिबन्ध 1969 ई. में लगाया गया था और इस प्रतिवन्ध का परिणाम यह हुआ कि राजनीतिक दल काला धन प्राप्त करने पर बाध्य हो गये। मार्च 1985 में की गयी इस व्यवस्था से राजनीति में काले धन की भूमिका पूर्णतया समाप्त नहीं हो जायेगी, लेकिन इसे स्वच्छ राजनीति की दिशा में एक प्रयास अवश्य ही कहा जा सकता है। एक प्रमुख समाचार-पत्र के सम्पादकीय में इसे काले धन के उदय की जड़ों और समाज में भ्रष्टाचार पर प्रहार करने वाला कदम बतलाया गया है।

अन्य कुछ उपायों को अपनाकर चुनाव में धन के प्रभाव को कुछ कम किया जा सकता है, लेकिन वस्तुतः यह समस्या कानूनी नहीं वरन् व्यावहारिक राजनीति से सम्बन्धित है और चुनावों में धन की भूमिका को कम करने का सबसे कारगर उपाय मतदाताओं द्वारा राजनीतिक जागरूकता की स्थिति को प्राप्त करना है।

दूरदर्शी राजनीतिज्ञ राजाजी ने छठे दशक में एक पुस्तिका लिखी थी 'Rescue Democracy from Money Power' । आज इस बात की प्रासंगिकता और महत्व निश्चित रूप से बहुत अधिक बढ़ गया है। लोकतन्त्र को घनिकतन्त्र में परिणत होने से रोकने के लिए चुनावों और समस्त राजनीति में धन की शक्ति को कम किया जाना बहुत अधिक आवश्यक है।

3. **चुनाव में बाहुबल** (Muscle Power) और हिंसा का प्रयोग, मतदान केन्द्रों पर कब्जा और जाली मतदान - यह चुनावों की एक अत्यधिक गम्भीर त्रुटि और समस्या है और इसे सीमित करने के विविध उपाय किये जाने पर भी समय के साथ यह बढ़ती चली जा रही है। चुनाव में बाहुबल और हिसा के प्रयोग की सबसे अधिक प्रवृत्ति तो बिहार राज्य में है। इसके बाद उत्तर प्रदेश, हरियाणा, पं. बंगाल, जम्मू-कश्मीर तथा विविध महानगरों का झोंपड़पट्टी क्षेत्र आता है। हिंसा के प्रयोग से जुड़ी हुई ही एक अन्य स्थिति चुनाव में शराब की शक्ति का प्रयोग है। 1984 के लोकसभा और 1985 के विधानसभा चुनावों में 'विशेष सुरक्षा व्यवस्था' और सभी एहतियाती उपाय किये जाने के बावजूद चुनाव में हिंसा के प्रयोग और चुनाव के दिन 'मतदान केन्द्रों पर कब्जा' किये जाने की घटनाएं पहले से कम नहीं हुई। अकेले बिहार राज्य में 2 और 5 मार्च, 1985 के मतदान के दिन 50 से अधिक व्यक्ति हिंसा की बलिवेदी पर चढ़ गये, घायलों की संख्या तो इससे बहुत अधिक थी बिहार के 34,472 मतदान केन्द्रों पर अर्द्धसैनिक बल का पहरा था, लेकिन आम नागरिक इससे भी अपने आपको सुरक्षित नहीं पाता था, लेकिन इन पहरेदारों की आंखों के सामने ही बन्दूकधारी मतदान केन्द्रों पर कब्जा करते रहे, मतों पर मुहर लगाते रहे और लोगों से मारपीट करते रहे।" 1969 में बिहार में 80 बूथ लूटे गये जबकि 1990 के

विधानसभा चुनावों में यह आंकड़ा 1231 पर जा पहुंचा। ऐसी स्थिति में शान्ति पसन्द विवेकशील व्यक्ति जिनके मत का सबसे अधिक महत्व है, अपने मताधिकार के प्रयोग से घबराते और कतराते हैं। यह तथ्य है कि बिहार में बन्दूक और माफिया गिरोह के बलबूते पर चुनाव लड़े जाते और जीते जाते हैं और बिहार पुलिस इसे रोकने का प्रयत्न करने के बजाय इसमें योग देती है। उत्तर प्रदेश के अनेक क्षेत्रों और अन्य कुछ राज्यों के विभिन्न क्षेत्रों में भी स्थिति लगभग ऐसी ही है। 1990 के आम चुनाव में राज्य में 26 हत्याएं, 22 हत्या की कोशिशें और 38 लूटपाट की घटनाएं हुई जिससे 695 मतदान केन्द्रों पर फिर से चुनाव करवाना पड़ा। "चिन्ताजनक बात यह देखने में आयी है कि चुनावी हिंसा का दानव आम तौर पर शान्त समझे जाने वाले दक्षिण में भी फैल गया। आंध में चुनावी हिंसा ने तीन जानें ले ली और कई लोगों को घायल किया। कर्नाटक में भी कुछ व्यक्ति घायल हुए।" 1984 के चुनावों में 48 लोग मारे गये थे जबकि 1989 में बम विस्फोट, छुरेबाजी और गोली चलाने से 197 लोगों की मृत्यु हुई। मुख्य चुनाव आयुक्त द्वारा हिंसा की रोकथाम के लिए सभी प्रयल किये जाने के बावजूद जब यह सब हुआ, तो 5 मार्च, 1985 को मतदान की समाप्ति पर उन्होंने खीझकर कहा "जब तक राजनीतिक दल हिंसा केखिलाफ एक होकर जनमत जागृत नहीं करते, चुनाव आयोग तथा प्रशासन बौना और पंगु बना रहेगा - समस्या का समाधान चुनाव आयोग को अधिक अधिकार देने से नहीं वरन् स्थानीय स्तर पर राजनीतिज्ञों और अवांछित तत्वों में साठ-गांठ समाप्त करने से होगा।" मई-जून 1991 के लोकसभा चुनावों के समय चुनावी हिंसा में 272 लोग मारे गये और लगभग 3.363 चुनावी हिसा की घटनाएं हुईं। इसकी तुलना में फरवरी 1998 में सम्पन्न 12वीं लोकसभा चुनावों में 65 लोग मारे लोग मारे गये और 2,450 चुनावी हिंसा की घटनाएं हुई। चुनाव में बाहुबल और हिंसा का प्रयोग 'धन की बढ़ती हुई भूमिका' की तुलना में भी अधिक चिन्ताजनक स्थिति है और इस स्थिति की रोकथाम के लिए सभी सम्भव कदम उठाये जाने चाहिए। इस सम्बन्ध में कुछ सुझाव प्रमुख रूप से दिये जा सकते हैं:

प्रथम, जिन निर्वाचन क्षेत्रों में हिंसा और बल प्रयोग की आशंका हो, वहां स्थानीय पुलिस को समस्त निर्वाचन क्षेत्र से पूर्णतया दूर रखते हुए अन्य राज्यों की पुलिस और अर्द्ध-सैनिक बल पर्याप्त संख्या में तैनात किया जाना चाहिए और उसे स्थिति से निबटने के लिए सभी आवश्यक अधिकार दिये जाने चाहिए। द्वितीय, एहतियात के तौर पर दो दिन के लिए समस्त निर्वाचन क्षेत्र में आग्नेय अस्त्रों एवं अन्य हथियारों के लाने-ले-जाने पर प्रतिबन्ध न केवल लगाया, वरन् कड़ाई के साथ लागू किया जाना चाहिए। तृतीय, मतदान के दिन से दो दिन पहले से शराब की बिक्री पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिया जाना चाहिए। चतुर्थ, ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि हिंसा, बाहुबल की शक्ति, भ्रष्ट साधन

अपनाये जाने के आधार पर चुनाव याचिकाएं उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय में प्रस्तुत की जये, सम्बन्धित अदालतों के लिए 6 माह या अधिक से अधिक एक वर्ष की अवधि में उन पर निर्णय करना अनिवार्य कर दिया जाय। प्रत्यक्ष या परोक्ष में दोषी पाये गये व्यक्तियों पर सदैव के लिए कोई भी चुनाव लड़ने पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाय और जिस किसी सरकारी कर्मचारी पर अपराधी के साथ सहयोग करने पर कर्तव्य पालन में ढिलाई बरतने का आरोप सिद्ध हो, उसके विरुद्ध तत्काल कठोर कार्यवाही की जानी चाहिए। उपर्युक्त व्यवस्था करने के लिए कानूनी ढांचे में जो संशोधन परिवर्तन करना जरूरी हो, वह सभी कुछ किया जाना चाहिए।

चुनाव में बल प्रयोग की सभी स्थितियों का मूल कारण यह है कि तथा कथित जन प्रतिनधि, प्रशासन और गुण्डा तत्व के बीच गठबन्धन की स्थिति बन गयी है। अनेक तो ऐसी स्थितियां देखी गयी हैं, जिनमें तस्कर, माफिया और गुण्डा तत्व मन्त्री या जन प्रतिनिधि से आश्रय पता है और प्रशासन पर हावी है। 'सेवाओं और प्रशासन का राजनीतिकरण' इस स्थिति के लिए उत्तरदायी है और इसे दूर करने के लिए समस्त व्यवस्था में परिवर्तन जरूरी है।

जाली-मतदान बल प्रयोग और मतदान केन्द्रों पर कब्जे से ही जुड़ी हुई एक स्थिति जाली मतदान है और 'यह चुनाव (नवीं लोकसभा का चुनाव) जाली मतदान में तो शायद पिछले सभी रिकार्ड तोड़ गया।' इस बात में सच्चाई है और लोकतन्त्र के लिए चिन्ता की बात यह है कि जाली मतदान व्यापक रूप से संगठित स्तर पर होता है।

इस स्थिति को रोकने के लिए मतदाताओं को 'फोटोग्राफी से युक्त जान-पहचान पत्र' (Identification Card) दिये जाने चाहिए। इसके साथ ही जाली मतदान को भ्रष्ट आचरण घोषित कर दिया जाना चाहिए, जिसके आधार पर निर्वाचन अवैध घोषित कर सके। निर्वाचन कानून में ऐसा संशोधन करना भी जरूरी है जिसके फलस्वरूप पीठासीन अधिकारी के लिए जाली मतदान में संलग्न व्यक्ति को पुलिस को सौपना और थाने में आवश्यक शिकायत दर्ज करना अनिवार्य हो जाय।

4**. निर्दलीय उम्मीदवारों की बड़ी संख्या** अब तक के सभी चुनावों में एक समस्या निर्दलीय उम्मीदवारों की एक बड़ी संख्या ने पैदा की है। यह बड़ी संख्या चुनाव व्यवस्था करने में कठिनाइयों पैदा करती है और समस्त चुनाव दृश्य को धुंधला भी कर देती है। अधिकांश निर्दलीय उम्मीदवार तो मखौल के रूप में चुनाव लड़ते हैं या कई बार वे प्रमुख उम्मीदवारों से चुनाव मैदान से हटने के लिए धनराशि प्राप्त करने की आशा में उम्मीदवार बन जाते हैं।

"यद्यपि कुछ क्षेत्रों की ओर से प्रेरित इस सुझाव को स्वीकार नहीं किया जा सकता कि निर्देनीय रूप से चुनाव लड़ने पर कानूनी रोक लगा देनी चाहिए लेकिन ऐसा कुछ अवश्य किया जाना चाहिए, जिससे 'मखौल' के रूप में चुनाव लड़ने पर रोक लगे। इस सम्बन्ध में यह सुझाव विचारणीय है कि जमानत की रकम कम-से-कम दस गुना बढ़ा दी जानी चाहिए अर्थात् लोकसभा के लिए 500 रुपये से बढ़ाकर दस हजार रुपये और विधानसभा के लिए 250 रुपये से बढ़ाकर 5,000 रुपये कर दी जानी चाहिए।

5. मतदाताओं की अनुपस्थिति (Absence of the Voters) मतदाताओं की अनुपस्थिति हमारे निर्वाचकों की आम विशेषता बन गयी है। वस्तुतः भारत में अनुपस्थित मतदाताओं का प्रतिशत भी बहुत ज्यादा है। चुनावों में अधिकांश मतदाता रुचि नहीं लेते और मतदान केन्द्रों पर पहुंचने की तकलीफ भी नहीं करते। मतदान न करने का अर्थ है मतदान के अधिकार का उपयोग न करना है लोकतन्त्रीय व्यवस्था को धोखा देना। अक्सर देखने में आता है है कि मतदान के समय मुश्किल से 60 प्रतिशत मतदाता ही अपने मत का उपयोग करते हैं। मान लीजिए एक स्थान के लिए पांच उम्मीदवार चुनाव लड़ रहे हैं और पांच ही अपने प्रभाव के अनुसार साम, दाम, दण्ड, भेद के सभी साधन अपनायें, तो मतदाता इतने रूपों में बिखर जायेंगे कि 16 या 17 प्रतिशत मत प्राप्त करने वाला उम्मीदवार जीत जायेगा। ऐसी दशा में विजयी उम्मीदवार क्या सारी जनता का प्रतिनिधि समझा जा सकता है? सन् 1971 में हुए लोकसभा चुनावों का विश्लेषण किया जा सकता है। इन चुनावों में केवल 55.22 प्रतिशत मतदाताओं ने अपने मताधिकार का प्रयोग किया था अर्थात् 44.78 प्रतिशत (लगभग 12 करोड़) से अधिक मतदाताओं ने चुनाव में भाग ही नहीं लिया। साढ़े छः करोड़ से अधिक मत पाने वाले कांग्रेस दल को 518 स्थानों में से 352 स्थान मिल गये। जिस दल को कुल मतदाताओं का एक चौथाई से भी कम समर्थन हो और कुल डाले गये मतों का भी 43 प्रतिशत ही हो, परन्तु उसके सदस्यों को सदन में दो-तिहाई से अधिक स्थान मिल जाय तो उसकी सरकार को निर्वाचित सरकार तो जरूर कहा जायेगा, लेकिन उसे सचमुच में प्रतिनिध्यात्मक सरकार कैसे कहा जा सकता है?

फिर अधिकतर मतदाताओं की अनुपस्थिति से चुनाव-सम्बन्धी भ्रष्टाचार को भी बढ़ावा मिलता है और प्रायः जाली मतदान भी होता देखा गया है।

मतदान के प्रति उदासीनता और राजनीति के प्रति वितृष्णा की भावना का उन्मूलन करने के लिए चुनावों में मतदान को अनिवार्य करने का सुझाव दिया जाता है। भूतपूर्व चुनाव आयुक्त एस.पी.सेन वर्मा ने 1968 में कहा था कि चुनावों के प्रति मतदाताओं की यह उदासीनता चुनावों को मजाक बना देती है। अतः भारतीय संसद को अनिवार्य

मतदान का नियम बना देना चाहिए और जो मतदाता चुनावों में भाग न लें उन पर कुछ दण्ड लगाया जाये, जो 50 रुपये से अधिक न हो। यदि मत न देने के कारण मतदाता को न्यायालय के सामने उपस्थित होना व जुर्माना देना पड़ेगा तो वह उदासीनता दिखाने के पहले कई बार सोचेगा। विश्व के अनेक देशों में जैसे बेल्जियम, नीदरलैण्ड, आस्ट्रेलिया, क्यूबा, आस्ट्रिया, आदि देशों में अनिवार्य मतदान की पद्धति है। इन देशों में मतदान में भाग न लेने पर जुर्माना किया जाता है। इसे 'मनी फाइन प्लान' (Money Fine Plan) कहते हैं। इससे मतदान का प्रतिशत निश्चित ही बढ़ेगा।

6. शासक दल द्वारा प्रशासनिक तन्त्र का दुरुपयोग (Misuse of Administrative Machinery by Party in Power) भारतीय चुनाव व्यवस्था की एक गम्भीर त्रुटि शासक दल और मंत्रियों द्वारा 'दलीय लाभों के लिए प्रशासनिक तन्त्र के दुरुपयोग' के रूप में सामने आयी है। जैसे ही चुनाव की घोषणा होती है, केन्द्रीय और राज्य सरकार का ध्यान विविध संगठित वर्गों को अनेकानेक रियायतें और सुविधाएं देने की ओर चला जाता है। चुनाव के अवसर पर राजनीतिक लाभ प्राप्त करने के लिए अनेक विकास योजनाओं की घोषणा करते हैं (जिनमें से अधिकांश कभी भी क्रियान्वित नहीं होती), अनेक कारखानों, स्कूलों, कॉलेजों, अस्पतालों और पुलों के शिलान्यास किये जाते हैं। सरकारी कर्मचारी के वेतन-भत्ते, आदि में वृद्धि की जाती है, कर्ज दिये जाते हैं, लगान माफ किये जाते हैं और सरकारी भवनों तथ सरकारी वाहनों, आदि का दुरुपयोग किया जाता है। यह यह सब कुछ कितनी अधिक सीमा तक होता है इसका उदाहरण यह कि मार्च 1977 के लोकसभा चुनाव के पूर्व उत्तरी और पूर्वी क्षेत्र के 6 राज्यों (हरियाणा, पंजाब, बिहार, राजस्थान, प. बंगाल और उड़ीसा) द्वारा मतदाताओं को 90 करोड़ की रियायतें दी गयीं और अकेली उत्तर प्रदेश सरकार के द्वारा 103 करोड़ से अधिक की रियायतें मतदाताओं को दी गयीं। नवम्बर 1989 के लोकसभा चुनावों के दौरान तात्कालिक प्रधानमन्त्री द्वारा 50 अरब रुपये की इन्दिरा महिला योजना की घोषणा राजनीतिक दलों के लिए बनी आचार संहिता का सरासर उल्लंघन था। यह सब कुछ राजनीतिक भष्टाचार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसलिए कानूनी तौर पर ऐसी व्यवस्था कर दी जानी चाहिए कि चुनाव की घोषणा होने के दिन से लेकर नवीन सरकार बनने के समय तक केन्द्रीय और राज्य सरकारें केवल 'काम चलाऊ सरकारें' (Care taker Govts.) के रूप में कार्य करें। उन्हें नीति सम्बन्धी कोई घोषणा करने, किन्हीं वर्गों को अतिरिक्त रियायतें देने या सरकारी कर्मचारियों के वेतन-भत्ते, आदि में वृद्धि की घोषणा करने का कोई अधिकार नहीं हो।

7. निर्वाचन अधिकारियों पर राजनीतिक दबाव (Political Pressure on Election Officers) - निर्वाचन अधिकारियों पर राजनीतिक व अन्य दबाव और इसके फलस्वरूप उनके द्वारा भ्रष्टाचार को अपनाये जाने के भी कुछ उदाहरण सामने आये हैं। भूतपूर्व मुख्य चुनाव आयुक्त सेन वर्मा ने स्वीकार किया था कि "राजनीतिक दबाव में आकर मतदाता सूचियों में गड़बड़ी की गयी, मंत्रियों तक ने चुनाव में हस्तक्षेप किया, संसद सदस्यों तक के नाम मतदान सूची में से निकाल दिये गये ताकि वे चुनाव न लड़ सकें और प्रतिपक्षी उम्मीदवारों के नामांकन पत्र भारी संख्या में रह कर दिये गये। चुनाव के पहले और चुनाव के बाद निर्वाचन अधिकारियों को तंग करने की शिकायतें भी कम नहीं हैं।" उन्होंने इस सम्बन्ध में सत्तारूढ़ राजनीतिक नेताओं से अपील की थी कि निष्पक्ष निर्वाचनों के हित में वे निर्वाचनों के दौरान निर्वाचन अधिकारियों पर कोई भी अनुचित दबाव न डालें। वस्तुतः इस सम्बन्ध में रोकथाम की पर्याप्त व्यवस्था नहीं है।

8**. निर्वाचन याचिकाओं पर निर्णय में अत्यधिक विलम्ब** (Unusual Delay in Decisions over Election Petitions) - निर्वाचन याचिका में बहुत अधिक खर्च होता है तथा विवादों का शीघ्र निपटारा नहीं हो पाता। यह चिन्तनीय है कि जब तक याचिका का निर्णय होता है, तब तक तो लोकसभा और विधानसभा का कार्यकाल ही समाप्त हो जाता है और विवादग्रस्त व्यक्ति अपने पद पर बना ही रहता है।

निर्वाचन याचिकाओं पर शीघ्रता के साथ निर्णय की स्थिति को अपनाना बहुत अधिक आवश्यक है। इस सम्बन्ध में कानून बनाकर 6 माह या अधिक से अधिक एक वर्ष में निर्वाचन याचिका पर निर्णय अनिवार्य किया जा सकता है। जब भ्रष्ट साधनों का अपनाकर विजयी बने सदस्यों का निर्वाचन चुनाव के शीघ्र बाद ही अवैध घोषित होते हुए देखा जायेगा, तब चुनाव में भ्रष्ट साधन अपनाने पर भी कुछ रोक लगने की आशा की जा सकती है।

18.3 निर्वाचन पद्धति में किए गए प्रमुख सुधार (Major Reforms in The Electoral System)

हाल ही के वर्षों में निर्वाचन पद्धति में किए गए प्रमुख सुधार निम्नांकित हैं:

1. बहुसदस्यीय निर्वाचन आयोग केन्द्र सरकार ने 1 अक्टूबर 1993 को एक अधिसूचना जारी करके निर्वाचन आयोग को बहुसदस्यीय बना दिया है। इसके अनुसार आयोग में मुख्य चुनाव आयुक्त के अतिरिक्त दो अन्य चुनाव आयुक्त होंगें।

2. इलेक्ट्रानिक मतदान मशीने जन प्रतिनिधित्व कानून, 1951 में संशोधन किया गया है और इसमें धारा 61 क जोड़ी गई है ताकि मतदान में इलेक्ट्रोनिक मतदान मशीनों का इस्तेमाल किया जा सके। यह 15 मार्च 1989 से लागू हो गया है।

3. मतदाता की आयु में परिवर्तन: 61 वें संविधान संशोधन द्वारा संविधान के अनुच्छेद 326 में संशोधन कर मतदान की आयु 21 वर्ष के बजाय 18 वर्ष कर दी गई है।

4. फोटो पहचान पत्र जारी करना देश भर में मतदाताओं को फोटो पहचान पत्र जारी किए गए है ताकि जाली मतदान को रोका जा सके।

5. जमानत राशि और नाम प्रस्तावित करने वालें की संख्या में वृद्धि संसद अथवा राज्य विधान सभा का चुनाव लड़ने के लिए उम्मीदवार को जमानत राशि जमा करानी पड़ती है, उसे बढ़ा दिया गया है ताकि ऐसे उम्मीदवारों को चुनाव लड़ने से रोका जा सके जो चुनाव लड़ने के प्रति गंभीर नहीं है। संसदीय चुनावों में सामान्य उम्मीदवार के लिए जमानत राशि 500 रु. से बढ़ाकर 10,000 रु. और अनुसूचित जाति/ जनजाति के के उम्मीदवार के लिए 250 से बढ़ाकर 5,000 रु. कर दी गई है। राज्य विधानसभा के चुनाव में सामान्य वर्ग के उम्मीदवार को 5 हजार रु. और अनुसूचित जाति/जनजाति के उम्मीदवार को 2, 500 रु. की जमानत राशि जमा करानी होगी। संशोधित कानून में यह भी व्यवस्था की गई है कि जो उम्मीदवार किसी मान्यता प्राप्त राष्ट्रीय अथवा राज्य स्तर के दल का नहीं होगा, वह संसद या विधानसभा में नामजदगी के लिए नामांकन तभी दाखिल कर सकेगा जब उसके नाम का प्रस्ताव उस निर्वाचन क्षेत्र के कम से कम 10 मतदाताओं द्वारा किया जाए। किसी मान्यता प्राप्त दल के उम्मीदवार के लिए एक ही प्रस्तावक काफी है।

6. नाम वापस लेने और मतदान की तिथि के बीच की समयावधि में कमी नाम वापस लेने और मतदान की तारीख के बची न्यूनतम अवधि 20 दिन से घटाकर 14 दिन कर दी गई है।

7. दो से अधिक निर्वाचन क्षेत्रों से चुनाव लड़ने का प्रतिबंध कोई भी उम्मीदवार अब आम चुनाव अथवा उसके साथ-साथ होने वाले किसी उप चुनाव में दो से अधिक संसदीय अथवा विधानसभा निर्वाचन क्षेत्रों से एक साथ चुनाव लड़ने का अधिकारी नहीं है। इसी प्रकार का प्रतिबंध राज्य सभा और विधान परिषदों के लिए होने वाले द्विवार्षिक चुनावों और उप चुनावों के लिए भी लागू है।

8. उम्मीदवार की मृत्यु होने पर पहले किसी उम्मीदवार की मृत्यु होने पर चुनाव रद्द कर दिया जाता था। भविष्य में किसी उम्मीदवार की मृत्यु होने पर चुनाव रद्द नहीं होगा।

लेकिन मृत उम्मीदवार यदि किसी मान्यता प्राप्त राष्ट्रीय अथवा राज्य स्तर के दल का होगा तो संबंधित दल को यह छूट दी जाएगी कि वह इस संबंध में निर्वाचन आयोग द्वारा संबद्ध दल को इस आशय का नोटिस जारी किए जाने के एक सप्ताह के भीतर अपने किसी दूसरे उम्मीदवार को नामजद कर सकता है।

9. उप चुनाव के लिए समय सीमा: संसद अथवा राज्य विधानसभा के किसी भी सदन में स्थान रिक्त होने पर अब छह महीने के भीतर उसे भरने के लिए उप चुनाव कराना होगा। लेकिन यह व्यवस्था उस स्थिति में लागू नहीं होगी जब उस सदस्य की सदस्यता की अवधि केवल एक वर्ष रह गई हो, जिसकी रिक्ति भरी जानी है या फिर जहां निर्वाचन आयोग केन्द्र सरकार की सलाह से यह प्रमाणित करे कि निर्धारित अवधि में उप चुनाव करा पाना संभव नहीं है।

18.4 सार संक्षेप

वर्तमान सरकार चुनाव सुधार के लिए प्रयत्नशील है। गृह मंत्री की पहल पर चुनाव सुधारों पर नये सिरे से चर्चा करने के लिए 22 मई 1998 को विभिन्न राजनीतिक दलो के नेताओं के साथ एक बैठक हुई। बैठक में लिए गए एक निर्णय के अनुसरण में श्री इंद्रजीत गुप्त, संसद सदस्य की अध्यक्षता में एक उच्च अधिकार प्राप्त समिति गठित की गई मान्यता प्राप्त राजनीतिक दलों को राज्य निधिकरण उपलब्ध कराने के लिए ठोस उपायों का झुकाव देने को कहा गया।

उच्चतम न्यायालय ने 2 मई, 2002 को निर्देश देते हुए आदेश पारित किया कि निर्वाचन आयोग संसद अथवा विधानसभा का चुनाव लड़ने के इच्छुक प्रत्येक उम्मीदवार से उसके अपराधिक रिकार्ड यदि कोई है तो, उसकी सम्पत्ति, सरकार अथवा सार्वजनिक वित्तीय संस्थानों के प्रति उसकी देनदारियों व बकाया कार्यों तथा उसकी शैक्षिक योग्यता के बारे में सूचना देने के लिए हलफनामा की माँग करें।

27 मार्च, 2003 को चुनाव आयोग ने आदेश जारी करते हुए संसद तथा विधान सभा चुनावों में प्रत्येक उम्मीदवार का नामांकन पत्र के साथ एक शपथ पत्र देना अनिवार्य कर दिया है जिसमें उसको अपने आपराधिक पृष्ठभूमि का उल्लेख भी करना होगा। उम्मीदवार को राज्यसभा, लोकसभा एवं विधानसभा के लिए अपने नामांकन पत्र के साथ ही अपनी सम्पत्ती और देनदारी तथा शैक्षिक योग्यता की जानकारी भी शपथ पत्र में देनी होगी।

18.5 शब्दावली

1. स्वतंत्र चुनाव (Free and Fair Elections) - चुनाव की प्रक्रिया जिसमें कोई भी पक्ष किसी प्रकार की धांधली या बाहरी दबाव के बिना अपनी राय व्यक्त कर सकता है।

2. इलेक्ट्रॉनिक वोटिंग मशीन (EVM) (Electronic Voting Machine) - एक डिजिटल उपकरण जिसका उपयोग मतदान प्रक्रिया को सुविधाजनक, तेज और पारदर्शी बनाने के लिए किया जाता है।

3. VVPAT (Voter Verifiable Paper Audit Trail) - एक प्रणाली जो मतदाता को उनके द्वारा डाले गए वोट की एक पर्ची दिखाती है, जिससे चुनाव में पारदर्शिता बढ़ती है।

4. धांधली (Fraud) - चुनाव प्रक्रिया में गड़बड़ी या गलत तरीके से वोटिंग या परिणामों को प्रभावित करने का प्रयास।

5. नोटा (NOTA - None of the Above) - यह विकल्प मतदाता को सभी उम्मीदवारों से असहमत होने का अवसर देता है, और यह चुनाव परिणाम में गिना जाता है।

6. चुनावी खर्च (Electoral Expenditure) - चुनावी प्रचार, प्रचार सामग्री, उम्मीदवारों और पार्टी द्वारा किए गए अन्य खर्चों का कुल योग।

7. दागी नेता (Criminal Leaders) - वे नेता जो किसी आपराधिक मामले में शामिल होते हैं और जिनके खिलाफ लंबित मामले होते हैं।

8. महिला आरक्षण (Women Reservation) - महिला उम्मीदवारों के लिए विशेष सीटों का आरक्षण, ताकि महिलाओं की राजनीति में भागीदारी बढ़ सके।

9. राजनीतिक दल (Political Party) - एक संगठन जो चुनावों में भाग लेकर सत्ता में आने के उद्देश्य से उम्मीदवारों को खड़ा करता है।

10. वोटर आईडी (Voter ID) - मतदाताओं की पहचान के लिए जारी किया गया आधिकारिक दस्तावेज़ जो चुनावी प्रक्रिया में उनके मतदान को वैध बनाता है।

18.6 स्व - प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

1. भारत में निर्वाचन पद्धति का प्रमुख दोष है:

(अ) चुनाव में धन की वढ़ती हुई भूमिका

(ब) चुनाव प्रचार की अवधि में कमी करना

(स) चुनाव खर्च राज्य द्वारा वहन करना

(द) संसद और विधानसभाओं के लिए एक साथ चुनाव की व्यवस्था

2. भारत में किस संवैधानिक संशोधन द्वारा मतदान की आयु 21 वर्ष के बजाय 18 वर्ष कर दी गई ?

(अ) 51वें संवैधानिक संशोधन

(ब) 61वें संवैधानिक संशोधन

(स) 52वें संवैधानिक संशोधन

(द) 65वें संवैधानिक संशोधन

उत्तर- 1. (अ). 2. (ब)

18.7 संदर्भ सूची

1. शर्मा, ए. (2020). *भारत में चुनाव सुधार.* नई दिल्ली: नेशनल पब्लिशिंग हाउस।
2. सिंह, एस. (2021). *राजनीति विज्ञान और भारतीय राजनीति.* दिल्ली: विश्वनाथ प्रकाशन।
3. यादव, म. (2022). *भारत में चुनाव आयोग और सुधार.* जयपुर: राजकमल प्रकाशन।
4. कुमार, र. (2023). *भारतीय लोकतंत्र और चुनावी प्रणाली.* नई दिल्ली: रीडिंग पब्लिकेशन।
5. पांडे, स. (2019). *चुनाव सुधार और भारतीय राजनीति में बदलाव.* दिल्ली: अलंकार पब्लिशर्स।
6. तिवारी, प. (2021). *भारतीय राजनीति के समीक्षात्मक आयाम.* मुंबई: ग्रंथ निकेतन।
7. मिश्रा, जी. (2020). *भारत में चुनावी सुधार और उनकी चुनौतियाँ.* बनारस: काशी प्रकाशन।

18.8 अभ्यास प्रश्न

1.भारत में निर्वाचन पद्धति के दोषों को स्पष्ट कीजिए।

2. भारत की निर्वाचन पद्धति में सुधार हेतु सुझाव दीजिए।

3. इलेक्ट्रोनिक मतदान मशीने

4 निर्दलीय उम्मीदवारों की बड़ी संख्या

5. अनुपस्थित मतदाता